ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—१

[परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

पंचम गणधर भगवत् सुधर्मस्वामि-प्रणीत : प्रथम अङ्ग

आचारांगसूत्र

[प्रथम श्रुतस्कन्ध]

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद-विवेचन-टिप्पण-परिशिष्ट युक्त]

प्रेरणा
उपप्रवर्तक शासनसेवी स्व० स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

आद्य संयोजक तथा प्रधान सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

सम्पादक-विवेचक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

मुख्य सम्पादक
पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला . ग्रन्थाङ्क १

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल

☐ सम्प्रेरक
मुनिश्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

द्वितीय संस्करण
☐ प्रकाशनतिथि
वीर निर्वाण सं० २५१६
वि. स. २०४६
ई. सन् १९८९

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
बृज-मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
चारण मुद्रणालय
माकड़वाली रोड
अजमेर

☐ मूल्य : ३[redacted] 70/=

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

Fifth Ganadhar Sudharma Swami Compiled First Anga

ĀCĀRĀṄGA SŪTRA

[Part I]

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editor & Annotator
Shrichandra Surana 'Saras'

Chief Editor
Pt Shobhachandra Bharilla

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj)

Jinagam Granthmala Publication No. 1

- **Direction**
  Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

- **Board of Editors**
  Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
  Upachrya Sri Devendramuni Shastri
  Sri Ratan Muni
  Pt. Shobhachandra Bharilla

- **Promotor**
  Muni Sri Vinayakumar 'Bhima'
  Sri Mahendramuni 'Dinakar'

Second Edition

- **Date of Publication**
  Vir-nirvana Samvat 2516
  Vikram Samvat 2046; July, 1989

- **Publishers**
  Sri Agam Prakashan Samiti,
  Brij-Madhukar Smriti-Bhawan, Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
  Pin 305 901

Printer
Charan Mudranalaya
Makarwali Road
Ajmer

- **Price : R[redacted] 70/-**

समर्पण

जिनवाणी के परम उपासक, बहुभाषाविज्ञ
वय स्थविर, पर्यायस्थविर, श्रुतस्थविर
श्री वर्द्धमान जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी
श्रमणसघ के द्वितीय आचार्य
परम आदरणीय श्रद्धास्पद राष्ट्रसत
आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषिजी महाराज
को
सादर-सविनय-सभक्ति ।

☐ **मधुकर मुनि**

(प्रथम सस्करण से)

प्रकाशकीय

भगवान् श्रीमहावीर की २५वी निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसग पर साहित्य-प्रकाशन की एक नयी उत्साहपूर्ण लहर उठी थी । उस समय जैनधर्म, जैनदर्शन और भगवान् महावीर के लोकोत्तर जीवन एव उनकी कल्याणकारिणी शिक्षाओ से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन हुआ । मुनि श्रीहजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर की ओर से भी 'तीर्थंकर महावीर' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया । इसी प्रसग पर विद्वद्‌रत्न श्रद्धेय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के मन मे एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भगवान् महावीर से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, यह तो ठीक है, किन्तु उनकी मूल एव पवित्र वाणी जिन आगमो मे सुरक्षित है, उन आगमो को सर्वसाधारण को क्यो न सुलभ कराया जाय, जो सम्पूर्ण बत्तीसी के रूप मे आज कही उपलब्ध नही है । भगवान् महावीर की असली महिमा तो उस परम पावन, सुधामयी वाणी मे ही निहित है । मुनिश्री की यह भावना वैसे तो चिरसचित थी, परन्तु उस वातावरण ने उसे अधिक प्रबल बना दिया ।

मुनिश्री ने कुछ वरिष्ठ आगमप्रेमी श्रावको तथा विद्वानो के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की । धीरे-धीरे आगम बत्तीसी के सम्पादन-प्रकाशन की चर्चा बल पकडती गई । भला कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा, जो इस पवित्रतम कार्य की सराहना और अनुमोदना न करता ? श्रमण भगवान् महावीर के साथ आज हमारा जो सम्पर्क है वह उनकी जगत्-पावन वाणी के ही माध्यम से है । महावीर की देशना के सम्बन्ध मे कहा गया है— **'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय ।'** अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियो की रक्षा और दया के लिए ही भगवान् की धर्मदेशना प्रस्फुटित हुई थी । अतएव भगवत्वाणी का प्रचार और प्रसार करना प्राणीमात्र की रक्षा एव दया का ही कार्य है । इससे अधिक श्रेष्ठ विश्वकल्याण का अन्य कोई कार्य नही हो सकता ।

इस प्रकार आगम प्रकाशन के विचार को सभी ओर से पर्याप्त समर्थन मिला । तब मुनिश्री के वि० स० २०३५ के ब्यावर चातुर्मास मे समाज के अग्रगण्य श्रावको की एक बैठक आयोजित की गई और प्रकाशन की रूप-रेखा पर विचार किया गया । सुदीर्घ चिन्तन-मनन के पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को, जो भगवान् महावीर के केवलज्ञान-कल्याणक का शुभ दिन था, आगम बत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा कर दी गई और शीघ्र ही कार्य आरम्भ कर दिया गया ।

हमे प्रसन्नता है कि श्रद्धेय मुनिश्री की भावना और आगम प्रकाशन समिति के निश्चयानुसार हमारे मुख्य सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने प्रबन्ध सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया और आचाराग के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया । साथ ही अन्य विद्वानो ने भी विभिन्न आगमो के सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया और कार्य चालू हो गया ।

तब तक प्रसिद्ध विद्वान् एव आगमो के गभीर अध्येता पडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी बम्बई से ब्यावर आ गये और उनका मार्गदर्शन एव सहयोग भी हमे प्राप्त हो गया । आपके बहुमूल्य सहयोग से हमारा कार्य अति सुगम हो गया और भार हल्का हो गया ।

हमे अत्यधिक प्रसन्नता और सात्त्विक गौरव का अनुभव हो रहा है कि एक ही वर्ष के अल्प समय मे हम अपनी इस ऐतिहासिक अष्टवर्षीय योजना को मूर्त रूप देने मे सफल हो सके ।

कुछ सज्जनो का सुझाव था कि सर्वप्रथम दशवैकालिक, नन्दीसूत्र आदि का प्रकाशन किया जाय किन्तु श्रद्धेय मुनिश्री मधुकरजी महाराज का विचार प्रथम अगआचाराग से ही प्रारम्भ करने का था। क्योकि आचाराग समस्त अगो का सार है।

इस सम्बन्ध मे यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे आचाराग आदि क्रम से ही आगमो को प्रकाशित करने का विचार किया गया था, किन्तु अनुभव से इसमे एक बड़ी अड़चन जान पड़ी। वह यह कि भगवती जैसे विशाल आगमो के सम्पादन-प्रकाशन में बहुत समय लगेगा और तब तक अन्य आगमो के प्रकाशन को रोक रखने से सब आगमो के प्रकाशन मे अत्यधिक समय लग जाएगा। हम चाहते हैं कि यथासभव शीघ्र यह शुभ कार्य समाप्त हो जाय तो अच्छा। अत यही निर्णय रहा है कि आचाराग के पश्चात् जो-जो आगम तैयार होते जायें उन्हे ही प्रकाशित कर दिया जाय।

नवम्बर १९७९ मे महामन्दिर (जोधपुर) मे आगम समिति का तथा विद्वानो का सम्मिलित अधिवेशन हुआ था। उसमे सभी सदस्यो ने यह भावना व्यक्त की कि श्रद्धेय मुनि श्री मधुकरजी महाराज के युवाचार्यपद—चादर प्रदान समारोह के शुभ अवसर पर आचारांगसूत्र का विमोचन भी हो सके तो अधिक उत्तम हो। यद्यपि समय कम था और आचारांगसूत्र का सम्पादन भी अन्य आगमो की अपेक्षा कठिन और जटिल था, फिर भी समिति के सदस्यो की भावना का आदर कर श्रीचन्दजी सुराणा ने कठिन परिश्रम करके आचाराग के प्रथम श्रुतस्कध का कार्य समय पर पूर्ण कर दिया।

सर्वप्रथम हम श्रमणसघ के युवाचार्य, सर्वतोभद्र, श्री मधुकर मुनिजी महाराज के प्रति अतीव आभारी हैं, जिनकी शासनप्रभावना की उत्कट भावना, आगमो के प्रति उद्दाम भक्ति, धर्मज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र उत्कठा और साहित्य के प्रति अप्रतिम अनुराग की बदौलत हमे भी वीतरागवाणी की किंचित् सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

दु ख का विषय है कि आज हमारे मध्य युवाचार्यश्रीजी विद्यमान नही हैं तथापि उनका शुभ आशीर्वाद हमे प्राप्त है, जिसकी बदौलत उनके द्वारा रोपा हुआ यह ग्रन्थमाला-कल्पवृक्ष निरन्तर फल-फूल रहा है और साधारणसभा (जनरल कमेटी) के निश्चयानुसार श्री आचारागसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध का जो प्रथम ग्रन्थाक के रूप मे मुद्रित हुआ था, द्वितीय सस्करण प्रकाशित करने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है।

उपासकदशागसूत्र भी दूसरी बार मुद्रित हो गया है। इन दोनो आगमो का सुप्रसिद्ध आगमवेत्ता श्री उमेश-मुनिजी म ने कृपा कर अवलोकन किया है और यथोचित सशोधन-सुझाव देकर हमे उपकृत किया है।

रतनचन्द मोदी	**सायरमल चोरड़िया**	**अमरचन्द मोदी**
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामन्त्री	मन्त्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आमुख

[प्रथम संस्करण से]

जैन धर्म, दर्शन व संस्कृति का मूल आधार वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है। सर्वज्ञ अर्थात् आत्म-द्रष्टा। सम्पूर्ण रूप से आत्मदर्शन करने वाले ही विश्व का समग्र दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते हैं, वे ही तत्त्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते है। परमहितकर निःश्रेयस का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं।

सर्वज्ञो द्वारा कथित तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध-'आगम' शास्त्र या सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरो की वाणी मुक्त सुमनो की वृष्टि के समान होती है, महान् प्रज्ञावान् गणधर उसे सूत्र रूप मे ग्रथित करके व्यवस्थित 'आगम' का रूप देते हैं।[1]

आज जिसे हम 'आगम' नाम से अभिहित करते हैं, प्राचीन समय मे 'गणिपिटक' कहलाते थे—'गणिपिटक' मे समग्र द्वादशागी का समावेश हो जाता है। पश्चाद्वर्ती काल में इसके अग, उपाग, मूल, छेद आदि अनेक भेद किये गये।

जब लिखने की परम्परा नही थी, तब आगमो को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से सुरक्षित रखा जाता था। भगवान् महावीर के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक 'आगम' स्मृति-परम्परा पर ही चले आये थे। स्मृति-दुर्बलता, गुरु-परम्परा का विच्छेद तथा अन्य अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान भी लुप्त होता गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र ही रह गया। तब देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने श्रमणो का सम्मेलन बुलाकर, स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम-ज्ञान को, जिनवाणी को सुरक्षित रखने के पवित्र-उद्देश्य से लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयास किया और जिनवाणी को पुस्तकारूढ करके आने वाली पीढ़ी पर अवर्णनीय उपकार किया। यह जैनधर्म, दर्शन एव संस्कृति की धारा को प्रवहमान रखने का अद्भुत उपक्रम था। आगमो का यह प्रथम सम्पादन वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् सम्पन्न हुआ।

पुस्तकारूढ होने के बाद जैन आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कालदोष, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक मतभेद, विग्रह, स्मृति-दुर्बलता एव प्रमाद आदि कारणो से आगम-ज्ञान की शुद्धधारा, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा, धीरे-धीरे क्षीण होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्व-पूर्ण सन्दर्भ, पद तथा गूढ अर्थ छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। जो आगम लिखे जाते थे, वे भी पूर्ण शुद्ध नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही रहे। अन्य भी अनेक कारणो से आगम-ज्ञान की धारा संकुचित होती गयी।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी मे लोकाशाह ने एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थ-ज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन. चालू हुआ। किन्तु कुछ काल

---

१. 'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गथंति गणहरा निउणं।'

बाद पुन: उसमें भी व्यवधान आ गए। साम्प्रदायिक द्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारों का अज्ञान-आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बडे विघ्न बन गए।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो पाठको को कुछ सुविधा हुई। आगमो की प्राचीन टीकाएँ, चूर्णि व निर्युक्ति जब प्रकाशित हुई तथा उनके आधार पर आगमो का सरल व स्पष्ट भावबोध मुद्रित होकर पाठको को सुलभ हुआ तो आगम-ज्ञान का पठन-पाठन स्वभावत. बढ़ा, सैकडो जिज्ञासुओ मे आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगी व जैनेतर देशी-विदेशी विद्वान् भी आगमो का अनुशीलन करने लगे।

आगमो के प्रकाशन-सम्पादन-मुद्रण के कार्य मे जिन विद्वानो तथा मनीषी श्रमणो ने ऐतिहासिक कार्य किया, पर्याप्त सामग्री के अभाव मे आज उन सबका नामोल्लेख कर पाना कठिन है। फिर भी मैं स्थानकवासी परम्परा के कुछ महान मुनियो का नाम-ग्रहण अवश्य ही करूंगा।

पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के वे महान् साहसी व दृढ सकल्पबली मुनि थे, जिन्होने अल्प साधनो के बल पर भी पूरे बत्तीस सूत्रो को हिन्दी मे अनूदित करके जन-जन को सुलभ बना दिया। पूरी बत्तीसी का सम्पादन-प्रकाशन एक ऐतिहासिक कार्य था, जिससे सम्पूर्ण स्थानक-वासी-तेरापथी समाज उपकृत हुआ।

गुरुदेव पूज्य स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज का एक सकल्प—मैं जब गुरुदेव स्व० स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज के तत्त्वावधान मे आगमो का अध्ययन कर रहा था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर गुरुदेव मुझे अध्ययन कराते थे। उनको देखकर गुरुदेव को लगता था कि यह सस्करण यद्यपि काफी श्रमसाध्य है, एव अब तक के उपलब्ध सस्करणो मे काफी शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूल पाठ मे व उसकी वृत्ति मे कही-कही अन्तर भी है।

गुरुदेव स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज स्वय जैनसूत्रो के प्रकाड पण्डित थे। उनकी मेधा बडी व्युत्पन्न व तर्कणाप्रधान थी। आगम साहित्य की यह स्थिति देखकर उन्हे बहुत पीडा होती और कई बार उन्होने व्यक्त भी किया कि आगमो का शुद्ध, सुन्दर व सर्वोपयोगी प्रकाशन हो तो बहुत लोगो का भला होगा। कुछ परिस्थितियो के कारण उनका सकल्प, मात्र भावना तक सीमित रहा।

इसी बीच आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज आदि विद्वान् मुनियो ने आगमो की सुन्दर व्याख्याएँ व टीकाएँ लिखकर अथवा अपने तत्वावधान मे लिखवाकर इस कमी को पूरा किया है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी ने भी यह भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया है और अच्छे स्तर से उनका आगम-कार्य चल रहा है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करने का मौलिक एव महत्त्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के विद्वान् श्रमण स्व० मुनि श्रीपुण्यविजय जी ने आगम-सम्पादन की दिशा मे बहुत ही व्यवस्थित व उत्तम कोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात मुनि जम्बूविजय जी के तत्त्वावधान मे यह सुन्दर प्रयत्न चल रहा है।

उक्त सभी कार्यों पर विहगम अवलोकन करने के बाद मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज कही तो आगमो का मूल मात्र प्रकाशित हो रहा है और कही आगमो की विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक, पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आगमवाणी का भावोद्-घाटन करने वाला ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो सुबोध भी हो, सरल भी हो, सक्षिप्त हो, पर सारपूर्ण व सुगम हो। गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। उसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ४-५ वर्ष पूर्व इस विषय

में चिन्तन प्रारम्भ किया था। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात गतवर्ष[1] दृढ निर्णय करके आगम-बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ कर दिया और अब पाठको के हाथो मे आगम ग्रन्थ, क्रमश. पहुँच रहे हैं। इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है।

आगम-सम्पादन का यह ऐतिहासिक कार्य पूज्य गुरुदेव की पुण्य स्मृति में आयोजित किया गया है। आज उनका पुण्य स्मरण मेरे मन को उल्लसित कर रहा है। साथ ही मेरे वन्दनीय गुरु-भ्राता पूज्य स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज की प्रेरणाएँ, उनकी आगम-भक्ति आगम सम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान मेरा सम्बल बना है। अत मैं उन दोनो स्वर्गीय आत्माओ की पुण्य स्मृति मे विभोर हूँ।

शासनसेवी स्वामीजी श्री बृजलालजी महाराज का मार्गदर्शन, उत्साह-सवर्द्धन, सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार व महेन्द्र मुनि का साहचर्य बल, सेवा-सहयोग तथा महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी, परम विदुषी साध्वी श्री उमराव कुंवरजी 'अर्चना' की विनम्र प्रेरणाएँ मुझे सदा प्रोत्साहित तथा कार्यनिष्ठ बनाए रखने मे सहायक रही हैं।

मुझे दृढ विश्वास है कि आगम-वाणी के सम्पादन का यह सुदीर्घ प्रयत्नसाध्य कार्य सम्पन्न करने मे मुझे सभी सहयोगियो, श्रावको, व विद्वानो का पूर्ण सहकार मिलता रहेगा और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने में गतिशील बना रहूँगा।

इसी आशा के साथ '

—मुनि मिश्रीलाल 'मधुकर'

१. वि० सं० २०३६ वैशाख शुक्ला १० महावीर-कैवल्यदिवस।

सम्पादकीय

[प्रथम संस्करण से]

'आचारांग' सूत्र का अध्ययन, अनुशीलन व अनुचिन्तन—मेरा प्रिय विषय रहा है। इसके अर्थ-गम्भीर सूक्तों पर जब-जब भी चिन्तन करता हूँ तो विचार-चेतना मे नयी स्फुरणा होती है, आध्यात्मिक प्रकाश की एक नयी किरण चमकती-सी लगती है।

श्रद्धेय श्री मधुकर मुनि जी ने आगम-सम्पादन का दायित्व जब विभिन्न विद्वानो को सौंपना चाहा तो सहज रूप मे ही मुझे आचारांग का सम्पादन-विवेचन कार्य मिला। इस गुरु-गम्भीर दायित्व को स्वीकारने मे जहाँ मुझे कुछ सकोच था, वहाँ आचारांग के साथ अनुबंधित होने के कारण प्रसन्नता भी हुयी। और मैंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का नियोजन इस पुण्य कार्य मे करने का संकल्प स्वीकार कर लिया।

आचारांग सूत्र का महत्त्व, विषय-वस्तु तथा रचयिता आदि के सम्बन्ध मे श्रद्धेय श्री देवेन्द्र मुनिजी ने प्रस्तावना मे विशद प्रकाश डाला है। अत पुनरुक्ति से बचने के लिए पाठको को उसी पर मनन करने का अनुरोध करता हूँ। यहाँ मैं आचारांग के विषय मे अपना अनुभव तथा प्रस्तुत सम्पादन के सम्बन्ध मे ही कुछ लिखना चाहता हूँ।

दर्शन, अध्यात्म व आचार की त्रिपुटी : आचारांग

जिनवाणी के जिज्ञासुओ मे आचारांग सूत्र का सबसे अधिक महत्त्व है। यह गणिपिटक का सबसे पहला अंग आगम है। चाहे रचना की दृष्टि से हो, या स्थापना की दृष्टि से, पर यह निर्विवाद है कि उपलब्ध आगमो मे आचारांग सूत्र रचना-शैली, भाषा-शैली तथा विषय वस्तु की दृष्टि से अद्भुत व विलक्षण है। आचार की दृष्टि से तो उसका महत्त्व है ही किन्तु दर्शन की दृष्टि से भी वह गम्भीर है।

आगमो के विद्वान् सूत्रकृतांग को दर्शन-प्रधान व आचारांग को आचार-प्रधान बताते है, किन्तु मेरा अनुशीलन कहता है—आचारांग भी गूढ दर्शन व अध्यात्म प्रधान आगम है।

सूत्रकृत की दार्शनिकता तर्क-प्रधान है, बौद्धिक है, जबकि आचारांग की दार्शनिकता अध्यात्म-प्रधान है। यह दार्शनिकता औपनिषदिक शैली मे गुम्फित है। अत इसका सम्बन्ध प्रज्ञा की अपेक्षा श्रद्धा से अधिक है। आचारांग का पहला सूत्र दर्शनशास्त्र का मूल बीज है—आत्म-जिज्ञासा[1] और इसके प्रथम श्रुतस्कध का अंतिम सूत्र है - भगवान् महावीर का आत्म-शुद्धि मूलक पवित्र चरित्र[2] और उसका आदर्श।

आत्म-दृष्टि, अहिंसा, समता, वैराग्य, अप्रमाद, निस्पृहता, नि सगता, सहिष्णुता—आचारांग के प्रत्येक अध्ययन मे इनका स्वर मुखरित है। समता, नि संगता के स्वर तो बार-बार ध्वनित होते से लगते हैं। द्वितीय श्रुतस्कध (आचारचूला) भी श्रमण के आचार का प्रतिपादक मात्र नहीं है, किन्तु उसका भी मुख्य स्वर समत्व, अचेलत्व, ध्यान-सिद्धि व मानसिक पवित्रता से ओत-प्रोत है। इस प्रकार आचारांग का

---

१ के अहं आसी के वा इओ चुते पेच्चा भविस्सामि–सूत्र १

२. एस विही अणुक्कंतो माहणेण मतीमता सूत्र ३२३

सम्पूर्ण आम्सर-अनुशीलन करने के बाद मेरी यह धारणा बनी है कि दर्शन, अध्यात्म व आचार-धर्म की त्रिपुटी है—आचाराग सूत्र।

मधुर व गेय पद-योजना

आचारांग (प्रथम) आज गद्य-बहुल माना जाता है, पद्य भाग इसमें बहुत अल्प है। डा. शुब्रिंग के मतानुसार आचारांग भी पहले पद्य-बहुल रहा होगा, किन्तु अब अनेक पद्यांश खण्ड रूप मे ही मिलते हैं। दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार आचाराग गद्यशैली का नहीं, किन्तु चौर्णशैली का आगम है। चौर्ण शैली का मतलब है—जो अर्थबहुल, महार्थ, हेतु-निपात उपसर्ग से गम्भीर, बहुपाद, विरामरहित आदि लक्षणो से युक्त हो।[1] बहुपाद का अर्थ है जिसमे बहुत से 'पद' (पद्य) हो। समवायाग तथा नन्दी सूत्र मे भी आचाराग के संखेज्जा सिलोगा का उल्लेख है।[2]

आचारांग के सैकड़ो पद, जो भले ही पूर्ण श्लोक न हो, किन्तु उनके उच्चारण में एकलय-बद्धता सी लगती है, छन्द का सा उच्चारण ध्वनित होता है, जो वेद व उपनिषद के सूक्तों की तरह गेयता युक्त है। उदाहरण स्वरूप कुछ सूत्रो का उच्चारण करके पाठक स्वय अनुभव कर सकते हैं।[3]

इस प्रकार की उद्‌भुत छन्द-लय-बद्धता जो मन्त्रोच्चारण-सी प्रतीत होती है, सूत्रोच्चारण में विशेष आनन्द की सृष्टि करती है।

भाषाशैली की विलक्षणता

विषय-वस्तु तथा रचनाशैली की तरह आचारांगसूत्र (प्रथम) के भाषाप्रयोग भी बड़े लाक्षणिक और अद्‌भुत हैं। जैसे—**आमगंधं**—(सदोष व अशुद्ध वस्तु)

अहोविहार—(सयम)

ध्रुववर्ण—(मोक्षस्थान)

विस्रोतसिका—(सशयशीलता)

वसुमान—(चारित्र-निधि सम्पन्न)

महासड्ढी—(महान् अभिलाषी)

आचाराग के समान लाक्षणिक शब्द-प्रयोग अन्य आगमो मे कम मिलते हैं। छोटे-छोटे सुगठित सूक्त उच्चारण मे सहज व मधुर है।

इस प्रकार अनेक दृष्टियो से आचाराग सूत्र (प्रथम) अन्य आगमो से विशिष्ट तथा विलक्षण हैं इस कारण इसके सम्पादन-विवेचन मे भी अत्यधिक जागरूकता, सहायक सामग्री का पुन पुन अनुशीलन तथा शब्दो का उपयुक्त अर्थ बोध देने मे विभिन्न ग्रन्थो का अवलोकन करना पड़ा है।

---

१ देखे दशवै० निर्युक्ति १७० तथा १७४।

२ समवाय ८९। नन्दी सूत्र ८०।

३.

आतंकदसी अहियं ति णच्चा—सूत्र	५६	अदिस्समाणे कय-विक्कएसु	८८
आरम्भसत्ता पकरेंति सग—	६२	सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधे परिव्वए	८८
खण जाणाहि पडिते	६८	सधि विदित्ता इह मच्चिएहिं	९१
भूतेहिं जाण पडिलेह सात	७६	आरम्भज दुक्खमिण ति णच्चा	१०८
सव्वेसिं जीवितं पियं	७८	मायी पमायी पुणरेति गब्भ	१०८
णत्थि कालस्स णागमो	७८	अप्पमत्तो परिव्वए	१०८
आसं च छदं च विगिंच धीरे	८३	कम्ममूल च ज छण	११८
		अप्पाण विप्पसादए	१२५

प्रस्तुत सम्पादन-विवेचन

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का वर्तमान रूप परिपूर्ण है या खण्डित है—इस विषय में भी मतभेद है। डा० जैकोबी आदि अनुसंधाताओं का मत है कि आचारांग सूत्र का वर्तमान रूप अपरिपूर्ण है, खण्डित है। इसके वाक्य परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। क्रियापद आदि भी अपूर्ण हैं। इसलिए इसका अर्थ-बोध व व्याख्या अन्य आगमों से कठिन व दुरूह है।

प्राचीन साहित्य में आगमव्याख्या की दो पद्धतियां वर्णित हैं—

१ छिन्न-छेद-नयिक

२. अच्छिन्न-छेद-नयिक

जो वाक्य, पद या श्लोक (गाथाएं) अपने आप में परिपूर्ण होते हैं, पूर्वापर अर्थ की योजना करने की जरूरत नहीं रहती, उनकी व्याख्या प्रथम पद्धति से की जाती है। जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि।

दूसरी पद्धति के अनुसार वाक्य, या पद, गाथाओं की पूर्व या अग्रिम विषय संगति, सम्बन्ध, सन्दर्भ आदि का विचार करके उसकी व्याख्या की जाती है।

आचारांग सूत्र की व्याख्या में द्वितीय पद्धति (अच्छिन्न-छेद-नयिक) का उपयोग किया जाता है। तभी इसमें एकरूपता, परिपूर्णता तथा अविसंवादिता का दर्शन हो सकता है। वर्तमान में उपलब्ध आचारांग (प्रथम श्रुतस्कंध) की सभी व्याख्याएं—निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, दीपिका व अवचूरि तथा हिन्दी विवेचन द्वितीय पद्धति का अनुसरण करती हैं।

वर्तमान में आचारांग सूत्र पर जो व्याख्याएँ उपलब्ध है, उनमें कुछ प्रमुख ये हैं—

निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु समय-वि० ५-६ वी शती)

चूर्णि (जिनदासगणी महत्तर समय-६-७ वीं शती)

टीका (आचार्य शीलांक समय-८ वी शती)

इस पर दो दीपिकाएं, अवचूरि व बालावबोध भी लिखा गया है, लेकिन हमने उसका उपयोग नहीं किया है।

प्रमुख हिन्दी व्याख्याएँ—आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज।
मुनि श्री सौभाग्यमलजी महाराज।
मुनि श्री नथमलजी महाराज।

यह तो स्पष्ट ही है कि आचारांग के गूढार्थ तथा महार्थ पदों का भाव समझने के लिए निर्युक्ति आदि व्याख्याग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। निर्युक्तिकार ने जहाँ आचारांग के गूढार्थों का नयी-शैली से उद्घाटन किया है, जहाँ चूर्णिकार ने एक शब्द-शास्त्री की तरह उनके विभिन्न अर्थों की ओर संकेत किया है। टीका में—निर्युक्ति एवं चूर्णिगत अर्थों को ध्यान में रखकर एक-एक शब्द के विभिन्न सम्भावित अर्थों पर सूक्ष्म चिन्तन किया गया है।

आचारांग के अनेक पद एवं शब्द ऐसे हैं जो थोड़े से अन्तर से, व्याकरण, सन्धि व लेखन के अल्पतम परिवर्तन से भिन्न अर्थ के द्योतक बन जाते हैं। जैसे—

समत्तदंसी—इसे अगर सम्मत्तदंसी मान लिया जाय तो इस शब्द के तीन भिन्न अर्थ हो जाते हैं—

समत्तदंसी—समत्वदर्शी (समताशील)

समस्तदंसी—समस्तदर्शी (केवलज्ञानी)

सम्मत्तदंसी—सम्यक्त्वदर्शी (सम्यग्दृष्टि)

प्रसंगानुसार तीनों ही अर्थ अलग-अलग ढंग से सार्थकता सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार एक पद है— तम्हाऽतिविज्जो[1]

यहाँ **अतिविज्ज**—मान लेने पर अर्थ होता है—अतिविद्य (विशिष्ट विद्वान्) यदि **तिविज्ज** पद मान लिया जाय तो अर्थ होगा—त्रिविद्य (तीन विद्याओं का ज्ञाता)।

'विद्रुमये'[2] पद के दो पाठान्तर चूर्णि मे मिलते हैं—**विद्रुपहे, विद्रुवहे,**—तीनो के ही भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं।

चूर्णि मे इस प्रकार के अनेक पाठान्तर हैं जो आगम की प्राचीन अर्थपरम्परा का बोध कराते हैं। विद्वान् वृत्तिकार आचार्य ने इन भिन्न-भिन्न अर्थों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है, जो शब्दशास्त्रीय ज्ञान का रोचक रूप उपस्थित करता है।

प्रस्तुत विवेचन मे हमने शब्द के विभिन्न अर्थों पर दृष्टि-क्षेप करते हुए प्रसग के साथ जिस अर्थ की संगति बैठती है, उस पर अपना विनम्र मत भी प्रस्तुत किया है।

हिन्दी व्याख्याएँ प्राय टीका का अनुसरण करती हैं। उनमें निर्युक्ति व चूर्णि के विविध अर्थों पर विचार कम ही किया गया है। मुनि श्री नथमलजी ने लीक से हटकर कुछ नया चिन्तन अवश्य दिया है, जो प्रशसनीय है। फिर भी आचाराग के अर्थ-बोध मे स्वतन्त्र चिन्तन व व्यापक अध्ययन-अनुशीलन की स्पष्ट अपेक्षा व अवकाश है।

हमारे सामने आचाराग पर किए गए अनुशीलन की बहुत-सी सामग्री विद्यमान है। अब तक प्राप्त सभी सामग्री का सूक्ष्म अवलोकन कर प्राचीन आचार्यों के चिन्तन का सार तथा वर्तमान सन्दर्भ मे उसकी उपयोगिता पर हमने विचार किया है।

मूलपाठ

इस सम्पादन का मूलपाठ हमने मुनिश्री जम्बूविजयजी सम्पादित प्रति से लिया है।[3] आचारांग सूत्र के अब तक प्रकाशित समस्त सस्करणो मे मूलपाठ की दृष्टि से यह सस्करण सर्वाधिक शुद्ध व प्रामाणिक प्रतीत होता है। यद्यपि इसमे भी कुछ स्थानो पर सशोधन की आवश्यकता अनुभव की गयी है। पदच्छेद की दृष्टि से इसे पूर्ण आधुनिक सम्पादन नही कहा जा सकता।

अर्थ-बोध को सुगम करने की दृष्टि से हमने कही-कही पर पदच्छेद (नया पेरा) तथा श्रुति-परिवर्तन किया है, जैसे **अधियास, अहियास** आदि। कही-कही पर पाठान्तर मे अकित पाठ अधिक सगत लगता है, अत हमने पाठान्तर को मूल स्थान पर व मूल पाठ को पाठान्तर मे रखने का स्व-विवेक से निर्णय लिया है। फिर भी हमारा मान्य पाठ यही रहा है। चूर्णि के पाठभेद व अर्थभेद भी इसी प्रति के आधार पर लिए गए है।

विवेचन-सहायक-ग्रन्थ

प्राय आगम-पाठो का शब्दश अनुवाद करने पर भी उनका अर्थबोध हो जाता है, किन्तु आचाराग (प्रथमश्रुतस्कंध) के विषय मे ऐसा नही है। इसके वाक्य, पद आदि शाब्दिक रचना की दृष्टि से अपूर्ण से प्रतीत होते हैं, अत प्रत्येक पद का पूर्व तथा अग्रिम पद के साथ अर्थ-सम्बन्ध जोडकर ही उसका अर्थ व विवेचन पूर्ण किया जा सकता है। इस कारण मूल का अनुवाद करते समय कोष्ठको [ ] मे सम्बन्ध जोडने वाला अर्थ देते हुए उसका अनुवाद करना पडा है, तभी वह योग्य अर्थ का बोधक बन सका है।

अनुवाद व विवेचन करते समय हमने निर्युक्ति चूर्णि एव टीका-तीनो के परिशीलन के साथ भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न यही रहा है कि अर्थ अधिक से अधिक मूलग्राही, सरल और युक्तिसगत हो।

---

१ सूत्र ११२। २ सूत्र ११६। ३ महावीर विद्यालय, बम्बई सस्करण

अनेक शब्दों के गूढ़ अर्थ उद्घाटन करने के लिए चूर्णि-टीका-दोनो के सन्दर्भ देखते हुए शब्द-कोश तथा अन्य आगमों के सन्दर्भ भी दृष्टिगत रखे गए हैं। कहीं-कहीं चूर्णि व टीका के अर्थों में भिन्नता भी है, वहाँ विषय की सगति का ध्यान रखकर उसका अर्थ दिया गया है। फिर भी प्राय सभी मतान्तरों का प्रामाणिकता के साथ उल्लेख अवश्य किया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अनेक कठिन पारिभाषिक शब्दो के अर्थ करने मे निशीथसूत्र व चूर्णि-भाष्य तथा बृहत्कल्पभाष्य आदि का भी आधार लिया गया है।

हमारा प्रयत्न यही रहा है कि प्रत्येक पाठ का अर्थबोध—अपने परम्परागत भावो का उद्घाटन करता हुआ अन्य अर्थों पर चिन्तन करने की प्रेरणा भी जागृत करता जाए।

कभी-कभी शब्द प्रसगानुसार अपना अर्थ बदलते रहते हैं। जैसे—स्पर्श,[1] गुण[2] एव आयतन[3] आदि। आगमों मे प्रसंगानुसार इसके विभिन्न अर्थ होते हैं।, उनका दिग्दर्शन कराकर मूल भावों का उद्घाटन कराने वाला अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

पाठान्तर व टिप्पण—चूर्णि में पाठान्तरो की प्राचीन परम्परा दृष्टिगत होती है। जो पाठान्तर नया अर्थ उद्घाटित करते हैं या अर्थ की प्राचीन परम्परा का बोध कराते हैं, ऐसे पाठान्तरो को टिप्पण मे उल्लिखित किया गया है। चूर्णि मे विशेष शब्दो के अर्थ भी दिए गए हैं, जो इतिहास व सस्कृति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। उन चूर्णिगत अर्थों का मूलपाठ के साथ टिप्पण मे विवरण दिया गया है।

अब तक के प्राय सभी सस्करणो मे टिप्पण आदि प्राकृत-सस्कृत मे ही दिए जाने की परिपाटी देखने मे आती है। इससे हिन्दी भाषी पाठक उन टिप्पणो के आशय समझने से वचित ही रह जाता है। हमारा दृष्टिकोण आगमज्ञान व उसकी प्राचीन अर्थ-परम्परा से जन साधारण को परिचित कराने का रहा है, अत प्राय सभी टिप्पणो के साथ उनका हिन्दी-अनुवाद भी देने का प्रयत्न किया है। यह कार्य काफी श्रमसाध्य रहा, पर पाठको को अधिक लाभ मिले इसलिए आवश्यक व उपयोगी श्रम भी किया है।

इसमे चार परिशिष्ट भी दिए गए हैं। प्रथम परिशिष्ट मे 'जाव' शब्द से सूचित मूल सन्दर्भ वाले सूत्र तथा ग्राह्य सूत्रो की सूची, द्वितीय मे विशिष्ट शब्द-सूची तथा तृतीय परिशिष्ट मे गाथाओ की अकारादि सूची भी दी गयी है। चौथे परिशिष्ट मे मुख्य रूप मे प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थो की सक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक सूची दी गयी है।

युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज का मार्गदर्शन, आगम अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ तथा विद्वद्वरेण्य श्रीयुत शोभाचन्दजी भारिल्ल की युक्ति पुरस्सर परिष्कारक दृष्टि आदि इस सम्पादन, विवेचन को सुन्दर, सुबोध तथा प्रामाणिक बनाने मे उपयोगी रहे हैं। अत उन सब का तथा प्राचीन मनीषी आचार्यों, सहयोगी ग्रन्थकारो, सम्पादको आदि के प्रति पूर्ण विनम्रता के साथ कृतज्ञभाव व्यक्त करता हूँ।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सुन्दर रूप मे शीघ्र सम्पन्न करने मे मुनि श्री नेमिचन्दी म० का मार्गदर्शन तथा स्नेहपूर्ण सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

यद्यपि यह गुरुतर कार्य सुदीर्घ चिन्तन अध्ययन, तथा समय सापेक्ष है, फिर भी अहर्निश के सतत प्रयत्न व युवाचार्य श्री की उत्साहवर्धक प्रेरणाओ से मात्र चार मास मे ही इसे सम्पन्न कर पाठको की सेवा मे प्रस्तुत किया है।

विश्वास है, अब तक के सभी संस्करणो से कुछ भिन्न, कुछ नवीन और काफी सरल व विशेष अर्थबोध प्रगट करने वाला सिद्ध होगा। सुज्ञ पाठक इसे सुरुचिपूर्वक पढ़ेंगे—इसी आशा के साथ।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

---

१. देखे पृष्ठ। २. पृष्ठ २५। ३. पृष्ठ ५७।

आचारांग सूत्र—प्रथम संस्करण के प्रकाशन में विशिष्ट अर्थ सहयोगी

श्रीमान् सायरमलजी व श्रीमान् जेठमलजी चोरड़िया

[संक्षिप्त परिचय]

एक उक्ति प्रसिद्ध है—"**ज्ञानस्य फल विरति:**"—ज्ञान का सुफल है—वैराग्य । वैसे ही एक सूक्ति है—"**वित्तस्य फल वितरण**"—धन का सुफल है—दान[1] पात्र मे, योग्य कार्य मे अर्थ व्यय करना, धन का सदुपयोग है ।

नोखा (चादावतो का) का चोरडिया परिवार इस सूक्ति का आदर्श उदाहरण है । मद्रास एव बेगलूर आदि क्षेत्रो मे बसा, यह मरुधरा का दानवीर परिवार आज समाज-सेवा, शिक्षा, चिकित्सा, साहित्यप्रसार, राष्ट्रीय सेवा आदि विभिन्न कार्यों मे मुक्त मन से और मुक्त हाथ से उपार्जित लक्ष्मी का सदुपयोग करके यशोभागी बन रहा है ।

नागौर जिला तथा मेडता तहसील के अन्तर्गत चादावतो का नोखा एक छोटा किन्तु-सुरम्य ग्राम है । इस ग्राम मे चोरडिया, बोथरा व ललवाणी परिवार रहते हैं । प्राय सभी परिवार व्यापार-कुशल हैं, सम्पन्न हैं । चोरडिया परिवार के घर इस ग्राम मे अधिक हैं ।

चोरडिया परिवार के पूर्वजो में श्री उदयचन्दजी पूर्व-पुरुष हुए । उनके तीन पुत्र हुए—श्री हरकचन्दजी, श्री राजमलजी व श्री चान्दमलजी । श्री हरकचन्दजी के एक पुत्र थे श्री गणेशमलजी ।

श्री राजमलजी के छ पुत्र हुए—श्री गुमानमलजी, श्री मांगीलालजी, श्री दीपचन्दजी, श्री चपालालजी, श्री चन्दनमलजी, श्री फूलचन्दजी ।

श्रीमान् राजमलजी अब ससार मे नही रहे । उनका पुत्र-परिवार धर्मनिष्ठ है, सम्पन्न है ।

श्री राजमलजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री गुमानमलजी मद्रास जैन-समाज के एक श्रावकरत्न हैं । त्याग-वृत्ति, सेवा-भावना, उदारता, साधर्मि-वत्सलता आदि गुणो से आपका जीवन चमक रहा है ।

श्री गणेशमलजी जब छोटे थे, तभी उनके पिता श्री हरकचन्दजी का देहान्त हो गया । माता श्री रूपी बाई ने ही गणेशमलजी का पालन-पोषण व शिक्षण आदि कराकर उन्हें योग्य बनाया । श्री रूपी बाई बडी हिम्मत वाली बहादुर महिला थी, विपरीत परिस्थितियो में भी उन्होने धर्म-ध्यान, तपस्या आदि के साथ पुत्र-पौत्रो का पालन व सुसस्कार प्रदान करने मे बडी निपुणता दिखायी ।

श्री गणेशमलजी राजमलजी का पिता के तुल्य ही आदर व सम्मान करते तथा उनकी आज्ञाओ का पालन करते थे ।

श्री गणेशमलजी की पत्नी का नाम सुन्दर बाई था । सुन्दर बाई बहुत सरल व भद्र स्वभाव की धर्मशीला श्राविका थी । अभी-अभी आपका स्वर्गवास हो गया ।

श्री गणेशमलजी के दस पुत्र एव पुत्री हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—श्री जोगीलालजी, श्री पारसमलजी, श्री अमरचन्दजी, श्री मदनलालजी, श्री सायरमलजी, श्री पुखराजजी, श्री जेठमलजी,

श्री सम्पतराजजी, श्री मगलचंदजी व श्री भूरमलजी। पुत्री का नाम लाडकवर बाई है। श्री गणेशमलजी ने अपने सभी पुत्रो को काम पर लगाया। वे साठ वर्ष की अवस्था मे दिवंगत हो गए।

सभी भाइयो का व्यवसाय अलग अलग है। सभी हिलमिलकर रहते हैं। सभी सम्पन्न धर्मनिष्ठ हैं।

तीसरे भाई श्री अमरचन्दजी का देहान्त हो गया है।

श्री सायरमलजी पाचवें नम्बर के भाई हैं और श्री जेठमलजी सातवे नम्बर के। यद्यपि श्री सायरमलजी पाचवें नम्बर के भाई हैं, फिर भी उनसे बडे व छोटे सभी भाई उनको पिता के सदृश सम्मान देते हैं और वे स्वय भी सभी भाइयो के साथ अत्यन्त वत्सलता व स्नेहपूर्ण व्यवहार रखते हैं।

श्री सायरमलजी व श्री जेठमलजी मे परस्पर बहुत अधिक प्रेम है। जो सायरमलजी हैं, वही जेठमलजी और जो जेठमलजी हैं, वही सायरमलजी। दोनो की जोडी बडी अनूठी।

श्री जेठमलजी श्री सायरमलजी के बहुत बडे सहयोगी व आज्ञाकारी भाई है। दोनो भाई धार्मिक व सामाजिक कामो मे सदा सतत अभिरुचि रखने वाले हैं।

समाज-सेवा, धार्मिक-उत्सव, दान आदि कार्यों में दोनो भाई सदा अग्रसर रहते हैं।

आपने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति मे मेडता रोड मे एक देशी औषधालय बनाया है जिसमे प्रतिमास सैकडो रोगी उपचार का लाभ प्राप्त करते हैं। नोखा मे आपका एक कृषि फार्म भी है।

आपके हृदय मे जीव-दया के प्रति बहुत गहरी लगन है। यही कारण है कि आपने अपने कृषि फार्म के बाहर पशुओ के पानी पीने की व्यवस्था सदा के लिए बना रखी है।

वि० स० २०३० मे उपप्रवर्तक पूज्य स्वामीजी श्री व्रजलालजी म० सा०, प० र० श्री मधुकर मुनिजी म० सा० व मुनि श्री विनयकुमारजी (भीम) का वर्षावास नोखा मे हुआ था। वर्षावास की स्मृति मे श्री वर्धमान जैन सेवा समिति का गठन किया गया। यह सस्था परमार्थ का काम कर रही है। आप इस सस्था के स्तम्भ सदस्य हैं और समय-समय पर अर्थ आदि का सहयोग देकर उक्त सस्था को सुदृढ बनाते रहते हैं।

श्री सायरमलजी व श्री जेठमलजी व्यवसाय की दृष्टि से पृथक-पृथक क्षेत्रो मे रहते हैं। फिर भी आप दोनो पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि मे एक हैं।

श्री सायरमलजी का व्यवसाय-क्षेत्र मद्रास है। आपकी कपडे की दुकान है, फर्म का नाम है—**चोरडिया फैन्सी स्टोर।**

श्री जेठमलजी का व्यवसाय-क्षेत्र है—बैंगलोर। 'महावीर ड्रग हाउस' के नाम से आपकी एक अग्रेजी दवाइयो की बहुत बडी दुकान है। दक्षिण भारत मे अग्रेजी दवाइयो के वितरण मे इस दुकान का सबसे पहला नम्बर है। श्रीमान् जेठमलजी बेंगलौर मे रहते हैं। बेंगलौर मे श्री जेठमलजी की बडी अच्छी प्रतिष्ठा है। आप औषधि व्यावसायिक एसोसियेशन के जनरल सेक्रेट्री हैं। अखिल भारत औषधि व्यवसाय एसोसिएशन के आप सहमत्री भी हैं। बगलौर श्री सघ के ट्रस्टी हैं। बेंगलौर युवक जैन परिषद के अध्यक्ष हैं। बगलौर सिटी स्थानक के उपाध्यक्ष हैं।

श्री जेठमलजी के तीन पुत्र है और एक पुत्री। पुत्रो के नाम—श्री महावीरचन्द, श्री प्रेमचन्द, श्री अशोक कुमार। पुत्री का नाम है—स्नेहलता।

सभी पुत्र ग्रेजुएट हैं—सुयोग्य हैं। श्री जेठमलजी के कार्यभार को सम्भालने वाले हैं।

श्री राजमलजी का समस्त परिवार व श्री गणेशमलजी का समस्त परिवार आचार्य श्री जयमल जी महाराज की सम्प्रदाय का अनुयायी है और स्वर्गीय पूज्य गुरुदेवजी श्री हजारीमलजी म० सा०

वर्तमान मे विराजित उपप्रवर्तक पूज्य स्वामीजी श्री व्रजलालजी म० सा०, युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म० सा० आदि पूज्य मुनिराजो का पूर्ण भक्त है।

पूज्य गुरुदेव से सम्बन्धित ऐसा कोई आयोजन नही, जिसमे इन परिवारो के सदस्य उपस्थित न रहते हो। श्री सायरमलजी व श्री जेठमलजी तो सभी आयोजनो में सदा अग्रसर रहते हैं। दोनो भ्राताओ के हृदय में परम श्रद्धेय श्रमणसूर्य श्री मरुधरकेसरीजी म० के प्रति पूर्ण आस्था है।

आगम-योजना के प्रारम्भ मे ही आपने बड़े उत्साह के साथ एक सूत्र का सम्पूर्ण प्रकाशन-व्यय देने का वचन दिया था। तदनुसार आपके पूज्य पिताजी श्री गणेशमलजी व माताजी श्री सुन्दर बाई की पुण्य स्मृति मे यह आगम प्रकाशित हो रहा है।

भविष्य मे भी आगमो के प्रकाशन तथा अन्य साहित्यिक कार्यों मे आपका सहयोग इसी प्रकार मिलता रहेगा—इसी आशा के साथ ।

—मंत्री

प्रस्तावना

[प्रथम संस्करण से]

आगम का महत्त्व

जैन आगम साहित्य का प्राचीन भारतीय साहित्य मे अपना एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। वह स्थूल अक्षर-देह मे ही विशाल व व्यापक नही है अपितु ज्ञान और विज्ञान का, न्याय और नीति का, आचार और विचार का, धर्म और दर्शन का, अध्यात्म और अनुभव का अनुपम एव अक्षय कोष है। यदि हम भारतीय-चिन्तन मे से कुछ क्षणो के लिए जैन आगम-साहित्य को पृथक् करने की कल्पना करें तो भारतीय-साहित्य की जो आध्यात्मिक गरिमा तथा दिव्य और भव्य ज्ञान की चमक-दमक है, वह एक प्रकार से धुधली प्रतीत होगी और ऐसा परिज्ञात होगा कि हम बहुत बडी निधि से वचित हो गये।

वैदिक परम्परा मे जो स्थान वेदो का है, बौद्ध परम्परा मे जो स्थान त्रिपिटक का है, पारसी धर्म मे जो स्थान 'अवेस्ता' का है, ईसाई धर्म मे जो स्थान बाईबिल का है, इस्लाम धर्म मे जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जैन परम्परा मे आगम साहित्य का है। वेद अनेक ऋषियो के विमल विचारो का सकलन है, वे उनके विचारो का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक क्रमश भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी और विचारो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आगम की परिभाषा

आगम शब्द की आचार्यों ने विभिन्न परिभाषाएँ की है। आचार्य मलयगिरि का अभिमत है कि जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो[1] वह आगम है। अन्य आचार्य का अभिमत है- जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है।[2] भगवती[3] अनुयोगद्वार[4] और स्थानाग[5] मे आगम शब्द शास्त्र के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद है। आगम के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये हैं।[6] उसमे 'महाभारत', 'रामायण' प्रभृति ग्रन्थो को लौकिक आगम मे गिना है और आचाराग, सूत्रकृताग प्रभृति आगमो को लोकोत्तर आगम कहा गया है।

जैन दृष्टि से जिन्होने राग-द्वेष को जीत लिया है, वे जिन तीर्थंकर और सर्वज्ञ है, उनका तत्त्व-चिन्तन, उपदेश और उनकी विमल-वाणी आगम है। उसमे वक्ता के साक्षात् दर्शन और वीतरागता के कारण दोष की किंचित् मात्र भी सभावना नही रहती और न पूर्वापर विरोध वा युक्तिबाध ही होता है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति मे लिखा है-"तप, नियम, ज्ञानरूप वृक्ष पर आरूढ होकर अनन्त ज्ञानी

१ (क) आवश्यक सूत्र मलयगिरि वृत्ति। (ख)—नदी सूत्र वृत्ति।

२ आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्धयन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागम'—रत्नाकरावतारिका वृत्ति।

३ भगवती सूत्र ५।३।१९२।

४ अनुयोगद्वार सूत्र

५. स्थानाङ्ग सूत्र ३३८-२२८

६ (क) अनुयोग द्वार सूत्र—४२, (ख)—नन्दीसूत्र सूत्र—४०-४१, (ग)—बृहत्कल्प भाष्य गाथा—८८

केवली भगवान् भव्य-आत्माओ के विबोध के लिये ज्ञान-कुसुमो की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपट मे उन सभो कुसुमो को झेलकर प्रवचन-माला गूंथते हैं।[1]

तीर्थंकर भगवान् केवल अर्थ रूप ही उपदेश देते है और गणधर उसे सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करते हैं।[2] अर्थात्मिक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचक ने इसीलिये आगमो को तीर्थंकर-प्रणीत कहा है।[3] प्रबुद्ध पाठको को यह स्मरण रखना होगा कि आगम साहित्य की जो प्रामाणिकता है उसका मूल कारण गणधरकृत होने से नही, किन्तु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं किन्तु अगबाह्य आगमो की रचना स्थविर करते है[4]।

आचार्य मलयगिरि आदि का अभिमत है कि गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्व क्या है ? उत्तर मे तीर्थंकर "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी का प्रवचन करते हैं। त्रिपदी के आधार पर जिस आगम साहित्य का निर्माण होता है, वह आगम साहित्य अगप्रविष्ट के रूप मे विश्रुत होता है और अवशेष जितनी भी रचनाएँ हैं, वे सभी अगबाह्य हैं।[5] द्वादशांगी त्रिपदी से उद्भूत है, इसीलिये वह गणधरकृत भी है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गणधरकृत होने से सभी रचनाएँ अग नही होती, त्रिपदी के अभाव मे मुक्त व्याकरण से जो रचनाएँ की जाती हैं भले ही उन रचनाओ के निर्माता गणधर हो अथवा स्थविर हो वे अंगबाह्य ही कहलायेगी।

स्थविर के चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी ये दो भेद किये हैं, वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अग साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी रचना करते है या कहते हैं उसमे किञ्चित् मात्र भी विरोध नही होता।

आचार्य सघदासगणी का अभिमत है कि जो बात तीर्थंकर कह सकते है उसको श्रुतकेवली भी उसी रूप मे कह सकते हैं।[6] दोनो मे इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानी सम्पूर्ण तत्त्व को प्रत्यक्षरूप से जानते हैं, तो श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं। उनके वचन इसलिए भी प्रामाणिक होते हैं कि वे नियमत सम्यग्दृष्टि होते हैं।[7]

अंगप्रविष्ट: अंगबाह्य

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अगप्रविष्ट और अगबाह्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि अगप्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरो के द्वारा सूत्र रूप मे बनाया हुआ हो, गणधरो के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर के द्वारा समाधान किया हुआ हो और अगबाह्य-श्रुत वह है जो स्थविरकृत हो और गणधरो के जिज्ञासा प्रस्तुत किये बिना ही तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित हो।[8]

समवायाग और अनुयोगद्वार मे केवल द्वादशागी का निरूपण हुआ है, पर देववाचक ने नन्दीसूत्र मे अगप्रविष्ट और अगबाह्य ये दो भेद किये हैं। साथ ही अगबाह्य के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त,

---

१ आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८९, ९०।

२ (क)—आवश्यक निर्युक्ति गाथा—१९२। (ख) धवला भाग—१—पृष्ठ ६४ से ७२।

३ नन्दी सूत्र—४०

४ (क)—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५८ (ख) बृहत्कल्पभाष्य—१४४ (ग) तत्त्वार्थभाष्य १—२०। (घ)—सर्वार्थसिद्धि—१—२०।

५ आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पत्र ४८।

६ बृहत्कल्पभाष्य गाथा ९६३ से ९६६।

७. बृहत्कल्पभाष्य गाथा १३२।

८. गणहर-थेरकय वा आएसा मुक्क-वागरणाओ वा।
धुव-चलविसेसओ वा अंगाणगेसु नाणत्त ॥ —विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५५२।

कालिक और उत्कालिक इन आगम साहित्य की शाखा व प्रशाखाओं का भी शब्दचित्र प्रस्तुत किया है।[1] उसके पश्चात्वर्ती साहित्य मे अग-उपाग-मूल और छेद के रूप मे आगमो का विभाग किया गया है। विशेष जिज्ञासुओ को मेरे द्वारा लिखित 'जैन आगम साहित्यः मनन और मीमांसा' ग्रन्थ अवलोकनार्थ नम्र सूचना है।

चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो और चाहे दिगम्बर परम्परा हो, अगप्रविष्ट आगम साहित्य मे द्वादशागी का निरूपण किया है। उनके नाम इस प्रकार है—

१. आचाराग	७ उपासकदशा
२ सूत्रकृताग	८ अन्तकृद्दशा
३. स्थानाग	९ अनुत्तरोपपातिकदशा
४ समवायाग	१० प्रश्नव्याकरण
५ व्याख्याप्रज्ञप्ति	११. विपाक
६ ज्ञाता धर्मकथा	१२. दृष्टिवाद

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अगसाहित्य विच्छिन्न हो चुका है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अश अवशेष है जो षट्खण्डागम के रूप मे आज भी विद्यमान है। पर श्वेताम्बर दृष्टि से पूर्व साहित्य विच्छिन्न हो गया है, जो दृष्टिवाद का एक विभाग था। पूर्व साहित्य मे से निर्यूढ आगम आज भी विद्यमान हैं। जैसे आचारचूला[2], दशवैकालिक[3], निशीथ[4], दशाश्रुतस्कन्ध[5], बृहत्कल्प[6], व्यवहार[7], उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन[8] आदि। दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव हैं और शेष आगमो के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं जो श्रुतकेवली के रूप मे विश्रुत हैं। आगम विच्छिन्न होने का मूल कारण भगवान् महावीर के पश्चात् होने वाले दुष्काल आदि रहे हैं, क्योकि उस समय आगम लेखन की परम्परा नही थी। आगम लेखन को दोषरूप माना जाता था। वर्तमान मे जो आगम पुस्तक रूप मे उपलब्ध हो रहे हैं, उसका सम्पूर्ण श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को है, जिनका समय वीर निर्वाण की दशवी शताब्दी है।

आचारांग का महत्त्व

अग साहित्य मे आचाराग का सर्वप्रथम स्थान है। क्योकि सघ-व्यवस्था में सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। श्रमण-जीवन की साधना का जो मार्मिक विवेचन आचाराग मे उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नही होता। आचाराग निर्युक्ति मे आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट कहा है—मुक्ति का अव्याबाध सुख सम्प्राप्त करने का मूल आचार है। अगो का सारतत्त्व आचार मे रहा हुआ है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने से आचार सम्पूर्ण प्रवचन की आधारशिला है।

एक जिज्ञासा प्रस्तुत की गई, अग सूत्रो का सार आचार है तो आचार का सार क्या है? आचार्य ने समाधान की भाषा मे कहा—आचार का सार अनुयोगार्थ है, अनुयोग का सार प्ररूपणा है। प्ररूपणा का

१ नन्दीसूत्र सूत्र-९ से ११९।

२ आचाराग वृत्ति-२९०।

३ दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १६ से १८।

४ (क) निशीथभाष्य-६५०० (ख) पचकल्पचूर्णी पत्र-१।

५ दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा- १ पत्र-१।

६ पचकल्पभाष्य गाथा-११।

७. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१।

८ उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ६९।

सार सम्यक् चारित्र और सम्यक् चारित्र का सार निर्वाण है, निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है।[1] इस प्रकार आचार मुक्तिमहल मे प्रवेश करने का भव्य द्वार है। उससे आत्मा पर लगा हुआ अनन्त काल का कर्म-मल छट जाता है।

तीर्थंकर प्रभु तीर्थ-प्रवर्तन के प्रारम्भ मे आचारांग के अर्थ का प्ररूपण करते हैं और गणधर उसी क्रम से सूत्र की सरचना करते हैं। अत अतीत काल मे प्रस्तुत आगम का अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता था। आचाराग का अध्ययन किये बिना सूत्रकृताग प्रभृति आगम साहित्य का अध्ययन नही किया जा सकता था।[2] जिनदास महत्तर ने लिखा है—आचाराग का अध्ययन करने के बाद ही धर्मकथानुयोग; गणितानुयोग, और द्रव्यानुयोग पढना चाहिए।[3] यदि कोई साधक आचाराग को बिना पढे अन्य आगम-साहित्य का अध्ययन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4] व्यवहारभाष्य मे वर्णन है कि आचाराग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन से नवदीक्षित श्रमण की उपस्थापना की जाती थी और उसके अध्ययन से ही श्रमण भिक्षा लाने के लिए योग्य बनता था।[5] आचाराग का अध्ययन किये बिना कोई भी श्रमण आचार्य जैसे गौरव-गरिमायुक्त पद को प्राप्त नही कर सकता था।[6] गणि बनने के लिए आचार-धर होना आवश्यक है, आचाराग को जैन दर्शन का वेद माना है। भद्रबाहु आदि ने आचाराग के महत्त्व के सम्बन्ध मे जो अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं वे आचाराग की गौरव-गरिमा का दिग्दर्शन हैं।

आचारांग की प्राथमिकता

प्राचीन प्रमाणो के आधार से यह स्पष्ट है कि द्वादशागी मे आचाराग प्रथम है, पर वह रचना की दृष्टि से प्रथम है या स्थापना की दृष्टि से ? इस सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। नन्दी चूर्णी मे आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सूचित किया है कि जब तीर्थंकर भगवान् तीर्थ का प्रवर्तन करते है उस समय वे पूर्वगत सूत्र का अर्थ सर्वप्रथम करते हैं। एतदर्थ ही वह पूर्व कहलाता है। किन्तु जब सूत्र की रचना करते हैं तो 'आचाराग-सूत्रकृताग' आदि आगमो की रचना करते हैं और उसी तरह वे स्थापना भी करते हैं। अत अर्थ की दृष्टि की पूर्व सर्वप्रथम हैं, किन्तु सूत्र-रचना और स्थापना की दृष्टि से आचाराग सर्वप्रथम है।[7] इसका समर्थन आचार्य हरिभद्र[8] तथा आचार्य अभयदेव ने भी किया है।[9]

आचाराग चूर्णी मे लिखा है कि जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे आचाराग का अर्थ सर्वप्रथम कहते

---

१ अगाण कि सारो ? आयारो तस्स हवइ कि सारो ?
अणुओगत्थो सारो, तस्स वि य परूवणा सारो ॥
-सारो परूवणाए चरण तस्स वि य होइ निव्वाण।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाह जिणाविति ॥ —आचाराग निर्युक्ति—गा० १६।१७

२. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२।

३. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२। ४ निशीथ १६—१

५ व्यवहार भाष्य ३। १७४—१७५।

६ आयारम्मि अहीए ज नाओ होइ समणधम्मो उ।
तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढम गणिट्ठाण ॥

—आचाराग निर्युक्ति गाथा० १०

७ आचाराग निर्युक्ति गाथा० ८

८ (क)—नन्दी सूत्र वृत्ति पृष्ठ ८८
(ख)—नन्दी सूत्र चूर्णी पृष्ठ ७५

९. समवायाग वृत्ति पृष्ठ १३०-१३१

हैं और उसके बाद ग्यारह अंगों का अर्थ कहते हैं। और उसी क्रम से गणधर भी सूत्र की रचना कहते हैं।[1]

आचार्य शीलाङ्क का भी यही अभिमत है कि तीर्थंकर आचारांग के अर्थ का प्ररूपण ही सर्वप्रथम करते हैं। और गणधर भी उसी क्रम से स्थापना करते हैं।[2] समवायांगवृत्ति में आचार्य अभयदेव ने यह भी लिखा है कि आचारांग-सूत्र स्थापना की दृष्टि से प्रथम है किन्तु रचना की दृष्टि से वह बारहवाँ है।[3]

पूर्व साहित्य से अंग निर्यूढ हैं इस दृष्टि से आचारांग को स्थापना की दृष्टि से प्रथम माना है पर रचनाक्रम की दृष्टि से नहीं। आचार्य हेमचन्द्र[4] और गुणचन्द्र[5] ने, जिन्होंने भगवान् महावीर के जीवन की पवित्र गाथाएँ अंकित की हैं, उन्होंने लिखा है कि भगवान् महावीर ने गौतम प्रभृति गणधरों को सर्वप्रथम त्रिपदी का ज्ञान प्रदान किया। और उन्होंने त्रिपदी से प्रथम चौदह पूर्वों की रचना की और उस के बाद द्वादशांगी की रचना की।

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अंगो से पहले पूर्वों की रचना हुयी तो द्वादशांगी की रचना में आचारांग का प्रथम स्थान किस प्रकार है ? समाधान है; पूर्वों की रचना प्रथम होने पर भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम मे प्रथम स्थान मानने पर बाधा नही आती है। कारण कि बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग, चूलिका ये पाँच विभाग हैं। उसमें से एक विभाग पूर्व है।[6] सर्वप्रथम गणधरो ने पूर्वों की रचना की, पर बारहवे अंग दृष्टिवाद का बहुत बड़े हिस्से का ग्रन्थन तो आचारांग आदि के क्रम से बारहवें स्थान पर ही हुआ है। ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नही है कि दृष्टिवाद का ग्रथन सर्वप्रथम किया हो, इसलिये निर्युक्तिकार का यह कथन कि आचारांग रचना व स्थापना की दृष्टि से प्रथम है, युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

आचारांग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए चूर्णिकार[7] और वृत्तिकार[8] ने लिखा है कि अतीत काल मे जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सभी ने सर्वप्रथम आचारांग का उपदेश दिया, वर्तमान मे जो तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र मे विराजित हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और भविष्यकाल मे जितने भी तीर्थंकर होंगे वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे।

आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने का कारण यह है कि संघ-व्यवस्था की दृष्टि से आचार-संहिता की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। जब तक आचार-संहिता की स्पष्ट रूपरेखा न हो वहाँ तक सम्यक् प्रकार से आचार का पालन नहीं किया जा सकता। अतः किसी का भी आचारांग की प्राथमिकता के सम्बन्ध मे विरोध नही है। यहाँ तक कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने अंग साहित्य मे आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया है। आचारांग में विचारों के ऐसे मोती पिरोये गये हैं जो प्रबुद्ध पाठकों के दिल लुभाते हैं, मन को मोहते हैं। यही कारण है कि संक्षिप्त शैली में लिखित सूत्रों का अर्थ रूपी शरीर

---

१ सव्वे तित्थगरा वि आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खन्ति, ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताए च्चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्तं गंथति। इयाणि पढममगंति कि निमित्तं आयारो पढमं ठवियो।
—आचारांग चूर्णी

२ आचारांग वृत्ति, पृष्ठ ६।

३ समवायांग वृत्ति, पृष्ठ १०१।

४. त्रिषष्ठि० १०।५।१६५

५. महावीरचरियं ८।२५७ श्री गुणचन्द्राचार्य।

६ अभिधान चिन्तामणि १६०।

७ आचारांग चूर्णी, पृष्ठ ३

८. आचारांग शीलांक वृत्ति, पृष्ठ ६।

विराट् है, जब हम आचारांग के व्याख्या-साहित्य को पढते हैं तो स्पष्ट परिज्ञात होता है कि सूत्रीय शब्द-बिन्दु में अर्थ-सिन्धु समाया हुआ है। एक-एक सूत्र पर, और एक-एक शब्द पर विस्तार से ऊहापोह किया गया है। इतना चिन्तन किया गया है, कि ज्ञान की निर्मल गगा बहती हुई प्रतीत होती है। श्रमणाचार का सूक्ष्म विवेचन और इतना स्पष्ट चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। कवि ने कहा है "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में जो यहाँ है वह अन्यत्र भी है, और जो यहाँ नही है, वह अन्यत्र भी नही है। आचाराग मे बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनो प्रकार के आचार का गहराई से विश्लेषण किया गया है।

आचारांग का विषय

पूर्व पक्तियो मे यह बताया है कि आचाराग का मुख्य प्रतिपाद्य विषय "आचार" है। समवायाग[1] और नन्दीसूत्र[2] मे आचाराग मे आये हुए विषय का सक्षेप मे निरूपण इस प्रकार है—

आचार-गोचर, विनय, वैनयिक, (विनय का फल) उत्थितासन, निषण्णासन और शयितासन, गमन, चक्रमण, अशन आदि की मात्रा, स्वाध्याय प्रभृति मे योग नियुञ्जन, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्तपान, उद्गम-उत्पादन, एषणा प्रभृति की शुद्धि, शुद्धाशुद्ध के ग्रहण का विवेक, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि।

आचाराग-निर्युक्ति मे[3] आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनो का सार सक्षेप मे इस प्रकार है।

(१) जीव-सयम, जीवो के अस्तित्व का प्रतिपादन और उसकी हिंसा का परित्याग।

(२) किन कार्यों के करने से जीव कर्मों से आबद्ध होता है और किस प्रकार की साधना करने से जीव कर्मों से मुक्त होता है।

(३) श्रमण को अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग समुपस्थित होने पर सदा समभाव मे रहकर उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए।

(४) दूसरे साधको के पास अणिमा, गणिमा, लघिमा आदि लब्धियो के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य को निहार कर साधक सम्यक्त्व से विचलित न हो।

(५) इस विराट विश्व मे जितने भी पदार्थ हैं व निस्सार हैं, केवल सम्यक्त्व रत्न ही सार रूप है। उसे प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करे।

(६) सद्गुणो को प्राप्त करने के पश्चात् श्रमणो को किसी भी पदार्थ मे आसक्त बन कर नही रहना चाहिये।

(७) सयम-साधना करते समय यदि मोह-जन्य उपसर्ग उपस्थित हो तो उन्हे सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिये। पर साधना से विचलित नही होना चाहिये।

(८) सम्पूर्ण गुणो से युक्त अन्तक्रिया की सम्यक् प्रकार से आराधना करनी चाहिये।

(९) जो उत्कृष्ट-सयम-साधना, तप आराधना भगवान् महावीर ने की, उसका प्रतिपादन किया गया है।

आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे नौ अध्ययन हैं। चार चूलिकाओ से युक्त द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे सोलह अध्ययन हैं, इस तरह कुल पच्चीस अध्ययन हैं। आचाराग निर्युक्ति मे जो अध्ययनो का क्रम निर्दिष्ट

---

१. समवायाग प्रकीर्णक, समवाय सूत्र ८९।
२ नन्दीसूत्र सूत्र ८०।
३ आचाराग निर्युक्ति गाथा ३३, ३४।

है, वह समवायांग के अध्ययन-क्रम से पृथक्ता लिये हुए हैं। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययनों का क्रम इस प्रकार है—

आचारांग निर्युक्ति[1]	समवायांग[2]
१. सत्थपरिण्णा	१. सत्थपरिण्णा
२. लोगविजय	२ लोकविजय
३ सीओसणिज्ज	३. सीओसणिज्ज
४ सम्मत्त	४. सम्मत्त
५ लोगसार	५ आवती
६ धुत	६ धुत
७ महापरिण्णा	७ विमोहायण
८. विमोक्ख	८ उवहाणसुय
९ उवहाणसुय	९. महापरिण्णा

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरतिप्रकरण मे समवायाग के क्रम का ही अनुसरण किया है। पाँचवें अध्ययन के दो नाम प्राप्त होते हैं—लोकसार और आवती। आचाराग-वृत्ति से यह परिज्ञात होता है कि उन्हे ये दोनो नाम मान्य थे।[3] आचाराग निर्युक्ति मे महापरिज्ञा अध्ययन को सातवा अध्ययन माना है।[4] और चूर्णिकार तथा वृत्तिकार इन दोनो ने भी आचाराग निर्युक्ति के मत को मान्य किया है।[5] परन्तु स्थानाग[6] समवायाग[7] और प्रशमरतिप्रकरण[8] मे महापरिज्ञा अध्ययन को सातवाँ न मानकर नवम अध्ययन माना है।

आवश्यकनिर्युक्ति तथा प्रभावकचरित आदि ग्रन्थो के आधार से यह स्पष्ट है कि वज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से ही आकाशगामिनीविद्या प्राप्त की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि वज्रस्वामी के समय तक महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान था। किन्तु आचाराग वृत्तिकार के समय महापरिज्ञा अध्ययन नही था। विज्ञो का अभिमत है कि चूर्णिकार के समय महापरिज्ञा अध्ययन अवश्य रहा होगा पर उसके पठन-पाठन का क्रम बन्द कर दिया गया होगा।

आचारांग निर्युक्ति मे आठवे अध्ययन का नाम "**विमोक्खो**" है तो समवायांग मे उसका नाम "**विमोहायतन**" है। आचाराग मे चार स्थलो पर "विमोहायतन" शब्द व्यवहृत हुआ है। जिससे प्रस्तुत अध्ययन का नाम "विमोहायतन" रखा है या विमोक्ष की चर्चा होने से विमोक्ष कहा गया हो।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे चार चूलाये हैं उनमे प्रथम और द्वितीय चूला मे सात-सात अध्ययन है, तृतीय और चतुर्थ चूला मे एक-एक अध्ययन है। चूर्णिकार की दृष्टि से **रूवसत्तिक्कय** यह द्वितीय चूला का चतुर्थ अध्ययन है, और **सद्दसत्तिक्कय** यह पाँचवाँ अध्ययन है।

आचाराग सूत्र की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे और आचाराग की शीलाकवृत्ति मे तथा प्रशमरति ग्रन्थ मे **सद्दसत्तिक्कय** के पश्चात् **रूवसत्तिक्कय**। इस प्रकार का क्रम सम्प्राप्त होता है।

---

१. आचाराग निर्युक्ति-गाथा-३१, ३२ पृष्ठ ९
२ समवायाग सूत्र प्रकीर्णक, समवाय सूत्र—८९
३ आचाराग वृत्ति पृष्ठ १९६।
४ आचाराग निर्युक्ति गाथा ३१-३० पृष्ठ ९।
५ आचारांग चूर्णी।
६. स्थानाग सूत्र ९।
७. समवायाग सूत्र ८९।
८. प्रशमरति प्रकरण ११४-११७।

गोम्मटसार, धवला, जयधवला, अगपण्णत्ति तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के मननीय ग्रन्थो में आचाराग का जो परिचय प्रदान किया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग में मन, वचन, काया, भिक्षा, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन और विनय इन आठ प्रकार की शुद्धियो के सम्बन्ध मे चिन्तन किया गया है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे पूर्ण रूप से यह वर्णन प्राप्त होता है।

आचारांग का पदप्रमाण

आचारांगनिर्युक्ति[1] हारिभद्रीया नन्दीवृत्ति[2] नन्दीसूत्रचूर्णि[3] और आचार्य अभयदेव की समवायागवृत्ति[4] मे आचारांग सूत्र का परिमाण १८ हजार पद निर्दिष्ट है। पर, प्रश्न यह है कि पद क्या है? जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[5] ने पद के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि पद अर्थ का वाचक और द्योतक है। बैठना, बोलना, अश्व वृक्ष आदि पद वाचक कहलाते है। प्र, परि, च, वा आदि अव्यय पदो को द्योतक कहा जाता है। पद के नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातिक और मिश्र आदि प्रकार हैं। अनुयोगद्वार वृत्ति[6] दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णी[7] दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति[8] आचाराग शीलाक वृत्ति[9] मे उदाहरण सहित पद का स्वरूप प्रतिपादित किया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि ने[10] पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अर्थसमाप्ति का नाम पद है।' पर आचारांग आदि मे अठारह हजार पद बताये गए हैं। किन्तु पद के परिमाण के सम्बन्ध में परम्परा का अभाव होने से पद का सही स्वरूप जानना कठिन है। प्राचीन टीकाकारो ने भी स्पष्ट रूप से कोई समाधान नही किया है।

जयधवला मे प्रमाणपद, अर्थपद और मध्यमपद, ये तीन प्रकार बताये हैं। आठ अक्षरो वाला प्रमाण पद है। चार प्रमाण पदो का एक श्लोक या गाथा होती है। जितने अक्षरो से अर्थ का बोध हो वह अर्थपद है। १६३४८३०७८८८ अक्षरो वाला मध्यम पद कहलाता है। जयधवला का अनुसरण ही धवला, गोम्मटसार, अगपण्णत्ती मे हुआ है। प्रस्तुत दृष्टि से आचाराग के अठारह हजार पदो के अक्षरो की सख्या की परिगणना २९४ २६९ ५४१ १९८ ४००० होती है। और अठारह हजार पदो के श्लोको की सख्या ९१९ ५९२ २३११ ८७००० बताई गई है।

यह एक ज्वलन्त सत्य है कि जो पद-परिमाण प्रतिपादित किया गया है उस मे कालक्रम की दृष्टि से बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। वर्तमान में जो आचाराग उपलब्ध है उसमे कितनी ही प्रतियो मे दो हजार छः सौ चमालीस श्लोक प्राप्त होते हैं तो कितनी ही प्रतियो मे दो हजार चार सौ चौपन, तो कितनी प्रतियो मे दो हजार पाच सौ चौपन भी मिलते हैं। यदि हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करें तो सूर्य के उजाले की भाँति यह ज्ञात हुये बिना नही रहेगा कि जैन आगम-साहित्य के साथ ही यह बात नही हुयी है किन्तु बौद्ध त्रिपिटिक-मज्झिम निकाय, दीघनिकाय, सयुक्त निकाय मे जो सूत्र सख्या बताई गई है वह भी वर्तमान मे उपलब्ध नही है। वही बात वैदिक-परम्परा मान्य ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और पुराण-साहित्य के

---

१ आचाराग निर्युक्ति गाथा ११।
२ हारिभद्रीया नन्दीवृत्ति पृष्ठ ७६।
३ नन्दीसूत्र चूर्णी पृष्ठ ३२।
४. समवायाग वृत्ति पृष्ठ १०८।
५. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १००३, पृष्ठ ४८-६७।
६ अनुयोगद्वार वृत्ति पृष्ठ २४३-२४४।
७ दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णी, पृष्ठ ९।
८ दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति १।१
९ आचाराग शीलांकवृत्ति १।१
१०. कर्मग्रन्थ—प्रथम कर्मग्रन्थ गाथा ७।

सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मैं चाहूँगा कि आगम के मूर्धन्य मनीषी गण इस सम्बन्ध मे प्रमाण पुरस्सर तर्कयुक्त समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि समवायाग और नन्दी सूत्र मे आचारांग की जो अठारह हजार पद-सख्या बताई है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों की है, यह बात आचार्य भद्रबाहु और अभयदेवसूरि ने पूर्ण रूप से स्पष्ट की है। यह हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि महापरिज्ञा अध्ययन चूर्णिकार के पश्चात् विच्छिन्न हो गया है। यह सत्य है कि आचार्य शीलाक के पहले उसका विच्छेद हुआ है। ऐसी अनुश्रुति है कि महापरिज्ञा अध्ययन मे ऐसे अनेक चामत्कारिक मन्त्र आदि विद्याएँ थी जिसके कारण गम्भीर पात्र के अभाव मे उसका पठन-पाठन बन्द कर दिया गया। पर, प्रस्तुत अनुश्रुति के पीछे ऐतिहासिक प्रबल-प्रमाण का अभाव है। निर्युक्तिकार का ऐसा अभिमत है कि आचार-चूला के सातो अध्ययन महापरिज्ञा के सात उद्देशको से निर्यूढ किये गये है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि महापरिज्ञा मे जिन विषयो पर चिन्तन किया गया उन्ही विषयो पर सातो अध्ययनो में चिन्तन-निर्यूढ किया गया हो। मनीषियो का ऐसा भी मानना है कि महापरिज्ञा से उद्धृत सातो अध्ययन पठन-पाठन में व्यवहृत होने लगे तब महापरिज्ञा अध्ययन का पठन-पाठन बन्द हो गया होगा अथवा उसके अध्ययन की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की जाने लगी होगी। जिससे वह विच्छन्न हुआ।

आचारांग के नाम

आचाराग निर्युक्ति मे आचाराग के दस पर्यायवाची नाम प्राप्त होते हैं[2]—

१. **आयार**—यह आचरणीय का प्रतिपादन करने वाला है, एनदर्थ आचार है।

२ **आचाल**—यह निविड बध को आचालित (चलित) करता है, अत आचाल है।

३ **आगाल**—चेतना को सम धरातल में अवस्थित करता है, अत आगाल है।

४ **आगर**—यह आत्मिक-शुद्धि के रत्नो को पैदा करने वाला है, अतः आगर है।

५ **आसास**—यह सत्रस्त चेतना को आश्वासन प्रदान करने मे सक्षम है, अत आश्वास है।

६ **आयरिस**—इसमे इतिकर्तव्यता का स्वरूप देख सकते है, अत. यह आदर्श है।

७ **अङ्ग**—यह अन्तस्तल मे अहिंसा आदि जो भाव रहे हुए है, उनको व्यक्त करता है, अत अग है।

८ **आइण्ण** प्रस्तुत आगम मे आचीर्ण धर्म का निरूपण किया गया है, अतः यह आचीर्ण है।

९. **आजाइ**—इससे ज्ञान आदि आचारो की प्रसूति होती है, अतः आजाति है।

१० **आमोक्ख**—बन्धन-मुक्ति का यह साधन है, अत आमोक्ष है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने[3] लिखा है कि शिष्यो के अनुग्रहार्थ श्रमणाचार के गुरुतम रहस्यो को स्पष्ट करने के लिये आचाराग की चूलाओ का आचार मे से निर्यूहण किया गया है। किस-किस अध्ययन को कहाँ-कहाँ से निर्यूढ किया गया है उसका उल्लेख आचारांग चूर्णी में[4] भी और आचाराग वृत्ति[5] में भी प्राप्त होता है। वह तालिका इस प्रकार है—

---

१. आचारांग निर्युक्ति गाथा—२९०

२ आचारांग निर्युक्ति गाथा ७

३. आचारांग निर्युक्ति गाथा ७ से १० तक

४. आचारांग चूर्णी सूत्र ८७, ८८, ८९, २४०, १९२, १९९, १०२

५. आचारांग वृत्ति पृष्ठ ३१९ से ३२० तक।

निर्यूहण-स्थल आचारांग		निर्यूढ अध्ययन आचार चूला
अध्ययन	उद्देशक	अध्ययन
२	५	१, २, ५, ६, ७
८	२	१, २, ५, ६, ७
५	४	३
६	५	४
७	१–७	१८-४
१		१५
६	२-४	१६

प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय वस्तु का आचार नामक बीसवाँ प्राभृत।

आचार—प्रकल्प (निशीथ)

आचाराग निर्युक्ति मे केवल निर्यूहण स्थल के अध्ययन और उद्देशको का सकेत किया है। कहीं-कहीं पर चूर्णीकार[1] और वृत्तिकार[2] ने निर्यूहण सूत्रो का भी सकेत किया है।

निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति मे जिन निर्देशो का सूचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि आचार-चूला आचाराग से उद्धृत नही है अपितु आचाराग के अति सक्षिप्त पाठ का विस्तार पूर्वक वर्णन है। प्रस्तुत तथ्य की पुष्टि आचाराग निर्युक्ति से भी होती है।[3] आचाराग्र मे जो अग्र शब्द आया है वह वहाँ पर उपकाराग्र के अर्थ मे है। आचाराग चूर्णी मे उपकाराग्र का अर्थ पूर्वोक्त का विस्तार और अनुक्त का प्रतिपादन करने वाला होता है। आचाराग्र मे आचाराग के जिस अर्थ का प्रतिपादन है, उस अर्थ का उसमे विस्तार तो है ही, साथ ही उसमे अप्रतिपादित अर्थ का भी प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए उसको आचार मे प्रथम स्थान दिया गया है।

आचारांग के रचयिता

आचाराग के प्रथम वाक्य से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर महावीर थे और सूत्र के रचयिता पचम गणधर सुधर्मा। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् अर्थ रूप मे जब देशना प्रदान करते हैं तो प्रत्येक गणधर अपनी भाषा मे सूत्रो का निर्माण करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे और नौ गण थे। ग्यारह गणधरो मे आठवें और नौवे तथा दशवे और ग्यारहवें गणधरों की वाचनाये सम्मिलित थी, जिस के कारण नौ गण कहलाये। भगवान् महावीर के समय इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोडकर शेष गणधरो का निर्वाण हो चुका था। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जिसके कारण वर्तमान मे जो अग-साहित्य उपलब्ध है वह सुधर्मा स्वामी की देन है।

आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम आचार या ब्रह्मचर्य तथा नव ब्रह्मचर्य ये नाम उपलब्ध होते है। ब्रह्मचर्य नाम तो है ही। किन्तु नौ अध्ययन होने से नव ब्रह्मचर्य के नाम से भी वह प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रसिद्ध है। विज्ञो की यह स्पष्ट मान्यता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध सुधर्मा स्वामी द्वारा रचित ही है किन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता के सम्बन्ध मे उनका कहना है कि वह स्थविरकृत है।[4]

---

१ जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा, पृष्ठ ५२ टिप्पण १

२. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण २

३ आचाराग निर्युक्ति गाथा २८६

४ आचाराग निर्युक्ति गाथा २८७

स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है[1] और आचार्य शीलांक ने चतुर्दशपूर्वविद् किया है[2]। किन्तु स्थविर का नाम उल्लिखित नही है। यह माना जाता है प्रथम श्रुतस्कन्ध के गम्भीर रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग का अर्थ आचाराग्र मे प्रविभक्त किया।

सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि पाँचो चूलाओ के निर्माता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्ति हैं? क्योकि आचाराग निर्युक्ति मे स्थविर शब्द का प्रयोग बहुवचन मे हुआ है[3] जिससे यह ज्ञात होता है कि उसके रचयिता अनेक व्यक्ति होने चाहिये। समाधान है कि 'स्थविर' शब्द का बहुवचन मे जो प्रयोग हुआ है वह सम्मान का प्रतीक है। पाँचो की चूलाओ के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं।

आचाराग चूर्णि मे वर्णन है कि स्थूलिभद्र की बहन साध्वी यक्षा महाविदेह-क्षेत्र मे भगवान् सीमधर स्वामी के दर्शनार्थ गयी थी। लौटते समय भगवान् ने उसे भावना और विमुक्ति ये दो अध्ययन दिये[4]। आचार्य हेमचन्द्र ने[5] परिशिष्ट पर्व मे यक्षा साध्वी के प्रसग का चित्रण करते हुए लिखा है कि भगवान् सीमधर ने भावना और विमुक्ति, रतिवाक्या (रतिकल्प) और विविक्तचर्या के चार अध्ययन प्रदान किये। सघ ने दो अध्ययन आचाराग की तीसरी और चौथी चूलिका के रूप मे और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक चूलिका के रूप मे स्थापित किये। आवश्यक चूर्णि मे दो अध्ययनो का वर्णन है—तो परिशिष्ट-पर्व मे चार अध्ययनो का उल्लेख है। आचार्य हेमचन्द्र ने दो अध्ययनो का समर्थन किस आधार से किया है? आचाराग-निर्युक्ति और दशवैकालिक-निर्युक्ति मे प्रस्तुत घटना का कोई सकेत नही है। फिर वह आवश्यक चूर्णि मे किस प्रकार आ गयी यह शोधार्थी के लिए अन्वेषणीय है।

कितने ही निष्ठावान् विज्ञो का अभिमत है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता गणधर सुधर्मा ही हैं क्योकि समवायाग और नन्दी मे आचाराग का परिचय है। उससे यह स्पष्ट है कि वह परिशिष्ट के रूप मे बाद मे जोडा हुआ नही है।

निर्युक्तिकार ने जो आचाराग का पद-परिमाण बताया है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का है। पाँच चूलाओ सहित आचाराग की पद सख्या बहुत अधिक है। निर्युक्तिकार के प्रस्तुत कथन का समर्थन नन्दी चूर्णि और समवायाग वृत्ति मे किया गया है। पर एक ज्वलन्त प्रश्न यह है कि आचाराग के समान अन्य आगमो मे भी दो श्रुतस्कन्ध हैं पर उन आगमो मे प्रथम श्रुतस्कन्ध की और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पद-सख्या कही पर भी अलग-अलग नही बतायी है। केवल आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का पद-परिमाण किस आधार से दिया है? इस सम्बन्ध मे निर्युक्तिकार व चूर्णिकार तथा वृत्तिकार मौन हैं। धवला और अगपण्णत्ति जो दिगम्बर परम्परा के माननीय-ग्रन्थ है, इनमे आचाराग की पद-सख्या भी श्वेताम्बर ग्रन्थो की तरह अठारह हजार बतायी है। उन्होने जिन विषयो का निरूपण किया है वे द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रतिपादित विषयो के साथ पूर्ण रूप से मिलते हैं।

समवायाग और नन्दी मे, दृष्टिवाद मे चौदह पूर्वों मे चार पूर्वों के अतिरिक्त किसी भी अग की चूलिकाएँ नही बतायी है। जबकि प्रत्येक अग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, पद और अक्षरो तक की सख्या का निरूपण है। वहाँ पर चार पूर्वों की चूलिकाये बतायी हैं किन्तु आचाराग की चूलिकाओ का निर्देश नही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चार पूर्वों के अतिरिक्त अन्य किसी भी आगम की चूलिकायें नहीं थी।

---

१ आचाराग चूर्णि, पृष्ठ ३२६।
२. आचाराग वृत्ति, पत्र २९०।
३. आचाराग निर्युक्ति, गाथा २८७।
४ आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १८८।
५. परिशिष्ट पर्व-९।९७-१०० पृष्ठ-९०।

आचारांग और आचार प्रकल्प ये दोनो एक नहीं है। क्योंकि आचारांग कहीं से भी निर्यूढ नहीं किया गया है, जबकि आचार-प्रकल्प प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु आचार-नामक बीसवें प्राभृत से उद्धृत है। यह बात निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति मे स्पष्ट रूप से आयी है और यह बहुत ही स्पष्ट है कि साध्वाचार के लिए महान उपयोगी होने से चूला न होने पर भी चूला के रूप में उसे स्थान दिया गया है। समवायाग-सूत्र में "आयारस्स भगवओ सचूलियागस्स" यह पाठ आता है। संभव है पाठ मे चूलिका शब्द का प्रयोग होने के कारण सन्देह-प्रद स्थिति उत्पन्न हुई हो। जिससे पद संख्या और चूलिका के सम्बन्ध मे आचारांग के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के रूप में आचाराग से भिन्न आचाराग की चूलिकायें आचाराग और आचारांग का परिशिष्ट मानने की निर्युक्तिकार आदि को कल्पना करनी पडी हो।

यह स्पष्ट है कि आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा से द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा बिलकुल पृथक् है, जिसके कारण चिन्तको में यह धारणा बनी हुई है कि दोनो के रचयिता पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। पर आगम के प्रति जो अत्यन्त निष्ठावान है, उनका अभिमत है कि दोनो श्रुतस्कन्धो के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे तात्त्विक-विवेचन की प्रधानता होने से सूत्र-शैली मे उसकी रचना की गयी है। जिसके कारण उसके भाव-भाषा और शैली मे क्लिष्टता आयी है और द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में साधना रहस्य को व्याख्यात्मक दृष्टि से समझाया गया है, इसलिए उसकी शैली बहुत ही सुगम और सरल रखी गयी है। आधुनिक युग मे कितने ही लेखक जब दार्शनिक पहलुओ पर चिन्तन करते हैं उस समय उनकी भाषा का स्तर अलग होता है और जब वे बाल-साहित्य का लेखन करते हैं, उस समय उनकी भाषा पृथक् होती है। उसमे वह लालित्य नही होता और न वह गम्भीरता ही होती है। यही बात प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा के सम्बन्ध मे समझना चाहिए।

सभी मूर्धन्य मनीषियो ने इस सत्य को एक स्वर से स्वीकारा है कि आचाराग सर्वाधिक प्राचीन आगम है। उसमे जो आचार का विश्लेषण हुआ है वह अत्यधिक मौलिक है।

रचना शैली

आचाराग सूत्र मे गद्य और पद्य दोनो ही शैली का सम्मिश्रण है। गद्य का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। दशवैकालिक चूर्णि में[1] आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को गद्य के विभाग मे रखा है। उसकी शैली चौर्ण पद मानी है। आचार्य हरिभद्र ने भी यही मत व्यक्त किया है।[2] आचार्य भद्रबाहु ने चौर्ण पद की व्याख्या करते हुए लिखा है "जो अर्थबहुल, महार्थ हेतु-निपात और उपसर्ग से गम्भीर बहुपाद अव्यवच्छिन्न गम और नय से विशुद्ध होता है वह चौर्णपद है।"[3]

प्रस्तुत परिभाषा मे बहुपाद शब्द आया है जिसका अर्थ है पाद का अभाव। जिसमें केवल गद्य ही होता है। पर चौर्ण वह है जिसमें गद्य के साथ बहुपाद (चरण) भी होते हैं। आचाराग सूत्र मे गद्य के साथ पद्य भी है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे आठवें अध्ययन का आठवा उद्देशक और नवम अध्ययन पद्य रूप मे है। शेष छ अध्ययनो मे पन्द्रह पद्य तो स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। टीकाकार ने जहाँ-जहाँ पर पद्य है, उसका सूचन किया है। केवल ७८ और ७९ उन दो श्लोको का उल्लेख टीका मे नही है। तथापि मुनि श्री जम्बूविजयजी ने उसे पद्य रूप मे दिये हैं। ९९ सूत्र पद्यात्मक है ऐसा सूचन अनेक स्थलो पर हुआ है। तथापि उसमे छन्द की दृष्टि से कुछ न्यूनता है। आचाराग मे ऐसे अनेक स्थल पद्य रूप मे प्रतीत होते हैं पर वे गद्य-रूप में ही आचारांग मे व्यवहृत हैं। मनीषियो का मत है कि मूल में वे पद्य होगे किन्तु आज वे पद्य रूप मे व्यवहृत नहीं हैं। कितने ही वाक्यो को हम गद्य रूप मे भी पढ़कर

१. दशवैकालिक चूर्णि पृ० ७८।
२. दशवैकालिक वृत्ति पृ० ८८।
३. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा, १७४।

आनन्द ले सकते हैं और पद्य-रूप मे भी । द्वितीय श्रुतस्कन्ध का अधिकांश भाग गद्य-रूप में है। पन्द्रहवें अध्ययन मे अठारह पद्य प्राप्त होते हैं और सोलहवाँ अध्ययन पद्य-रूप मे है। वर्तमान मे आचारांग के दोनो श्रुतस्कन्धो मे १४६ पद्य उपलब्ध हैं। समवायाग और नन्दीसूत्र मे जो आचाराग का परिचय उपलब्ध है उसमे सख्येय वेष्टक और सख्येय श्लोक बताये हैं।

डाक्टर शुब्रिंग ने आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पद्यो की तुलना बौद्धत्रिपिटक-सुत्तनिपात के साथ की है। आचाराग के पद्य विविध छन्दो मे उपलब्ध होते हैं। उसमें आर्या, जगती, त्रिष्टुभ, वैतालिय, अनुष्टुप श्लोक आदि विविध छन्द हैं। आचाराग द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम दो चूलिकाएँ पूर्ण गद्य मे हैं, तृतीय चूलिका मे भगवान् महावीर के दान-प्रसग मे छ आर्याओ का प्रयोग हुआ है, दीक्षा, शिविका मे आसीन होकर प्रस्थान करने का वर्णन ग्यारह आर्याओ मे है और जिस समय दीक्षा ग्रहण करते हैं उस समय जन-मानस का चित्रण भी दो आर्याओ मे किया गया है। महाव्रतो की भावनाओ का वर्णन अनुष्टुप छन्दो मे किया गया है। चतुर्थ चूलिका मे जो पद्य हैं वे उपजाति प्रतीत होते है। सुत्तनिपात के आमगन्ध सुत्त मे इस तरह के छन्द के प्रयोग दृग्गोचर होते है।

आचारांग की भाषा

सामान्य रूप से जैन आगमो की भाषा अर्धमागधी है, यद्यपि जैन-परम्परा का ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन करें तो सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होगा कि जैन-परम्परा ने भाषा पर इतना बल नही दिया है, उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि मात्र भाषा ज्ञान से न तो मानव की चित्त-शुद्धि हो सकती है और न आत्म-विकास ही हो सकता है। चित्त-विशुद्धि का मूलकारण सद्विचार है। भाषा विचारो का वाहन है, इसलिए जैन मनीषिगण सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अन्य प्रान्तीय भाषाओ को अपनाते रहे हैं और उनमे विपुल-साहित्य का भी सृजन करते रहे हैं। यही कारण है आचारांगसूत्र की भाषा-शैली मे भी परिवर्तन हुआ है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा बहुत ही गठी हुई सूत्रात्मक है तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा कुछ शिथिल और व्यास-प्रधान है।

यह स्पष्ट है कि भाषा के स्वरूप मे परिवर्तन होता आया है। आचार्य हेमचन्द्र ने आगमो की भाषा को आर्ष-प्राकृत कहा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वैदिक परम्परा मे ऋषियो के शब्दो की सुरक्षा पर अधिक बल दिया किन्तु अर्थ की सुरक्षा पर उतना बल नही दिया गया है। जिसके फलस्वरूप वेदो के शब्द प्राय सुरक्षित हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से विज्ञो मे पर्याप्त मत-भेद है, वैदिक विज्ञो ने आज दिन तक शब्दो की सुरक्षा के लिए बहुत ही प्रयास किया है पर अर्थ की दृष्टि से कोई विशेष प्रयास नही हुआ। पर जैन-परम्परा ने शब्द की अपेक्षा अर्थ पर विशेष बल दिया है। इस कारण पाठभेद तो मिलते हैं, किन्तु अर्थभेद नही मिलता। आचारागसूत्र मे भी पाठ-भेद की एक लम्बी परम्परा है। विभिन्न प्रतियो मे एक ही पाठ के विविध रूप मिलते हैं। विशेष जिज्ञासु शोधकर्ताओ को मुनि जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित आचारांगसूत्र के अवलोकन की मैं प्रेरणा करता हूँ। प्रस्तुत सम्पादन मे भी महत्त्वपूर्ण पाठान्तर और उनकी भिन्न अर्थवत्ता का सूचन कर नई दृष्टि दी है। विस्तार-भय से उनकी चर्चा मैं यहाँ नही कर रहा हूँ, पाठक स्वय इसे पढकर लाभ उठायें। हाँ एक बात और है कि वेद के शब्दो मे मन्त्रो का आरोपण किया गया, जिससे वेद के मन्त्र सुरक्षित रह गये। पर जैनागमो मे मन्त्र-शक्ति का आरोपण न होने से अर्थ सुरक्षित रहा है, पर शब्द नहीं।

जैन आगमो की भाषा मे परिवर्तन का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि जैन आगम प्रारम्भ मे लिखे नही गये थे। सुदीर्घकाल तक कण्ठस्थ करने की परम्परा रही। समय-समय पर द्वादश वर्षों के दुष्कालो ने आगम के बहुत अध्याय विस्मृत करा दिये। उनकी सयोजना के लिए अनेक वाचनाएँ हुईं। वीर निर्वाण स ९८० मे वल्लभीपुर नगर मे देवार्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे आगमो को लिपिबद्ध किया गया। इसके पश्चात् आगमो का निश्चित-रूप स्थिर हो गया।

दार्शनिक विषय

आचारांगसूत्र में जैनदर्शन के मूलभूत तत्त्व गर्भित हैं, आचाराग के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। उस युग के अन्य दार्शनिको के विचार से श्रमण भगवान् महावीर की विचारधारा अत्यधिक भिन्न थी। पाली-पिटको के अध्ययन से भी यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के समय अन्य अनेक श्रमण परम्पराएँ भी थीं। उन श्रमणो की विचारधारा क्रियावादी, अक्रियावादी के रूप मे चल रही थी। जो कर्म और उसके फल को मानते थे वे क्रियावादी थे, जो उसे नही मानते थे वे अक्रियावादी थे। भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ये दोनों ही क्रियावादी थे। पर इन दोनों के क्रियावाद मे अन्तर था। तथागत बुद्ध ने क्रियावाद को स्वीकार करते हुए भी शाश्वत आत्मवाद को स्वीकार नही किया। जबकि भगवान् महावीर ने आत्मवाद की मूल भित्ति पर ही क्रियावाद का भव्य-भवन खडा किया है। जो आत्मवादी है वह लोकवादी है और जो लोकवादी है वह कर्मवादी है, जो कर्मवादी है वह क्रियावादी है।[1] इस प्रकार भगवान् महावीर का क्रियावाद तथागत बुद्ध से पृथक् है। कर्मवाद को प्रधानता देने के कारण ईश्वर, ब्रह्म आदि से ससार की उत्पत्ति नही मानी गई। सृष्टि अनादि है, अतएव उसका कोई कर्ता नही है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा—जब तक कर्म है, आरम्भ-समारम्भ है, हिंसा है, तब तक ससार मे परिभ्रमण है, कष्ट है।[2]

जब आत्मा कर्म-समारम्भ का पूर्ण रूप से परित्याग करता है, तब उसके ससार-परिभ्रमण की परम्परा रुक जाती है। श्रमण वही है जिसने कर्म-समारम्भ का परित्याग किया है।[3] कर्म-समारम्भ का निषेध करने का मूल कारण यह है—इस विराट्-विश्व में जितने भी जीव हैं उन्हे सुख-प्रिय है, कोई भी जीव दु.खो की इच्छा नहीं करता।[4] जीवो को जो दु ख का निमित्त बनता है वही कर्म है, हिंसा है। यह जानना आवश्यक है कि जीव कौन है और कहाँ पर है ? आचाराग मे जीव-विद्या को लेकर गहराई से चिन्तन हुआ है, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, त्रसकाय और वायुकाय इन जीवो का परिचय कराया गया है[5], यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्य आगम साहित्य मे वायु को पाँच स्थावरो के साथ गिना है, पर यहाँ पर त्रसकाय के पश्चात्, यह किस अपेक्षा से अतिक्रम हुआ है यह चिन्तनीय है। और यह स्पष्ट किया है कि इन जीवनिकायो की हिंसा मानव अपने स्वार्थ के लिए करता है, पर उसे यह ज्ञात नही कि हिंसा से कितने कर्मों का बन्धन होता है। इसलिए सभी तीर्थंकरो ने एक ही उपदेश दिया कि तुम किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।[6] हिंसा से सभी प्राणियो को अपार कष्ट होता है, इसलिए हिंसा कर्मबन्ध का एक कारण है।

मौलिक रूप मे सभी आत्माएँ समान स्वभाव वाली हैं, किन्तु कर्म-उपाधि के कारण उनके दो रूप हो जाते हैं—एक ससारी आत्मा और दूसरी मुक्त आत्मा। आत्मा तभी मुक्त बनती है जब वह कर्म से रहित बनती है। इसलिए कर्मविघात के मूल साधन ही आचारांग में प्राप्त होते हैं। आत्मा को विज्ञाता भी बताया है।[7] आत्मा ज्ञानमय है। इस प्रकार की मान्यताएँ हमे उपनिषदो मे भी प्राप्त होती हैं।

भगवान् महावीर ने लोक को ऊर्ध्व, मध्य और अध. इन तीन विभागो मे विभक्त किया है[8]

---

१. आचाराग सूत्र १।३
२ आचाराग १०९
३ आचाराग ६, १३
४ आचाराग ८०
५ आचाराग ४८, ४६, ९, १, १३, १३
६ आचारागसूत्र १२६
७. आचारागसूत्र—१६५
८ आचारागसूत्र—९३

अधोलोक में दुःख की प्रधानता है, मध्यलोक में सुख और दुःख इनकी मध्यम स्थिति है, न सुख की उत्कृष्टता है और न दुःख की। ऊर्ध्वलोक मे सुख प्रधान रूप से रहा हुआ है। लोकातीत स्थान सिद्धिस्थान और मुक्तस्थान कहलाता है। ऊर्ध्वलोक मे देवलोक है, मध्यलोक मे मानव प्रधान है और अधोलोक में नरक है। मध्यलोक एक ऐसा स्थान है जहाँ से जीव ऊपर और नीचे दोनो स्थानो पर जा सकता है। नारकीय जीव देव नहीं बन सकता और देव नारकीय नहीं बन सकता, पर मानवलोक का जीव नरक मे भी जा सकता है, देव भी बन सकता है। उत्कृष्ट पाप के फल को भोगने का स्थान नरक है और पुण्य के फल को भोगने का स्थान स्वर्ग है। अच्छे कृत्य करने वाला स्वर्ग मे पैदा होता है और बुरे कृत्य करने वाला नरक मे। यदि मनुष्य बनकर वह साधना करता है तो मुक्त बन जाता है। वह संसारचक्र को समाप्त कर देता है। लोक और अलोक का स्पष्ट[1] उल्लेख प्राप्त होता है।

आचारांग के अनुसार अहिंसक जीवन का अर्थ है—सयमी-जीवन ! भगवान् महावीर और बुद्ध दोनो ने सदाचार पर बल दिया है, यहाँ जातिवाद को बिलकुल महत्त्व नही दिया गया है।

आचारांग मे साधना-पक्ष

तथागत बुद्ध साधना के उषा-काल मे उग्रतम साधना करते रहे पर उन्हे उससे आनन्द की उपलब्धि नही हुई। जिसके कारण उन्होने उग्र-साधना का परित्याग कर ध्यान का आलम्बन लिया। उनका यह अभिमत बन गया कि उग्र साधना ध्यान-साधना में बाधक है। पर प्रभु महावीर की साधना का जो शब्दचित्र आचारांग मे प्राप्त है वह बहुत ही कठोर था। प्रभु महावीर चार-चार माह तक एक ही स्थान पर अवस्थित होकर साधना करते थे। उन्होने छ माह तक भी अन्न और जल ग्रहण नही किया तथापि उनकी वह उग्र-साधना ध्यान मे बाधक नही अपितु साधक थी। प्रभु महावीर निरन्तर ध्यान-साधना मे लगे रहते थे। उन्होने अपने श्रमण-सघ की जो आचार-सहिता बनाई वह भी अत्यन्त उग्र साधना युक्त थी। श्रमण के अशन, वसन, पात्र, निवास-स्थान के सम्बन्ध मे यह नियम बनाया कि श्रमण के निमित्त यदि कोई वस्तु बनाई गई हो या पुरातन-पदार्थ मे नवीन-सस्कार किया गया हो तो वह भी भिक्षु के लिये अग्राह्य है। वह उद्दिष्ट-त्यागी है। यदि उसे अनुद्दिष्ट मिल जाए तो और उसके लिये उपयोगी हो तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। जैन श्रमण अन्य बौद्ध और वैदिक परम्परा के भिक्षुओ की तरह किसी के घर पर भोजन का निमन्त्रण भी ग्रहण नही करता था। बौद्ध-साहित्य मे बौद्ध-श्रमणो के लिये स्थान-स्थान पर आवास हेतु विहारो के निर्माण का वर्णन है और वैदिक परम्परा के तापसो के लिये आश्रमो की व्यवस्था बताई गई है किन्तु जैन-श्रमणो के लिये किसी भी प्रकार मे निवास-स्थान का निर्माण करना निषिद्ध माना गया था। यदि निर्माण भी उसके निमित्त किया गया हो तो उसमे श्रमण अवस्थित नही हो सकता था। बौद्ध-भिक्षुओ के लिये वस्त्र-ग्रहण करना अनिवार्य था। श्रमणो के निमित्त क्रय करके जो गृहस्थ वस्त्र देता था उसे तथागत-बुद्ध सहर्ष स्वीकार करते थे। बुद्ध ने श्रमणो के निमित्त से दिये गये वस्त्रो को ग्रहण करना उचित माना था। पर जैन श्रमणो के लिये वस्त्र-ग्रहण करना उत्सर्ग मार्ग नही था और उसके निमित्त निर्मित-क्रीत वस्त्र को वह ग्रहण भी नही कर सकता था और न वह बहुमूल्य, उत्कृष्ट वस्त्रों को ग्रहण करता था। उसके पास वस्त्र होने पर ग्रीष्म-ऋतु आदि मे वस्त्र-धारण करना आवश्यक न होता तो वह उसे धारण नही करता और आवश्यक होने पर लज्जा-निवारणार्थ अनासक्त-भाव से वस्त्र का उपयोग करता था। श्रमण भिक्षा से अपना जीवनयापन करता था। भोजन के निमित्त होने वाली सभी प्रकार की हिंसा से वह मुक्त था। भगवान् महावीर के युग मे स्थूल जीवो की हिंसा से जन-मानस परिचित था। पर त्यागी और संन्यासी कहलाने वाले व्यक्तियो को भी सूक्ष्म-हिंसा का परिज्ञान नही था। वे नित्य नयी मिट्टी खोदकर लाते और आश्रम का लेपन करते थे। अनेको बार स्नान करने में धर्म का अनुभव करते।

१. आचारांगसूत्र १२०।

तथागत बुद्ध भी पानी मे जीव नहीं मानते थे।[1] वैदिक परम्परा मे "चउसट्ठीए मट्टियाहि स ण्हाति" वह चौसठ बार मिट्टी का स्नान करता है। पचाग्नि तप तापने मे साधना की उत्कृष्टता मानी जाती, विविध प्रकार से वायुकाय के जीवो की विराधना की जाती और कन्द-मूल-फल-फूल के आहार को निर्दोष आहार माना जाता। वैदिक-परम्परा के ऋषिगण गृह का परित्याग कर पत्नी के साथ जंगल मे रहते थे। वे गृह-त्याग तो करते थे पर पत्नी-त्याग नही।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि श्रमण को स्त्री-सग का पूर्ण त्याग करना चाहिये। क्योकि स्त्री-सग से नाना प्रकार के प्रपच करने पडते हैं। जिसमे केवल बन्धन ही बन्धन है। अत सन्तो को गृह-त्याग ही नही सर्व-परित्यागी होना चाहिये। अहिंसा महाव्रत के पूर्ण रूप से पालन करने से अन्य सभी महाव्रतों का पालन सहज सभव था। श्रमण किसी भी प्रकार की हिसा न स्वय करे और न दूसरों को करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसा करने वालो का अनुमोदन ही करे—मन, वचन और काया से। अहिंसा महाव्रत को सुरक्षा के लिये रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है। श्रमण को भिक्षा मे जो भी वस्तु उपलब्ध होती है वह उसे समभावपूर्वक ग्रहण करता था। परीषहो को ग्रहण करते समय उसके मन मे किंचिन्मात्र भी असमाधि नही होती थी। उसके मन मे आनन्द की ऊर्मियाँ तरगित होती रहती थी। शारीरिक कष्ट का असर मन पर नही होता। क्योकि ध्यानाग्नि से वह कषायो को जला देता था। भगवान् महावीर का मुख्य लक्ष्य शरीर-शुद्धि नही आत्म-शुद्धि है। जिसके जीवन मे अहिंसा की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है उसे ही आर्य कहा गया है और जिसके जीवन मे हिंसा की प्रधानता है वह अनार्य है।

आचारागसूत्र मे ऐसे अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं जिनमे विराट् चिन्तन छिपा हुआ है। आचाराग के व्याख्याकारो ने उन पारिभाषिक शब्दो का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आचाराग मे पवित्र आत्मार्थी श्रमणो के लिए "वसु" शब्द का प्रयोग मिलता है। "वसु" शब्द का प्रयोग वेद और उपनिषदो मे पवित्र आत्मा का ही प्रतीक है, उसे हँस भी कहा है। "वसु" शब्द का वही अर्थ पारसी धर्म के मुख्य ग्रन्थ "अवेस्ता" मे भी है। कही कही पर "वसु" शब्द का प्रयोग "देव" और धन के अर्थ मे आया है।

आचारांग मे आमगध शब्द का प्रयोग हुआ है। वह अपवित्र पदार्थ के अर्थ मे है। वही अर्थ बौद्ध साहित्य मे भी मिलता है। बुद्ध ने कहा—प्राणघात, वध, छेद, चोरी, असत्य, वचना, लूट, व्यभिचार आदि जितनी भी अनाचार मूलक प्रवृत्ति हैं वे सभी आमगध हैं। इस प्रकार अनेक शब्द भाषा-प्रयोग की दृष्टि से व्यापकता लिए हुए हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

आचारागसूत्र मे जो सत्य तथ्य प्रतिपादित हुए हैं। उनकी प्रतिध्वनि वैदिक और बौद्ध वाङ्मय मे निहारी जा सकती है। सत्य अनन्त है, उस अनन्त सत्य की अभिव्यक्ति कभी-कभी सहज रूप से एक सदृश होती है। यह कहना तो अत्यन्त कठिन है कि किस ने किस से कितना ग्रहण किया? पर एक-दूसरे के चिन्तन पर एक-दूसरे के चिन्तन का प्रभाव पडना सहज है। वह सत्य की सहज अभिव्यक्ति है। यदि धार्मिक-साहित्य का गहराई से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो सहज ही ज्ञान होगा कि किन्ही भावो मे एकरूपता है तो कही परिभाषा मे एकरूपता है। कही पर युक्तियो की समानता है तो कही पर रूपक और कथानक एक सदृश आये है। यहाँ हम विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही चिन्तन कर रहे हैं जिससे यह सहज परिज्ञात हो सके कि भारतीय परम्पराओ मे कितना सामजस्य रहा है।

---

१ न हि महाराज उदक जीवति, नत्थि उदके जीवो वा सत्ता वा।'

—मिलिन्द पण्हो, पृ० २५३ से २५५

आचारांग मे आत्मा के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए कहा गया है—सम्पूर्ण लोक मे किसी के द्वारा भी आत्मा का छेदन नही होता, भेदन नहीं होता, दहन नही होता और न हनन ही होता है।[1] इसी की प्रतिध्वनि सुबालोपनिषद्[2] और भगवद्गीता[3] मे प्राप्त होती है। आचारांग में आत्मा के ही सम्बन्ध मे कहा गया है कि जिस का आदि और अन्त नही है उस का मध्य कैसे हो सकता है।[4] गौडपादकारिका में भी यही बात अन्य शब्दो मे दुहराई गई है।[5]

आचारांग मे जन्म-मरणातीत, नित्य, मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि उस दशा का वर्णन करने मे सारे शब्द निवृत्त हो जाते हैं—समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नही और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता है।

मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त-गोल है। वह न त्रिकोण है, न चौरस, न मण्डलाकार। वह न कृष्ण है, न नील, न पीला, न लाल और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धि वाला है और न दुर्गन्धि वाला है। वह न तिक्त है, न कडुआ न कषैला न खट्टा है, न मधुर है। वह न कर्कश है, न कठोर है, न भारी है, न हल्का है, वह न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न रूक्ष है।

वह न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है।

वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है। उसके लिये कोई उपमा नही है। वह अरूपी सत्ता है।

वह अपद है। वचन अगोचर के लिए कोई पद-वाचक शब्द नही। वह शब्द रूप नही, रूप मय नही है, गन्ध रूप नहीं है, रस रूप नही है, स्पर्श रूप नही है, वह ऐसा कुछ भी नही। ऐसा मैं कहता हूँ।[6]

यही बात केनोपनिषद्[7] कठोपनिषद्,[8] बृहदारण्यक[9] माण्डुक्योपनिषद्[10] तैत्तिरीयोपनिषद्[11] और ब्रह्मविद्योपनिषद्[12] मे भी प्रतिध्वनित हुई है।

आचारांग मे[13] ज्ञानियो के शरीर का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि ज्ञानियों के बाहु कृश होते हैं, उन का मांस और रक्त शुष्क हो जाता है। यही बात अन्य शब्दो मे नारदपरिव्राजकोपनिषद्[14] एव सन्यासोपनिषद्[15] मे भी कही गई है।

---

१ स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ, क च ण सव्वलोए। —आचारांग १।३।३।

२ न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनो ऽयमात्मा॥
—सुबालोपनिषद् ९ खण्ड ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद् पृष्ठ २१०

३ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन॥ —भगवद्गीता अ २, श्लोक-२३

४ आचारागसूत्र १।४।४।

५ आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। —गौडपादकारिका, प्रकरण २ श्लोक—६

६ आचारागसूत्र—१।५।६।

७ केनोपनिषद् खण्ड-१, श्लोक—३

८ कठोपनिषद् अ० १ श्लोक १५

९ बृहदारण्यक, ब्राह्मण ८ श्लोक—८

१० माण्डुक्योपनिषद्, श्लोक—७

११ तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली २ अनुवाद—४

१२ ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१

१३ आगयपन्नाणाण किसा बाहा भवति पयणुए मस-सोणिए। —आचारांग १।६।३।

१४ नारदपरिव्राजकोपनिषद्-७ उपदेश।

१५ सन्यासोपनिषद् १ अध्याय।

पाश्चात्य विद्वान् शुब्रिंग ने अपने सम्पादित आचारांग मे आचारांग के वाक्यो की तुलना धम्मपद और सुत्तनिपात से की है। मुनि सन्तबालजी ने आचाराग की तुलना श्रीमद्गीता के साथ की है। विशेष जिज्ञासुओ को वे ग्रन्थ देखने चाहिये। हमने यहाँ पर केवल सकेत मात्र किया है।

व्याख्या साहित्य

आचाराग के गम्भीर रहस्य को स्पष्ट करने के लिए समय-समय पर व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ है। उस आगमिक व्याख्या साहित्य को हम पाँच भागो में विभक्त कर सकते हैं।

(१) निर्युक्तियाँ

(२) भाष्य

(३) चूर्णिया

(४) सस्कृत टीकाएँ

(५) लोकभाषा मे लिखित व्याख्या साहित्य

निर्युक्ति

जैन आगम साहित्य पर प्राकृत भाषा मे जो पद्य-बद्ध टीकाएँ लिखी गई, वे निर्युक्तियो के नाम से प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तियो मे प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की है—निर्युक्ति की व्याख्या-शैली निक्षेप-पद्धतिमय है। निक्षेप-पद्धति मे किसी एक पद के सभावित अनेक अर्थ कहने के पश्चात् उनमे से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। यह शैली न्यायशास्त्र मे प्रशस्त मानी जाती है। भद्रबाहु ने निर्युक्तियो का निर्माण किया। निर्युक्तियाँ सूत्र और अर्थ का निश्चित अर्थ बताने वाली व्याख्या है। निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति निर्युक्ति है।

जर्मन विद्वान् शारपेन्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियो का सक्षेप मे उल्लेख करती हैं। डाक्टर घाटके ने निर्युक्तियो को तीन भागो मे विभक्त किया है—

(१) मूल निर्युक्तिया, जिसमे काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचाराग और सूत्रकृताग की निर्युक्तियाँ।

(२) जिनमें मूल भाष्यो का समिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यक सूत्र आदि की निर्युक्तियाँ।

(३) वे निर्युक्तियाँ, जिन्हे आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य कहते हैं। जिनमे मूल और भाष्य मे इतना समिश्रण हो गया है कि उन दोनो को पृथक-पृथक् नही कर सकते, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तिया।

यह वर्गीकरण वर्तमान मे जो निर्युक्ति साहित्य उपलब्ध है, उसके आधार से किया गया है। जैसे वैदिक-परम्परा मे महर्षि व्यास ने वैदिक पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या रूप निघण्टु भाष्य रूप मे निरुक्त लिखा वैसे, ही जैन पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखी। आगम प्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखी। उसके पश्चात् गोविन्द-वाचक जैसे आचार्यों ने निर्युक्तियाँ लिखी। उन सभी निर्युक्ति गाथाओ का सग्रह कर तथा अपनी ओर से कुछ नवीन गाथा बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियो को व्यवस्थित रूप दिया। यह सत्य है कि निर्युक्तियो की परम्परा आगम-काल में भी थी। 'सखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' यह पाठ उपलब्ध होता है। उन्हीं मूल निर्युक्तियो को आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने उसे अन्तिम रूप दिया है।

इस समय दस आगमो पर निर्युक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—आवश्यक	६—दशाश्रुतस्कन्ध
२—दशवैकालिक	७—बृहत्कल्प
३—उत्तराध्ययन	८—व्यवहार
४—आचाराग	९—सूर्यप्रज्ञप्ति
५—सूत्रकृताग	१०—ऋषिभाषित

आचारागसूत्र के दोनो श्रुतस्कन्धो पर निर्युक्ति प्राप्त होती है। मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिक ट्रस्ट दिल्ली द्वारा मुद्रित "आचारागसूत्र सूत्रकृतांगसूत्र च" की प्रस्तावना मे मुनि श्री जम्बूविजय जी ने आचाराग की निर्युक्ति का गाथा-परिमाण ३६७ बताया है और महावीर विद्यालय द्वारा मुद्रित "आयारगसुत्त" की प्रस्तावना मे उन्होने यह स्पष्ट किया है। आचारागसूत्र की चतुर्थ चूला तक आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित ३५६ गाथायें हैं। मुनि श्री जम्बूविजयजी का यह अभिमत है कि निर्युक्ति की ३४६ गाथाएँ और महापरिज्ञा अध्ययन की ७ गाथाएँ—इस प्रकार ३५३ गाथाएँ हैं। (पृष्ठ ३५९) तीन गाथाएँ मुद्रित होने मे छूट गई हैं। किन्तु ऋषभदेव जी केशरीमलजी रतलाम की ओर से प्रकाशित आवृत्ति मे ३५६ गाथाएँ हैं। पर, हस्तलिखित प्राचीन प्रतियो मे महापरिज्ञा अध्ययन की निर्युक्ति की गाथा १८ हैं। इस प्रकार ३६७ गाथाएँ मिलती हैं। 'जैन साहित्य का बृहद इतिहास' भाग तीन, पृष्ठ ११० पर ३५७ गाथाओ का उल्लेख है। निर्युक्ति की प्राचीनतम प्रति का आधार ही विशेष विश्वनीय है।

आचाराग-निर्युक्ति, उत्तराध्ययन-निर्युक्ति के पश्चात् और सूत्रकृतांग-निर्युक्ति के पूर्व रची हुई है। सर्वप्रथम सिद्धो को नमस्कार कर आचार, अग, श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र-परिज्ञा, सज्ञा और दिशा पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। चरण के छह निक्षेप हैं, दिशा के सात निक्षेप हैं और शेष चार-चार निक्षेप हैं। आचार के पर्यायवाची एकार्थक शब्दो का उल्लेख करते हुए आचाराग के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। आचाराग के नौ ही अध्ययनो का सक्षेप मे सार प्रस्तुत किया है। शस्त्र और परिज्ञा इन शब्दो पर नाम, स्थापना आदि निक्षेपो से चिन्तन किया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे भी अग्र शब्द पर निक्षेप दृष्टि से विचार करते हुए उसके आठ प्रकार बताये है। १—द्रव्याग्र २—अवगाहनाग्र ३—आदेशाग्र ४—कालाग्र ५—क्रमाग्र ६—गणनाग्र ७—सचयाग्र ८—भावाग्र। भावाग्र के तीन भेद हैं—१—प्रधानाग्र, २ प्रभूताग्र, ३ उपकाराग्र। यहाँ पर उपकाराग्र का वर्णन है। चूलिकाओ के अध्ययन की भी निक्षेप की दृष्टि से व्याख्या की है।

चूर्णि

निर्युक्ति के पश्चात् "हिमवन्त थेरावली" के अनुसार आचार्य गन्धहस्ती द्वारा विरचित आचाराग-सूत्र के विवरण की सूचना है। आचार्य गन्धहस्ती का समय सम्राट् विक्रम के २०० वर्ष के पश्चात् का है। आचार्य शीलाक ने भी प्रस्तुत विवरण का सूचन करते हुए कहा है कि 'वह अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण मैं बहुत ही सरल और सुगम वृत्ति लिख रहा हूँ।' पर आज वह विवरण उपलब्ध नही है, अतः उसके सम्बन्ध मे विशेष कुछ भी लिखा नहीं जा सकता।

आचारागसूत्र पर कोई भी भाष्य नही लिखा गया है। उसकी पाँचवी चूला निशीथ है। उस पर भाष्य मिलता है। निर्युक्ति पद्यात्मक है, किन्तु चूर्णि गद्यात्मक है। चूर्णि की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। आचारांगचूर्णि में उन्ही विषयो का विस्तार किया गया है, जिन विषयो पर आचारांग-निर्युक्ति मे चिन्तन किया गया है। अनुयोग, अग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, सज्ञा,

दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्वी, अप्-तेज-काय, लोकविजय, परिताप, विहार, रति-अरति, लोभ, जुगुप्सा, गोत्र, ज्ञाति, जातिस्मरण, एषणा, देशना, बन्ध, मोक्ष, परीषह, तत्त्वार्थ-श्रद्धा, जीव-रक्षा, अचेलकत्व, मरण-सलेखना, समनोज्ञत्व, तीन याम, तीन वस्त्र, भगवान महावीर की दीक्षा, देवदूष्य आदि प्रमुख विषयो पर व्याख्या की गई है। चूर्णिकार ने भी निर्युक्तिकार की तरह निक्षेप दृष्टि का उल्लेख करके शब्दो के अर्थ की उद्भावना की है।

चूर्णिकार के सम्बन्ध मे स्पष्ट परिचय प्राप्त नही होता है। यो प्रस्तुत चूर्णि के रचयिता जिनदास गणी माने जाते हैं। कुछ ऐतिहासिक विज्ञो का मत है कि आचारागचूर्णि के रचयिता गोपालिक महत्तर के शिष्य होने चाहिये, यह तथ्य अभी अन्वेषणीय है।[1]

आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजय जी का मन्तव्य है[2] कि चूर्णि साहित्य मे नागार्जुनीय वाचना के उल्लेख अनेक बार आये हैं। आचाराग चूर्णि मे भी पन्द्रह बार उल्लेख हुआ है। चूर्णि मे अत्यन्त ऐतिहासिक सामग्री का सकलन है। सूत्र (२००) की चूर्णि मे लोक-स्वरूप के सम्बन्ध मे शून्यवादी बौद्धदर्शन के जाने-माने नागार्जुन के मत का भी निर्देश है। बौद्ध-सम्मत क्षणभगुरता के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। सांख्य-दर्शन के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। प्राचीन-युग मे जैन परम्परा मे यापनीय सघ था, उस यापनीय सघ के कुछ विचार श्वेताम्बर परम्परा से मिलते थे। आचाराग-चूर्णि मे यापनीय सघ के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है। इस प्रकार आचाराग-चूर्णि का व्याख्या-साहित्य मे अपना विशेष महत्त्व है।

टीका

चूर्णि के पश्चात् आचारागसूत्र के व्याख्या-साहित्य मे टीका साहित्य का स्थान है। चूर्णिसाहित्य मे प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ था और गौण रूप में सस्कृत भाषा का। पर टीकाओ मे सस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है, उन्होने प्राचीन व्याख्या साहित्य के आलोक में ऐसे अनेक नये तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें पढकर पाठक आनन्द-विभोर हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से जिस समय टीकाएँ निर्माण की गईं उस समय अन्य मतावलम्बी जैनाचार्यों को शास्त्रार्थ के लिये चुनौतियाँ देते थे। जैनाचार्यों ने अकाट्य तर्कों से उनके मत का निरसन करने का प्रयत्न किया।

आचाराग पर प्रथम सस्कृत टीकाकार आचार्य शीलाक हैं। उनका अपर नाम शीलाचार्य और तत्त्वादित्य भी मिलता है। उन्होने प्रभावक-चरित के अनुसार नौ अगो पर टीकाएँ लिखी थीं। पर इस समय आचाराग और सूत्रकृताग इन दो आगमो पर ही उनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं। शीलाक का समय विक्रम की नौवी दशमी शताब्दी है। आचाराग की टीका मूल और निर्युक्ति पर अवलम्बित है। प्रत्येक विषय पर विस्तार से विवेचन किया है। पर शैली और भाषा सुबोध है, पूर्व के व्याख्या-साहित्य से यह अधिक विस्तृत है। वर्तमान मे आचाराग को समझने के लिये यह टीका अत्यन्त उपयोगी है। इस वृत्ति के श्लोको का परिमाण १२००० है। प्रस्तुत वृत्ति मे नागार्जुन-वाचना का दस स्थानो पर उल्लेख हुआ है। यह सत्य है कि वृत्तिकार के सामने चूर्णि विद्यमान थी। इसलिये उन्होने अपनी वृत्ति मे उल्लेख किया है।

आचार्य शीलाक के पश्चात् जिन आचार्यों ने आचाराग पर टीकाएँ लिखी हैं, उन सब का मुख्य आधार आचार्य शीलाक की वृत्ति रही है। अचलगच्छ के मेरुतुगसूरि के शिष्य माणक्यशेखर द्वारा रचित एक दीपिका प्राप्त होती है। जिनसमुद्रसूरि के शिष्यरत्न जिनहस की दीपिका भी मिलती है। हर्ष कल्लोल के शिष्य लक्ष्मी कल्लोल की अवचूरि और पार्श्वचन्द्रसूरि का बालावबोध उपलब्ध होता है। विस्तार भय से हम उनका यहाँ परिचय नही दे रहे हैं।

---

१. देखें, उत्तराध्ययनचूर्णि पृष्ठ-२८३।
२ जैन आगमधर और प्राकृतवाङ्मय।

स्थानकवासी परम्परा के विद्वान् आचार्य घासीलाल जी म० द्वारा आगमो पर रचित सस्कृत टीकाएँ भी अपने ढंग की हैं।

टीका-साहित्य के पश्चात् अग्रेजी, हिन्दी और गुजराती मे आचाराङ्ग का अनुवाद साहित्य भी प्रकाशित हुआ। डाक्टर हर्मन जेकोबी ने आचाराङ्ग का अग्रेजी मे अनुवाद किया और उस पर महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखी। मुनिश्री सन्तबालजी ने आचाराङ्गसूत्र का भावानुवाद प्रकाशित करवाया। श्रमणी विद्यापीठ घाटकोपर (बम्बई) से मूलपाठ के साथ गुजराती अनुवाद निकला है। इसके पूर्व रवजीभाई देवराज के और गोपालदास जीवाभाई पटेल के गुजराती मे सुन्दर अनुवाद प्रकाशित हुए थे। हिन्दी मे आचार्य अमोलकऋषि जी म० ने और पण्डितरत्न सौभाग्यमल जी म० ने, आचार्य सम्राट आत्माराम जी म० ने आचाराङ्ग पर हिन्दी मे विवेचन लिखा, हिन्दी-विवेचन हृदयग्राही है। प्रबुद्ध पाठको के लिए वह विवेचन उपयोगी है। हीराकुमारी जैन ने आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का बगला मे अनुवाद प्रकाशित करवाया तथा तेरापथी समुदाय के पण्डित मुनि श्री नथमल जी ने मूल और अर्थ के साथ ही विशेष स्थलो पर टिप्पण लिखे है। इस प्रकार आधुनिक युग मे अनुवाद के साथ आचाराङ्ग के अनेक सस्करण प्रकाशित हुए है। मूलपाठ के रूप मे भी कुछ ग्रन्थ आये हैं। उनमे आगमप्रभावक मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित मूलपाठ सशोधन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

स्थानकवासी समाज एक महान् क्रान्तिकारी समाज है। समय-समय पर उसने जो क्रान्तिकारी चिन्तन पूर्वक कदम उठाये है उससे विज्ञगण मुग्ध होते रहे है। आचार्य अमोलकऋषिजी म०, पूज्य घासीलालजी म०, धर्मोपदेष्टा फूलचन्दजी म० के द्वारा आगम बत्तीसी का प्रकाशन हुआ है। उन प्रकाशनो मे कही पर बहुत ही सक्षेप शैली अपनाई गई और कही पर अतिविस्तार हो गया। जिसके फलस्वरूप आगमो के आधुनिक सस्करण की माँग निरन्तर बनी रही। स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस ने भी अनेक बार योजनाएँ बनाईं, पर वे योजनाएँ मूर्त रूप न ले सकी। सन् १९५२ मे स्थानकवासी समाज का एक सगठन बना और उसका नाम 'वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ' रखा गया, श्रमण-सघ के प्रत्येक सम्मेलन मे आगम प्रकाशन के सम्बन्ध मे प्रस्ताव-पारित होते रहे पर वे प्रस्ताव क्रियान्वित नही हो सके।

परम आह्लाद का विषय है कि मेरे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० के स्नेही साथी व सहपाठी श्री मधुकर मुनि जी म० ने आगम प्रकाशन की योजना को मूर्त रूप देने का दृढ सकल्प किया। उन्होने कार्य मे प्रगति लाने के लिए सम्पादक मण्डल का सयोजन किया। एक वर्ष तक आगम प्रकाशन व सम्पादन के सम्बन्ध मे चिन्तन चलता रहा। इस बीच आचार्य प्रवर आनन्दऋषि जी म० ने आपश्री को युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आपके प्रधान सम्पादकत्व मे आचारागसूत्र का प्रकाशन हो रहा है।

प्रस्तुत आगम का मूल पाठ प्राचीन प्रतियो के आधार से शुद्धतम रूप मे देने का प्रयास किया गया है। मूलपाठ के साथ ही हिन्दी मे भावानुवाद भी दिया गया है और गम्भीर रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए सक्षेप मे विवेचन भी लिखा गया है। इस तरह प्रस्तुत आगम के अनुवाद व विवेचन की भाषा सरल, सरस और सुबोध है, शैली चित्ताकर्षक है। विवेचन मे अनेक कठिन पारिभाषिक शब्दो का गहन अर्थ उद्घाटित किया गया है। प्रस्तुत आगम का सम्पादन सम्पादन-कला-मर्मज्ञ श्रीचन्द जी सुराना ने किया है। सुराना जी विलक्षण-प्रतिभा के धनी हैं। आज तक उन्होने पाँच दर्जन से भी अधिक पुस्तको और ग्रन्थो का सम्पादन किया है। उनकी सम्पादन-कला अद्भुत और अनूठी है। युवाचार्यश्री के दिशा-

निर्देशन मे इसका सम्पादन किया है। मुझे आशा ही नही अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत आगमरत्न सर्वत्र समादृत होगा। क्योंकि इसकी सम्पादन शैली आधुनिकतम है व गम्भीर अन्वेषण-चिन्तन के साथ सुबोधता लिए हुए है।

इस सम्पादन मे अनेक परिशिष्ट भी हैं। विशिष्ट शब्दसूची भी दी गई है जिससे प्रत्येक पाठक के लिए प्रस्तुत सस्करण अधिक उपयोगी बन गया है। 'जाव' शब्द के प्रयोग व परम्परा पर सम्पादक ने सक्षिप्त में अच्छा प्रकाश डाला है। इसी तरह अन्य आगमो का प्रकाशन भी द्रुतगति से हो रहा है। मैं बहुत ही विस्तार के साथ प्रस्तावना लिखना चाहता था और उन सभी प्रश्नो पर चिन्तन भी करना चाहता था जो अभी तक अनछुए रहे। पर निरन्तर विहारयात्रा होने से समयाभाव व ग्रन्थाभाव के कारण लिख नही सका, पर जो कुछ भी लिख गया हूँ वह प्रबुद्ध पाठको को आचाराग के महत्त्व को समझने में उपयोगी होगी ऐसी आशा करता हूँ।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

दि० १८-२-८०
फाल्गुन शुक्ला, २०३६
जैन स्थानक, बोरीवली, बम्बई

अनुक्रमणिका

आचाराङ्गसूत्र [प्रथम श्रुतस्कन्ध : अध्ययन १ से ९]

शस्त्रपरिज्ञा : प्रथम अध्ययन (७ उद्देशक) पृष्ठ ३ से ३७

शीतोष्णीय : तृतीय अध्ययन (४ उद्देशक) पृष्ठ ८५ से ११८

पंचमगणहर-भयवं-सिरिसुहम्मसामिविरइयं पढमं अंगं

आयारंगसुत्तं

पढमो सुयक्खंधो

पंचमगणधर-भगवत्-सुधर्मास्वामि-प्रणीत-प्रथम अंग

आचारांग सूत्र

प्रथम श्रुतस्कन्ध

आचाराङ्ग सूत्र

शस्त्रपरिज्ञा—प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

❀ आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम 'शस्त्रपरिज्ञा' है।

❀ शस्त्र का अर्थ है—हिंसा के उपकरण या साधन। जो जिसके लिए विनाशक या मारक होता है, वह उसके लिए शस्त्र है।[1] चाकू, तलवार आदि हिंसा के बाह्य साधन, द्रव्य-शस्त्र है। राग-द्वेषयुक्त कलुषित परिणाम भाव-शस्त्र है।

❀ परिज्ञा का अर्थ है—ज्ञान अथवा चेतना। इस शब्द से दो अर्थ ध्वनित होते है—'ज्ञ-परिज्ञा' द्वारा वस्तुतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान तथा 'प्रत्याख्यानपरिज्ञा' द्वारा हिंसादि के हेतुओ का त्याग।

❀ शस्त्र-परिज्ञा का सरल अर्थ है—हिंसा के स्वरूप और साधनो का ज्ञान प्राप्त करके उनका त्याग करना।

❀ हिंसा की निवृत्ति अहिंसा है। अहिंसा का मुख्य आधार है—आत्मा। आत्मा का ज्ञान होने पर ही अहिंसा मे आस्था दृढ होती है, तथा अहिंसा का सम्यक् परिपालन किया जा सकता है।

❀ प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र मे सर्वप्रथम 'आत्म-सज्ञा'—आत्मबोध की चर्चा करते हुए बताया है कि कुछ मनुष्यो को आत्म-बोध स्वय हो जाता है, कुछ को उपदेश-श्रवण व शास्त्र-अध्ययन आदि से होता है। आत्म-बोध होने पर आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास होता है, तब वह आत्मवादी बनता है। आत्मवादी ही अहिंसा का सम्यक् परिपालन कर सकता है। इस प्रकार आत्म-अस्तित्व की चर्चा के बाद हिंसा-अहिंसा की चर्चा की गई है। हिंसा के हेतु—निमित्त कारणो की चर्चा, षट्काय के जीवो का स्वरूप उनकी सचेतनता की सिद्धि, हिंसा से होने वाला आत्म-परिताप, कर्मबन्ध, तथा उससे विरत होने का उपदेश[2]—आदि विषयो का सजीव शब्दचित्र प्रथम अध्ययन के सात उद्देशको एव बासठ सूत्रो मे प्रस्तुत किया गया है।

❀

---

१ ज जस्स विणासकारण त तस्स सत्थ भण्णति —नि० चू० उ० १ अभिधानराजेन्द्र भाग ७ पृष्ठ ३३१ 'सत्थ' शब्द।

२ आचारांग निर्युक्ति —गाथा ३५।

'सत्थपरिण्णा' पढमं अज्झयणं

पढमो उद्‌देसओ

शस्त्रपरिज्ञा, प्रथम अध्ययन प्रथम उद्देशक

अस्तित्व बोध

१ : सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय—
इहमेगेसि णो सण्णा भवति । त जहा—
पुरत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगतो अहमंसि,
पच्चत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
उत्तरातो वा दिसातो आगतो अहमसि,
उड्ढातो वा दिसातो आगतो अहमसि,
अहेदिसातो वा आगतो अहमसि,
अन्नतरोतो दिसातो वा अणुदिसातो वा आगतो अहमंसि ।

एवमेगेसि णो णातं भवति—अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अह आसी, के वा इओ चुओ पेच्चा भविस्सामि ।

१ आयुष्मन् ! मैने सुना है । उन भगवान् (महावीर स्वामी) ने यह कहा है—यहाँ ससार मे कुछ प्राणियो को यह सज्ञा (ज्ञान) नही होती । जैसे—

"मै पूर्व दिशा से आया हूँ
अथवा दक्षिण दिशा से आया हूँ
अथवा पश्चिम दिशा से आया हूँ
अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ
अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ
अथवा अधोदिशा से आया हूँ
अथवा किसी अन्य दिशा से या अनुदिशा (विदिशा) से आया हूँ ।

इसी प्रकार कुछ प्राणियो को यह ज्ञान नही होता कि मेरी आत्मा औपपातिक—जन्म धारण करने वाली है अथवा नही ? मै पूर्व जन्म मे कौन था ? मैं यहा से च्युत होकर/आयुष्य पूर्ण करके अगले जन्म मे क्या होऊँगा ?"

विवेचन—चूर्णि एव शीलाकवृत्ति मे **आउसं** के दो पाठान्तर भी मिलते है—**आवसतेणं** तथा **आमुसतेण** । क्रमश. उनका भाव है—'भगवान् के निकट मे रहते हुए तथा उनके चरणो

का स्पर्श करते हुए' मैंने यह सुना है। इससे यह सूचित होना है कि सुधर्मास्वामी ने यह वाणी भगवान् महावीर से साक्षात् उनके बहुत निकट रहकर सुनी है।

सज्ञा का अर्थ है, चेतना। इसके दो प्रकार है, ज्ञान-चेतना और अनुभव-चेतना। अनुभव-चेतना (सवेदन) प्रत्येक प्राणी मे रहती है। ज्ञान चेतना—विशेष-बोध, किसी मे कम विकसित होती है, किसी मे अधिक। अनुभव-चेतना (सज्ञा) के सोलह एव ज्ञान-चेतना के पाँच भेद हैं।[1]

चेतन का वर्तमान अस्तित्व तो सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु अतीत (पूर्व-जन्म) और भविष्य (पुनर्जन्म) के अस्तित्व मे सब विश्वास नही करते। जो चेतन की त्रैकालिक सत्ता मे विश्वास रखते हैं वे आत्मवादी होते है। यद्यपि बहुत से आत्मवादियो मे भी अपने पूर्वजन्म की स्मृति नही होती, कि 'मैं यहाँ—ससार मे किस दिशा या अनुदिशा से आया हूँ। मैं पूर्वजन्म मे कौन था?' उन्हे भविष्य का यह ज्ञान भी नही होता कि 'यहाँ से आयुष्य पूर्ण कर मैं कहाँ जाऊगा! क्या होऊगा?'

पूर्वजन्म एव पुनर्जन्म सम्बन्धी ज्ञान-चेतना की चर्चा इस सूत्र मे की गई है।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने 'दिशा शब्द का विस्तार से विवेचन करते हुए बताया है[2] 'जिधर सूर्य उदय होता है उसे पूर्वदिशा कहते है। पूर्व आदि चार दिशाएँ, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य एव वायव्यकोण, ये चार अनुदिशाएँ, तथा इनके अन्तराल मे आठ विदिशाएँ, ऊर्ध्व तथा अधोदिशा—इस प्रकार १८ द्रव्य दिशाएँ हैं। मनुष्य, तिर्यंच, स्थावरकाय और वनस्पति की ४-४ दिशाये तथा देव एव नारक इस प्रकार १८ भावदिशाएं होती है।

मनुष्य की चार दिशाएँ—सम्मूर्च्छिम, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तरद्वीपज।
तिर्यंच की चार दिशाएँ—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय।
स्थावरकाय की चार दिशाएँ—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय।
वनस्पति की चार दिशाएँ—अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज और पर्वबीज।

२. से ज्ज पुण जाणेज्जा सहसम्मुइयाए[3] परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा, त जहा—पुरत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि एवं दक्खिणाओ वा पच्चत्थिमाओ वा उत्तराओ वा उड्ढाओ वा अहाओ वा अन्नतरीओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगतो अहमंसि।

एवमेगेसिं ज णातं भवति-अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरति, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सो हं।

३. से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी।

---

१ **अनुभव सज्ञा**—[1]आहार, [2]भय, [3]मैथुन, [4]परिग्रह, [5]सुख, [6]दुःख, [7]मोह, [8]विचिकित्सा, [9]क्रोध, [10]मान, [11]माया, [12]लोभ, [13]शोक, [14]लोक, [15]धर्म एव [16]ओघसज्ञा। —आचा० शीलाकवृत्ति पत्राक ११
ज्ञान सज्ञा—[1]मति, [2]श्रुत, [3]अवधि, [4]मनःपर्यव एव [5]केवलज्ञान-सज्ञा।—निर्युक्ति ३८

२ निर्युक्ति गाथा ४७ से ५४ तक।

३. 'सह मम्मुतियाए' सह सम्मइयाए' सहसम्मइए'—पाठान्तर है।

२ कोई प्राणी अपनी स्वमति—पूर्वजन्म की स्मृति होने पर स्व-बुद्धि से, अथवा तीर्थंकर आदि प्रत्यक्षज्ञानियो के वचन से, अथवा अन्य विशिष्ट श्रुतज्ञानी के निकट मे उपदेश सुनकर यह जान लेता है, कि—मैं पूर्वदिशा से आया हूँ, या दक्षिणदिशा, पश्चिमदिशा, उत्तरदिशा, ऊर्ध्वदिशा या अधोदिशा अथवा अन्य किसी दिशा या विदिशा से आया हूँ।'

कुछ प्राणियो को यह भी ज्ञात होता है—मेरी आत्मा भवान्तर में अनुसचरण करने वाली है, जो इन दिशाओ, अनुदिशाओ मे कर्मानुसार परिभ्रमण करती है। जो इन सब दिशाओ और विदिशाओ मे गमनागमन करती है, वही मैं (आत्मा) हूँ।

३ (जो उस गमनागमन करने वाली परिणामी नित्य आत्मा को जान लेता है) वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एव क्रियावादी है।

विवेचन—उक्त दो सूत्रो मे चर्मचक्षु से परोक्ष आत्मतत्त्व को जानने के तीन **साधन** बताये हैं—

१ पूर्वजन्म की स्मृतिरूप जाति-स्मरणज्ञान तथा अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान होने पर, स्व-मति से,

२ तीर्थंकर, केवली आदि का प्रवचन सुनकर,

३ तीर्थंकरो के प्रवचनानुसार उपदेश करने वाले विशिष्ट ज्ञानी के निकट मे उपदेश आदि सुनकर।[1]

उक्त कारणो मे से किसी से भी पूर्व-जन्म का बोध हो सकता है। जिस कारण उसका ज्ञान निश्चयात्मक हो जाता है कि इन पूर्व आदि दिशाओ मे जो गमनागमन करती है, वह आत्मा 'मैं' ही हूँ।

प्रथम सूत्र मे **"के अहं आसी ?"** मैं कौन था—यह पद आत्मसम्बन्धी जिज्ञासा की जागृति का सूचक है। और द्वितीय सूत्र मे **'सो हं'** "वह मैं हूँ" यह पद उस जिज्ञासा का समाधान है—आत्मवादी आस्था की स्थिति है।[2]

परिणामी एव शाश्वत आत्मा मे विश्वास होने पर ही मनुष्य आत्मवादी होता है। आत्मा को मानने वाला लोक-(ससार) स्थिति को भी स्वीकार करता है, क्योकि आत्मा का भवान्तर-सचरण लोक मे ही होता है। लोक मे आत्मा का परिभ्रमण कर्म के कारण होता है,

---

१ आचा० शीलाकवृत्ति पत्राक १८

२ कुछ विद्वानो ने आगमगत **'सो हं'** पद की तुलना मे उपनिषदो मे स्थान-स्थान पर आये **'सोऽहं'** शब्द को उद्धृत किया है। हमारे विचार मे इन दोनो मे शाब्दिक समानता होते हुए भी भाव की दृष्टि से कोई समानता नही है। आगमगत 'सो हं' शब्द मे भवान्तर मे अनुसचरण करने वाली आत्मा की प्रतीति करायी गई है, जबकि उपनिषद्गत **'सोऽहं'** शब्द मे आत्मा की परमात्मा के साथ सम-अनुभूति दर्शायी गई है। जैसे—**'सोहमस्मि, स एवाहमस्मि'**—छा० उ० ४।११।१। आदि।

इसलिए लोक को मानने वाला कर्म को भी मानेगा तथा कर्मबन्ध का कारण है—क्रिया, अर्थात् शुभाशुभ योगों की प्रवृत्ति। इस प्रकार आत्मा का सम्यक् परिज्ञान हो जाने पर लोक का, कर्म का, क्रिया का परिज्ञान भी हो जाता है। अत वह आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी भी है।

आगे के सूत्रों मे हिसा-अहिसा का विवेचन किया जायेगा। अहिंसा का आधार आत्मा है। आत्म-बोध होने पर ही अहिसा व सयम की साधना हो सकती है। अत. अहिंसा की पृष्ठभूमि के रूप मे यहाँ आत्मा का वर्णन किया गया है।

आस्रव-सवर-बोध

४. अकरिस्सं च हं, कारावेस्सं च हं, करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि।

५. एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

४ (वह आत्मवादी मनुष्य यह जानता/मानता है कि)—

मैंने क्रिया की थी। मैं क्रिया करवाता हूँ। मै क्रिया करने वाले का भी अनुमोदन करूँगा।

५ लोक—ससार मे ये सब क्रियाएँ/कर्म-समारभ - (हिंसा की हेतुभूत) है अत ये सब जानने तथा त्यागने योग्य है।

विवेचन—चतुर्थ सूत्र मे क्रिया के भेद-प्रभेद का दिग्दर्शन कराया गया है। क्रिया कर्मबन्ध का कारण है, कर्म से आत्मा ससार मे परिभ्रमण करता है। अत. ससार-भ्रमण से मुक्ति पाने के लिए क्रिया का स्वरूप जानना और उसका त्याग करना नितात आवश्यक है।

मैंने क्रिया की थी, इस पद में अतीतकाल के नौ भेदो का सकलन किया है—जैसे, क्रिया की थी, करवाई थी, करते हुए का अनुमोदन किया था, मन से, वचन से, कर्म से। ३ × ३ = ९।

इसी प्रकार वर्तमानपद 'करवाता हूँ' मे भी करता हूँ, करवाता हूँ, करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, तथा भविष्यपद क्रिया करूँगा, करवाऊँगा, करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से, कर्म से, ये नव-नव भग बनाये जा सकते है। इस प्रकार तीन काल के, क्रिया के २७ विकल्प हो जाते है। ये २७ विकल्प ही कर्म-समारभ/हिंसा के निमित्त है, इन्हे सम्यक् प्रकार से जान लेने पर क्रिया का स्वरूप जान लिया जाता है।[१]

क्रिया का स्वरूप जान लेने पर ही उसका त्याग किया जा सकता है। क्रिया ससार का कारण है, और अक्रिया मोक्ष का। **अकिरिया सिद्धी**[२]—आगम-वचन का भाव यही है कि क्रिया/आश्रव का निरोध होने पर ही मोक्ष होता है।

---

१ आचाराग शीलाक टीका पत्रांक २१

२. भगवती सूत्र २।५ सूत्र १११ (अगसुत्ताणि)।

६. अपरिण्णायकम्मे खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरति, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेति, अणेगरूवाओ जोणीओ संधेति, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदयति।

७. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता।

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए[1] दुक्खपडिघातहेतुं।

६ यह पुरुष, जो अपरिज्ञातकर्मा है (क्रिया के स्वरूप से अनभिज्ञ है, इसलिए उसका अत्यागी है) वह इन दिशाओ व अनुदिशाओ मे अनुसचरण/परिभ्रमण करता है। अपने कृत-कर्मो के साथ सब दिशाओ/अनुदिशाओ मे जाता है। अनेक प्रकार की जीव-योनियो को प्राप्त होता है। वहा विविध प्रकार के स्पर्शो[2] (सुख-दुख के आघातो) का अनुभव करता है।

७ इस सम्बन्ध मे (कर्म-बन्धन के कारणो के विषय मे) भगवान् ने परिज्ञा[3]-विवेक का उपदेश किया है।

(अनेक मनुष्य इन आठ हेतुओ से कर्मसमारभ—हिसा करते है)—

१ अपने इस जीवन के लिए,

२ प्रशसा व यश के लिए,

---

१ चूर्णि मे—**मोयणाए**—पाठान्तर भी है, जिसका भाव है जन्म-मरण सम्बन्धी भोजन के लिए।

२ आगमो मे 'स्पर्श' शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। साधारणत त्वचा-इन्द्रियग्राह्य सुख-दुखात्मक सवेदन/अनुभूति को स्पर्श कहा गया है, किन्तु प्रसगानुसार इससे भिन्न-भिन्न भावो की सूचना भी दी गई है। जैसे—सूत्रकृताग (१।३।१।१७) मे **एते भो कसिणा फासा**—मे स्पर्श का अर्थ परीषह किया है। आचाराग मे अनेक अर्थो मे इसका प्रयोग हुआ है।

जैसे—इन्द्रिय-सुख (सूत्र १६४)
गाढ प्रहार आदि से उत्पन्न पीडा (सूत्र १७९। गाथा १५)
उपताप व दुख विशेष (सूत्र २०६)

अन्य सूत्रो मे भी 'स्पर्श' शब्द प्रसगानुसार नया अर्थ व्यक्त करता रहा है। जैसे—

परस्पर का सघट्टन (छूना)	—बृहत्कल्प १।३
सम्पर्क—सम्बन्ध,	—सूत्रकृत् १।५।१
स्पर्शना—आराधना	—बृहत्कल्प १।२
स्पर्शन—अनुपालन करना	—भगवती १५।७

गीता (२।१४, ५/२१) मे इन्द्रिय-सुख के अर्थ मे स्पर्श शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। बौद्ध ग्रन्थो मे इन्द्रिय-सम्पर्क के अर्थ मे 'फस्स' शब्द व्यवहृत हुआ है। (मज्झिमनिकाय सम्मादिट्ठि सुत्त पृ० ७०)

३ परिज्ञा के दो प्रकार है—(१) **ज्ञ-परिज्ञा**—वस्तु का बोध करना। सावद्य प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होता है यह जानना तथा (२) **प्रत्याख्यान-परिज्ञा-** बधहेतु सावद्ययोगो का त्याग करना। —"तत्र ज्ञपरिज्ञया, सावद्यव्यापारेण बन्धो भवतीत्येव भगवता परिज्ञा प्रवेदिता प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सावद्ययोगा बन्धहेतव प्रत्याख्येया इत्येवरूपा चेति।" —आचा० शीलाक टीका पत्राक २१

३. सम्मान की प्राप्ति के लिए,

४ पूजा आदि पाने के लिए,

५ जन्म—सन्तान आदि के जन्म पर, अथवा स्वय के जन्म निमित्त से,

६ मरण—मृत्यु सम्बन्धी कारणो व प्रसगो पर,

७ मुक्ति की प्रेरणा या लालसा से, (अथवा जन्म-मरण से मुक्ति पाने की इच्छा से)

८ दुःख के प्रतीकार हेतु—रोग, आतक, उपद्रव आदि मिटाने के लिए।

८. एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

९. जस्सेते लोगंसि कम्मसमारभा परिण्णया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

।। पढमो उद्देसओ समत्तो ।।

८ लोक मे (उक्त हेतुओ से होने वाले) ये सब कर्मसमारभ/हिसा के हेतु जानने योग्य और त्यागने योग्य होते है।

९ लोक मे ये जो कर्मसमारभ/हिसा के हेतु है, इन्हे जो जान लेता है (और त्याग देता है) वही परिज्ञातकर्मा[1] मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

।। प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

पृथ्वीकायिक जीवो की हिसा का निषेध

१०. अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोधे अविजाणए। अस्सि लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति।

१० जो मनुष्य आर्त, (विषय-वासना-कषाय-आदि से पीडित) है, वह ज्ञान दर्शन से परिजीर्ण/हीन रहता है। ऐसे व्यक्ति को समझाना कठिन होता है, क्योकि वह अज्ञानी जो है। अज्ञानी मनुष्य इस लोक में व्यथा-पीडा का अनुभव करता है। काम, भोग व सुख के लिए आतुर—लालायित बने प्राणी स्थान-स्थान पर पृथ्वीकाय आदि प्राणियों को परिताप (कष्ट) देते रहते है। यह तू देख! समझ!

१ परिज्ञातानि, ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतोऽवगतानि प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृतानि कर्माणि येन स परिज्ञातकर्मा। —स्थानांगवृत्ति ३।३ (अभि रा भाग ५ पृ० ६२२)

११. संति पाणा पुढो सिआ।

११ पृथ्वीकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीर मे आश्रित रहते हैं अर्थात् वे प्रत्येकशरीरी होते हैं।

१२. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

१२ तू देख! आत्म-साधक, लज्जमान है—(हिसा से स्वय का सकोच करता हुआ अर्थात् हिसा करने मे लज्जा का अनुभव करता हुआ सयममय जीवन जीता है।)

कुछ साधु वेषधारी 'हम गृहत्यागी है' ऐसा कथन करते हुए भी वे नाना प्रकार के शस्त्रो[1] से पृथ्वीसम्बन्धी हिसा-क्रिया मे लगकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिसा करते है। तथा पृथ्वीकायिक जीवो की हिसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के जीवो की भी हिसा करते है।

१३. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघातहेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणति।

तं से अहिआए, तं से अबोहीए।

१३ इस विषय मे भगवान महावीर स्वामी ने परिज्ञा/विवेक का उपदेश किया है। कोई व्यक्ति इस जीवन के लिए, प्रशसा-सम्मान और पूजा के लिए, जन्म मरण और मुक्ति के लिए, दु ख का प्रतीकार करने के लिए, स्वय पृथ्वीकायिक जीवो की हिसा करता है, दूसरो से हिसा करवाता है, तथा हिसा करने वालो का अनुमोदन करता है।

वह (हिसावृत्ति) उसके अहित के लिए होती है। उसकी अबोधि अर्थात् ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि, और चारित्र-बोधि की अनुपलब्धि के लिए कारणभूत होती है।

१४. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा इहमेगेसि णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए।

---

१ जो वस्तु, जिस जीवकाय के लिए मारक होती है, वह उसके लिए शस्त्र है। निर्युक्तिकार ने (गाथा ९५-९६) मे पृथ्वीकाय के शस्त्र इस प्रकार गिनाये है —

१ कुदाली आदि भूमि खोदने के उपकरण
२. हल आदि भूमि विदारण के उपकरण
३. मृगशृंग
४. काठ-लकड़ी तृण आदि
५ अग्निकाय
६ उच्चार-प्रस्रवण (मल-मूत्र);
७ स्वकाय शस्त्र, जैसे—काली मिट्टी का शस्त्र पीली मिट्टी, आदि
८. परकाय शस्त्र, जैसे—जल आदि,
९ तदुभय शस्त्र, जैसे—मिट्टी मिला जल;
१०. भावशस्त्र—असयम।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

१४ वह साधक (सयमी) हिसा के उक्त दुष्परिणामो को अच्छी तरह समझता हुआ, आदानीय—सयम-साधना मे तत्पर हो जाता है । कुछ मनुष्यो को **भगवान के** या अनगार मुनियो के समीप धर्म सुनकर यह ज्ञात होता है कि —'यह **जीव-हिंसा ग्रन्थि है,** यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है ।'

(फिर भी) जो मनुष्य सुख आदि के लिए जीवहिंसा मे आसक्त होता है, वह नाना प्रकार के शस्त्रो से पृथ्वी-सम्बन्धी हिंसा-क्रिया मे सलग्न होकर पृथ्वीकायिक जीवो की हिसा करता है । और तब वह न केवल पृथ्वीकायिक जीवो की हिंसा करता है, अपितु अन्य नानाप्रकार के जीवो की भी हिसा करता है ।

विवेचन—चूर्णि मे 'आदानीय' का अर्थ सयम तथा 'विनय' किया है ।

इस सूत्र मे आये 'ग्रन्थ' आदि शब्द एक विशेष पारम्परिक अर्थ रखते है । साधारणत 'ग्रन्थ' शब्द पुस्तक विशेष का सूचक है । शब्दकोष मे ग्रन्थ का अर्थ 'गाठ' (ग्रन्थि) भी किया गया है जो शरीरविज्ञान एव मनोविज्ञान मे अधिक प्रयुक्त होता है । जैनसूत्रो मे आया हुआ 'ग्रन्थ' शब्द इनसे भिन्न अर्थ का द्योतक है ।

आगमो के व्याख्याकार आचार्य मलयगिरि के अनुसार—"जिसके द्वारा, जिससे तथा जिसमे बँधा जाता है वह ग्रन्थ है ।"[1]

उत्तराध्ययन, आचाराग, स्थानाग, विशेषावश्यक भाष्य आदि मे कषाय को ग्रन्थ या ग्रन्थि कहा है । आत्मा को बाँधने वाले कषाय या कर्म को भी ग्रन्थ कहा गया है ।[2]

ग्रन्थ के दो भेद है—द्रव्य ग्रन्थ और भाव ग्रन्थ । द्रव्य ग्रन्थ दश प्रकार का परिग्रह है—(१) क्षेत्र, (२) वास्तु, (३) धन, (४) धान्य, (५) सचय,—तृण काष्ठादि, (६) मित्र-ज्ञाति-सयोग, (७) यान—वाहन, (८) शयनासन, (९) दासी-दास और (१०) कुप्य ।

भावग्रन्थ के १४ भेद है—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) प्रेम, (६) द्वेष, (७) मिथ्यात्व, (८) वेद, (९) अरति, (१०) रति, (११) हास्य, (१२) शोक, (१३) भय और (१४) जुगुप्सा ।[3]

प्रस्तुत सूत्र मे हिसा को ग्रन्थ या ग्रन्थि कहा है, इस सन्दर्भ मे आगम-गत उक्त सभी अर्थ या भाव इस शब्द मे ध्वनित होते है । ये सभी भाव हिसा के मूल कारण ही नही, बल्कि स्वय भी हिसा है । अत 'ग्रन्थ' शब्द मे ये सब भाव निहित समझने चाहिए ।

'मोह' शब्द राग या विकारी प्रेम के अर्थ मे प्रसिद्ध है । जैन आगमो मे 'मोह' शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है । राग और द्वेष— दोनो ही मोह है ।[4] सदसद् विवेक का नाश[5],

---

१ गथिज्जइ तेण तओ तम्मि व तो त मय गथो—विशेषा० १३८३ (अभि राजेन्द्र ३।७३९)

२ अभि राजेन्द्र भाग ३।७९३ मे उद्धृत

३ बृहत्कल्प उद्देशक १ गा १०-१४

४ सूत्रकृतांग श्रु० १ अ० ४ उ० २ गा० २२

५ स्थानाग ३।४

हेय-उपादेय बुद्धि का अभाव[1], अज्ञान[2], विपरीतबुद्धि[3], मूढता[4], चित्त की व्याकुलता[5], मिथ्यात्व तथा कषायविषय आदि की अभिलाषा, यह सब मोह है।

ये सब 'मोह' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। सत्य तत्त्व को अयथार्थ रूप में समझना दर्शन-मोह, तथा विषयों की सर्गान (आसक्ति) चारित्रमोह है।[7] धवला (८।२८३।९) के अनुसार भाव ग्रन्थ के १४ भेद मोह मे ही सम्मिलित है। उक्त सभी प्रकार के भाव, हिंसा के प्रबल कारण हैं, अत स्वय हिंसा भी है।

'मार' शब्द मृत्यु के अर्थ मे ही प्राय प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध ग्रन्थो मे मृत्यु, काम का प्रतीक तथा क्लेश के अर्थ मे 'मार शब्द का प्रयोग हुआ है।[8]

'नरक' शब्द पापकर्मियो के यातनास्थान[9] के अर्थ मे ही आगमो में प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकृतागटीका मे 'नरक' शब्द का अनेक प्रकार से विवेचन किया गया है। अशुभ रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श को भी 'नोकर्म द्रव्यनरक' माना गया है। नरक प्रायोग्य कर्मों के उदय (अपेक्षा से कर्मोपार्जन की क्रिया) को 'भावनरक' बताया है। हिंसा को इसी दृष्टि से नरक कहा गया है कि नरक के योग्य कर्मोपार्जन का वह सबसे प्रबल कारण है, इतना प्रबल, कि वह स्वय नरक ही है। हिंसक की मनोदशा भी नरक के समान क्रूर व अशुभतर होती है।[10]

पृथ्वीकायिक जीवों का वेदना-बोध

१५—से बेमि—

अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पादमब्भे, अप्पेगे पादमच्छे,
अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे,
अप्पेगे जाणुमब्भे, अप्पेगे जाणुमच्छे, अप्पेगे ऊरुमब्भे, अप्पेगे ऊरुमच्छे,
अप्पेगे कडिमब्भे, अप्पेगे कडिमच्छे, अप्पेगे णाभिमब्भे, अप्पेगे णाभिमच्छे,
अप्पेगे उदरमब्भे, अप्पेगे उदरमच्छे, अप्पेगे पासमब्भे, अप्पेगे पासमच्छे,
अप्पेगे पिट्ठिमब्भे, अप्पेगे पिट्ठिमच्छे अप्पेगे उरमब्भे, अप्पेगे उरमच्छे,
अप्पेगे हिययमब्भे, अप्पेगे हिययमच्छे, अप्पेगे थणमब्भे, अप्पेगे थणमच्छे,
अप्पेगे खंधमब्भे, अप्पेगे खंधमच्छे, अप्पेगे बाहुमब्भे, अप्पेगे बाहुमच्छे,
अप्पेगे हत्थमब्भे, अप्पेगे हत्थमच्छे, अप्पेगे अंगुलिमब्भे अप्पेगे अंगुलिमच्छे,
अप्पेगे णहमब्भे अप्पेगे णहमच्छे, अप्पेगे गीवमब्भे, अप्पेगे गीवमच्छे,
अप्पेगे हणुयमब्भे, अप्पेगे हणुयमच्छे, अप्पेगे होट्ठमब्भे, अप्पेगे होट्ठमच्छे,
अप्पेगे दंतमब्भे, अप्पेगे दंतमच्छे, अप्पेगे जिब्भमब्भे, अप्पेगे जिब्भमच्छे,

१ उत्तराध्ययन ३। २. वही।
३ विशेषावश्यक (अभि रा मोह' शब्द) ४ ज्ञाता १।८
५ सूत्रकृताग १, अ ४ उ १ गा ३१ ६ आचा० शी० टीका
७ प्रवचनसार ८५ ८ आगम और त्रिपि० ६६७
९ (अ) पापकर्मिणा यातनास्थानेषु—सूत्र० वृत्ति २।१ (ख) राजवार्तिक २।५०।२-३
१०. सूत्रकृताग, १।५।१ नरकविभक्ति अध्ययन

अप्पेगे तालुमब्भे, अप्पेगे तालुमच्छे, अप्पेगे गलमब्भे, अप्पेगे गलमच्छे,
अप्पेगे गंडमब्भे, अप्पेगे गंडमच्छे, अप्पेगे कण्णमब्भे, अप्पेगे कण्णमच्छे,
अप्पेगे णासमब्भे, अप्पेगे णासमच्छे, अप्पेगे अच्छिमब्भे, अप्पेगे अच्छिमच्छे,
अप्पेगे भमुहमब्भे, अप्पेगे भमुहमच्छे, अप्पेगे णिडालमब्भे, अप्पेगे णिडालमच्छे,
अप्पेगे सीसमब्भे, अप्पेगे सीसमच्छे।
अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

१५ मैं कहता हूँ–

(जैसे कोई किसी जन्मान्ध[1] व्यक्ति को (मूसल-भाला आदि से) भेदे चोट करे या तलवार आदि से छेदन करे, उसे जैसी पीडा की अनुभूति होती है, वैसी ही पीडा पृथ्वीकायिक जीवो को होती है।)

जैसे कोई किसी के पैर मे, टखने पर, घुटने, उरु, कटि, नाभि, उदर, पार्श्व-पसली पर, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कधे, भुजा, हाथ, अगुली, नख, ग्रीवा, (गर्दन) ठुड्डी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गले, कपोल, कान, नाक, आंख, भौंह, ललाट, और शिर का (शस्त्र से) भेदन छेदन करे,(तब उसे जैसी पीडा होती है, वैसी ही पीडा पृथ्वीकायिक जीवो को होती है।)

जैसे कोई किसी को गहरी चोट मारकर, मूर्च्छित करदे, या प्राण-वियोजन ही करदे, उसे जैसी कष्टानुभूति होती है, वैसी ही पृथ्वीकायिक जीवो की वेदना समझना चाहिए।

विवेचन—पिछले सूत्रो मे पृथ्वीकायिक जीवो की हिसा का निषेध किया गया है। पृथ्वीकायिक जीवो मे चेतना अव्यक्त होती है। उनमे हलन-चलन आदि क्रियाएँ भी स्पष्ट दीखती नही, अत यह शका होना स्वाभाविक है कि पृथ्वीकायिक जीव न चलता है, न बोलता है, न देखता है, न सुनता है, फिर कैसे माना जाय कि वह जीव है? उसे भेदन-छेदन करने मे कष्ट का अनुभव होता है?

इस शका के समाधान हेतु सूत्रकार ने तीन दृष्टान्त देकर पृथ्वीकायिक जीवो की वेदना का बोध तथा अनुभूति कराने का प्रयत्न किया है।

प्रथम दृष्टान्त मे बताया है कोई मनुष्य जन्म से अधा, बधिर, मूक या पगु है। कोई पुरुष उसका छेदन-भेदन करे तो वह उस पीडा को न तो वाणी से व्यक्त कर सकता है, न त्रस्त होकर चल सकता है, न अन्य चेष्टा से पीडा को प्रकट कर सकता है। तो क्या यह मान लिया जाय कि वह जीव नही है, या उसे भेदन-छेदन करने से पीडा नही होती है?

जैसे वह जन्मान्ध व्यक्ति वाणी, चक्षु, गति आदि के अभाव मे भी पीडा का अनुभव करता है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव इन्द्रिय-विकल अवस्था मे पीडा की अनुभूति करते है।

१. यहाँ 'अन्ध' शब्द का अर्थ जन्म से इन्द्रिय-विकल—बहरा, गूँगा, पगु तथा अवयवहीन समझना चाहिए।
—आचा० शीला० टीका ३५।१

दूसरे दृष्टान्त मे किसी स्वस्थ मनुष्य की उपमा से बताया है, जैसे उसके पैर, आदि बत्तीस अवयवो का एक साथ छेदन-भेदन करते है, उस समय वह मनुष्य न भली प्रकार देख सकता है, न सुन सकता है, न बोल सकता है, न चल सकता है, किन्तु इससे यह तो नही माना जा सकता कि उसमे चेतना नही है या उसे कष्ट नही हो रहा है। इसी प्रकार पृथ्वी-कायिक जीव मे व्यक्त चेतना का अभाव होने पर भी उसमे प्राणो का स्पन्दन है, अनुभव-चेतना विद्यमान है, अत उसे भी कष्टानुभूति होती है।

तीसरे दृष्टान्त मे मूर्च्छित मनुष्य के साथ तुलना करते हुए बताया है कि जैसे मूर्च्छित मनुष्य की चेतना बाहर मे लुप्त होती है, किन्तु उसकी अन्तरग चेतना—अनुभूति लुप्त नही होती, उसी प्रकार स्त्यानगृद्धिनिद्रा के सतत उदय से पृथ्वीकायिक जीवो की चेतना मूर्च्छित व अव्यक्त रहती है। पर वे आन्तर चेतना से शून्य नही होते।

उक्त तीनों उदाहरण पृथ्वीकायिक जीवो की सचेतनता तथा मनुष्य शरीर के समान पीडा की अनुभूति स्पष्ट करते है।

भगवती सूत्र (श० १९ उ० ३५) में बताया है—जैसे कोई तरुण और बलिष्ठ पुरुष किसी जरा-जीर्ण पुरुष के सिर पर दोनो हाथो से प्रहार करके उसे आहत करता है, तब वह जैसी अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है, उससे भी अनिष्टतर वेदना का अनुभव पृथ्वीकायिक जीवो को आक्रान्त होने पर होता है।

१६. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

१७. तं परिण्णाय मेहावी णेव सय पुढविसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहि पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे—पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

१८. जस्सेते पुढविकम्मसमारभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥

१६ जो यहाँ (लोक मे) पृथ्वीकायिक जीवो पर शस्त्र का समारभ—प्रयोग करता है, वह वास्तव मे इन आरभों (हिसा सम्बन्धी प्रवृत्तियो के कटु परिणामो व जीवो की वेदना) से अनजान है।

जो पृथ्वीकायिक जीवो पर शस्त्र का समारभ/प्रयोग नही करता, वह वास्तव मे इन आरभो/हिसा-सम्बन्धी प्रवृत्तियो का ज्ञाता है, (वही इनसे मुक्त होता है)—

१७ यह (पृथ्वीकायिक जीवो की अव्यक्त वेदना) जानकर बुद्धिमान् मनुष्य न स्वय पृथ्वीकाय का समारभ करे, न दूसरो से पृथ्वीकाय का समारभ करवाए और न उसका समारभ करने वाले का अनुमोदन करे।

जिसने पृथ्वीकाय सम्बन्धी समारभ को जान लिया अर्थात् हिसा के कटु परिणाम को जान लिया वही परिज्ञातकर्मा (हिसा का त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हू।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

अनगार-लक्षण

१९. से बेमि—से जहा वि अणगारे उज्जुकडे णियागपडिवण्णे[1] अमायं कुव्वमाणे वियाहिते।

१९. मैं कहता हूँ—जिस आचरण से अनगार होता है।
जो, ऋजुकृत्—सरल आचरण वाला हो,
नियाग-प्रतिपन्न—मोक्ष मार्ग के प्रति एकनिष्ठ होकर चलता हो,
अमाय—कपट रहित हो,

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे 'अनगार' के लक्षण बताये हैं। अपने आप को 'अनगार' कहने मात्र से कोई अनगार नही हो जाता। जिसमे निम्न तीन लक्षण पाये जाते हो, वही वास्तविक अनगार होता है।

(१) **ऋजु** अर्थात् सरल हो, जिसका मन एव वाणी कपट रहित हो तथा जिसकी कथनी-करनी मे एकरूपता हो वह **ऋजुकृत्** है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—

सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ—३।१२

—**ऋजु** आत्मा की शुद्धि होती है। शुद्ध हृदय मे धर्म ठहरता है। इसलिए ऋजुता धर्म का—साधुता का मुख्य आधार है। ऋजु आत्मा मोक्ष के प्रति सहज भाव से समर्पित होता है, इसलिए अनगार का दूसरा लक्षण है— (२) **नियाग-प्रतिपन्न**। उसकी साधना का लक्ष्य भौतिक ऐश्वर्य या यश प्राप्ति आदि न होकर आत्मा को कर्ममल से मुक्त करना होता है।

(३) **अमाय**—माया का अर्थ सगोपन या छुपाना है, साधना-पथ पर बढने वाला अपनी सम्पूर्ण शक्ति को उसी मे लगा देता है। स्व-पर कल्याण के कार्य मे वह कभी अपनी शक्ति को छुपाता नही, शक्ति भर जुटा रहता है। वह माया रहित होता है।

नियाग-प्रतिपन्नता मे ज्ञानाचार एव दर्शनाचार की शुद्धि, ऋजुकृत् मे वीर्याचार की तथा अमाय मे तपाचार की सम्पूर्ण शुद्धि परिलक्षित होती है। साधना एव साध्य की शुद्धि का निर्देश इस सूत्र मे है।

२०. जाए सद्धाए णिक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा विजहित्ता विसोत्तियं।[2]

(२०) जिस श्रद्धा (निष्ठा/वैराग्य भावना) के साथ सयम-पथ पर कदम बढाया है, उसी श्रद्धा के साथ सयम का पालन करे। **विस्रोतसिका**—अर्थात् लक्ष्य के प्रति शका व चित्त की चचलता के प्रवाह मे न बहे, शका का त्याग कर दे।

---

१. चूर्णिमे—'निकायपडिवण्णे' पाठ है।

२ (क) चूर्णिमें 'तण्णो हुसि विसोत्तिय' पाठ है।

३ (ख) विजहित्ता पुव्वसजोग, विजहित्ता विसोत्तिय—एसा पाठान्तर भी है।

२१. पणया वीरा महावीहिं ।

(२१) वीर पुरुष महापथ के प्रति प्रणत—अर्थात् समर्पित होते हैं।

विवेचन—महापथ का अभिप्राय है, अहिंसा व संयम का प्रशस्त पथ। अहिंसा व संयम की साधना मे देश, काल सम्प्रदाय व जाति की कोई सीमा या बंधन नहीं है। वह सर्वदा, सर्वत्र सब के लिए एक समान है। संयम व शान्ति के आराधक सभी जन इसी पथ पर चले है, चलते हैं और चलेंगे। फिर भी यह कभी संकीर्ण नहीं होता, अत. यह महापथ है। अनगार इसके प्रति सम्पूर्ण भाव से समर्पित होते है।

अप्कायिक जीवों का जीवत्व

२२. लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं ।

से बेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा ।

जे लोगं अब्भाइक्खति, से अत्ताणं अब्भाइक्खति, जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति ।

२२ मुनि (अतिशय ज्ञानी पुरुषो) की आज्ञा—वाणी से लोक को—अर्थात् अप्काय के जीवो का स्वरूप जानकर उन्हे अकुतोभय बनादे अर्थात् उन्हे किसी भी प्रकार का भय उत्पन्न न करे, संयत रहे।

मैं कहता हू—मुनि स्वय, लोक—अप्कायिक जीवो के अस्तित्व का अपलाप (निषेध) न करे। न अपनी आत्मा का अपलाप करे। जो लोक का अपलाप करता है, वह वास्तव मे अपना ही अपलाप करता है। जो अपना अपलाप करता है, वह लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।

विवेचन—यहाँ प्रसग के अनुसार 'लोक' का अर्थ अप्काय किया गया है। पूर्व सूत्रो में पृथ्वीकाय का वर्णन किया जा चुका है, अब अप्काय का वर्णन किया जा रहा है। टीकाकार ने 'अकुतोभय'—के अर्थ किये है—(१) जिससे किसी जीव को भय न हो, वह संयम। तथा (२) जो कहीं से भी भय न चाहता हो—वह 'अप्कायिक जीव।' यहाँ प्रथम संयम अर्थ प्रधानतया वांछित है।[1]

सामान्यत अपने अस्तित्व को कोई भी अस्वीकार नहीं करता, पर शास्त्रकार का कथन है, कि जो व्यक्ति अप्कायिक जीवों की सत्ता को नकारता है, वह वास्तव में स्वयं की सत्ता को नकारता है। अर्थात् जिस प्रकार स्व का अस्तित्व स्वीकार्य है, अनुभवगम्य है, उसी प्रकार अन्य जीवो का अस्तित्व भी स्वीकारना चाहिए। यही 'आयतुले पयासु' आत्म-तुला' का सिद्धान्त है।

मूल मे '**अभ्याख्यान**' शब्द आया है, जो कई विशेष अर्थ रखता है। किसी के अस्तित्व को नकारना, सत्य को और असत्य को असत्य सत्य, जीव को अजीव, अजीव को जीव स्थापित करना अभ्याख्यान—विपरीत कथन है। अर्थात् 'जीव को अजीव' बताना उस पर

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक—४०।१

असत्य अभियोग लगाने के समान है। आगमो मे अभ्याख्यान शब्द निम्न कई अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है—

दोषाविष्करण—दोष प्रकट करना—(भगवती ५।६)।

असद् दोष का आरोपण करना—(प्रज्ञापना २२।प्रश्न०२)।

दूसरों के समक्ष निंदा करना—(प्रश्न० २)।

असत्य अभियोग लगाना—(आचा० १।३)।

२३. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेण उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

२४. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवितस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव उदयसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा उदयसत्थं समारंभते समणुजाणति।

तं से अहिताए तं से अबोधीए।

२५. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेण उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।[1]

२६. से बेमि—संति पाणा उदयणिस्सिया जीवा अणेगा।

इहं च खलु भो अणगाराणं उदय-जीवा वियाहिया।

सत्थं चेत्थ अणुवीयि पास। पुढो सत्थं पवेदितं।[2] अदुवा अदिण्णादाणं।

२३. तू देख! सच्चे साधक हिंसा (अप्काय की) करने में लज्जा अनुभव करते है। और उनको भी देख, जो अपने आपको 'अनगार' घोषित करते है, वे विविध प्रकार के शस्त्रो (उपकरणो) द्वारा जल सम्बन्धी आरंभ-समारंभ करते हुए जल-काय के जीवो की हिंसा करते है। और साथ ही तदाश्रित अन्य अनेक जीवो की भी हिंसा करते है।

२४ इस विषय मे भगवान् ने परिज्ञा अर्थात् विवेक का निरूपण किया है। —अपने इस जीवन के लिए, प्रशसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के लिए, दु खो का प्रतीकार करने के लिए (इन कारणो से) कोई स्वय अप्काय की हिंसा करता है, दूसरो से भी अप्काय की हिंसा करवाता है और अप्काय की हिंसा करने वालो का अनुमोदन करता है। यह हिंसा, उसके अहित के लिए होती है तथा अबोधि का कारण बनती है।

---

१. सूत्र २५ के बाद कुछ प्रतियो मे 'अप्पेगे अंधमब्भे' पृथ्वीकाय का सूत्र १५ पूर्ण रुप से उद्धृत मिलता है। यह सूत्र अग्निकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय एव वायुकाय के प्रकरण मे भी मिलता है। हमारी आदर्श प्रति में यह पाठ नहीं है। —सम्पादक

२ वृत्ति मे 'पुढोऽपास पवेदितं'—पाठान्तर है, जिसका आशय है शस्त्र-परिणामित उदक ग्रहण करना आपाश—अबन्धन (अनुमत) है।

२५ वह साधक यह समझते हुए सयम-साधन में तत्पर हो जाता है।

भगवान् से या अनगार मुनियो से सुनकर कुछ मनुष्यों को यह परिज्ञात हो जाता है, जैसे—यह अप्कायिक जीवो की हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, साक्षात् मृत्यु है, नरक है।

फिर भी मनुष्य इस मे (जीवन, प्रशसा, सन्तान आदि के लिए) आसक्त होता है। जो कि वह तरह-तरह के शस्त्रों से उदक-काय की हिंसा-क्रिया में सलग्न होकर अप्कायिक जीवों की हिंसा करता है। वह केवल अप्कायिक जीवों की ही नही, किन्तु उसके आश्रित अन्य अनेक प्रकार के (त्रस एव स्थावर) जीवो की भी हिंसा करता है।

मैं कहता हूँ—

जल के आश्रित अनेक प्रकार के जीव रहते है।

हे मनुष्य! इस अनगार-धर्म मे, अर्थात् अर्हत्दर्शन में जल को 'जीव' (सचेतन) कहा है। जलकाय के जो शस्त्र हैं, उन पर चिन्तन करके देख! भगवान् ने जलकाय के अनेक शस्त्र बताये है

जलकाय की हिंसा, सिर्फ हिंसा ही नही, वह अदत्तादान—चोरी भी है।

विवेचन—अप्काय को सजीव—सचेतन मानना जैन दर्शन की मौलिक मान्यता है। भगवान् महावीर कालीन अन्य दार्शनिक जल को सजीव नही मानते थे, किन्तु उसमें आश्रित अन्य जीवो की सत्ता स्वीकार करते थे। तैत्तिरीय आरण्यक मे 'वर्षा' को जल का गर्भ माना है, और जल को 'प्रजनन शक्ति' के रूप में स्वीकार किया है। 'प्रजनन-क्षमता' सचेतन में ही होती है, अत सचेतन होने की धारणा का प्रभाव वैदिक चिंतन पर पडा है, ऐसा माना जा सकता है।[1] किन्तु मूलत अनगारदर्शन को छोडकर अन्य सभी दार्शनिक जल को सचेतन नही मानते थे। इसलिए यहाँ दोनो तथ्य स्पष्ट किये गये हैं-(१) जल सचेतन है। (२) जल के आश्रित अनेक प्रकार के छोटे-बडे जीव रहते हैं।

अनगारदर्शन मे जल के तीन प्रकार बताये है—(१) **सचित्त**—जीव-सहित। (२) **अचित्त**-निर्जीव। (३) **मिश्र**-सजीव-निर्जीव मिश्रित जल। सजीव जल, की शस्त्र-प्रयोग से हिंसा होती है। जलकाय के सात शस्त्र इस प्रकार बताये हैं[2]—

उत्सेचन—कुएँ से जल निकालना,

गालन—जल छानना,

धोवन—जल से उपकरण/बर्तन आदि धोना,

स्वकायशस्त्र—एक स्थान का जल दूसरे स्थान के जल का शस्त्र है,

---

१. देखिए—श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३४६, डा० जे० आर० जोशी (पूना) का लेख।

२ निर्युक्ति गाथा ११३-११४।

परकाय शस्त्र—मिट्टी, तेल, क्षार, शर्करा, अग्नि आदि,

तदुभय शस्त्र—जल से भीगी मिट्टी आदि,

भाव शस्त्र—असंयम।

जलकाय के जीवो की हिसा को 'अदत्तादान' कहने के पीछे एक विशेष कारण है। तत्कालीन परिव्राजक आदि कुछ सन्यासी जल को सजीव तो नही मानते थे, पर अदत्त जल का प्रयोग नही करते थे। जलाशय आदि के स्वामी की अनुमति लेकर जल का उपयोग करने मे वे दोष नही मानते थे। उनकी इस धारणा को मूलत भ्रान्त बताते हुए यहाँ कहा गया है—जलाशय का स्वामी क्या जलकाय के जीवो का स्वामी हो सकता है? क्या जल के जीवो ने अपने प्राण-हरण करने या प्राण किसी को सौपने का अधिकार उसे दिया है? नही! अत जल के जीवो का प्राण-हरण करना हिसा तो है ही, साथ मे उनके प्राणो की चोरी भी है।[1] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी भी जीव की हिसा, हिसा के साथ-साथ अदत्तादान भी है। अहिसा के सम्बन्ध मे यह बहुत ही सूक्ष्म व तर्कपूर्ण गम्भीर चिन्तन है।

२७. कप्पइ णे, कप्पइ णे पातुं, अदुवा विभूसाए। पुढो सत्थेहिं विउट्टंति।

२८. एत्थ वि तेसिं णो णिकरणाए।

२९. एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

३०. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा, उदयसत्थं समारंभंते वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा।

३१. जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मेत्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

२७ 'हमे कल्पता है। अपने सिद्धान्त के अनुसार हम पीने के लिए जल ले सकते है।' (यह आजीवको एव शैवो का कथन है)।

'हम पीने तथा नहाने (विभूषा) के लिए भी जल का प्रयोग कर सकते है।' (यह बौद्ध श्रमणो का मत है) इस तरह अपने शास्त्र का प्रमाण देकर या नानाप्रकार के शस्त्रो द्वारा जलकाय के जीवो की हिंसा करते है।

२८. अपने शास्त्र का प्रमाण देकर जलकाय की हिसा करने वाले साधु, हिसा के पाप से विरत नही हो सकते। अर्थात् उनका हिंसा न करने का संकल्प परिपूर्ण नही हो सकता।

२९ जो यहाँ, शस्त्र-प्रयोग कर जलकाय के जीवो का समारम्भ करता है, वह इन आरभो (जीवो की वेदना व हिसा के कुपरिणाम) से अनभिज्ञ है। अर्थात् हिसा करने वाला कितने ही शास्त्रो का प्रमाण दे, वास्तव मे वह अज्ञानी ही है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक ४२

जो जलकायिक जीवो पर शस्त्र-प्रयोग नही करता, वह आरभो का ज्ञाता है, वह हिंसा-दोष से मुक्त होता है। अर्थात् वह ज्ञ-परिज्ञा से हिंसा को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसे त्याग देता है।

३० बुद्धिमान् मनुष्य यह (उक्त कथन) जानकर स्वय जलकाय का समारभ न करे, दूसरो से न करवाए, और उसका समारभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

३१ जिसको जल-सम्बन्धी समारभ का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा (मुनि) होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

अग्निकाय की सजीवता

३२. से बेमि—णेव सयं लोग अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।

जे लोग अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति।

जे अत्ताण अब्भाइक्खति से लोग अब्भाइक्खति।

जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे।

जे असत्थस्स खेयण्णे से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे।

३२ मैं कहता हूँ—

वह (जिज्ञासु साधक) कभी भी स्वय लोक (अग्निकाय) के अस्तित्व का, अर्थात् उसकी सजीवता का अपलाप (निषेध) न करे। न अपनी आत्मा के अस्तित्व का अपलाप करे। क्योकि जो लोक (अग्निकाय) का अपलाप करता है, वह अपने आप का अपलाप करता है। जो अपने आप का अपलाप करता है वह लोक का अपलाप करता है।

जो दीर्घलोकशस्त्र (अग्निकाय) के स्वरूप को जानता है वह अशस्त्र (सयम) का स्वरूप भी जानता है। जो सयम का स्वरूप जानता है वह दीर्घलोक-शस्त्र का स्वरूप भी जानता है।

विवेचन—यहा प्रसगानुसार 'लोक' शब्द अग्निकाय का बोधक है। तत्कालीन धर्म-परम्पराओ मे जल को, तथा अग्नि को देवता मानकर पूजा तो जाता था, किन्तु उनकी हिंसा के सम्बन्ध मे कोई विचार नही किया गया था। जल से शुद्धि और पचाग्नि तप आदि से सिद्धि मानकर इनका खुल्लमखुल्ला प्रयोग/उपयोग किया जाता था। भगवान् महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से इन दोनो को सजीव मानकर उनकी हिंसा का निषेध किया है।

टीकाकार आचार्य शीलांक ने कहा है—अग्नि की सजीवता तो स्वयं ही सिद्ध है। उसमे प्रकाश व उष्णता का गुण है, जो सचेतन मे होते हैं। तथा अग्नि वायु के बिना जीवित नही रह सकती।[1] स्नेह, काष्ठ आदि का आहार लेकर बढती है, आहार के अभाव मे घटती है—यह सब उसकी सजीवता के स्पष्ट लक्षण है।

किसी सचेतन की सचेतनता अस्वीकार करना अर्थात् उसे अजीव मानना अभ्याख्यान दोष है, अर्थात् उसकी सत्ता पर झूठा दोषारोपण करना है तथा दूसरे की सत्ता का अस्वीकार अपनी आत्मा का ही अस्वीकार है।

'दीर्घलोकशस्त्र' शब्द द्वारा अग्निकाय का कथन करना विशेष उद्देश्यपूर्ण है। दीर्घ-लोक का अर्थ है—वनस्पति। पाच स्थावर एकेन्द्रिय जीवो मे चार की अवगाहना अगुल का असंख्यातवा भाग है, जबकि वनस्पति की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन से भी अधिक है।[2] वनस्पति का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। इसलिए वनस्पति को आगमो मे 'दीर्घलोक' कहा है। अग्नि उसका शस्त्र है।

दीर्घलोकशस्त्र—इसका एक अर्थ यह भी है कि अग्नि सबमें तीक्ष्ण और प्रचड शस्त्र है। उत्तराध्ययन मे कहा है—

नत्थि जोइसमे सत्थे तम्हा जोइं न दीवए—३५।१२

—अग्नि के समान अन्य कोई तीक्ष्ण शस्त्र नही है। बडे-बडे विशाल बीहड वनो को वह कुछ क्षणो मे ही भस्मसात् कर देती है। अग्नि वडवानल के रूप मे समुद्र मे भी छिपी रहती है।

'खेयण्णे' शब्द के संस्कृत मे दो रूप होते है—'क्षेत्रज्ञ'—निपुण। अथवा क्षेत्र—शरीर किंवा आत्मा, उसके स्वरूप को जानने वाला—क्षेत्रज्ञ।

खेदज्ञ—जीव मात्र के दुःख को जानने वाला। कहीं-कहीं क्षेत्रज्ञ का, गीतार्थ[3] आचार व प्रायश्चित्त विधि का ज्ञाता[4] अर्थ भी किया है। भगवान् महावीर का 'खेयन्नए'[5] विशेषण बताकर इसका अर्थ लोकालोक स्वरूप के ज्ञाता व प्रत्येक आत्मा के खेद/सुख-दुःख तथा उसके मूल कारणो के ज्ञाता, ऐसा अर्थ भी किया गया है।

गीता मे शरीर को क्षेत्र व आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा है।[6] बौद्ध ग्रन्थो में—क्षेत्रज्ञ का अर्थ 'कुशल' किया है।[7]

---

१ न विणा वाउयाएण अगणिकाए उज्जलति—भगवती श० १६।उ० १। सूत्र (अंगसुत्ताणि)

२ प्रज्ञापना, अवगाहना पद।

३ ओघनिर्युक्ति (अभि० राजेन्द्र 'खेयन्ने' शब्द)।

४ धर्म संग्रह अधिकार (अभि० ")।

५. खेयन्नए से कुसले महेसी—सूत्रकृतांग १।६

६ गीता १३।१-२।

७ अंगुत्तरनिकाय, नवक निपात, चतुर्थ भाग पृ० ४७।

असत्थ—शब्द 'संयम' के अर्थ में प्रयुक्त है। असयम को भाव-शस्त्र बताया है,[1] अतः उसका विरोधी सयम—अ-शस्त्र अर्थात् जीव मात्र का रक्षक/बन्धु/मित्र है। प्रकारान्तर से इस कथन का भाव है—जो हिसा को जानता है, वही अहिसा को जानता है, जो अहिंसा को जानता है वही हिंसा को भी जानता है।

अग्निकायिक-जीव-हिंसा-निषेध

३३. वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजतेहिं सया जतेहिं सदा अप्पमत्तेहिं।
जे पमत्ते गुणट्ठिते से हु दंडे पवुच्चति।
तं परिण्णाय मेहावी इयाणीं णो जमहं पुव्वमकासी पमादेणं।

३३ वीरो (आत्मज्ञानियों) ने, ज्ञान-दर्शनावरण आदि कर्मों को विजय कर /नष्ट कर यह (सयम का पूर्ण स्वरूप) देखा है। वे वीर सयमी, सदा यतनाशील और सदा अप्रमत्त रहने वाले थे।

जो प्रमत्त है, गुणो (अग्नि के राँधना-पकाना आदि गुणों) का अर्थी है, वह दण्ड/हिसक कहलाता है।

यह जानकर मेधावी पुरुष (सकल्प करे)—अब मैं वह (हिसा) नही करूंगा, जो मैंने प्रमाद के वश होकर पहले किया था।

विवेचन—इस सूत्र मे वीर आदि विशेषण सम्पूर्ण आत्म-ज्ञान (केवल ज्ञान) प्राप्त करने की प्रक्रिया के सूचक है।

वीर—पराक्रमी—साधना मे आने वाले समस्त विघ्नों पर विजय पाना।

संयम—इन्द्रिय और मन को विवेक द्वारा निगृहीत करना।

यम—क्रोध आदि कषायो की विजय करना।

अप्रमत्तता—स्व-रूप की स्मृति रखना। सदा जागरूक और विषयोन्मुखी प्रवृत्तियो से विमुख रहना।

इस प्रक्रिया द्वारा (आत्म-दर्शन) केवलज्ञान प्राप्त होता है। उन केवली भगवान् ने जीव हिसा के स्वरूप को देखकर अ-शस्त्र—सयम का उपदेश किया है।

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पाँच प्रमाद हैं। मनुष्य जब इनमे आसक्त होता है तभी वह अग्नि के गुणो/उपयोगो—राँधना, पकाना, प्रकाश, ताप आदि की वाछा करता है। और तब वह स्वय जीवो का दण्ड (हिसक) बन जाता है।

हिसा के स्वरूप का ज्ञान होने पर बुद्धिमान् मनुष्य उसको त्यागने का संकल्प करता है। मन मे दृढ निश्चय कर अहिसा की साधना पर बढता है और पूर्व-कृत हिंसा आदि के लिए पश्चात्ताप करता है—यह सूत्र के अन्तिम पद में बताया है।

३४. लज्जमाणा पुढो पास।

'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

---

१ भावे य असंजमो सत्थं—निर्युक्ति गाथा ९६

३५. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव अगणिसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणति ।

तं से अहिताए, तं से अबोधीए ।

३६. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए ।

सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए ।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेण अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

३७. से बेमि—संति पाणा पुढविणिस्सिता तणणिस्सिता पत्तणिस्सिता कट्ठणिस्सिता गोमयणिस्सिता कयवरणिस्सिता ।

संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति य ।

अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघातमावज्जंति । जे तत्थ संघातमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति । जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति ।

३४ तू देख ! सयमी पुरुष जीव-हिंसा में लज्जा/ग्लानि/संकोच का अनुभव करते हैं ।

और उनको भी देख, जो 'हम 'अनगार—गृहत्यागी साधु हैं'—यह कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रों/उपकरणों से अग्निकाय की हिंसा करते हैं । अग्निकाय के जीवों की हिंसा करते हुए अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं ।

३५. इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा/विवेक-ज्ञान का निरूपण किया है । कुछ मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशसा, सन्मान, पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के निमित्त, तथा दु खो का प्रतीकार करने के लिए, स्वय अग्निकाय का समारभ करते है । दूसरो से अग्निकाय का समारभ करवाते है । अग्निकाय का समारभ करने वालों (दूसरो) का अनुमोदन करते है ।

यह (हिंसा) उनके अहित के लिए होती है । यह उनकी अबोधि के लिए होती है ।

३६. वह (साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) भली भांति समझे और संयम-साधना में तत्पर हो जाये ।

तीर्थंकर आदि प्रत्यक्ष ज्ञानी अथवा श्रुत-ज्ञानी मुनियो के निकट से सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है कि यह जीव-हिंसा—ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है ।

फिर भी मनुष्य जीवन, मान, वंदना आदि हेतुओ मे आसक्त हुए विविध प्रकार के शस्त्रो से अग्निकाय का समारभ करते हैं। और अग्निकाय का समारभ करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणो/जीवो की भी हिसा करते हैं।

३७ मैं कहता हूँ—

बहुत से प्राणी—पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कूड़ा-कचरा आदि के आश्रित रहते हैं।

कुछ सँपातिम/उडने वाले प्राणी होते है (कीट, पतगे, पक्षी आदि) जो उड़ते-उडते नीचे गिर जाते हैं।

ये प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर सघात (शरीर के सकोच) को प्राप्त होते हैं। शरीर का सघात होने पर अग्नि की ऊष्मा से मूर्च्छित हो जाते है। मूर्च्छित हो जाने के बाद मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं।

विवेचन—सूत्र ३४-३५ का अर्थ पिछले २३-२४ सूत्र की तरह सुबोध ही है। अग्निकाय के शस्त्रो का उल्लेख निर्युक्ति मे इस प्रकार है—

१ **मिट्टी या धूलि** (इससे वायु निरोधक वस्तु कबल आदि भी समझना चाहिए), २ **जल**, ३ **आर्द्र वनस्पति**, ४ **त्रस प्राणी**, ५ **स्वकाय शस्त्र**—एक अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है, ६ **परकाय शस्त्र**—जल आदि, ७ **तदुभय मिश्रित**—जैसे तुष-मिश्रित अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है, ८ **भावशस्त्र**—असयम।

३८. एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

३९. [1]जस्स एते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

३८ जो अग्निकाय के जीवो पर शस्त्र-प्रयोग करता है, वह इन आरभ-समारभ क्रियाओ के कटु परिणामो से अपरिज्ञात होता है, अर्थात् वह हिंसा के दु खद परिणामो से छूट नही सकता है।

जो अग्निकाय पर शस्त्र-समारभ नही करता है, वास्तव मे वह आरभ का ज्ञाता अर्थात् हिसा से मुक्त हो जाता है।

३९ जिसने यह अग्नि-कर्म-समारभ भली भाति समझ लिया है, वही मुनि है, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म का ज्ञाता और त्यागी) है।

—ऐसा मै कहता हूँ।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ सूत्र ३८ के बाद कुछ प्रतियो मे यह पाठ मिलता है। "त परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थ समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं अगणिसत्थ समारभावेज्जा, अगणिसत्थ समारभंते वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा।" यह पाठ चूर्णिकार तथा टीकाकार ने मूलरूप मे स्वीकृत किया है, ऐसा लगता है, किन्तु कुछ प्रतियो मे नही है।

पञ्चमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

अनगार का लक्षण

४०. तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मतिमं अभयं विदित्ता तं जे णो करए एसो-वरते, एत्थोवरए, एस अणगारे त्ति पवुच्चति ।

४०. (अहिंसा मे आस्था रखने वाला यह सकल्प करे)—मैं संयम अगीकार करके वह हिंसा नही करूँगा। बुद्धिमान् सयम में स्थिर होकर मनन करे और 'प्रत्येक जीव अभय चाहता है' यह जानकर (हिंसा न करे) जो हिंसा नही करता, वही व्रती है। इस अर्हत्-शासन में जो व्रती है, वही अनगार कहलाता है।

विवेचन—इस सूत्र मे अहिसा को जोवन मे साकार करने के दो साधन बताये है। जैसे मनन,—बुद्धिमान् पुरुष जीवो के स्वरूप आदि के विषय मे गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करे। **अभय जाने**—फिर यह जाने कि जैसे मुझे 'अभय प्रिय है, मै कही से भी भय नही चाहता, वैसे ही कोई भी जीव भय नही चाहता। सबको अभय प्रिय है। इस बात पर मनन करने से प्रत्येक जीव के साथ आत्म-एकत्व की अनुभूति होती है। इससे अहिंसा की आस्था सुदृढ़ एवं सुस्थिर हो जाती है।

टीकाकार ने 'अभय' का अर्थ सयम भी किया है। तदनुसार 'अभय विदित्ता' का अर्थ है—संयम को जान कर।[1]

४१. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।

उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति ।

उड्ढं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु यावि ।

एस लोगे वियाहिते ।

एत्थ अगुत्ते अणाणाए पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे पमत्ते गारमावसे ।

४१. जो गुण (शब्दादि विषय) है, वह आवर्त ससार है। जो आवर्त है वह गुण है।

ऊँचे, नीचे, तिरछे, सामने देखनेवाला रूपो को देखता है। सुनने वाला शब्दों को सुनता है।

ऊँचे, नीचे, तिरछे, सामने—विद्यमान वस्तुओ मे आसक्ति करने वाला, रूपों में मूर्च्छित होता है, शब्दों में मूर्च्छित होता है।

यह (आसक्ति) ही संसार कहा जाता है।

जो पुरुष यहाँ (विषयो मे) अगुप्त है। इन्द्रिय एव मन से असयत है, वह आज्ञा—धर्म-शासन के बाहर है।

---

१ अविद्यमानं भयमस्मिन् सत्त्वानामित्यभय —संयम । —आचा० टीका पत्रांक ५६।१

जो बार-बार विषयो का आस्वाद करता है, उनका भोग-उपभोग करता है, वह वक्रसमाचार—अर्थात् असयममय जीवन वाला है। वह प्रमत्त है। तथा गृहत्यागी कहलाते हुए भी वास्तव मे गृहवासी ही है।

विवेचन—'गुण' शब्द के अनेक अर्थ हैं। आगमों के व्याख्याकार आचार्यों ने निक्षेप पद्धति द्वारा गुण की पन्द्रह प्रकार मे विभिन्न व्याख्याएँ की हैं।[1] प्रस्तुत में गुण का अर्थ है—पाच इन्द्रियो के ग्राह्य विषय। ये क्रमश यो है—शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श। ये ऊँची-नीची आदि सभी दिशाओ मे मिलते हैं। इन्द्रियो के द्वारा आत्मा इनको ग्रहण करता है, सुनता है, देखता है, सूँघता है, चखता है और स्पर्श करता है। ग्रहण करना इन्द्रिय का गुण है, गृहीत विषयो के प्रति मूर्च्छा करना मन या चेतना का कार्य है। जब मन विषयो के प्रति आसक्त होता है तब विषय मन के लिए बन्धन या आवर्त बन जाता है। आवर्त का शब्दार्थ है–समुद्रादि का वह जल, जो वेग के साथ चक्राकार घूमता रहता है। भँवर चाल/घूम चक्कर। भाव रूप मे विषय व ससार अथवा शब्दादि गुण आवर्त है।[2]

शास्त्रकार ने बताया है, रूप एव शब्द आदि का देखना-सुनना स्वय मे कोई दोष नही है, किन्तु उनमे आसक्ति (राग या द्वेष) होने से आत्मा उनमे मूर्च्छित हो जाता है, फँस जाता है। यह आसक्ति ही ससार है। अनासक्त आत्मा ससार मे स्थित रहता हुआ भी ससार-मुक्त कहलाता है।

दीक्षित होकर भी जो मुनि विषयासक्त बन जाता है, वह बार-बार विषयो का सेवन करता है। उसका यह आचरण वक्र-समाचार है, कपटाचरण है क्योकि ऊपर से वह त्यागी दीखता है, मुनिवेष धारण किये हुए हैं, किन्तु वास्तव मे वह प्रमादी है गृहवासी है और जिन भगवान् की आज्ञा से बाहर है।

प्रस्तुत उद्देशक मे वनस्पतिकाय की हिसा का निषेध किया गया है, यहाँ पर शब्दादि विषयो का वर्णन सहसा अप्रासगिक-सा लग सकता है। अत टीकाकार ने इसकी सगति बैठाते हुए कहा है–शब्दादि विषयो की उत्पत्ति का मुख्य साधन वनस्पति ही है। वनस्पति से ही वीणा आदि वाद्य, विभिन्न रग, रूप, पुष्पादि के गध, फल आदि के रस व रुई आदि के स्पर्श की निष्पत्ति होती है।[3] अत. वनस्पति के वर्णन से पूर्व उसके उत्पाद/वनस्पति मे निष्पन्न वस्तुओ मे अनासक्त रहने का उपदेश करके प्रकारान्तर से उसकी हिंसा न करने का ही उपदेश किया है। हिसा का मूल हेतु भी आसक्ति ही है। अगर आसक्ति न रहे तो विभिन्न दिशाओ/क्षेत्रो मे स्थित ये शब्दादि गुण आत्मा के लिए कुछ भी अहित नही करते।

वनस्पतिकाय-हिंसा वर्जन

४२. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं

१. अभिधानराजेन्द्र भाग ३, 'गुण' शब्द।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६

३ आचा० टीका पत्रांक ५७।१

सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

४३. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वणस्सतिसत्थ समारभति, अण्णेहिं वा वणस्सतिसत्थ समारंभावेति, अण्णे वा वणस्सतिसत्थ समारभमाणे समणुजाणति।

तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

४४. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

४२ तू देख! ज्ञानी हिंसा से लज्जित/विरत रहते है। 'हम गृह त्यागी है,' यह कहते हुए भी कुछ लोग नानाप्रकार के शस्त्रो से, वनस्पतिकायिक जीवो का समारभ करते हैं। वनस्पतिकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्रकार के जीवो की भी हिंसा करते हैं।

४३ इस विषय मे भगवान् ने परिज्ञा/विवेक का उपदेश किया है—इस जीवन के लिए, प्रशसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म, मरण और मुक्ति के लिए, दु ख का प्रतीकार करने के लिए, वह (तथाकथित साधु) स्वय वस्पतिकायिक जीवो की हिंसा करता है, दूसरो से हिंसा करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है।

यह (हिंसा—करना, कराना, अनुमोदन करना) उसके अहित के लिए होता है। यह उसकी अबोधि के लिए होता है।

४४ यह समझता हुआ साधक सयम मे स्थिर हो जाए। भगवान् से या त्यागी अनगारो के समीप सुनकर उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है—'यह (हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।'

फिर भी मनुष्य इसमे आसक्त हुआ, नानाप्रकार के शस्त्रो से वनस्पतिकाय का समारभ करता है और वनस्पतिकाय का समारभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों को भी हिंसा करता है।

मनुष्य शरीर एव वनस्पति शरीर की समानता

४५. से बेमि—इमं पि जातिधम्मयं, एयं पि जातिधम्मयं;
इमं पि वुड्ढिधम्मयं, एयं पि वुड्ढिधम्मयं;
इमं पि चित्तमंतयं, एयं पि चित्तमंतयं;
इमं पि छिण्णं मिलाति एयं पि छिण्णं मिलाति;
इमं पि आहारगं, एयं पि आहारगं;

इमं पि अणितियं,[1] एयं पि अणितियं;[2]
इमं पि असासयं, एयं पि असासयं;
इमं पि चयोवचइयं, एयं पि चयोवचइयं;
इमं पि विप्परिणामधम्मं, एयं पि विप्परिणामधम्मं।

४५. मैं कहता हूँ—

यह मनुष्य भी जन्म लेता है, यह वनस्पति भी जन्म लेती है।
यह मनुष्य भी बढ़ता है, यह वनस्पति भी बढ़ती है।
यह मनुष्य भी चेतना युक्त है, यह वनस्पति भी चेतना युक्त है।
यह मनुष्य शरीर छिन्न होने पर म्लान हो जाता है, यह वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है।
यह मनुष्य भी आहार करता है यह वनस्पति भी आहार करती है।
यह मनुष्य शरीर भी अनित्य है, यह वनस्पति का शरीर भी अनित्य है।
यह मनुष्य शरीर भी अशाश्वत है, यह वनस्पति शरीर भी अशाश्वत है।

यह मनुष्य शरीर भी आहार से उपचित होता है, आहार के अभाव मे अपचित/क्षीण/दुर्बल होता है,

यह वनस्पति का शरीर भी इसी प्रकार उपचित-अपचित होता है।

यह मनुष्य शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओ को प्राप्त होता है।

यह वनस्पति शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओ का प्राप्त होता है।

विवेचन—भारत के प्राय सभी दार्शनिको ने वनस्पति को सचेतन माना है। किन्तु वनस्पति मे ज्ञान-चेतना अल्प होने के कारण उसके सम्बन्ध में दार्शनिकों ने कोई विशेष चिन्तन-मनन नही किया। जैनदर्शन मे वनस्पति के सम्बन्ध मे बहुत ही सूक्ष्म व व्यापक चिन्तन किया गया है। मानव-शरीर के साथ जो इसकी तुलना की गई है, वह आज के वैज्ञानिको के लिए भी आश्चर्यजनक व उपयोगी तथ्य है। जब सर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति में मानव के समान ही चेतना की वैज्ञानिक प्रयोगो के द्वारा सिद्धि कर बताई थी, तब से जैनदर्शन का वनस्पति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया है।

वनस्पति विज्ञान (Botany) आज जीव-विज्ञान का प्रमुख अग बन गया है। सभी जीवो को जीवन-निर्वाह करने, वृद्धि करने, जीवित रहने और प्रजनन (सतानोत्पत्ति) के लिए भोजन किंवा ऊर्जा की आवश्यकता पडती है। यह ऊर्जा सूर्य से फोटोन (Photon) तरगो के रूप मे पृथ्वी पर आती है। इसे ग्रहण करने को क्षमता सिर्फ पेड-पौधो मे ही है। पृथ्वी के सभी प्राणी पौधों से ही ऊर्जा (जीवनी शक्ति) प्राप्त करते हैं। अत पेड-पौधों (वनस्पति) का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैज्ञानिक व चिकित्सा-वैज्ञानिक मानव-शरीर के विभिन्न अवयवों का, रोगो का, तथा आनुवशिक गुणो का अध्ययन करने के लिए आज 'वनस्पति' (पेड़-पौधों) का, अध्ययन करते हैं। अत वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र मे आगमसम्मत सनस्पति-कायिक जीवों की मानव शरीर के साथ तुलना बहुत अधिक महत्व रखती है।

१, २ पाठान्तर 'अणिच्चय'।

४६. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

४७. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सतिसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वणस्सतिसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे वणस्सतिसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

४८. जस्सेते वणस्सतिसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ पचमो उद्देसओ समत्तो ॥

४६ जो वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ करता है, वह उन आरंभों/आरंभजन्य कटुफलों से अनजान रहता है। (जानता हुआ भी अनजान है।)

जो वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र का प्रयोग नहीं करता, उसके लिए आरंभ परिज्ञात है।

४७ यह जानकर मेधावी स्वयं वनस्पति का समारंभ न करे, न दूसरों से समारंभ करवाए और न समारंभ करने वालों का अनुमोदन करे।

४८ जिसको यह वनस्पति सम्बन्धी समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा (हिंसा-त्यागी) मुनि है।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

संसार-स्वरूप

४९. से बेमि—संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोतया जराउया रसया संसेयया[1] सम्मुच्छिमा उब्भिया उववातिया। एस संसारे त्ति पवुच्चति। मंदस्स अवियाणओ।

णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं। सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अस्सातं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि।

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य।

तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति।

संति पाणा पुढो सिया।

४९. मैं कहता हूँ—

ये सब त्रस प्राणी हैं, जैसे-अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक। यह (त्रस जीवों का समन्वित क्षेत्र) संसार कहा जाता है। मंद तथा अज्ञानी जीव को यह संसार होता है।

१ पाठान्तर—संसेइमा।

मैं चिन्तन कर, सम्यक् प्रकार देखकर कहता हूँ—प्रत्येक प्राणी परिनिर्वाण (शान्ति और सुख) चाहता है।

सब प्राणियो, सब भूतो, सब जीवो और सब सत्त्वो को असाता (वेदना) और अपरिनिर्वाण (अशान्ति) ये महाभयकर और दु खदायी है। मैं ऐसा कहता हूँ।

ये प्राणी दिशा और विदिशाओ मे, सब ओर से भयभीत/त्रस्त रहते हैं।

तू देख, विषय-सुखाभिलाषी आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर इन जीवों को परिताप देते रहते है।

त्रसकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरो मे आश्रित रहते हैं।

विवेचन—इस सूत्र मे त्रसकायिक जीवो के विषय मे कथन है। आगमों में ससारी जीवों के दो भेद बताये गये है—स्थावर और त्रस। जो दुख से अपनी रक्षा और सुख का आस्वाद करने के लिए हलन-चलन करने की क्षमता रखता हो, वह 'त्रस' जीव है। इसके विपरीत स्थिर रहने वाला 'स्थावर'। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी 'त्रस' होते हैं। एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय वाले स्थावर। उत्पत्ति-स्थान की दृष्टि से त्रस जीवो के आठ भेद किये गये हैं—

१. **अंडज**—अडो से उत्पन्न होने वाले—मयूर, कबूतर, हस आदि।

२. **पोतज**—पोत अर्थात् चर्ममय थैली। पोत से उत्पन्न होने वाले पोतज—जैसे हाथी, वल्गुली आदि।

३. **जरायुज**—जरायु का अर्थ है गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली, जो जन्म के समय शिशु को आवृत किये रहती है। इसे 'जेर' भी कहते हैं। जरायु के साथ उत्पन्न होने वाले हैं जैसे—गाय, भैंस आदि।

४. **रसज**—छाछ, दही आदि रस विकृत होने पर इनमे जो कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं वे 'रसज' कहे जाते हैं।

५. **संस्वेदज**—पसीने से उत्पन्न होने वाले। जैसे—जू, लीख आदि।

६. **सम्मूर्च्छिम**—बाहरी वातावरण के सयोग से उत्पन्न होने वाले, जैसे—मक्खी, मच्छर, चीटी, भ्रमर आदि।

७. **उद्भिज्ज**—भूमि को फोडकर निकलने वाले, जैसे—टीड, पतगे आदि।

८ **औपपातिक**—'उपपात' का शाब्दिक अर्थ है सहसा घटने वाली घटना। आगम की दृष्टि से देवता शय्या मे, नारक कुम्भी मे उत्पन्न होकर एक मुहूर्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते हैं, इसलिए वे औपपातिक कहलाते है।

इन आठ प्रकार के जीवो में प्रथम तीन 'गर्भज' चौथे से सातवें भेद तक 'सम्मूर्च्छिम' और देव-नारक औपपातिक है। ये 'सम्मूर्च्छनज, गर्भज, उपपातज—इन तीन भेदो में समाहित हो जाते है। तत्त्वार्थ सूत्र (२/३२) में ये तीन भेद ही गिनाये हैं।

इन जीवो को ससार कहने का अभिप्राय यह है कि—यह अष्टविध योनि-सग्रह ही जीवो के जन्म-मरण तथा गमनागमन का केन्द्र है। अत इसे ही संसार समझना चाहिए।

(१) मंदता, विवेक बुद्धि की अल्पता, तथा (२) अज्ञान । ससार में परिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरण के ये दो मुख्य कारण हैं । विवेक दृष्टि एव ज्ञान जाग्रत होने पर मनुष्य ससार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

'परिनिर्वाण' शब्द वैसे मोक्ष का वाचक है । 'निर्वाण' का शब्दार्थ है बुझ जाना । जसे तेल के क्षय होने से दीपक बुझ जाता है, वैसे राग-द्वेष के क्षय होने से ससार (जन्म-मरण) समाप्त हो जाता है और आत्मा सब दु खो से मुक्त होकर अनन्त सुखमय-स्वरूप प्राप्त कर लेता है । किन्तु प्रस्तुत प्रसग मे 'परिनिर्वाण' का यह व्यापक अर्थ ग्रहण नही कर 'परिनिर्वाण' से सर्वविध सुख, अभय, दु ख और पीडा का अभाव आदि अर्थ ग्रहण किया गया है ।[1] और बताया गया है कि प्रत्येक जीव सुख, शान्ति और अभय का आकांक्षी है । अशान्ति, भय, वेदना उनको महान भय व दुःखदायी होता है । अत उनकी हिंसा न करे ।

प्राण, भूत, जीव, सत्त्व—ये चारों शब्द—सामान्यत जीव के ही वाचक हैं । शब्दनय (समभिरूढ नय) की अपेक्षा से इनके अलग-अलग अर्थ भी किये गये हैं । जैसे भगवती सूत्र (२/१) मे बताया है—

दश प्रकार के प्राण युक्त होने से—**प्राण** है ।

तीनो काल में रहने के कारण—**भूत** है ।

आयुष्य कर्म के कारण जीता है—अत **जीव** है ।

विविध पर्यायो का परिवर्तन होते हुए भी आत्म-द्रव्य की सत्ता में कोई अन्तर नही आता, अत **सत्त्व** है ।

टीकाकार आचार्य शीलाक ने निम्न अर्थ भी किया है—

> प्राणा द्वित्रिचतु.प्रोक्ता भूतास्तु तरव स्मृता ।
> जीवा पचेन्द्रिया प्रोक्ता, शेषा सत्त्वा उदीरिता ।[2]

प्राण—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव । **भूत**- वनस्पति कायिक जीव । **जीव**- पाच इन्द्रियवाले जीव,—तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारक । **सत्त्व** पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु काय के जीव ।

त्रस काय-हिंसा निषेध

५०. लज्जमाणा पुढो पास । 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

५०. तू देख ! सयमी साधक जीव हिंसा में लज्जा/ग्लानि/सकोच का अनुभव करते हैं । और उनको भी देख, जो 'हम गृहत्यागी है' यह कहते हुए भी अनेक प्रकार के उपकरणो से त्रसकाय का समारभ करते हैं । त्रसकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्राणो की भी हिंसा करते हैं ।

१ आचा॰ शील॰ टीका पत्रांक ६४,   २. वही, पत्राक ६४

५१. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतु से सयमेव तसकायसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति।

तं से अहिताए, तं से अबोधीए।

५१. इस विषय मे भगवान् ने परिज्ञा/विवेक का निरूपण किया है।

कोई मनुष्य इस जीवन के लिए, प्रशसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म-मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, स्वय भी त्रसकायिक जीवों की हिसा करता है, दूसरो से हिंसा करवाता है तथा हिसा करते हुए का अनुमोदन भी करता है। यह हिसा उसके अहित के लिए होती है। अबोधि के लिए होती है।

त्रसकाय-हिंसा के विविध हेतु

५२. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।

सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायकम्मसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

से बेमि—

अप्पेगे अच्चाए वधेंति, अप्पेगे अजिणाए वधेंति, अप्पेगे मंसाए वधेंति; अप्पेगे सोणिताए वधेंति, अप्पेगे हिययाए वधेंति एवं पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठिए अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए।

अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा, अप्पेगे हिंसंति वा, अप्पेगे हिंसिस्संति वा णे वधेंति।

५२. वह सयमी, उस हिसा को/हिसा के कुपरिणामो को सम्यक्प्रकार से समझते हुए सयम मे तत्पर हो जावे।

भगवान् से या गृहत्यागी श्रमणो के समीप सुनकर कुछ मनुष्य यह जान लेते है कि यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मृत्यु है, यह मोह है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य इस हिसा मे आसक्त होता है। वह नाना प्रकार के शस्त्रो से त्रसकायिक जीवो का समारभ करता है। त्रसकाय का समारभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवो का भी समारभ/हिंसा करता है।

मैं कहता हूँ—

कुछ मनुष्य अर्चा (देवता की बलि या शरीर के शृ गार) के लिए जीव हिंसा करते हैं। कुछ मनुष्य चर्म के लिए, मास, रक्त, हृदय (कलेजा) पित्त, चर्बी, पख, पूँछ, केश, सीग, विषाण (सुअर का दात,) दांत, दाढ, नख, स्नायु, अस्थि (हड्डी) और

अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों की हिंसा करते है। कुछ किसी प्रयोजन-वश, कुछ निष्प्रयोजन/व्यर्थ ही जीवों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति (इन्होंने मेरे स्वजनादि की) हिंसा की, इस कारण (प्रतिशोध की भावना से) हिंसा करते है।

कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजन आदि की) हिंसा करता है, इस कारण (प्रतीकार की भावना से) हिंसा करते हैं।

कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजनादि की हिंसा करेगा) इस कारण (भावी आतंक/भय की संभावना से) हिंसा करते है।

५३. एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।
एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

५३ जो त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, वह इन आरंभ (आरंभ जनित कुपरिणामों) से अनजान ही रहता है।

जो त्रसकायिक जीवों की हिंसा नहीं करता है, वह इन आरंभों से सुपरिचित/मुक्त रहता है।

५४. तं परिण्णाय मेधावी णेव सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

५४ यह जानकर बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं त्रसकाय-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से समारंभ न करवाए, समारंभ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

५५. जस्सेते तसकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि।

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

५५ जिसने त्रसकाय-सम्बन्धी समारंभों (हिंसा के हेतुओं/उपकरणों/कुपरिणामों) को जान लिया, वही परिज्ञातकर्मा (हिंसा-त्यागी) मुनि होता है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ

सप्तम उद्देशक

आत्म-तुला-विवेक

५६. पभू एजस्स दुगुंछणाए। आतंकदंसी अहियं ति णच्चा।
जे अज्झत्थं जाणति से बहिया जाणति, जे बहिया जाणति से अज्झत्थं जाणति।
एयं तुलमण्णेसिं।
इह संतिगता दविया णावकंखंति जीविउं।[1]

५६. साधनाशील पुरुष हिंसा में आतंक देखता है, उसे अहित मानता है। अतः वायुकायिक जीवों की हिंसा से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य (संसार) को भी जानता है। जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

इस तुला (स्व-पर की तुलना) का अन्वेषण कर, चिन्तन कर! इस (जिन शासन में) जो शान्ति प्राप्त—(कषाय जिनके उपशान्त हो गये हैं) और दयार्द्र हृदय वाले (द्रविक) मुनि हैं, वे जीव-हिंसा करके जीना नहीं चाहते।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे वायुकायिक जीवो की हिंसा-निषेध का वर्णन है। एज का अर्थ है वायु, पवन। वायुकायिक जीवों की हिंसा निवृत्ति के लिए 'दुगुञ्छा'—जुगुप्सा शब्द एक नया प्रयोग है। आगमो में प्रायः दुगु ञ्छा' शब्द गर्हा, ग्लानि, लोक-निंदा, प्रवचन-हीलना एव साध्वाचार की निंदा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यहाँ पर यह 'निवृत्ति' अर्थ का बोध कराता है।

इस सूत्र में हिंसा-निवृत्ति के तीन विशेष हेतु/आलम्बन बताये हैं।

१ आतंक-दर्शन—हिंसा से होने वाले कष्ट/भय/उपद्रव एव पारलौकिक दुःख आदि को आगमवाणी तथा आत्म-अनुभव से देखना।

२. अहित-चिंतन—हिंसा से आत्मा का अहित होता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की उपलब्धि दुर्लभ होती है, आदि को जानना/समझना।

३. आत्म-तुलना—अपनी सुख-दु ख की वृत्तियो के साथ अन्य जीवो की तुलना करना। जैसे मुझे सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है, वैसे ही दूसरो को सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है। यह आत्म-तुलना या आत्मौपम्य की भावना है।

अहिंसा का पालन भी अधानुकरण वृत्ति से अथवा मात्र पारम्परिक नही होना चाहिए किन्तु ज्ञान और करुणापूर्वक होना चाहिए। जीव मात्र को अपनी आत्मा के समान समझना, प्रत्येक जीव के कष्ट को स्वय का कष्ट समझना तथा उनकी हिंसा करने से सिर्फ उन्हें ही नही, स्वय को भी कष्ट/भय तथा उपद्रव होगा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि होगी और

---

१ आचारांग (मुनि जम्बूविजय जी) टिप्पणी पृ० १४ चूर्णी—जीवितुं, जीविऊ—इति पाठान्तरे। "तामियटमाडिएहिं गात बाहिर वाबि पोग्गल ण कखा ि जीवितु।"

अकल्याण होगा, इस प्रकार का आत्म-चिन्तन और आत्म-मथनकरके अहिंसा की भावना को संस्कारबद्ध बनाना—यह उक्त आलम्बनों का फलितार्थ है।

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है—इस पद का कई दृष्टियों से चिन्तन किया जा सकता है।

१ अध्यात्म का अर्थ है—चेतन/आत्म-स्वरूप। चेतन के स्वरूप का बोध हो जाने पर इसके प्रतिपक्ष 'जड' का स्वरूप-बोध स्वय ही हो जाता है। अत. एक पक्ष को सम्यक् प्रकार से जानने वाला उसके प्रतिपक्ष को भी सम्यक् प्रकार से जान लेता है। धर्म को जानने वाला अधर्म को, पुण्य को जानने वाला पाप को, प्रकाश को जानने वाला अधकार को जान लेता है।

२ अध्यात्म का एक अर्थ है—आन्तरिक जगत् अथवा जीव को मूल वृत्ति—सुख की इच्छा, जीने की भावना। शान्ति की कामना। जो अपनी इन वृत्तियो को पहचान लेता है वह बाह्य—अर्थात् अन्य जीवो की इन वृत्तियो को भी जान लेता है। अर्थात् स्वय के समान, ही अन्य जीव सुखप्रिय एव शान्ति के इच्छुक है, यह जान लेना वास्तविक अध्यात्म है। इसी से आत्म-तुला की धारणा संपुष्ट होती है।

शांति-गत—का अर्थ है—जिसके कषाय/विषय/तृष्णा आदि शान्त हो गये है, जिसकी आत्मा परम प्रसन्नता का अनुभव करती है।

द्रविक—'द्रव' का अर्थ है—घुलनशील या तरल पदार्थ। किन्तु अध्यात्मशास्त्र में 'द्रव' का अर्थ है, हृदय की तरलता, सरलता, दयालुता और सयम। इसी दृष्टि से टीकाकार ने 'द्रविक' का अर्थ किया है—करुणाशील सयमी पुरुष। पराये दुःख से द्रवीभूत होना सज्जनों का लक्षण है। अथवा कर्म की कठिनता को द्रवित—पिघालने वाला 'द्रविक' है।[1]

जीविउ—कुछ प्रतियो मे **'वीजिउ'** पाठ भी है। वायुकाय की हिसा का वर्णन होने से यहाँ पर उसकी भी संगति बैठती है कि वे सयमी वीजन (हवा लेना) की आकांक्षा नही करते। चूर्णिकार ने भी कहा है—मुनि तालपत्र आदि बाह्य पुद्गलों से वीजन लेना नही चाहते हैं, साथ ही चूर्णि मे **'जीवितु'** पाठान्तर भी दिया है।[2]

वायुकायिक-जीव-हिंसा-वर्जन

५७. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

५८. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वाउसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारभावेति, अण्णे वा वाउसत्थं समारभंते समणुजाणति।

तं से अहियाए, तं से अबोधीए।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्र ७०।१ २ देखें, पृष्ठ ३३ पर टिप्पण

५९. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोगे, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

६०. से बेमि—संति संपाइमा पाणा आहच्च संपतंति य।

फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति। जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियाविज्जंति। जे तत्थ परियाविज्जंति ते तत्थ उद्दायंति।

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

६१. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे वाउसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

५७ तू देख! प्रत्येक संयमी पुरुष हिंसा में लज्जा/ग्लानि का अनुभव करता है। उन्हे भी देख, जो 'हम गृहत्यागी है' यह कहते हुए विविध प्रकार के शस्त्रो/साधनो से वायुकाय का समारंभ करते हैं। वायुकाय-शस्त्र का समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्राणियो की हिंसा करते हैं।

५८ इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा/विवेक का निरूपण किया है। कोई मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोक्ष के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए स्वयं वायुकाय-शस्त्र का समारंभ करता है, दूसरो से वायुकाय का समारंभ करवाता है तथा समारंभ करने वालो का अनुमोदन करता है।

वह हिंसा, उसके अहित के लिए होती है। वह हिंसा, उसकी अबोधि के लिए होती है।

५९ वह अहिंसा-साधक, हिंसा को भली प्रकार से समझता हुआ संयम मे सुस्थिर हो जाता है।

भगवान् के या गृहत्यागी श्रमणो के समीप सुनकर उन्हे यह ज्ञात होता है कि यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य हिंसा मे आसक्त हुआ, विविध प्रकार के शस्त्रो से वायुकाय की हिंसा करता है। वायुकाय की हिंसा करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवो की हिंसा करता है।

६० मै कहता हूँ—

संपातिम—उड़ने वाले प्राणी होते हैं, वे वायु मे प्रताडित होकर नीचे गिर जाते हैं।

वे प्राणी वायु का स्पर्श/आघात होने से सिकुड जाते हैं। जब वे वायु-स्पर्श से संघातित होते/सिकुड जाते है, तब वे मूच्छित हो जाते हैं। जब वे जीव मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं तो वहाँ मर भी जाते हैं। जो यहाँ वायुकायिक जीवों का समारंभ करता है, वह इन आरभो से वास्तव मे अनजान है।

जो वायुकायिक जीवो पर शस्त्र-समारभ नही करता, वास्तव में उसने आरभ को जान लिया है।

६१ यह जानकर बुद्धिमान् मनुष्य स्वय वायुकाय का समारभ न करे। दूसरों से वायुकाय का समारभ न करवाए। वायुकाय का समारभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

जिसने वायुकाय के शस्त्र-समारभ को जान लिया है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा (हिंसा का त्यागी) है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रो मे वायुकाय की हिंसा का निषेध है। वायु को सचेतन मानना और उसकी हिंसा से बचना—यह भी निर्ग्रन्थ दर्शन की मौलिक विशेषता है।

सामान्य क्रम मे पृथ्वी, अप्, तेजस् वायु, वनस्पति, त्रस यों आना चाहिए था, किन्तु यहाँ पर क्रम तोडकर वायुकाय को वर्णन के सबसे अन्त मे लिया है। टीकाकार ने इस शका का समाधान करते हुए कहा है—षट्काय मे वायुकाय का शरीर चर्म-चक्षुओ से दीखता नही है, जबकि अन्य पाचो का शरीर चक्षुगोचर है। इस कारण वायुकाय का विषय—अन्य पाँचो की अपेक्षा दुर्बोध है। अत यहाँ पर पहले उन पाँचो का वर्णन करके अन्त में वायुकाय का वर्णन किया गया है।[1]

विरति-बोध

६२. एत्थं पि जाण उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति
आरंभमाणा विणयं वयंति
छंदोवणीया अज्झोववण्णा
आरंभसत्ता पकरेंति संगं।

से वसुमं सव्वसमण्णागतपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसिं।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवणिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते छज्जीवणिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ सत्थपरिण्णा समत्तो ॥

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक ६८

६२. तुम यहां जानो ! जो आचार (अहिंसा/आत्म-स्वभाव) में रमण नहीं करते, वे कर्मों से/आसक्ति की भावना से बंधे हुए हैं। वे आरंभ करते हुए भी स्वयं को संयमी बताते हैं अथवा दूसरों को विनय—संयम का उपदेश करते हैं।

वे स्वच्छन्दचारी और विषयों में आसक्त होते हैं।

वे (स्वच्छन्दचारी) आरंभ में आसक्त रहते हुए, पुनः-पुनः कर्म का संग—बन्धन करते हैं।

यह वसुमान् (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप धन से संयुक्त) सब प्रकार के विषयों पर प्रज्ञापूर्वक विचार करता है, अन्तःकरण से पाप-कर्म को अकरणीय—न करने योग्य जाने, तथा उस विषय में अन्वेषण—मन से चिन्तन भी न करे।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं षट्-जीवनिकाय का समारंभ न करे। दूसरों से उसका समारंभ न करवाए। उसका समारंभ करनेवालों का अनुमोदन न करे।

जिसने-षट्-जीवनिकाय-शस्त्र का प्रयोग भलीभाँति समझ लिया, त्याग दिया है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि कहलाता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

॥ शस्त्रपरिज्ञा प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

लोकविजय—द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

- इस अध्ययन का प्रसिद्ध नाम—लोक-विजय है।
- कुछ विद्वानों का मत है कि इसका प्राचीन नाम 'लोक-विचय' होना चाहिए।[1] प्राकृत भाषा में 'च' के स्थान पर 'ज' हो जाता है। किन्तु टीकाकार ने 'विजय' को 'विचय' न मानकर 'विजय' संज्ञा ही दी है।
- विचय—धर्मध्यान का एक भेद व प्रकार है। इसका अर्थ है—चिन्तन, अन्वेषण, तथा पर्यालोचन।
- विजय—का अर्थ है पराक्रम, पुरुषार्थ तथा आत्म-नियन्त्रण।
- प्रस्तुत अध्ययन की सामग्री को देखते हुए 'विचय' नाम भी उपयुक्त लगता है। क्योंकि इसमें लोक—संसार का स्वरूप, शरीर का भंगुर धर्म, ज्ञातिजनों की अशरणता, विषयो-पदार्थों की अनित्यता आदि का विचार करते हुए साधक को आसक्ति का बन्धन तोडने की हृदयस्पर्शी प्रेरणा दी गई है। आज्ञा-विचय, अपाय-विचय आदि धर्मध्यान के भेदों मे भी इसी प्रकार के चिन्तन की मुख्यता रहती है। अत. 'विचय' नाम की सार्थकता सिद्ध होती है।
- साथ ही सयम में पुरुषार्थ, अप्रमाद तथा साधना मे आगे बढने की प्रेरणा, कषाय आदि अन्तरग शत्रुओ को 'विजय' करने का उद्घोष भी इस अध्ययन मे पद-पद पर मुखरित है।
- 'विचय'—ध्यान व निर्वेद का प्रतीक है।
- 'विजय'—पराक्रम और पुरुषार्थ का बोधक है।
- प्रस्तुत अध्ययन में दोनो ही विषय समाविष्ट है। फिर भी हमने परम्परागत व टीकाकार द्वारा स्वीकृत 'विजय' नाम ही स्वीकार किया है।[2]
- निर्युक्ति (गाथा १७५) मे लोक का आठ प्रकार से निक्षेप करके बताया है कि लोक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, पर्याय—यो आठ प्रकार का है।
- प्रस्तुत मे 'भाव लोक' से सम्बन्ध है। इसलिए कहा है—

भावे कसायलोगो, अहिगारो तस्स विजएण।—१७५

---

१. पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ५९६ डा बी० भट्ट का लेख 'दि लोगविजय निक्षेप एण्ड लोकविचय'

२ आचा० टीका पत्रांक ७५

भाव लोक का अर्थ है—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों का समूह। यहाँ उस भाव लोक की विजय का अधिकार है। क्योंकि कषाय-लोक पर विजय प्राप्त करने वाला साधक काम-निवृत्त हो जाता है। और—

कामनियत्तमई खलु संसारा मुच्चई खिप्पं ।—१७७

काम—निवृत्त साधक, ससार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है

- प्रथम उद्देशक मे भाव लोक (संसार) का मूल—शब्दादि विषय तथा स्वजन आदि का स्नेह बताकर उनके प्रति अनासक्त होने का उपदेश है। पश्चात् द्वितीय उद्देशक में संयम में अरति का त्याग, तृतीय मे गोत्र आदि मदो का परिहार, चतुर्थ में परिग्रह-मूढ की दशा, भोग रोगोत्पत्तिका मूल, आशा-तृष्णा का परित्याग, भोग-विरति एवं पंचम उद्देशक में लोक निश्रा में विहार करते हुए संयम मे उद्यमशीलता एव छठे उद्देशक मे ममत्व का परिहार आदि विविध विषयों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।[1]
- इस अध्ययन में छह उद्देशक है। सूत्र सख्या ६३ से प्रारम्भ होकर १०५ पर समाप्त होती है।

---

१. आचारांग शीलांक टीका, पत्रांक ७४-७५

'लोगविजयो' बीअं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

लोकविजय, द्वितीय अध्ययन प्रथम उद्देशक

संसार का मूल : आसक्ति

६३. जे गुणे से मूलट्ठाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे ।

इति से गुणट्ठी महता परितावेणं वसे पमत्ते । तं जहा—माता मे, पिता मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहि-सयण-संगंथ-संथुता मे, [1]विवित्तोवगरण-परियट्टण-भोयण-अच्छायणं मे ।

इच्चत्थं गढिए लोए वसे पमत्ते । अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो ।

६३. जो गुण (इन्द्रिय विषय) है, वह (कषायरूप ससार का) मूल स्थान है। जो मूल स्थान है, वह गुण है।

इस प्रकार (आगे कथ्यमान) विषयार्थी पुरुष, महान् परिताप से प्रमत्त होकर, जीवन बिताता है।

वह इस प्रकार मानता है—"मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है, मेरा पुत्र है, मेरी पुत्री है, मेरी पुत्र-वधू है, मेरा सखा-स्वजन-सम्बन्धी-सहवासी है, मेरे विविध प्रचुर उपकरण (अश्व, रथ, आसन आदि) परिवर्तन (देने-लेने की सामग्री) भोजन तथा वस्त्र है।

इस प्रकार—मेरे पन (ममत्व) मे आसक्त हुआ पुरुष, प्रमत्त होकर उनके साथ निवास करता है।

वह प्रमत्त तथा आसक्त पुरुष रात-दिन परितप्त/चिन्ता एव तृष्णा से आकुल रहता है। काल या अकाल में (समय-बेसमय/हर समय) प्रयत्नशील रहता है। वह सयोग का अर्थी होकर, अर्थ का लोभी बनकर लूट-पाट करने वाला (चोर या डाकू) बन जाता है। सहसाकारी—दु साहसी और बिना विचारे कार्य करने वाला हो जाता है। विविध प्रकार की आशाओ मे उसका चित्त फंसा रहता है। वह बार-बार शस्त्र-प्रयोग करता है। सहारक/आक्रामक बन जाता है।

---

१ चूर्णि मे '**विवित्त**' पाठ है, जिसका अर्थ किया है—'**प्रभूत, अणेगप्रकार विचित्र च**' टीकाकार ने '**विचित्त**' पाठ मानकर अर्थ किया है—**विचित्त शोभन प्रचुर वा।** —टीका पत्रांक ९१।१

विवेचन—सूत्र ४१ मे 'गुण' को 'आवर्त' बताया है। यहाँ उसी सदर्भ मे गुण को 'मूल स्थान' कहा है। पाच इन्द्रियो के विषय 'गुण' हैं।[1] इष्ट विषय के प्रति राग और अनिष्ट विषय के प्रति द्वेष की भावना जाग्रत होती है। राग-द्वेष की जागृति से कषाय की वृद्धि होती है। और बढे हुए कषाय ही जन्म-मरण के मूल को सीचते है। जैसा कहा है—

चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचति मूलाइ पुणब्भवस्स[2]

—ये चारो कषाय पुनर्भव-जन्म-मरण की जड को सीचते है।

टीकाकार ने 'मूल' शब्द से कई अभिप्राय स्पष्ट किये हैं[3]—**मूल**—चार गतिरूप ससार। आठ प्रकार के कर्म तथा मोहनीय कर्म।

इन सबका सार यही है कि शब्द आदि विषयो मे आसक्त होना ही ससार की वृद्धि का/कर्म-बन्धन का कारण है।

विषयासक्त पुरुष की मनोवृत्ति ममत्व-प्रधान रहती है। उसी का यहाँ निदर्शन कराया गया है। वह माता-पिता आदि सभी सम्बन्धियो व अपनी सम्पत्ति के साथ ममत्व का दृढ बधन बाध लेता है। ममत्व से प्रमाद बढता है। ममत्व और प्रमाद—ये दो भूत उसके सिर पर सवार हो जाते है, तब वह अपनी उद्दाम इच्छाओ की पूर्ति के लिए रात-दिन प्रयत्न करता है, हर प्रकार के अनुचित उपाय अपनाता है, जोड-तोड करता है। चोर, हत्यारा और दुस्साहसी बन जाता है। उसकी वृति सरक्षक नही, आक्रामक बन जाती है।

यह सब अनियत्रित गुणार्थिता—विषयेच्छा का दुष्परिणाम है।

अशरणता-परिबोध

६४. अप्पं च खलु आउं इहमेगेसिं माणवाणं। तं जहा—सोतपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं चक्खुपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं घाणपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं रसपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं फासपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं।

अभिकंतं च खलु वयं सपेहाए ततो से एगया मूढभावं जणयंति।

जेहिं वा सद्धिं सवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिवदंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवदेज्जा।

णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

से ण हासाए, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए।

६४ इस ससार मे कुछ-एक मनुष्यो का आयुष्य अल्प होता है। जैसे-श्रोत्र-प्रज्ञान के परिहीन (सर्वथा दुर्बल) हो जाने पर, इसी प्रकार चक्षु-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, घ्राण-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, रस-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, स्पर्श-प्रज्ञान के परिहीन होने पर (वह अल्प आयु मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है)।

१ आचा० शी० टीका पत्राक ८९   २ दशवैकालिक ८।४०

३ आचा० शी० टीका पत्राक ९०।१

वय– अवस्था/यौवन को तेजी से जाते हुए देखकर वह चिंताग्रस्त हो जाता—है और फिर वह एकदा (बुढापा आने पर) मूढभाव को प्राप्त हो जाता है।

वह जिनके साथ रहता है, वे स्वजन (पत्नी-पुत्र आदि) कभी उसका तिरस्कार करने लगते है, उसे कटु व अपमानजनक वचन बोलते है। बाद मे वह भी उन स्वजनों की निंदा करने लगता है।

हे पुरुष! वे स्वजन तेरी रक्षा करने मे या तुझे शरण देने मे समर्थ नही है। तू भी उन्हे त्राण या शरण देने मे समर्थ नही है।

वह वृद्ध/जराजीर्ण पुरुष, न हसी-विनोद के योग्य रहता है, न खेलने के, न रति-सेवन के और न शृगार/सज्जा के योग्य रहता है।

विवेचन—इस सूत्र मे मनुष्यशरीर की क्षणभगुरता तथा अशरणता का रोमाचक दिग्दर्शन है।

सोतपण्णाण का अर्थ है—सुनकर ज्ञान करने वाली इन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान, इसी प्रकार चक्षुप्रज्ञान आदि का अर्थ है– देखकर, सूघकर, चखकर, छूकर ज्ञान करने वाली इन्द्रियाँ या इन इन्द्रियो से होने वाला ज्ञान।

आगमो के अनुसार मनुष्य का अल्पतम आयु एक क्षुल्लक भव (अन्तर्मुहूर्त मात्र) तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम प्रमाण होता है। इसमे सयम-साधना का समय अन्तमुहूर्त से लेकर देशोनकोटिपूर्व तक का हो सकता है। साधना की दृष्टि से समय बहुत अल्प—कम ही रहता है। अत यहा आयुष्य को अल्प बताया है।[1]

सामान्य रूप से मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी जाती है। वह दश दशाओं[2] मे विभक्त है—[१]बाला, [२]क्रीडा, [३]मदा, [४]बला, [५]प्रज्ञा, [६]हायनी, [७]प्रपचा, [८]प्रचारा, [९]मुम्मुखी और [१०]शायनी।

साधारण दशा मे चालीस वर्ष (चोथी दशा) तक मनुष्य-शरीर की आभा, कान्ति, बल आदि पूर्ण विकसित एव सक्षम रहते है। उसके बाद क्रमश क्षीण होने लगते है। जब इन्द्रियो की शक्ति क्षीण होने लगती है, तो मन मे सहज ही चिंता, भय और शोक बढने लगता है। इन्द्रिय-बल की हानि से वह शारीरिक दृष्टि से अक्षम होने लगता है उसका मनोबल भी कमजोर पडने लगता है। इसी के साथ बुढापे मे इन्द्रिय-विषयो के प्रति आसक्ति बढती जाती है। इन्द्रिय-शक्ति की हानि तथा विषयासक्ति की वृद्धि के कारण उसमे एक विचित्र प्रकार की मूढता-व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है।

ऐसा मनुष्य परिवार के लिए समस्या बन जाता है। परस्पर मे कलह व तिरस्कार की भावना बढती है। वे पारिवारिक स्वजन चाहे कितने ही योग्य व स्नेह करने वाले हो, तब भी उस वृद्ध मनुष्य को, जरा, व्याधि और मृत्यु से कोई बचा नही सकता। यही जीवन की अशरणता है, जिस पर मनुष्य को सतत चिन्तन/मनन करते रहना है तथा ऐसी दशा मे जो शरणदाता बन सके उस धर्म तथा सयम की शरण लेना चाहिए।

---

१ आचा० टीका पत्रांक ९२

२ स्थानाग सूत्र १०।सूत्र ७७२ (मुनि श्री कन्हैयालालजी सपादित)

'त्राण' का अर्थ रक्षा करने वाला है, तथा **'शरण'** का अर्थ आश्रयदाता है। 'रक्षा' रोग आदि से प्रतीकात्मक है-'शरण' आश्रय एवं संपोषण का सूचक है। आगमों में **त्राण-सरण'** शब्द प्रायः साथ-साथ ही आते हैं।

प्रमाद-परिवर्जन

६५. इच्चेवं समुट्ठिते अहोविहाराए। अंतरं च खलु इमं सपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमादए। वओ अच्चेति जोव्वणं च।[1]

६५. इस प्रकार चिन्तन करता हुआ मनुष्य संयम-साधना (अहोविहार) के लिए प्रस्तुत (उद्यत) हो जाये।

इस जीवन को एक अंतर - स्वर्णिम अवसर समझकर धीर पुरुष मुहूर्त भर भी प्रमाद न करे—एक क्षण भी व्यर्थ न जाने दे।

अवस्थाएं (बाल्यकाल आदि) बीत रही हैं। यौवन चला जा रहा है।

विवेचन—इस सूत्र में 'संयम' के अर्थ में **'अहोविहार'** शब्द का प्रयोग हुआ है। मनुष्य सामान्यतः विषय एवं परिग्रह के प्रति अनुराग रखता है। वह सोचता है कि इसके बिना जीवन-यात्रा चल नहीं सकती। जब संयमी, अपरिग्रही अनगार का जीवन उसके सामने आता है, तब उसको इस धारणा पर चोट पड़ती है। वह आश्चर्यपूर्वक देखता है कि यह विषयों का त्याग कर अपरिग्रही बनकर भी शान्तिपूर्वक जीवन यापन करता है सामान्य मनुष्य की दृष्टि में संयम -आश्चर्यपूर्ण जीवनयात्रा होने से इसे 'अहोविहार' कहा है।[2]

६६. जीविते इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवेत्ता उत्तासयित्ता, अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे।

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्वि पोसेंति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसेज्जा। णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

६६. जो इस जीवन (विषय, कषाय आदि) के प्रति प्रमत्त है/आसक्त है, वह हनन, छेदन, भेदन, चोरी, ग्रामघात, उपद्रव (जीव-वध) और उत्त्रास आदि प्रवृत्तियों में लगा रहता है। (जो आज तक किसी ने नहीं किया, वह) 'अकृत काम मैं करूँगा' इस प्रकार मनोरथ करता रहता है।

जिन स्वजन आदि के साथ वह रहता है, वे पहले कभी (शैशव एवं रुग्ण व्यवस्था में) उसका पोषण करते हैं। वह भी बाद में उन स्वजनों का पोषण करता है। इतना स्नेह-सम्बन्ध होने पर भी वे (स्वजन) तुम्हारे त्राण या शरण के लिए समर्थ नहीं हैं। तुम भी उनको त्राण व शरण देने में समर्थ नहीं हो।

---

१. **'च' ग्रहणा जहा जोव्वणं तहा बालातिवया वि'** चूर्णि। 'च' शब्द से यौवन के समान बालवय का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

२. आचा० टीका पत्रांक ९७

६७. उवाईतसेसेण[1] वा संणिहिसिण्णिचयो[2] कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए। ततो से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति।

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियए पच्छा परिहरेज्जा।

णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

६७ (मनुष्य) उपभोग मे आने के बाद बचे हुए धन से, तथा जो स्वर्ण एव भोगोपभोग की सामग्री अर्जित-सचित करके रखी है उसको सुरक्षित रखता है। उसे वह कुछ गृहस्थों के भोग/भोजन के लिए उपयोग मे लेता है।

(प्रभूत भोगोपभोग के कारण फिर) कभी उसके शरीर में रोग की पीडा उत्पन्न होने लगती है।

जिन स्वजन-स्नेहियों के साथ वह रहता आया है, वे ही उसे (रोग आदि के कारण घृणा करके) पहले छोड़ देते है। बाद मे वह भी अपने स्वजन-स्नेहियो को छोड देता है।

हे पुरुष! न तो वे तेरी रक्षा करने और तुझे शरण देने मे समर्थ है, और न तू ही उनकी रक्षा व शरण के लिए समर्थ है।

आत्म-हित की साधना

६८. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं। अणभिक्कंत च खलु वय सपेहाए खणं जाणाहि पंडिते!

जाव सोतपण्णाणा अपरिहीणा जाव णेत्तपण्णाणा अपरिहीणा जाव घाणपण्णाणा अपरिहीणा जाव जीहपण्णाणा अपरिहीणा जाव फासपण्णाणा अपरिहीणा, इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

६८ प्रत्येक प्राणी का सुख और दुःख—अपना-अपना है, यह जानकर (आत्मद्रष्टा बने)।

जो अवस्था (यौवन एव शक्ति) अभी बीती नही है, उसे देखकर, हे पडित! क्षण (समय) को/अवसर को जान।

जब तक श्रोत्र-प्रज्ञान परिपूर्ण है, इसी प्रकार नेत्र-प्रज्ञान, घ्राण-प्रज्ञान, रसना-प्रज्ञान, और स्पर्श-प्रज्ञान परिपूर्ण है, तब तक—इन नानारूप प्रज्ञानो के परिपूर्ण रहते हुए आत्म-हित के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्नशील बने।

विवेचन—सूत्रगत—**आयट्ठं**—शब्द, आत्मार्थ—आत्म-हित के अर्थ मे भी है और चूर्णि तथा टीका मे 'आयतट्ठ' पाठ भी दिया है। आयतार्थ—अर्थात् ऐसा स्वरूप जिसका कही कोई अन्त या विनाश नही है—वह मोक्ष है।[3]

१ 'उवातीतसेस तेण' 'उवातीशेसेण'—ये पाठान्तर भी है।

२. **सन्निधि**—दूध-दही आदि पदार्थ। **सन्निचय**—चीनी घृत आदि—आयारो पृष्ठ ७५।

३ आचा० शीलाक टीका पत्र १००।१

जब तक शरीर स्वस्थ एव इन्द्रिय-बल परिपूर्ण है, तब तक साधक आत्मार्थ अथवा मोक्षार्थ का सम्यक् अनुशीलन करता रहे।

'**क्षण**' शब्द सामान्यत सबसे अल्प, लोचन-निमेषमात्र काल के अर्थ मे आता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र मे 'क्षण' जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अवसर है। आचाराग के अतिरिक्त सूत्रकृताग आदि मे भी 'क्षण' का इसी अर्थ मे प्रयोग हुआ है। जैसे—

इणमेव खण वियाणिया—सूत्रकृत् १।२।३।१९

इसी क्षण को (सबसे महत्त्वपूर्ण) समझो।

टीकाकार ने 'क्षण' की अनेक दृष्टियो से व्याख्या की है। जैसे कालरूप क्षण—समय। भावरूप क्षण—अवसर। अन्य नय से भी क्षण के चार अर्थ किये है, जैसे—(१) **द्रव्य क्षण**—मनुष्य जन्म। (२) **क्षेत्र क्षण**—आर्य क्षेत्र। (३) **काल क्षण**—धर्माचरण का समय। (४) **भाव क्षण**—उपशम, क्षयोपशम आदि उत्तम भावो की प्राप्ति। इस उत्तम अवसर का लाभ उठाने के लिए साधक को तत्पर रहना चाहिए।[1]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अरति एव लोभ का त्याग

६९. अरति आउट्टे से मेधावी खणसि मुक्के।[2]

७०. अणाणाए पुट्ठा वि एगे णियट्टंति मदा मोहेण पाउडा।

'अपरिग्गहा भविस्सामो' समुट्ठाए लद्धे कामे अभिगाहति। अणाणाए मुणिणो पडिलेहेति। एत्थ मोहे पुणो पुणो सण्णा णो हव्वाए णो पाराए।

६९ जो अरति से निवृत्त होता है, वह बुद्धिमान् है। वह बुद्धिमान् विषय-तृष्णा से क्षणभर मे ही मुक्त हो जाता है।

७० अनाज्ञा मे—(वीतराग विहित-विधि के विपरीत) आचरण करने वाले कोई-कोई सयम-जीवन मे परीषह आने पर वापस गृहवासी भी बन जाते है। वे मद बुद्धि—अज्ञानी मोह से आवृत रहते है।

कुछ व्यक्ति—'हम अपरिग्रही होगे'—ऐसा सकल्प करके सयम धारण करते हैं, किन्तु जब काम-सेवन (इन्द्रिय विषयो के सेवन) का प्रसग उपस्थित होता है, तो उसमे फँस जाते है। वे मुनि वीतराग-आज्ञा से बाहर (विषयो की ओर) देखने/ताकने लगते है।

---

१ आचा० शीलाक टीका पत्रांक ९९।१००

२. 'मुसे'—पाठान्तर है।

इस प्रकार वे मोह में बार-बार निमग्न होते जाते है। इस दशा मे वे न तो इस तीर (गृहवास) पर आ सकते है और न उस पार (श्रमणत्व) जा सकते है।

विवेचन—सयम मार्ग मे गतिशील साधक का चित्त जब तक स्थिर रहता है, तब तक उसमें आनन्द की अनुभूति होती है। सयम मे स्व-रूप मे रमण करना, आनन्द अनुभव करना रति है। इसके विपरीत चित्त की व्याकुलता, उद्वेगपूर्ण स्थिति—'अरति' है। अरति से मुक्त होने वाला क्षणभर मे—अर्थात् बहुत ही शीघ्र विषय/तृष्णा/कामनाओ के बन्धन मे मुक्त हो जाता है।

सूत्र ७० मे अरति-प्राप्त व्याकुलचित्त साधक की दयनीय मनोदशा का चित्रण है। उसके मन मे सयम-निष्ठा न होने से जब कभी विषय-सेवन का प्रसग मिलता है तो वह अपने को रोक नही सकता, उनका लुक-छिपकर सेवन कर लेता है। विषय-सेवन के बाद वह बार-बार उसी ओर देखने लगता है। उसके अन्तरमन मे एक प्रकार की वितृष्णा/प्यास जग जाती है। वह बार-बार विषयो का सेवन करने लगता है, और उसकी वितृष्णा बढती ही जाती है। वह लज्जा, परवशता, आदि कारणो से मुनिवेश छोडता भी नही और विषयासक्ति के वश हुआ विषयो की खोज या आसेवन भी करता है। कायरता व आसक्ति के दलदल मे फँसा ऐसा पुरुष (मुनि) वेष में गृहस्थ नही होता, और आचरण मे मुनि नही होता[1]—वह न इस तीर (गृहस्थ) पर आता है, और न उस पार (मुनिपद) पर पहुच सकता है। वह दलदल मे फसे प्यासे हाथी की तरह या त्रिशकु की भाँति बीच मे लटकता हुआ अपना जीवन बर्बाद कर देता है। इस प्रसग मे ज्ञातासूत्रगत पुण्डरीक-कडरीक का प्रसिद्ध उदाहरण दर्शनीय एव मननीय है।[3]

लोभ पर अलोभ से विजय

७१. विमुक्का हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगु छमाणे लद्धे कामे णाभिगाहति।

विणा वि लोभ[2] निक्खम्म एस अकम्मे जाणति पासति।

पडिलेहाए णावकखति, एस अणगारे त्ति पवुच्चति।

७१ जो विषयो के दलदल से पारगामी होते है, वे वास्तव मे विमुक्त है। अलोभ (सतोष) से लोभ को पराजित करता हुआ साधक काम-भोग प्राप्त होने पर भी उनका सेवन नही करता (लोभ-विजय ही पार पहुचने का मार्ग है।)

जो लोभ से निवृत्त होकर प्रव्रज्या लेता है, वह अकर्म होकर (कर्मावरण से मुक्त होकर) सब कुछ जानता है, देखता है।

---

१ उभयभ्रष्टो न गृहस्थो नापि प्रव्रजित। —आचा॰ टीका पत्राक १०३

२ "**कोयि पुण विणा वि लोभेण निक्खमइ जहा भरहो राया**" चूर्णि 'विणा वि लोह इत्यादि" शीलाक टीका पत्र १०३   ३ ज्ञातासूत्र १९

जो प्रतिलेखना कर, विषय-कषायो आदि के परिणाम का विचार कर उनकी (विषयों की) आकाक्षा नही करता, वह अनगार कहलाता है ।

विवेचन—जैसे आहार-परित्याग ज्वर की औषधि है, वैसे ही लोभ -परित्याग(सनोष) तृष्णा की औषधि है । पहले पद मे कहा है—जो विषयो के दलदल से मुक्त हो गया है वह पारगामी है । चूर्णिकार ने यहाँ प्रश्न उठाया है—**ते पुण कह पारगामिणो** -वे पार कैसे पहुँचते है ? **भण्णति–लोभ अलोभेण दुगु छमाणा**—लोभ को अलोभ से जीतता हुआ पार पहुचता है ।

'**विणा वि लोभ**' के स्थान पर शीलाक टीका मे **विणइत्तु लोभ** पाठ भी है । चूर्णिकार ने **विणा वि लोभ** पाठ दिया है । दोनो पाठो से यह भाव ध्वनित होता है कि जो लोभ-सहित, दीक्षा लेते है वे भी आगे चलकर लोभ का त्यागकर कर्मावरण से मुक्त हो जाते है । और जो भरत चक्रवर्ती की तरह लोभ-रहित स्थिति मे दीक्षा लेते है वे भी कर्म-रहित होकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्म का क्षय कर ज्ञाता-द्रष्टा बन जाते है ।

प्रतिलेखना का अर्थ है- -सम्यक् प्रकार से देखना । साधक जब अपने आत्म-हित का विचार करता है, तब विषयों के कटु-परिणाम उसके सामने आ जाते है । तब वह उनसे विरक्त हो जाता है । यह चिन्तन/मननपूर्वक जगा वैराग्य स्थायी होता है । सूत्र ७० मे बताये गये कुछ साधको की भाँति वह पुन विषयो की ओर नही लोटता । वास्तव मे उसे ही 'अनगार' कहा जाता है ।

अर्थ-लोभी की वृत्ति

७२ [1]अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी सजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो ।

७३. से आतबले, से णातबले, मित्तबले, से पेच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिथिबले, से किवणबले, से समणबले, इच्चेतेहि विरूवरूवेहि कज्जेहि दडसमादाण सपेहाए भया कज्जति, पावमोक्खो त्ति मण्णमाणे अदुवा आससाए ।

७२ (जो विषयो से निवृत्त नही होता) वह रात-दिन परितप्त रहता है । काल या अकाल मे (धन आदि के लिए) सतत प्रयत्न करता रहता है । विषयों को प्राप्त करने का इच्छुक होकर वह धन का लोभी बनता है । चोर व लुटेरा बन जाता है । उसका चित्त व्याकुल व चचल बना रहता है । और वह पुन -पुन. शस्त्र-प्रयोग (हिसा व सहार) करता रहता है ।

७३ वह आत्म-बल (शरीर-बल,) ज्ञाति-बल, मित्र-बल, प्रेत्य-बल, देव-बल, राज-बल, चोर-बल, अतिथि-बल, कृपण-बल और श्रमण-बल का सग्रह करने के लिए अनेक प्रकार के कार्यों (उपक्रमो) द्वारा दण्ड का प्रयोग करता है ।

कोई व्यक्ति किसी कामना से (अथवा किसी अपेक्षा से) एव कोई भय के

---

१ इससे पूर्व '**इच्चत्थ गढिए लोए वसति पमत्ते**' इतना अधिक पाठ चूर्णि मे है ।
—आचा० (मुनि जम्बूविजयजी) पृष्ठ २०

कारण हिंसा आदि करता है। कोई पाप से मुक्ति पाने की भावना से (यज्ञ-बलि आदि द्वारा) हिंसा करता है। कोई किसी आशा—अप्राप्त को प्राप्त करने की लालसा से हिंसा-प्रयोग करता है।

विवेचन—सूत्र ७२, ७३ मे हिंसा करने वाले मनुष्य की अन्तरग वृत्तियो व विविध **प्रयोजनो का सूक्ष्म विश्लेषण है।**

अर्थ-लोलुप मनुष्य, रात दिन भीतर-ही-भीतर उत्तप्त रहता है, तृष्णा का दावानल उसे सदा सतप्त एव प्रज्वलित रखता है। वह अर्थलोभी होकर **आलुम्पक—चोर**, हत्यारा तथा **सहसाकारी**—दुस्साहसी/विना विचारे कार्य करने वाला/अकस्मात् आक्रमण करने वाला—डाकू आदि बन जाता है।

मनुष्य का चोर/डाकू/हत्यारा बनने का मूल कारण —तृष्णा की अधिकता ही है। उत्तराध्ययन सूत्र मे भी यही बात बार-बार दुहराई गई है- -

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययइ अदत्तं ।—३२।२९

सूत्र ७३ मे हिंसा के अन्य प्रयोजनों की चर्चा है। चूर्णिकार ने विस्तार के साथ बताया है—कि वह निम्न प्रकार के बल (शक्ति) प्राप्त करने के लिए विविध हिंसाएँ करता है। जैसे-

१. सरीर-बल—शरीर की शक्ति बढाने के लिए—मद्य-मांस आदि का सेवन-करता है।

२. ज्ञाति-बल—स्वय अजेय होने के लिए स्वजन सम्बन्धियो को शक्तिमान् बनाता है। स्वजन-वर्ग की शक्ति को भी अपनी शक्ति मानता है।[1]

३. मित्र-बल—धन-प्राप्ति तथा प्रतिष्ठा-सम्मान आदि मानसिक-तुष्टि के लिए मित्र-शक्ति को बढाता है।

४. प्रेत्य-बल, ५. देव-बल—परलोक मे सुख पाने के लिए, तथा देवता आदि को प्रसन्न कर उनकी शक्ति पाने के लिए यज्ञ, पशु-बलि, पिडदान आदि करता है।[2]

६. राज-बल—राजा का सम्मान एव सहारा पाने के लिए, कूटनीति की चाले चलता है, शत्रु आदि को परास्त करने मे सहायक बनता है।

७. चोर-बल—धनप्राप्ति तथा आतक जमाने के लिए चोर आदि के साथ गठबधन करता है।

८. अतिथि-बल, ९. कृपण-बल, १०. श्रमण-बल—अतिथि—मेहमान, भिक्षुक आदि, कृपण—(अनाथ, अपग, याचक) और श्रमण—आजीवक, शाक्य तथा निर्ग्रन्थ—इनको यश, कीर्ति और धर्म-पुण्य की प्राप्ति के लिए दान देता है।

'सपेहाए'—के स्थान पर तीन प्रयोग मिलते है[3], **सय पेहाए**- -स्वय विचार करके,

---

१ आचाराग चूर्णि इसी सूत्र पर २ आचा० शीलाक टीका पत्राक १०४

३. आचाराग चूर्णि "सप्रेक्षया पर्यालोचनया एव सप्रेक्ष्य वा।"

संपेहाए—विविध प्रकार से चिन्तन करके, **सपेहाए**—किसी विचार के कारण/विचारपूर्वक। तीनो का अभिप्राय एक ही है। '**दंडसमादाण**' का अर्थ है हिसा मे प्रवृत्त होना।

७४. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारभेज्जा, णेव अण्णं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारभावेज्जा, णेवण्णे एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते जहेत्थ कुसले णोवलिपेज्जासि त्ति बेमि।

॥ बिइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

७४ यह जानकर मेधावी पुरुष पहले बताये गये प्रयोजनो के लिए स्वय हिसा न करे, दूसरो से हिसा न करवाए तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन न करे।

यह मार्ग (लोक-विजय का/ससार से पार पहुँचने का) आर्य पुरुषो ने—तीर्थकरो ने बताया है। कुशल पुरुष इन विषयो मे लिप्त न हो। —ऐसा मै कहता हूँ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

गोत्रवाद-निरसन

७५. से असइं उच्चागोए, असइं णीयागोए।[1] णो हीणे, णो अतिरित्ते। णो पीहए। इति सखाए के गोतावादी ? के माणावादी ? कंसि वा एगे गिज्झे ?

तम्हा पंडिते णो हरिसे, णो कुज्झे।

७५. यह पुरुष (आत्मा) अनेक बार उच्चगोत्र और अनेकबार नीच गोत्र को प्राप्त हो चुका है। इसलिए यहाँ न तो कोई हीन/नीच है और न कोई अतिरिक्त/विशेष/उच्च है। यह जानकर उच्चगोत्र की स्पृहा न करे।

यह (उक्त तथ्य को) जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा ? कौन मानवादी होगा ? और कौन किस एक गोत्र/स्थान मे आसक्त होगा ?

इसलिए विवेकशील मनुष्य उच्चगोत्र प्राप्त होने पर हर्षित न हो और नीच गोत्र प्राप्त होने पर कुपित/दुखी न हो।

विवेचन—इस सूत्र मे आत्मा की विविध योनियो मे भ्रमणशीलता का सूचन करते हुए उस योनि/जाति व गोत्र आदि के प्रति अहकार व हीनता के भावो से स्वयं को त्रस्त न करने की सूचना दी है। अनादिकाल से जो आत्मा कर्म के अनुसार भव-भ्रमण करती है, उसके लिए विश्व मे कही ऐसा स्थान नही है, जहाँ उसने अनेक बार जन्म धारण न किया हो। जैसे कहा है—

---

१ नागार्जुनीय वाचना का पाठ इस प्रकार है—'**एगमेगे खलु जीवे अतीतद्धाए असइं उच्चागोए असइं णीयागोए कंडगट्ठयाए णो हीणे णो अतिरित्ते।**' चूर्णि एव टीका मे भी यह पाठ उद्धृत है।

न सा जाई न सा जोणी न त ठाण न त कुल ।
जत्थ न जाओ मओ वावि एस जीवो अणतसो ।।

ऐसी कोई जाति, योनि, स्थान और कुल नही है, जहाँ पर यह जीव अनन्त बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो । भगवती सूत्र मे कहा है—**नत्थि केई परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ ण अय जीवे न जाए वा न मए वावि**[1]—इस विराट् विश्व मे परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नही है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो ।'

जब ऐसी स्थिति है, तो फिर किस स्थान का वह अहकार करे । किस स्थान के लिए दीनता अनुभव करे ! क्योकि वह स्वय उन स्थानो पर अनेक बार जा चुका है ।—इस विचार से मन में समभाव की जागृति करे । मन को न तो अहकार से दृप्त होने दे, न दीनता का शिकार होने दे ! बल्कि गोत्रवाद को, ऊँच-नीच की धारणा को मन से निकालकर आत्मवाद में रमण करे ।

यहाँ उच्चगोत्र-नीचगोत्र शब्द बहु चर्चित शब्द है । कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से 'गोत्र' शब्द का अर्थ है "जिस कर्म के उदय से शरीरधारी आत्मा को जिन शब्दो के द्वारा पहचाना जाता है, वह 'गोत्र' है ।" उच्च शब्द के द्वारा पहचानना उच्च गोत्र है, नीच शब्द के द्वारा पहचाना जाना नीच गोत्र है ।[2] इस विषय पर जैन ग्रन्थो मे अत्यधिक विस्तार से चर्चा की गई है । उसका सार यह है कि जिस कुल की वाणी, विचार, सस्कार और व्यवहार प्रशस्त हो, वह उच्च गोत्र है और इसके विपरीत नीच गोत्र ।

गोत्र का सम्बन्ध जाति अथवा स्पृश्यता-अस्पृश्यता के साथ जोडना भ्रान्ति है । कर्म-सिद्धान्त के अनुसार देव गति मे उच्चगोत्र का उदय होता है और तिर्यंच मात्र मे नीचगोत्र का उदय, किन्तु देवयोनि मे भी किल्विषिक देव उच्च देवो की दृष्टि मे नीच व अस्पृश्यवत् होते है । इसके विपरीत अनेक पशु, जैसे—गाय, घोडा, हाथी, तथा कई नस्ल के कुत्ते बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं । वे अस्पृश्य नही माने जाते । उच्चगोत्र मे नीच जाति हो सकती है तो नीचगोत्र मे उच्च जाति क्यो नही हो सकती ? अत गोत्रवाद की धारणा को प्रचलित जातिवाद तथा स्पृश्यास्पृश्य की धारणा के साथ नही जोडना चाहिए ।

भगवान् महावीर ने प्रस्तुत सूत्र मे जाति-मद, गोत्र-मद आदि को निरस्त करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि जब आत्मा अनेक बार उच्च-नीच गोत्र का स्पर्शकर चुका है, कर रहा है तब फिर कौन ऊँचा है ? कौन नीचा ? ऊँच-नीच की भावना मात्र एक अहकार है, और अहकार—'मद' है । 'मद' नीचगोत्र बन्धन का मुख्य कारण है ? अत इस गोत्रवाद व मानवाद की भावना से मुक्त होकर जो उनमे तटस्थ रहता है, समत्वशील है वही पडित है ।

प्रमाद एव परिग्रह-जन्य दोष

७६. भूतेहिं जाण पडिलेह सात । समिते एयाणुपस्सी । त जहा—

अंधत्तं बहिरत्त मूकत्त काणत्त कुटत्तं खुज्जत्त वडभत्तं सामत्त सबलत्तं । सह पमादेणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधेति, विरूवरूवे फासे पडिसवेदयति ।

१ भगवती सूत्र श० १२ उ० ७

२ प्रज्ञापना सूत्र पद २३ की मलयगिरि वृत्ति

७७. से अबुज्झमाणे हतोवहते जाती-मरणं अणुपरियट्टमाणे ।

जीवियं पुढो पिय इहमेगेसिं माणवाणं खेत्त-वत्थु ममायमाणाणं । आरत्तं विरत्तं मणि-कुंडलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता ।

ण एत्थ तवो वा दमो वा णियमो वा दिस्सति । संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेति ।

७८. इणमेव णावकंखंति जे जणा धुवचारिणो ।

जाती-मरण परिण्णाय चरे संकमणे दढे ॥१॥

णत्थि कालस्स णागमो ।

सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीवितुकामा । सव्वेसिं जीवित पिय ।

७६ प्रत्येक जीव को सुख प्रिय है, यह तू देख, इस पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार कर। जो समित (सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न) है वह इस (जीवों के इष्ट-अनिष्ट कर्म विपाक) को देखता है। जैसे—

अन्धापन, बहरापन, गूगापन, कानापन, लूला-लगडापन, कुबडापन बौनापन कालापन, चितकबरापन (कुष्ट आदि चर्मरोग) आदि की प्राप्ति अपने प्रमाद के कारण होती है। वह अपने प्रमाद (कर्म) के कारण ही नानाप्रकार की योनियो मे जाता है और विविध प्रकार के आघातो—दुखो/वेदनाओ का अनुभव करता है।

७७ वह प्रमादी पुरुष कर्म-सिद्धान्त को नही समझता हुआ शारीरिक दुखो से हत तथा मानसिक पीडाओ से उपहत—पुन पुन पीडित होता हुआ जन्म-मरण के चक्र मे बार-बार भटकता है।

जो मनुष्य, क्षेत्र-खुली भूमि तथा-वास्तु—भवन-मकान आदि मे ममत्व रखता है, उनको यह असयत जीवन ही प्रिय लगता है। वे रग-विरगे मणि, कुण्डल, हिरण्य-स्वर्ण, और उनके साथ स्त्रियो का परिग्रह कर उनमे अनुरक्त रहते है।

परिग्रही पुरुष मे न तप होता है, न दम-इन्द्रिय-निग्रह (शान्ति) होता है और न नियम होता है।

वह अज्ञानी, ऐश्वर्यपूर्ण सम्पन्न जीवन जीने की कामना करता रहता है। बार-बार सुख-प्राप्ति की अभिलाषा करता रहता है। किन्तु सुखो की अ-प्राप्ति व कामना की व्यथा से पीडित हुआ वह मूढ विपर्यास—(सुख के बदले दुख) को ही प्राप्त होता है।

जो पुरुष ध्रुवचारी—अर्थात् शाश्वत सुख-केन्द्र मोक्ष की ओर गतिशील होते है, वे ऐसा विपर्यासपूर्ण जीवन नही चाहते। वे जन्म-मरण के चक्र को जानकर दृढता-पूर्वक मोक्ष के पथ पर बढते रहे।

काल का अनागमन नही है, मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है।

सब प्राणियो को आयुष्य प्रिय है। सभी सुख का स्वाद चाहते है। दु ख से घबराते है। उनको वध—(मृत्यु) अप्रिय है, जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं। सब को जीवन प्रिय है।

विवेचन—सूत्र ७६ मे समत्व-दर्शन की प्रेरणा देते हुए बताया है कि ससार मे जितने भी दु ख है, वे सब स्वय के प्रमाद के कारण ही होते है। प्रमादी—विषय आदि मे आसक्त होकर परिग्रह का सग्रह करता है, उनमे ममत्व बन्धन जोडता है। उनमे रक्त अर्थात् अत्यन्त गृद्ध हो जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रथम तो तप, (अनशनादि) दम (इन्द्रिय-निग्रह, प्रशम भाव) नियम (अहिंसादि व्रत) आदि का आचरण नही कर सकता, अगर लोक-प्रदर्शन के लिए करता भी है तो वह सिर्फ ऊपरी है, उसके तप-दम नियम निष्फल—फल रहित होते है।[1]

सूत्र ७८ मे ध्रुव शब्द—मोक्ष का वाचक है।

आगमो मे मोक्ष के लिए 'ध्रुव स्थान' का प्रयोग कई जगह हुआ है। जैसे—

अत्थि एग धुव ठाण—(उत्त० २३ गा० ८१)

ध्रुव शब्द, मोक्ष के कारणभूत ज्ञानादि का भी बोधक है।[2] कही-कही '**धुतचारी**' पाठान्तर भी मिलता है। 'धुत' का अर्थ भी चारित्र व निर्मल आत्मा है।

'**चरे सकमणे**' के स्थान पर शीलाकटीका मे '**चरेऽसकमणे**' पाठ भी है। '**सकमणे**' का अर्थ-सक्रमण—मोक्षपथ का सेतु—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप किया है। उस सेतु पर चलने का आदेश है। '**चरेऽसकमणे**' मे शका रहित होकर परीषहो को जीतता हुआ गतिमान् रहने का भाव है।[3]

'**पिआउया**' के स्थान पर चूर्णि मे **पियायगा** व टीका मे '**पियायया**' पाठान्तर भी है।[4] जिनका अर्थ है **प्रिय आयत -आत्मा**, अर्थात् जिन्हे अपनी आत्मा प्रिय है, वे जगत् के सभी प्राणी।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है प्रस्तुत परिग्रह के प्रसग मे 'सब को सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है' यह कहने का क्या प्रयोजन है? यह तो अहिंसा का प्रतिपादन है। चिन्तन करने पर इसका समाधान यो प्रतीत होता है।—

'परिग्रह का अर्थी स्वय के सुख के लिए दूसरो के सुख-दु ख की परवाह नही करता, वह शोषक तथा उत्पीडक भी बन जाता है। इसलिए परिग्रह के साथ हिंसा का अनुबध है। यहाँ पर सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी यह बोध होना आवश्यक है कि जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही दूसरो को भी। दूसरो के सुख को लूटकर स्वय का सुख न चाहे, परिग्रह न करे इसी भावना को यहाँ उक्त पद स्पष्ट करते है।

परिग्रह से दु खवृद्धि

७९ तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजियाणं संसिचियाण तिविधेण जा वि से तत्थ मत्ता भवति अप्पा वा बहुगा वा। से तत्थ गढिते चिट्ठति भोयणाए।

१ आचाराग टीका पत्र-१०९ २ वही टीका पत्र ११० ३ वही पत्र ११०

४. पिओ अप्पा जेसि ते पियायगा—चूर्णि (आचा० जम्बू० टिप्पण पृष्ठ २२)

ततो से एगया विप्परिसिट्ठं संभूतं महोवकरणं भवति । तं पि से एगदा दायादा विभयंति, अदत्तहारो वा सेअवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगार-दाहेण वा से डज्झति ।

इति से परस्सऽट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति ।

मुणिणा हु एतं पवेदितं ।

अणोहंतरा एते, णो य ओहं तरित्तए ।

अतीरंगमा एते, णो य तीरं गमित्तए ।

अपारंगमा एते, णो य पारं गमित्तए ।

आयाणिज्जं च आदाय तम्मि ठाणे ण चिट्ठति ।

वितहं पप्प खेत्तण्णे तम्मि ठाणम्मि चिट्ठति ॥२॥

७९ वह परिग्रह मे आसक्त हुआ मनुष्य, द्विपद (मनुष्य-कर्मचारी) और चतुष्पद (पशु आदि) का परिग्रह करके उनका उपयोग करता है । उनका कार्य मे नियुक्त करता है । फिर धन का संग्रह-संचय करता है । अपने, दूसरो के और दोनो के सम्मिलित प्रयत्नो से (अथवा अपनी पूर्वार्जित पूंजी, दूसरो का श्रम तथा बुद्धि—तीनो के सहयोग से) उसके पास अल्प या बहुत मात्रा मे धनसंग्रह हो जाता है ।

वह उस अर्थ मे गृद्ध—आसक्त हो जाता है और भोग के लिए उसका संरक्षण करता है । पश्चात् वह विविध प्रकार से भोगोपभोग करने के बाद बची हुई विपुल अर्थ-सम्पदा से महान् उपकरण वाला बन जाता है ।

एक समय ऐसा आता है, जब उस सम्पत्ति मे से दायाद—बेटे-पोते हिस्सा बटा लेते है, चोर चुरा लेते है, राजा उसे छीन लेते है । या वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है । या कभी गृह-दाह के साथ जलकर समाप्त हो जाती है ।

इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष, दूसरो के लिए क्रूर कर्म करता हुआ अपने लिए दुःख उत्पन्न करता है, फिर उस दुःख से त्रस्त हो वह सुख की खोज करता है, पर अन्त मे उसके हाथ दुःख ही लगता है । इस प्रकार वह मूढ विपर्यास को प्राप्त होता है ।

भगवान् ने यह बताया है— (जो क्रूर कर्म करता है, वह मूढ होता है । मूढ मनुष्य सुख की खोज मे बार-बार दुःख प्राप्त करता है)

ये मूढ मनुष्य अनोघंतर है, अर्थात् संसार-प्रवाह को तैरने मे समर्थ नही होते । (वे प्रव्रज्या लेने मे असमर्थ रहते है)

वे अतीरंगम है, तीर—किनारे तक पहुँचने मे (मोह कर्म का क्षय करने मे) समर्थ नही होते ।

वे अपारंगम है, पार—(संसार के उस पार—निर्वाण तक) पहुँचने मे समर्थ नही होते ।

वह (मूढ) आदानीय—सत्यमार्ग (सयम-पथ) को प्राप्त करके भी उस स्थान में स्थित नहीं हो पाता। अपनी मूढता के कारण वह असन्मार्ग को प्राप्त कर उसी में ठहर जाता है।

विवेचन—इस सूत्र मे परिग्रह-मूढ मनुष्य की दशा का चित्रण है। वह सुख की इच्छा से धन का सग्रह करता है किन्तु धन से कभी सुख नही मिलता। अन्त मे उसके हाथ दु ख, शोक, चिन्ता और क्लेश ही लगता है।

परिग्रहमूढ अनोघतर है—ससार त्याग कर दीक्षा नही ले सकता। अगर परिग्रहासक्ति कुछ छूटने पर दीक्षा ले भी ले तो जब तक उस बधन से पूर्णतया मुक्त नही होता, वह केवल-ज्ञान प्राप्त नही कर सकता, और न ससार का पार—निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

चूर्णिकार ने **आदानीय**' का अर्थ—**पचविहो आयारो**—पाच प्रकार का आचार अर्थ किया है कि वह परिग्रही मनुष्य उस आचार मे स्थित नही हो सकता।[1]

चूर्णिकार ने इस गाथा (२) को एक अन्य प्रकार से भी उद्धृत किया है, उससे एक अन्य अर्थ ध्वनित होता है, अत यहा वह गाथा भी उपयोगी होगी—

आदाणियस्स आणाए तम्मि ठाणे ण चिट्ठइ।
वितह पप्पऽखेत्तण्णे तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ॥

—आदानीय अर्थात् ग्रहण करने योग्य सयम मार्ग मे जो प्रवृत्त है, वह उस स्थान—(**मूल ठाणं**—ससार) मे नही ठहरता। जो **अखेत्तण्णे**—(अक्षेत्रज्ञ) अज्ञानी है, मूढ है, वह असत्य-मार्ग का अवलम्बन कर उस स्थान (ससार) मे ठहरता है।[2]

८०. उद्देसो पासगस्स णत्थि।

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ट अणुपरियट्टति त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो॥

८०. जो द्रष्टा है, (सत्यदर्शी है) उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नही होती।

अज्ञानी पुरुष, जो स्नेह के बधन मे बधा है, काम-सेवन मे अनुरक्त है, वह कभी दु ख का शमन नही कर पाता। वह दु खी होकर दु खो के आवर्त मे—चक्र मे बार-बार भटकता रहता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—यहाँ **पश्यक**—शब्द द्रष्टा या विवेकी के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार ने वकल्पिक अर्थ यो किया है—जो पश्यक स्वय कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक रखता है, उसे अन्य के

---

१ आचा० (जम्बूविजय जी) टिप्पण पृष्ठ २३

२ अखेत्तण्णो अपडितो से तेहि चेव ससारट्ठाणे चिट्ठति—चूर्णि (वही पृष्ठ २३)

उपदेश की आवश्यकता नही है। अथवा **पश्यक**—सर्वज्ञ है, उन्हे किसी भी **उद्देस**—नारक आदि तथा उच्च-नीच गोत्र आदि के व्यपदेश—सज्ञा की अपेक्षा नही रहती।

णिहे—के भी दो अर्थ है—(१) स्नेही अथवा रागी,, (२) णिह्न (निहत) कषाय, कर्म परीषह आदि से बधा या त्रस्त हुआ अज्ञानी जीव।[1]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

काम-भोग-जन्य पीडा

८१. ततो से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति। जेहि वा सद्धि संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्वि परिवयंति, सो वा ते णियए पच्छा परिवएज्जा। णाल ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुम पि तेसि णाल ताणाए वा सरणाए वा।

८२. जाणित्तु दुक्ख पत्तेय साय।

भोगामेव अणुसोयति, इहमेगेसि माणवाण तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवति अप्पा वा बहुया वा। से तत्थ गढिते चिट्ठति भोयणाए।

ततो से एगया विप्परिसिट्ठ सभूत महोवकरण भवति त पि से एगया दायादा विभयति अदत्तहारो[2] वा से अवहरति, रायाणो वा से विलु पति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगारदाहेण वा से डज्झति।

इति से परस्स अट्ठाए कूराइ कम्माइ[3] बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।

८१ तब कभी एक समय ऐसा आता है, जब उस अर्थ-सग्रही मनुष्य के शरीर मे (भोग-काल मे) अनेक प्रकार के रोग-उत्पात (पीडाएँ) उत्पन्न हो जाते है।

वह जिनके साथ रहता है, वे ही स्व-जन एकदा (रोगग्रस्त होने पर) उसका तिरस्कार व निदा करने लगते है। बाद मे वह भी उनका तिरस्कार व निदा करने लगता है।

हे पुरुष! स्वजनादि तुझे त्राण देने मे, शरण देने मे समर्थ नही है। तू भी उन्हे त्राण या शरण देने मे समर्थ नही है।

८२ दुःख और सुख—प्रत्येक आत्मा का अपना-अपना है, यह जानकर (इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करे)।

---

१ आचा० टीका पत्राक ११३/१

२ अदत्ताहारो—पाठान्तर है।

३ कूराणि कम्माणि—पाठान्तर है।

कुछ मनुष्य, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नही कर पाते, वे बार-बार भोग के विषय मे ही (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह) सोचते रहते है।

यहाँ पर कुछ मनुष्यो को (जो विषयो की चिन्ता करते है) (तीन प्रकार से)—अपने, दूसरो के अथवा दोनो के सम्मिलित प्रयत्न से अल्प या बहुत अर्थ-मात्रा (धन-सपदा) हो जाती है। वह फिर उस अर्थ-मात्रा मे आसक्त होता है। भोग के लिए उसकी रक्षा करता है। भोग के बाद बची हुई विपुल सपत्ति के कारण वह महान् वैभव वाला बन जाता है। फिर जीवन मे कभी ऐसा समय आता है, जब दायाद हिस्सा बँटाते हैं, चोर उसे चुरा लेते है, राजा उसे छीन लेते है, वह अन्य प्रकार (दुर्व्यसन आदि या आतक-प्रयोग) से नष्ट-विनष्ट हो जाती है। गृह-दाह आदि से जलकर भस्म हो जाती है।

अज्ञानी मनुष्य इस प्रकार दूसरो के लिए अनेक क्रूर कर्म करता हुआ (दु ख के हेतु का निर्माण करता है) फिर दु खोदय होने पर वह मूढ बनकर विपर्यास भाव को प्राप्त होता है।

आसक्ति ही शल्य है

८३. आस च छंद च विगिंच धीरे।
तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु।
जेण सिया तेण णो सिया।
इणमेव णावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा।
८४. थीभि लोए पव्वहिते।
ते भो! वदंति एयाइं आयतणाइं।
से दुक्खाए मोहाए माराए णरगाए नरगतिरिक्खाए।
सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति।

८३ हे धीर पुरुष! तू आशा और स्वच्छन्दता (स्वेच्छाचारिता)—मनमानी करने का त्याग करदे। उस भोगेच्छा रूप शल्य का सृजन तूने स्वय ही किया है।

जिस भोग-सामग्री से तुझे सुख होता है उससे सुख नही भी होता है। (भोग के बाद दु ख है)।

जो मनुष्य मोह की सघनता से आवृत हैं, ढके है, वे इस तथ्य को (उक्त आशय को—कि पौद्गलिक साधनो से कभी सुख मिलता है, कभी नही, वे क्षण-भगुर है, तथा वे ही शल्य—काटा रूप हैं) नही जानते।

८४ यह ससार स्त्रियो के द्वारा पराजित है (अथवा प्रव्यथित—पीडित है) हे पुरुष! वे (स्त्रियो से पराजित जन) कहते है—ये स्त्रियाँ आयतन है (भोग की सामग्री है)।

(किंतु उनका) यह कथन/धारणा, दु ख के लिए एव मोह, मृत्यु, नरक तथा नरक-तिर्यच गति के लिए होता है।

सतत मूढ रहने वाला मनुष्य धर्म को नही जान पाता।

विवेचन—उक्त दोनो सूत्रो मे क्रमश मनुष्य को भोगेच्छा एव कामेच्छा के कटु-परिणाम का दिग्दर्शन है। भोगेच्छा को ही अन्तर हृदय मे सदा खटकने वाला काँटा बताया गया है और उस काँटे को उत्पन्न करने वाला आत्मा स्वय ही है। वही उसे निकालने वाला भी है। किन्तु मोह से आवृतबुद्धि मनुष्य इस सत्य-तथ्य को पहचान नही पाता, इसीलिए वह ससार मे दु ख पाता है।

सूत्र ८४ मे मनुष्य की कामेच्छा का दुर्बलतम पक्ष उघाडकर बता दिया है कि यह समूचा ससार काम से पीडित है, पराजित है। स्त्री काम का रूप है। इसलिए कामी पुरुष स्त्रियो से पराजित होते है और वे स्त्रियो को भोग-सामग्री मानने की निकृष्ट-भावना से ग्रस्त हो जाते है।

'आयतन' शब्द यहाँ पर भोग-सामग्री के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

मूल आगमो तथा टीका ग्रन्थो मे 'आयतन' शब्द प्रसगानुसार विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

आयतन—गुणो का आश्रय।[1] भवन, गृह, स्थान, आश्रय।[2] देव, यक्ष आदि का स्थान, देव-कुल।[3] ज्ञान-दर्शन-चारित्रधारी साधु,[4] धार्मिक व ज्ञानी जनो के मिलने का स्थान।[5] उपभोगास्पद वस्तु।[6]

नरक-तिर्यच-गति—से तात्पर्य है, नरक से निकलकर फिर तिर्यच गति मे जाना।[7]

स्त्री को आयतन—भोग-सामग्री मानकर, उसके भोग मे लिप्त हो जाना—आत्मा के लिए कितना घातक/अहितकर है, इसे जताने के लिए ही ये सब विशेषण हैं—यह दु ख का कारण है, मोह, मृत्यु, नरक व नरक-तिर्यच गति मे भव-भ्रमण का का कारण है।

विषय महामोह

८५. उदाहु वीरे—अप्पमादो महामोहे, अल कुसलस्स पमादेणं, संतिमरणं सपेहाए, भेउरधम्मं सपेहाए। णालं पास। अल ते एतेहि।[8] एतं पास मुणि! महब्भयं। णातिवातेज्ज कंचणं।

---

१ प्रश्नव्याकरण सवरद्वार, सूत्र २३। २ अभिधान राजेन्द्र भाग २ पृ० ३२७।

३ (क) प्रश्न० आश्रव द्वार। (ख) दशाश्रुतस्कध १।१०।

४ प्रवचनसारोद्धारद्वार १४८ गाथा ९८९।—**आयतन धार्मिकजनमीलनस्थानम्।**

५ ओघनिर्युक्ति गाथा ७८२। ६ प्रस्तुत सूत्र।

७ नरगाए—नरकाय नरकगमनार्थ, पुनरपि नरगतिरिक्खा—ततोपि नरकादुद्धृत्य तिरश्च प्रभवति।
—आचा० शी० टीका पत्रांक ११५।

८ **अल तवेएहि**—पाठान्तर है।

८५. भगवान् महावीर ने कहा है—महामोह (विषय/स्त्रियों) में अप्रमत्त रहे । अर्थात् विषयों के प्रति अनासक्त रहे ।

बुद्धिमान् पुरुष को प्रमाद से बचना चाहिए । शान्ति[1] (मोक्ष) और मरण (संसार) को देखने/समझने वाला (प्रमाद न करे) यह शरीर भंगुरधर्मा—नाशवान है, यह देखने वाला (प्रमाद न करे) ।

ये भोग (तेरी अतृप्ति की प्यास बुझाने में) समर्थ नहीं है । यह देख । तुझे इन भोगों से क्या प्रयोजन है ? हे मुनि ! यह देख, ये भोग महान् भयरूप है ।[2] भोगों के लिए किसी प्राणी की हिंसा न कर ।

भिक्षाचरी में समभाव

८६. एस वीरे पसंसिते जे ण णिव्विज्जति आदाणाए ।
ण मे देति ण कुप्पेज्जा, थोवं लद्धुं ण खिंसए ।
पडिसेहितो परिणमेज्जा ।[3]
एतं मोणं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि ।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

८६ वह वीर प्रशंसनीय होता है, जो संयम से उद्विग्न नहीं होता अर्थात् जो संयम में सतत लीन रहता है ।

'यह मुझे भिक्षा नहीं देता' ऐसा सोचकर कुपित नहीं होना चाहिए । थोडी भिक्षा मिलने पर दाता की निंदा नहीं करना चाहिए । गृहस्वामी दाता द्वारा प्रतिबंध करने पर—निषेध करने पर शान्त भाव से वापस लौट जाये ।

मुनि इस मौन (मुनिधर्म) का भलीभाँति पालन करे ।

विवेचन—यहाँ भोग-निवृत्ति के प्रसंग में भिक्षा-विधि का वर्णन आया है । टीकाकार आचार्य की दृष्टि में इसकी संगति इस प्रकार है—मुनि संसार त्याग कर भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करता है । उसकी भिक्षा त्याग का साधन है, किन्तु यदि वही भिक्षा, आसक्ति, उद्वेग तथा क्रोध आदि आवेशों के साथ ग्रहण की जाये तो, भोग बन जाती है । श्रमण की भिक्षावृत्ति 'भोग' न बने इसलिए यहाँ भिक्षाचर्या में मन को शान्त, प्रसन्न और सन्तुलित रखने का उपदेश किया गया है ।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ 'संतिमरण' का एक अर्थ यह भी है कि शान्ति-पूर्वक मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ नाशवान शरीर का विचार करे ।

२ कामदशावस्थात्मक महद् भय—टीका पत्रांक—११६। १ ।

३ यहाँ पठान्तर है—'पडिलाभिते परिणमे'—चूर्णि । पडिलाभिओ परिणमेज्जा—शीलांक टीका ।

पञ्चमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

__शुद्ध आहार की एषणा__

८७. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति । तं जहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूताणं सुण्हाणं णातीणं धातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाए पुढो पहेणाए सामासाए पातरासाए सण्णिहिसंणिचयो कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए।

८८. समुट्ठिते अणगारे आरिए[1] आरियपण्णे आरियदंसी अयं संधी ति अदक्खु ।

से णाइए, णाइआवए, न समणुजाणए ।

सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधे परिव्वए ।

अदिस्समाणे कय-विक्कएसु । से ण किणे, ण किणावए, किणंतं ण समणुजाणए ।

से भिक्खू कालण्णे बालण्णे मातण्णे खेयण्णे खणयण्णे विणयण्णे समयण्णे[2] भावण्णे परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाई अपडिण्णे । दुहतो छित्ता णियाइ ।

८७ असंयमी पुरुष अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा लोक के लिए (अपने एवं दूसरों के लिए) कर्म समारंभ (पचन-पाचन आदि क्रियाएँ) करते हैं । जैसे—

अपने लिए, पुत्र, पुत्री, पुत्र-वधू, ज्ञातिजन, धाय, राजा, दास-दासी, कर्मचारी, कर्मचारिणी, पाहुने—मेहमान आदि के लिए तथा विविध लोगों को देने के लिए एवं सायंकालीन तथा प्रातःकालीन भोजन के लिए ।

इस प्रकार वे कुछ मनुष्यों के भोजन के लिए सन्निधि (दूध-दही आदि पदार्थों का संग्रह) और सन्निचय (चीनी-घृत आदि पदार्थों का संग्रह) करते रहते हैं ।

८८ संयम-साधना में तत्पर हुआ आर्य, आर्यप्रज्ञ और आर्यदर्शी अनगार प्रत्येक क्रिया उचित समय पर ही करता है । वह 'यह भिक्षा का समय—संधि (अवसर) है' यह देखकर (भिक्षा के लिए जाये)

वह सदोष आहार को स्वयं ग्रहण न करे, न दूसरों से ग्रहण करवाए तथा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन नहीं करे ।

वह (अनगार) सब प्रकार के आमगंध (आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार) का परिवर्जन करता हुआ निर्दोष भोजन के लिए परिव्रजन—भिक्षाचरी करे । वह वस्तु के क्रय-विक्रय में संलग्न न हो । न स्वयं क्रय करे, न दूसरों से क्रय करवाए और न क्रय करने वाले का अनुमोदन करे ।

वह (उक्त आचार का पालन करने वाला) भिक्षु कालज्ञ है, बलज्ञ है, मात्रज्ञ है, क्षेत्रज्ञ है, क्षणज्ञ है, विनयज्ञ है, समयज्ञ है, भावज्ञ है । परिग्रह पर ममत्व नहीं

---

१ चूर्णि में इसके स्थान पर 'आयरिए, आयरियपण्णे, आयरियदिट्ठी'—पाठ भी है । जिसका आशय है आचारवान्, आचार प्रज्ञ तथा आचार्य की दृष्टि के अनुसार व्यवहार करने वाला ।

रखने वाला, उचित समय पर उचित कार्य करने वाला अप्रतिज्ञ है। वह राग और द्वेष—दोनो का छेदन कर नियम तथा अनासक्तिपूर्वक जीवन यात्रा करता है।

विवेचन—चतुर्थ उद्देशक मे भोग-निवृत्ति का उपदेश दिया गया। भोग निवृत्त गृहत्यागी पूर्ण अहिंसाचारी श्रमण के समक्ष जब शरीर-निर्वाह के लिए भोजन का प्रश्न उपस्थित होता है, तो वह क्या करे? शरीर-धारण किये रखने हेतु आहार कहाँ से, किस विधि से प्राप्त करे? ताकि उसकी ज्ञान-दर्शन-चारित्र-यात्रा सुखपूर्वक गतिमान रहे। इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत उद्देशक मे दिया गया है।

सूत्र ८७-८८ मे बताया है कि गृहस्थ स्वय के तथा अपने सम्बन्धियो के लिए अनेक प्रकार का भोजन तैयार करते है। गृहत्यागी श्रमण उनके लिए बने हुए भोजन मे से निर्दोष भोजन यथासमय यथाविधि प्राप्त कर लेवे।

वह भोजन की सधि—समय को देखे। गृहस्थ के घर पर जिस समय भिक्षा प्राप्त हो सकती हो, उस अवसर को जाने। चूर्णिकार ने सधि के दो अर्थ किये हैं–(१) सधि—भिक्षाकाल अथवा (२) ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप भाव सधि[1] (सु-अवसर) इसको जाने।

भिक्षाकाल का ज्ञान रखना अनगार के लिए बहुत आवश्यक है। भगवान् महावीर के समय मे भिक्षा का काल दिन का तृतीय पहर माना जाता था[2] जब कि उसके उत्तरवर्ती काल मे क्रमश द्वितीय पहर भिक्षाकाल मान लिया गया। इसके अतिरिक्त जिस देश-काल मे भिक्षा का जो उपयुक्त समय हो, वही भिक्षाकाल माना जाता है। पिंडैषणा अध्ययन, दशवैकालिक (५) तथा पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थो मे भिक्षाचरी का काल, विधि, दोष आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

श्रमण के लिए यहाँ तीन विशेषण दिये गये है—(१) आर्य, (२) आर्यप्रज्ञ, और (३) आर्यदर्शी। ये तीनो विशेषण बहुत सार्थक है। आर्य का अर्थ है—श्रेष्ठ आचरण वाला[3] अथवा गुणी[4]। आचार्य शीलाक के अनुसार जिसका अन्त करण निर्मल हो वह आर्य है। जिसकी बुद्धि परमार्थ की ओर प्रवृत्त हो, वह आर्यप्रज्ञ है। जिसकी दृष्टि गुणो मे सदा रमण करे वह अथवा न्याय मार्ग का द्रष्टा आर्यदर्शी है।[5]

सव्वामगध—शब्द मे आमगध शब्द अशुद्ध, अग्रहणीय आहार का वाचक है। सामान्यत 'आम' का अर्थ 'अपक्व' है। वैद्यक ग्रन्थो मे अपक्व-कच्चा फल, अन्न आदि को आम शब्द से व्याख्यात किया है। पालिग्रन्थो मे 'पाप' के अर्थ मे 'आम' शब्द का प्रयोग हुआ है।[6] जैन

---

१ सधि, ज भणित भिक्खाकालो, अहवा णाण-दमण-चरित्ताइ भाव मधी। ताइ लभित्ता—
—आचाराग चूर्णि

२ उत्तराध्ययन सूत्र—'तइयाए भिक्खायरिय—२६।१२

३ नालन्दा विशाल शब्दसागर 'आर्य' शब्द।

४ गुणैर्गुणवद्‌भिर्वा अर्यन्त इत्यार्या —सर्वार्थ० ३।६ (जैन लक्षणावली, भाग १, पृ० २११)

५. आचा० शीला० टीका पत्राक ११८।

६ देखे —आचाराग, आचार्य श्री आत्मारामजी कृत इसी सूत्र की टीका

सूत्रो व टीकाओं में 'आम' व 'आमगंध' शब्द आधाकर्मादि दोष से दूषित, अशुद्ध तथा भिक्षु के लिए अकल्पनीय आहार के अर्थ मे अनेक स्थानो पर आया है।[1]

कालज्ञ आदि शब्दो का विशेष आशय इस प्रकार है—

कालण्णे—कालज्ञ-भिक्षा के उपयुक्त समय को जाननेवाला अथवा काल—प्रत्येक आवश्यक क्रिया का उपयुक्त समय, उसे जानने वाला। समय पर अपना कर्तव्य पूरा करने वाला 'कालज्ञ' होता है।

बलण्णे—बलज्ञ—अपनी शक्ति एव सामर्थ्य को पहचाननेवाला तथा शक्ति का, तप, सेवा आदि मे योग्य उपयोग करने वाला।

मातण्णे—मात्रज्ञ—भोजन आदि उपयोग मे लेने वाली प्रत्येक वस्तु का परिमाण—मात्रा जानने वाला।

खेयण्णे—खेदज्ञ—दूसरो के दु ख एव पीडा आदि को समझनेवाला तथा—क्षेत्रज्ञ—अर्थात् जिस समय व जिस स्थान पर भिक्षा के लिए जाना हो, उसका भलीभाँति ज्ञान रखने वाला।[2]

खणयण्णे—क्षणज्ञ—क्षण को, अर्थात् समय को पहचानने वाला। काल और क्षण में अन्तर यह है कि—काल, एक दीर्घ अवधि के समय को कहा गया है, जैसे दिन-रात, पक्ष आदि। क्षण—छोटी अवधि का समय। वर्तमान समय क्षण कहलाता है।

विणयण्णे—विनयज्ञ—ज्ञान-दर्शन-चारित्र को विनय कहा गया है। इन तीनों के सम्यक् स्वरूप को जानने वाला।[3] अथवा विनय—बडो एव छोटो के साथ किया जाने वाला व्यवहार। व्यवहार के औचित्य का जिसे ज्ञान हो, जो लोक-व्यवहार का ज्ञाता हो। विनय का अर्थ आचार भी है।[4] अत विनयज्ञ का अर्थ आचार का ज्ञाता भी है।

समयण्णे—समयज्ञ। यहाँ 'समय' का अर्थ सिद्धान्त है। स्व-पर सिद्धान्तो का सम्यक् ज्ञाता समयज्ञ कहलाता है।[5]

भावण्णे—भावज्ञ—व्यक्ति के भावो—चित्त के अव्यक्त आशय को, उसके हाव-भाव-चेष्टा एव विचारो से ध्वनित होते गुप्त भावो को समझने में कुशल व्यक्ति भावज्ञ कहलाता है।[6]

परिग्गह अममायमाणे—पद मे 'परिग्रह' का अर्थ शरीर तथा उपकरण किया गया है।[7] साधु परिग्रहत्यागी होता है। शरीर एव उपकरणो पर मूर्च्छा-ममता नही रखता। अतः यहाँ शरीर और उपकरण को 'परिग्रह' कहने का आशय—सयमोपयोगी बाह्य साधनो से ही है।

---

१ अभिधान राजेन्द्र भाग २, 'आम' शब्द पृष्ठ ३१५।

२ खित्तण्णो भिक्खायरियाकुसलो—आचा० चूर्णि।

३. आचा० टीका पत्रांक १२०।१।

४. उत्तरा० १।१ की टीका।

५ आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०। १।

६ आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०। १।

७ आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०।२

उन बाह्य साधनो का ग्रहण सिर्फ सयमनिर्वाह की दृष्टि से होना चाहिए, उनके प्रति 'ममत्व' भाव न रखे। इसीलिए यहाँ 'अममत्व' की विशेष सूचना है। शरीर और सयम के उपकरण भी ममत्व होने पर परिग्रह हो जाते है।

कालेणुट्ठाई—कालानुष्ठायी—से तात्पर्य है, समय पर उचित उद्यम एव पुरुषार्थ करने वाला। योग्य समय पर योग्य कार्य करना—यह भाव कालानुष्ठायी से ध्वनित होता है।

अपडिण्णे—अप्रतिज्ञ—किसी प्रकार का भौतिक सकल्प (निदान) न करने वाला।[1] प्रतिज्ञा का एक अर्थ 'अभिग्रह' भी है। सूत्रो मे विविध प्रकार के अभिग्रहो का वर्णन आता है[2] और तपस्वी साधु ऐसे अभिग्रह करते भी है। किन्तु उन अभिग्रहो के मूल मे मात्र आत्म-निग्रह एवं कर्मक्षय की भावना रहती है, जबकि यहाँ राग-द्वेष मूलक किसी भौतिक सकल्प—प्रतिज्ञा के विषय मे कहा गया है, जिसे 'निदान' भी कहते है।

अप्रतिज्ञ शब्द से एक तात्पर्य यह भी स्पष्ट होता है कि श्रमण किसी विषय मे प्रतिज्ञाबद्ध—एकान्त आग्रही न हो। विधि-निषेध का विचार/चिन्तन भी अनेकान्तदृष्टि से करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

न य किंचि अणुण्णाय पडिसिद्ध वा वि जिणवरिंदेहि।
मोत्तूण मेहुणभाव, न त विणा राग-दोसेहि।[3]

—जिनेश्वरदेव ने एकान्त रूप से न तो किसी कर्तव्य—(आचार) का विधान किया है, और न निषेध। सिर्फ मैथुनभाव (अब्रह्मचर्य, स्त्री-सग) का ही एकान्त निषेध है, क्योंकि उसमे राग के बिना प्रवृत्ति हो ही नही सकती अत उसके अतिरिक्त सभी आचारो का विधि-निषेध—उत्सर्ग-अपवाद सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए। अप्रतिज्ञ शब्द मे यह भाव भी छिपा हुआ है—यह टीकाकार का मन्तव्य है। परन्तु प्रत्याख्यान मे अनेकान्त मानना उचित नही है। विवशता या दुर्बलतावश होनेवाले प्रत्येक अपवाद-सेवन को अनेकान्त मानना भूल है। व्रतो में स्वीकृत अनेकान्त व्रतो के स्वरूप को विकृत कर देना है। प्रस्तुत प्रसग मे 'अपडिन्ने' शब्द का उपर्युक्त अर्थ प्रसगोचित भी नही है। क्योंकि परिग्रह के ममकार और काल की प्रतिबद्धता के परिहार का प्रसग है। अत 'किसी भी बाह्याभ्यन्तर परिग्रह और अकाल से सबन्धित प्रतिज्ञा पकड न करने वाला' करना ही सगत है।

वस्त्र-पात्र-आहार समय

८९. वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासणं एतेसु चेव जाणेज्जा।
लद्धे आहारे अणगारो मातं जाणेज्जा। से जहेयं भगवता पवेदितं।

लाभो त्ति ण मज्जेज्जा, अलाभो त्ति ण सोएज्जा, बहुं पि लद्धुं ण णिहे। परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा। अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा।[4]

---

१ आचा० टीका पत्रांक १२०।२ २ औपपातिक सूत्र, श्रमण अधिकार।

३ (क) अभि० राजेन्द्र भाग १ 'अपडिण्ण' शब्द। (ख) आचा० टीका पत्रांक १२०।२।

४ अण्णतरेण पासएण परिहरिज्जा—चूर्णि मे इस प्रकार का पाठ है।

एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते, जहेत्थ कुसले णोवलिंपिज्जासि त्ति बेमि ।

८९ वह (सयमी) वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद प्रोछन, (पाव पोछने का वस्त्र), अवग्रह—स्थान और कटासन—चटाई आदि (जो गृहस्थ के लिए निर्मित हों) उनकी याचना करे।

आहार प्राप्त होने पर, आगम के अनुसार, अनगार को उसकी मात्रा का ज्ञान होना चाहिए।

इच्छित आहार आदि प्राप्त होने पर उसका मद—अहकार नही करे। यदि प्राप्त न हो तो शोक (चिंता) न करे। यदि अधिक मात्रा मे प्राप्त हो, तो उसका सग्रह न करे। परिग्रह से स्वय को दूर रखे। जिस प्रकार गृहस्थ परिग्रह को ममत्व भाव से देखते है, उस प्रकार न देखे—अन्य प्रकार से देखे और परिग्रह का वर्जन करे।

यह (अनासक्ति का) मार्ग आर्य—तीर्थकरो ने प्रतिपादित किया है, जिससे कुशल पुरुष (परिग्रह मे) लिप्त न हो।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—साधु, जीवन यापन करता हुआ ममत्व से किस प्रकार दूर रहे, इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यह सूत्र प्रस्तुत करता है।

वस्त्र, पात्र, भोजन आदि जीवनोपयोगी उपकरणो के बिना जीवन-निर्वाह नही हो सकता। साधु को इन वस्तुओ की गृहस्थ से याचना करनी पडती है। किन्तु वह इन वस्तुओ को 'प्राप्य' नहीं समझता। जैसे समुद्र पार करने के लिए नौका की आवश्यकता होती है, किन्तु समुद्रयात्री नौका को साध्य व लक्ष्य नही मानता, न उसमें आसक्त होता है, किन्तु उसे साधन मात्र मानता है और उस पर पहुँचकर नौका को छोड देता है। साधक धर्मोपकरण को इसी दृष्टि से ग्रहण करे और मात्रा अर्थात् मर्यादा एव प्रमाण का ज्ञान रखता हुआ उनका उपयोग करे।

उग्गहणं (अवग्रहण) शब्द के दो अर्थ है—(१) स्थान अथवा (२) आज्ञा लेकर ग्रहण करना। आज्ञा के अर्थ मे पाच अवग्रह—देवन्द्र अवग्रह, राज अवग्रह, गृहपति अवग्रह, शय्यातर अवग्रह और साधर्मिक अवग्रह, प्रसिद्ध है।[1]

'मात जाणेज्जा'—मात्रा को जानना—यह एक खास सूचना है। मात्रा—अर्थात् भोजन का परिमाण जाने। सामान्यत भोजन की मात्रा खुराक का कोई निश्चित माप नही हो सकता, क्योकि इसका सम्बन्ध भूख से है। सब की भूख या खुराक समान नही होती, इसलिए भोजन की मात्रा भी समान नही है। फिर भी सर्व सामान्य अनुपात-दृष्टि से भोजन की मात्रा साधु के लिए बत्तीस कवल (कौर) और साध्वी के लिए अठाईस कवलप्रमाण बताई गई है।[2] उससे कुछ कम ही खाना चाहिए।

मात्र—शब्द को आहार के अतिरिक्त, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो के साथ भी जोडना चाहिए, अर्थात् प्रत्येक ग्राह्य वस्तु की आवश्यकता को समझे, व जितना आवश्यक हो उतना ही ग्रहण करे।

---

१ भगवती १६।२ तथा आचाराग सूत्र ६३५।

२ भगवती ७।१ तथा औपपातिक सूत्र, तप अधिकार।

साधु को भिक्षाचरी करते समय तीन मानसिक दोषों की संभावना होती है—

अभिमान—आहारादि उचित मात्रा मे मिलने पर अपने प्रभाव, लब्धि आदि का गर्व करना।

परिग्रह—आहारादि की विपुल मात्रा मे उपलब्धि होती देखकर—उनके संग्रह की भावना जगना।

शोक—इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर अपने भाग्य को, या जन-समूह को, कोसना, उस पर रोष तथा आक्रोश करना एव मन मे दुखी होना।

प्रस्तुत सूत्र में **लाभो त्ति ण मज्जेज्जा**—आदि पद द्वारा इन तीनो दोषो से बचने का निर्देश दिया गया है।

'परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा'—परिग्रह से स्वय को दूर हटाए—इस वाक्य का **अर्थ** भावना से है। अनगार को जो निर्दोष वस्तु प्राप्त होती है, उसको भी वह अपनी न समझे, उसके प्रति अपनापन न लाये, बल्कि यह माने कि "यह वस्तु मुझे प्राप्त हुई है, वह आचार्य की है, अर्थात् सघ की है, या आचार्य के आदेश से मै इसका स्वय के लिए उपयोग कर सकूँगा।" इस चिन्तन से, वस्तु के प्रति ममत्व का विसर्जन एव सामूहिकता की भावना (ट्रस्टीशिप की मनोवृत्ति) का विकास होता है और साधक स्वय को परिग्रह से दूर रख लेता है।

'अन्यथादृष्टि'—**'अण्णहा णं पासए'**—का स्पष्टीकरण करते हुए चूर्णिकार ने उक्त तथ्य स्पष्ट किया है—**ण मम एतं आयरियसंतगं'**—यह प्राप्त वस्तु मेरी नही, आचार्य की निश्राय की है।

अन्यथादृष्टि—का दूसरा अर्थ यह भी है कि जैसे सामान्य गृहस्थ (अज्ञानी मनुष्य) वस्तु का उपयोग करता है, वैसे नही करे। ज्ञानी और अज्ञानी दोनो ही वस्तु का उपयोग करते है, किन्तु उनका उद्देश्य, भावना तथा विधि मे बहुत बडा अन्तर होता है—

ज्ञानी पुरुष—आत्म-विकास एव सयम-यात्रा के लिए, अनासक्त भावना के साथ यतना एव विधिपूर्वक उपयोग करता है।

अज्ञानी मनुष्य—पौद्गलिक सुख के लिए, आसक्तिपूर्वक असयम तथा अविधि से वस्तु का उपयोग करता है।

अज्ञानी के विपरीत ज्ञानी का चिन्तन व आचरण 'अन्यथादृष्टि' है।

'परिहार' के पीछे भी दो दृष्टियाँ चूर्णिकार ने स्पष्ट की है—

धारणा-परिहार—बुद्धि से वस्तु का त्याग (ममत्व-विसर्जन) तथा उवभोग-परिहार शरीर से वस्तु के उपयोग का त्याग (वस्तु-सयम)।[1]

इस आर्य मार्ग पर चलने वाला कुशल पुरुष परिग्रह मे लिप्त नही होता। वास्तव मे यही जल के बीच कमल की भाँति निर्लेप जीवन बिताने की जीवन-कला है।

---

१ परिहारो दुविहो-धारणापरिहारो व उवभोगपरिहारो य-आचा० चूर्णि (मुनि जम्बू० टिप्पण पृ० २६)

काम-भोग-विरति

९०. कामा दुरतिक्कमा । जीवियं दुप्पडिवूहगं ।

कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयति जूरति तिप्पति पिड्डति परितप्पति ।

९१. आयतचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं[1] जाणति, उड्ढं भागं जाणति तिरियं भागं जाणति, गढिए अणुपरियट्टमाणे ।

संधि विदित्ता इह मच्चिएहिं,

एस वीरे पसंसिते जे बद्धे पडिमोयए ।

९० ये काम (इच्छा-वासना) दुर्लंघ्य है । जीवन (आयुष्य जितना है, उसे) बढाया नहीं जा सकता, (तथा आयुष्य की टूटी डोर को पुन साँधा नहीं जा सकता) ।

यह पुरुष काम-भोग की कामना रखता है (किन्तु वह परितृप्त नहीं हो सकती, इसलिए) वह शोक करता है (काम की अप्राप्ति, तथा वियोग होने पर खिन्न होता है) फिर वह शरीर से सूख जाता है, आँसू बहाता है, पीडा और परिताप (पश्चात्ताप) से दु खी होता रहता है ।

९१ वह **आयतचक्षु** - दीर्घदर्शी (या सर्वांग चिंतन करने वाला साधक) लोकदर्शी होता है । वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्व भाग को जानता है, तिरछे भाग को जानता है ।

(काम-भोग मे) गृद्ध हुआ आसक्त पुरुष संसार मे (अथवा काम-भोग के पीछे) अनुपरिवर्तन—पुन पुन चक्कर काटता रहता है । (दीर्घदर्शी यह भी जानता है ।)

यहाँ (संसार मे) मनुष्यों के, (मरणधर्माशरीर की) संधि को जानकर (विरक्त हो) ।

वह वीर प्रशंसा के योग्य है (अथवा वीर प्रभु ने उसकी प्रशंसा की है) जो (काम-भोग मे) बद्ध को मुक्त करता है ।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रो मे काम-भोग की कटुता का दर्शन तथा उससे चित्त को मुक्त करने के उपाय बताये गये है ।

टीकाकार आचार्य शीलांक ने—काम के दो भेद बताये है —

(१) इच्छाकाम और (२) मदनकाम ।[2]

आशा, तृष्णा, रतिरूप इच्छाएं इच्छाकाम है । यह मोहनीय कर्म के हास्य, रति आदि कारणों से उत्पन्न होती है ।

वासना या विकाररूप कामेच्छा- -मदनकाम है । यह मोहनीय कर्म के भेद—**वेदत्रय** के उदय मे प्रकट होता है ।

---

१ पाठान्तर है - '**अहे भाग, अधे भाव ।**' २ आचा० टीका पत्र १२३ ।

जब तक मनुष्य इस 'काम' के दुष्परिणाम को नही जान लेता, उससे विरक्ति होना कठिन है।

प्रस्तुत दो सूत्रो मे काम-विरक्ति के पाच आलम्बन बताये हैं, जिनमे से दो का वर्णन सूत्र ९० में है। जैसे—

काम-विरक्ति का प्रथम आलम्बन बताया है—(१) जीवन की क्षणभगुरता। आयुष्य प्रतिक्षण घटता जा रहा है, और इसको स्थिर रखना या बढा लेना—किसी के वश का नही है। द्वितीय आलम्बन है—(२) कामी को होने वाले मानसिक परिताप, पीडा, शोक आदि को समझना।

साधक को '**आयतचक्खू**' कहकर उसकी दीर्घदृष्टि तथा सर्वांग-चिन्तनशीलता—अनेकान्तदृष्टि होने की सूचना की है। अनेकान्तदृष्टि से वह विविध पक्षो पर गभीरतापूर्वक विचारणा करने मे सक्षम होता है। टीका के अनुसार 'इहलोक-परलोक के अपाय को देखने की क्षमता रखने वाला—आयतचक्षु है।'[1]

काम-वासना से चित्त को मुक्त करने के तीन आलम्बन—आधार सूत्र ९१ मे इस प्रकार बताये गये हैं। ३ (१) लोक-दर्शन, ४ (२) अनुपरिवर्तन का बोध, ५ (३) सधि-दर्शन। क्रमश इनका विवेचन इस प्रकार है—

३ (१) **लोक-दर्शन**—लोक को देखना। इस पर तीन दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। (क) लोक का अधोभाग विषय-कषाय से आसक्त होकर शोक-पीडा आदि से दुखी होता है। यहाँ अधोभाग का अर्थ अधोभागवर्ती नैरयिक समझना चाहिए।

लोक का ऊर्ध्वभाग (देव) तथा मध्यभाग (मनुष्य एव तिर्यंच) भी विषय-कषाय मे आसक्त होकर शोक व पीडा से दुखी है।[2]

(ख) दीर्घदर्शी साधक—इस विषय पर भी चिन्तन करे—अमुक भाव व वृत्तियाँ अधोगति की हेतु है, अमुक ऊर्ध्वगति की तथा अमुक तिर्यग् (मध्य—मनुष्य-तर्यंच) गति की हेतु हैं।[3]

(ग) लोक का अर्थ है—भोग्यवस्तु या विषय। शरीर भी भोग्य वस्तु या भोगायतन है। शरीर के तीन भाग कल्पित कर उन पर चिन्तन करना लोकदर्शन है। जैसे—

१ अधोभाग—नाभि से नीचे का भाग,
२ ऊर्ध्वभाग—नाभि मे ऊपर का भाग,
३ तिर्यग् भाग—नाभि-स्थान

इन तीनो भागो पर चिन्तन करे। यह अशुचि-भावना का एक सुन्दर माध्यम भी है। इससे शरीर की भगुरता, असारता आदि की भावना दृढ हो जाती है। शरीर के प्रति ममत्व-रहितता आती है।

---

१ आचा० टीका १०३ २ आचाराग टीका पत्राक—१०४

३ देखे स्थानाग सूत्र०, स्थान ४ उद्देशक ४ सूत्र ३७३ (चार गति के विभिन्न कारण)

तीनो लोको पर विभिन्न दृष्टियो से चिन्तन करना ध्यान की एक विलक्षण पद्धति रही है।

इसी सूत्र मे बताया गया—भगवान् महावीर अपने साधना काल मे ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक मे तथा तिर्यग्लोक मे (वहाँ स्थित तत्त्वो पर) ध्यान केन्द्रित करके समाधि भाव मे लीन हो जाते थे।[1] 'लोक-भावना' मे भी तीनो लोको के स्वरूप का चिन्तन तथा वहा स्थित पदार्थों पर ध्यान केन्द्रित कर एकाग्र होने की साधना की जाती है।

४ (२) **अनुपरिवर्तन का बोध**—काम-भोग के आसेवन से काम वासना कभी भी शात व तृप्त नही हो सकती, बल्कि अग्नि मे घी डालने की भाति विषयाग्नि अधिक प्रज्वलित होती है। कामी बार-बार काम (विषय) के पीछे दौडता है, और अन्त मे हाथ लगती है अशाति! अतृप्ति!! इस अनुपरिवर्तन का बोध, साधक को जब होता है तो वह काम के पीछे दौडना छोडकर काम को अकाम (वैराग्य) से शात करने मे प्रयत्नशील हो जाता है।

५ (३) **सधि-दर्शन**—टीकाकार ने सधि का अर्थ—'अवसर' किया है। यह मनुष्य-जन्म ज्ञानादि की प्राप्ति का, आत्म-विकास करने का, तथा अनन्त आत्म-वैभव प्राप्त करने का स्वर्णिम—अवसर है[2] यह सुवर्ण-सधि है, इसे जानकर वह काम-विरक्त होता है और 'काम-विजय' की ओर बढता है।

'सधि-दर्शन' का एक अर्थ यह भी किया गया है—शरीर की सधियो (जोडो) का स्वरूप-दर्शन कर शरीर के प्रति राग-रहित होना। शरीर को मात्र अस्थि-ककाल (हड्डियो का ढाँचा मात्र) समझना उसके प्रति आसक्ति को कम करता है।

शरीर मे एक सौ अस्सी सधियाँ मानी गई है। इनमे चौदह महासधियाँ है[3] उन पर विचार करना भी सधि-दर्शन है।

इस प्रकार काम-विरक्ति के आलम्बनभूत उक्त पाच विषयो का वर्णन दोनो सूत्रो मे हुआ है।

'**बद्धे पडिमोयए**' से तात्पर्य है, जो साधक स्वय काम-वासना से मुक्त है, वह दूसरो को (बद्धो) को मुक्त कर सकता है।

देह की असारता का बोध

९२. जहा अतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।
अतो अतो पूतिदेहतराणि पासति पुढो वि सवताइ।[4] पडिते पडिलेहाए।
से मतिमं परिण्णाय मा य हु लाल पच्चासी। मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए।

९२ (यह देह) जैसा भीतर है, वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा भीतर है।

१ अध्ययन ९। सूत्राक ३२०।गा० १०७—उड्ढ अधेयं तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिण्णे।"

२ आचा० शीला० टीका पत्राक १२४ ३ देखे—आयारो—पृष्ठ ११४

४ (क) **पुढो वीसवताइ**—चूर्णि मे पाठान्तर है। (ख) पृथगपि प्रत्येकमपि, अपि शब्दात् कुष्ठाद्यवस्थायां यौगपद्येनापि स्रवन्ति—**टीका** पत्र १२५

इस शरीर के भीतर-भीतर अशुद्धि भरी हुई है, साधक इसे देखे। देह से झरते हुए अनेक अशुचि-स्रोतों को भी देखे। इस प्रकार पंडित शरीर की अशुचिता (तथा काम-विपाक) को भली-भाँति देखे।

वह मतिमान् साधक (उक्त विषय को) जानकर तथा त्याग कर लार को न चाटे—वमन किये हुए भोगों का पुन: सेवन न करे। अपने को तिर्यक्‌मार्ग में—(काम-भोग के बीच में अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र से विपरीत मार्ग में) न फँसाए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में 'अशुचि भावना' का वर्णन है। शरीर की अशुचिता को बताते हुए कहा है—यह जैसा भीतर में (मल-मूत्र-रुधिर-मांस-अस्थि-मज्जा-शुक्र आदि से भरा है) वैसा ही बाहर भी है। जैसा अशुचि से भरा मिट्टी का घडा, भीतर से अपवित्र रहता है, उसे बाहर से धोने पर भी वह शुद्ध नहीं होता इसी प्रकार भीतर से अपवित्र शरीर स्नान आदि करने पर भी बाहर से अपवित्र ही रहता है।

मिट्टी के अशुचि भरे घडे से जैसे उसके छिद्रों में से प्रतिक्षण अशुचि झरती रहती है, उसी प्रकार शरीर से भी रोम-कूपों तथा अन्य छिद्रों (देहान्तर) द्वारा प्रतिक्षण अशुचि बाहर झर रही है—इस पर चिन्तन कर शरीर की सुन्दरता के प्रति राग तथा मोह को दूर करे।

यह अशुभ निमित्त (आलम्बन) से शुभ की ओर गतिशील होने की प्रक्रिया है। शरीर की अशुचिता एवं असारता का चिन्तन करने से स्वभावत: उसके प्रति आसक्ति तथा ममत्व कम हो जाता है।

'जहा अंतो तहा बाहिं' का एक अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—साधक जिस प्रकार अन्तस् की शुद्धि (आत्म-शुद्धि) रखता है, उसी प्रकार बाहर की शुद्धि (व्यवहार-शुद्धि) भी रखता है।

जैसे बाहर की शुद्धि (व्यवहार की शुद्धि) रखता है, वैसे अन्तस् की शुद्धि भी रखता है। साधना में एकांगी नहीं, किन्तु सर्वांगीण शुद्धि बाहर-भीतर की एकरूपता होना अनिवार्य है।

लालं पच्चासी—द्वारा यह उद्‌बोधन किया गया है कि हे मतिमान्! तुम जिन काम-भोगों का त्याग कर चुके हो, उनके प्रति पुन: देखो भी मत। त्यक्त की पुन: इच्छा करना—वान्त को, थूके हुए, वमन किये हुए को चाटना है।[1]

मा तेसु तिरिच्छ—शब्द से तिर्यक् मार्ग का सूचन है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का मार्ग सरल व सीधा मार्ग है, इसके विपरीत मिथ्यात्व-कषाय आदि का मार्ग तिरछा—तिर्यक् व टेढा मार्ग है।[2] तुम ज्ञानादि के प्रतिकूल संसार मार्ग में न जाओ—यही भाव यहाँ पर समझना चाहिए।

---

१ उत्तराध्ययन-२२।४३ २ आचा० टीका पत्रांक १२५

९३. कासंकसे खलु अयं पुरिसे, बहुमायी, कडेण मूढे,
पुणो तं करेति लोभं,[1] वेरं वड्ढेति अप्पणो ।
जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिबूहणताए ।
अमरायइ महासड्ढी । अट्टमेतं तु पेहाए । अपरिण्णाए कंदति ।

९३. (काम-भोग मे आसक्त) यह पुरुष सोचता है—मैंने यह कार्य किया, यह कार्य करूँगा (इस प्रकार की आकुलता के कारण) वह दूसरो को ठगता है, माया-कपट रचता है, और फिर अपने रचे मायाजाल मे स्वयं फंस कर मूढ बन जाता है।

वह मूढभाव से ग्रस्त फिर लोभ करता है (काम-भोग प्राप्त करने को ललचाता है) और (माया एवं लोभयुक्त आचरण के द्वारा) प्राणियो के साथ अपना वैर बढाता है।

जो मैं यह कहता हूँ (कि वह कामी पुरुष माया तथा लोभ का आचरण कर अपना वैर बढ़ाता है) वह इस शरीर को पुष्ट बनाने के लिए ही ऐसा करता है।

वह काम-भोग मे महान् श्रद्धा (आसक्ति) रखता हुआ अपने को अमर की भाँति समझता है। तू देख, वह आर्त—पीडित तथा दु.खी है। परिग्रह का त्याग नही करने वाला क्रन्दन करता है (रोता है)।

विवेचन—इस सूत्र मे अशान्ति और दु ख के मूलकारणो पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य—'यह किया, अब यह करना है,' इस प्रकार के संकल्प जाल का शिकार होकर मूढ हो जाता है। वह वास्तविक जीवन से दूर भागकर स्वाप्निल सृष्टि मे खो जाता है। जीवन मे सपने देखने लगता है—इस मन स्थिति को '**कासंकासे**' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। ऐसा स्वप्नदर्शी मनुष्य—काम और भूख की वृत्तियो को संतुष्ट करने के लिए अनेक हथकंडे करता है, वैर बढाता है। वह जीवन मे इतना आसक्त हो जाता है कि दूसरो को मरते हुए देखकर भी स्वयं को अमर की तरह मानने लगता है।

आचार्य शीलांक ने उदाहरण देते हुए इसकी व्याख्या की है। "अर्थ-लोभी व्यक्ति सोने के समय मे सो नही पाता, स्नान के समय मे स्नान नही कर पाता, विचारा भोजन के समय भोजन भी नही कर पाता।"[2] रात-दिन उसके सिर पर धन का भूत चढा रहता है। इस स्थिति मे वह अपने आपको भूल-सा जाता है। यहाँ तक कि 'मृत्यु' जैसी अवश्यभावी स्थिति को भी विस्मृत-सा कर देता है।

एक बार राजगृह मे धन नाम का सार्थवाह आया। वह दिन-रात धनोपार्जन में ही लीन रहता। उसकी विशाल समृद्धि की चर्चा सुनकर मगधसेना नामकी गणिका उसके आवास पर

---

१ चूर्णि मे पाठ है—"पुणो त करेति लोग" नरगादिभवलोग करेति णिव्वत्तेति"—वह अपने कृत-कर्मों से पुन नरक आदि भाव लोक मे गमन करता है।

२ सोउं सोवणकाले मज्जणकाले य मज्जिउं लोलो।
जेमेउं च वराओ जेमणकाले न चाएइ। —आचा० टीका पत्रांक १२५

गई। सार्थवाह अपने आय-व्यय का हिसाब जोड़ने और स्वर्णमुद्राएँ गिनने में इतना दत्तचित्त था कि, उसने द्वार पर खड़ी सुन्दरी गणिका की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखा।

मगधसेना का अहकार तिलमिला उठा। दाँत पीसती हुई उदास मुख लिए वह सम्राट् जरासंध के दरबार में गई। जरासध ने पूछा—सुन्दरी! तुम उदास क्यों हो? किसने तुम्हारा अपमान किया?

मगधसेना ने व्यग्यपूर्वक कहा—उस अमर ने!

कौन अमर?—जरासध ने विस्मयपूर्वक पूछा।

धन सार्थवाह! वह धन की चिन्ता मे, स्वर्ण-मुद्राओं की गणना में इतना बेभान है कि उसे मेरे पहुँचने का भी भान नहीं हुआ। जब वह मुझे भी नहीं देख पाता तो वह अपनी मृत्यु को कैसे देखेगा? वह स्वय को अमर जैसा समझता है।[1]

अर्थ-लोलुप व्यक्ति की इसी मानसिक दुर्बलता को उद्घाटित करते हुए शास्त्रकार ने कहा है—वह भोग एव अर्थ मे अत्यन्त आसक्त पुरुष स्वय को अमर की भाँति मानने लगता है और इस घोर आसक्ति का परिणाम आता है—आर्तता—पीड़ा, अशान्ति और क्रन्दन। पहले भोगप्राप्ति की आकाक्षा मे क्रन्दन करता है, रोता है, फिर भोग छूटने के शोक—(वियोग चिन्ता) मे क्रन्दन करता है। इस प्रकार भोगासक्ति का अन्तिम परिणाम क्रन्दन—रोना ही है।

बहुमायी शब्द के द्वारा—क्रोध, मान, माया और लोभ चारो कषायो का बोध अभिप्रेत है। क्योंकि अव्यवस्थित चित्तवाला पुरुष कभी माया, कभी क्रोध, कभी अहकार और कभी लोभ करता है। वह विक्षिप्त—पागल की तरह आचरण करने लगता है।[2]

सदोष-चिकित्सा-निषेध

९४. से तं जाणह जमहं बेमि। तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता 'अकडं करिस्सामि' त्ति मण्णमाणे, जस्स वि य णं करेइ।

अलं बालस्स संगेण, जे वा से कारेति बाले।

ण एवं अणगारस्स जायति त्ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

९४ तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूँ। अपने को चिकित्सा-पडित बताते हुए कुछ वैद्य, चिकित्सा (काम-चिकित्सा) मे प्रवृत्त होते है। वह (काम-चिकित्सा के लिए) अनेक जीवो का हनन, भेदन, लुम्पन, विलुम्पन और प्राण-वध करता है। 'जो पहले किसी ने नही किया, ऐसा मैं करूँगा,' यह मानता हुआ (वह जीव-वध करता है)। वह जिसकी चिकित्सा करता है (वह भी जीव-वध मे सहभागी होता है)।

(इस प्रकार की हिंसा-प्रधान चिकित्सा करने वाले) अज्ञानी की संगति से

१ आचा० टीका पत्रांक १२६।१

२. आचा० टीका पत्रांक १२५

क्या लाभ है ! जो ऐसी चिकित्सा करवाता है, वह भी बाल—अज्ञानी है।

अनगार ऐसी चिकित्सा नही करवाता।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में हिंसा-जन्य चिकित्सा का निषेध है। पिछले सूत्रों में काम (विषयों) का वर्णन आने से यहाँ यह भी सभव है कि काम-चिकित्सा को लक्ष्य कर ऐसा कथन किया है। काम-वासना की तृप्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की औषधियों का (वाजीकरण-उपबृंहण आदि के लिए) सेवन करता है, मरफिया आदि के इन्जेक्शन लेता है, शरीर के अवयव जीर्ण व क्षीणसत्त्व होने पर अन्य पशुओ के अग-उपाग-अवयव लगाकर काम-सेवन की शक्ति को बढाना चाहता है। उनके निमित्त वैद्य-चिकित्सक अनेक प्रकार की जीवहिंसा करते है। चिकित्सक और चिकित्सा करानेवाला दोनो ही इस हिंसा के भागीदार होते हैं। यहाँ पर साधक के लिए इस प्रकार की चिकित्सा का सर्वथा निषेध किया गया है।

इस सूत्र के सम्बन्ध मे दूसरा दृष्टिकोण व्याधि-चिकित्सा (रोग-उपचार) का भी है।

श्रमण की दो भूमिकाएँ है—(१) जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनकल्पी श्रमण सघ से अलग स्वतन्त्र, एकाकी रहकर साधना करते थे। वे अपने शरीर का प्रतिकर्म अर्थात् सार-सभाल, चिकित्सा आदि भी नही करते-कराते। (२) स्थविरकल्पी श्रमण सघीय जीवन जीते है। सयम-यात्रा का समाधिपूर्वक निर्वाह करने के लिए शरीर को भोजन, निर्दोष औषधि आदि से साधना के योग्य रखते है। किन्तु स्थविरकल्पी श्रमण भी शरीर के मोह मे पडकर व्याधि आदि के निवारण के लिए सदोष-चिकित्सा का, जिसमे जीव-हिंसा होती हो, प्रयोग न करे। यहा पर इसी प्रकार की सदोष-चिकित्सा का स्पष्ट निषेध किया गया है।

॥ पचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

सर्व अव्रत-विरति

९५. से त संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए तम्हा पावं कम्मं णेव कुज्जा ण कारवे।

९६. सिया तत्थ एकयर विप्परामुसति छसु अण्णयरम्मि कप्पति। सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति। सएण विप्पमाएण पुढो वय पकुव्वति जसिमे पाणा पव्वहिता।

९५. वह (साधक) उस (पूर्वोक्त विषय) को सम्यक्प्रकार से जानकर सयम साधना मे समुद्यत हो जाता है। इसलिए वह स्वय पाप कर्म न करें, दूसरो से न करवाएँ (अनुमोदन भी न करे)।

९६. कदाचित् (वह प्रमाद या अज्ञानवश) किसी एक जीवकाय का समारंभ करता है, तो वह छहो जीव-कायो मे से (किसी का भी या सभी का) समारभ कर

सकता है। वह सुख का अभिलाषी, बार-बार सुख की इच्छा करता है, (किन्तु) स्व-कृत कर्मों के कारण, (व्यथित होकर) मूढ बन जाता है और विषयादि सुख के बदले दुःख को प्राप्त करता है। वह (मूढ) अपने अति प्रमाद के कारण ही अनेक योनियों मे भ्रमण करता है, जहाँ पर कि प्राणी अत्यन्त दुःख भोगते है।

विवेचन—पूर्व उद्देशकों में, परिग्रह तथा काम की आसक्ति से ग्रस्त मनुष्य की मनोदशा का वर्णन किया गया है। यहाँ उसी सदर्भ मे कहा है—आसक्ति से होने वाले दुःखों को समझकर साधक किसी भी प्रकार का पाप कार्य न करे।

पाप कर्म न करने के सदर्भ मे टीकाकार ने प्रसिद्ध अठारह पापों का नाम-निर्देश किया है, तथा बताया है, ये तो मुख्य नाम है, वैसे मन के जितने पापपूर्ण सकल्प होते है, उतने ही पाप हो सकते हैं। उनकी गणना भी सभव नही है। साधक मन को पवित्र करले तो पाप स्वय नष्ट हो जायँ। अत वह किसी भी प्रकार का पाप न करे, न करवाएँ, अनुमोदन न करने का भाव भी इसी मे अन्तर्निहित है।

सूत्र ९६ में एक गूढ आध्यात्मिक पहेली को स्पष्ट किया है। सभव है, कदाचित् कोई साधक प्रमत्त हो जाय[1], और किसी एक जीव-निकाय की हिंसा करे, अथवा जो अमयत है—अन्य श्रमण या परिव्राजक है, वे किसी एक जीवकाय की हिंसा करे तो क्या वे अन्य जीव-कायो की हिंसा से बच सकेंगे? इसका समाधान दिया गया है—'**छसु अण्णयरम्मि कप्पति**' एक जीवकाय की हिंसा करने वाला छहों काय की हिंसा कर सकता है।

भगवान् महावीर के समय में अनेक परिव्राजक यह कहते थे कि—'हम केवल पीने के लिए पानी के जीवों की हिंसा करते है, अन्य जीवों की हिंसा नही करते।' गैरिक व शाक्य आदि श्रमण भी यह कहते थे कि—'हम केवल भोजन के निमित्त जीवहिंसा करते हैं, अन्य कार्य के लिए नही।

सम्भव है ऐसा कहने वालों को सामने रखकर आगम में यह स्पष्ट किया गया है कि—जब साधक के चित्त मे किसी एक जीवकाय की हिंसा का सकल्प हो गया तो वह अन्य जीवकाय की हिंसा भी कर सकता है, और करेगा। क्योंकि जब अखण्ड अहिंसा की चित्त धारा खण्डित हो चुकी है, अहिंसा की पवित्र चित्तवृत्ति मलिन हो गई है, तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक जीवकायकी हिंसा करे और अन्य के प्रति मैत्री या करुणा भाव दिखाए? दूसरा कारण यह भी है कि—

यदि कोई जलकाय की हिंसा करता है, तो जल मे वनस्पति का नियमत सद्भाव है, जलकाय की हिंसा करने वाला वनस्पतिकाय की हिंसा भी करता ही है। जल के हलन-चलन-प्रकम्पन से वायुकाय की भी हिंसा होती है, जल और वायुकाय के समारभ से वहाँ रही हुई अग्नि भी प्रज्ज्वलन हो सकती है तथा जल के आश्रित अनेक प्रकार के सूक्ष्म त्रस जीव भी

१. "सिया कयाइ से इति असजतस्स निद्देसो पत्तसजतस्स वा'। —आचा० चूर्णि (जम्बू० पृ० २८)

रहते है। जल मे मिट्टी (पृथ्वी) का भी अंश रहता है अतः एक जलकाय की हिंसा से छहों काय की हिंसा होती है।[1]

'छसु' शब्द से पांच महाव्रत व छठा रात्रि-भोजन-विरमणव्रत भी सूचित होता है। जब एक अहिंसा व्रत खण्डित हो गया तो सत्य भी खण्डित हो गया, क्योंकि साधक ने हिंसा-त्याग की प्रतिज्ञा की थी। प्रतिज्ञा-भंग असत्य का सेवन है। जिन प्राणियों की हिंसा की जाती है उनके प्राणों का हरण करना चोरी है। हिंसा से कर्म-परिग्रह भी बढता है तथा हिंसा के साथ सुखाभिलाष- काम-भावना उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार टूटी हुई माला के मनकों की तरह एक व्रत टूटने पर सभी छहों व्रत टूट जाते है—भग्न हो जाते है।

एक पाप के सेवन से सभी पाप आ जाते है—**'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'** के अनुसार एक छिद्र होते ही अनेक अवगुण आ जायेंगे, अतः यहाँ प्रस्तुत सूत्र मे अहिंसा व्रत की सम्पूर्ण अखण्ड-निरतिचार साधना का निर्देश किया गया है।

पुढो वय—के दो अर्थ है—(१) विविध व्रत, और (२) विविध गति-योनिरूप संसार। यहाँ दोनों ही अर्थों की संगति बैठती है। एक व्रत का भंग करने वाला पृथक्व्रतों को अर्थात् अन्य सभी व्रतों को भंग कर डालता है, तथा वह अपने अति प्रमाद के ही कारण पृथक्-पृथक् गतियों मे, अर्थात् अपार संसार मे परिभ्रमण करता है।[2]

९७ पडिलेहाए णो णिकरणाए। एस परिण्णा पवुच्चति कम्मोवसंती।
जे ममाइयमतिं जहाति से जहाति ममाइतं।
से हु दिट्ठपहे[3] मुणी जस्स णत्थि ममाइतं।
तं परिण्णाय मेहावी विदित्ता लोगं, वंता लोगसण्णं, से मतिमं परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

९७ यह जानकर (परिग्रह के कारण प्राणी संसार मे दुखी होता है) उसका (परिग्रह का) संकल्प त्याग देवे। यही परिज्ञा/विवेक कहा जाता है। इसी से (परिग्रह-त्याग से) कर्मों की शान्ति—क्षय होता है।

जो ममत्व-बुद्धि का त्याग करता है, वह ममत्व (परिग्रह) का त्याग करता है।

वही दृष्ट-पथ। (मोक्ष-मार्ग को देखने वाला) मुनि है, जिसने ममत्व का त्याग कर दिया है।

यह (उक्त दृष्टिबिन्दु को) जानकर मेधावी लोकस्वरूप को जाने। लोक—

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १२७-१२८।

२ (क) **वय**—शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—"वयन्ति-पर्यटन्ति प्राणिनः यस्मिन् स वयः संसार।" —आचा० शीला० टीका पत्रांक १२८

(ख) ऐतरेय ब्राह्मण मे भी 'वय' शब्द गति अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। —ऐत० ब्रा० १२ ख ८०

३ **दिट्ठभए**—पाठान्तर है।

सज्ञा का त्याग करे, तथा सयम मे पुरुषार्थ करे। वास्तव मे उसे ही मतिमान् (बुद्धिमान्) ज्ञानी पुरुष कहा गया है—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे ममत्वबुद्धि का त्याग तथा लोक-सज्ञा से मुक्त होने का निर्देश किया है। ममत्व-बुद्धि—मूर्च्छा एव आसक्ति, बन्धन का मुख्य कारण है। पदार्थ के सम्बन्ध मात्र से न तो चित्त कलुषित होता है, और न कर्म बन्धन होता है। पदार्थ के साथ-साथ जब ममत्वबुद्धि जुड जाती है तभी वह पदार्थ परिग्रह कोटि मे आता है और तभी उससे कर्मबध होता है। इसलिए सूत्र मे स्पष्ट कहा है—जो ममत्वबुद्धि का त्याग कर देता हैं, वह सम्पूर्ण ममत्व अर्थात् परिग्रह का त्याग कर देता है। और वही परिग्रह-त्यागी पुरुष वास्तव मे सत्य पथ का द्रष्टा है. पथ का द्रष्टा—सिर्फ पथ को जानने वाला नही, किन्तु उस पथ पर चलने वाला होता है—यह तथ्य यहाँ सकेतित है।

लोक को जानने का आशय है—ससार मे परिग्रह तथा हिंसा के कारण ही समस्त दु:ख व पीडाएँ होती है तथा ससार परिभ्रमण बढता है, यह जाने।

लोगसण्ण—लोक-सज्ञा के तीन अर्थ ग्रहण किये गये है, (१) आहार, भय आदि दस प्रकार की लोक सज्ञा।[1] (२) यश कामना, अहकार, प्रदर्शन की भावना, मोह, विषयाभिलाषा, विचार-मूढता, गतानुगतिक वृत्ति, आदि। (३) मनगढन्त लौकिक रीतियाँ—जैसे श्वान यक्ष रूप है, विप्र देवरूप है, अपुत्र की गति नही होती आदि।[2]

इन तीनो प्रकार की सज्ञाओं/वृत्तियो का त्याग करने का उद्देश्य यहाँ अपेक्षित है। 'लोक सज्ञाष्टक' मे इस विषय पर विस्तृत विवेचन करते हुए आचार्यो ने बताया है—

लोकसज्ञोज्झित साधु परब्रह्म समाधिमान्।
सुखमास्ते गतद्रोह-ममता-मत्सरज्वर ॥ ८ ॥[3]

—शुद्ध आत्म-स्वरूप मे रमणरूप समाधि मे स्थित, द्रोह, ममता (द्वेष एव राग) मात्सर्य रूप ज्वर से रहित, लोक सज्ञा से मुक्त साधु ससार मे सुखपूर्वक रहता है।

अरति-रति-विवेक

९८. णारतिं सहती[4] वीरे, वीरे णो सहती रतिं।
[5]जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे ण रज्जति ॥३॥

---

१ (क) दस सज्ञाएँ इस प्रकार है—(१) आहार सज्ञा, (२) भयसज्ञा (३) मैथुन सज्ञा (४) परिग्रह सज्ञा (५) क्रोध सज्ञा (६) मान सज्ञा (७) माया सज्ञा (८) लोभ सज्ञा (९) ओघ सज्ञा (१०) लोक सज्ञा।
—प्रज्ञापना सूत्र, पद १०

(ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक १२९

२ देखे अभि० राजेन्द्र, भाग ६, पृ० ७४१

३ अभि० राजेन्द्र भाग ६, पृ० ७४१ 'लोग सण्णा' शब्द। ४ **सहते, सहति**—पाठान्तर है।

५ चूर्णि मे पाठान्तर—**जम्हा अविमणो वीरो तम्हावेव विरज्जते**—अर्थात् वीर जिससे अविमनस्क होता है, उसके प्रति राग नही करता।

९९. सद्दे फासे अधियासमाणे णिव्विद णंदि इह जीवियस्स ।
मुणी मोण समादाय धुणे कम्मसरीरग ।
पत लूह सेवति वीरा समत्तदसिणो ।[1]
एस ओघतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि ।

९८ वीर साधक अरति (सयम के प्रति अरुचि) को सहन नही करता, और रति (विषयो की अभिरुचि) को भी सहन नही करता । इसलिए वह वीर इन दोनो मे ही अविमनस्क--स्थिर-शान्तमना रह कर रति-अरति मे आसक्त नही होता ।

९९ मुनि (रति-अरति उत्पन्न करने वाले मधुर एव कटु) शब्द (रूप, रस गन्ध,) और स्पर्श को सहन करता है । इस असयम जीवन मे होने वाले आमोद आदि मे विरत होता है ।

मुनि मौन (सयम अथवा ज्ञान) को ग्रहण करके कर्म-शरीर को धुन डालता है, (आत्मा से दूर कर देता है)

वे समत्वदर्शी वीर साधक रूखे-सूखे (नीरस आहार) का समभाव पूर्वक सेवन करते है ।

वह (समदर्शी) मुनि, जन्म-मरणरूप ससार प्रवाह को तैर चुका है, वह वास्तव मे मुक्त, विरत कहा जाता है । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—उक्त दो सूत्रो मे साधक को समत्वदर्शी शान्त और मध्यस्थ बनने का प्रतिपादन किया गया है ।

रति और अरति—यह मनुष्य के अन्त करण मे छुपी हुई दुर्बलता है । राग-द्वेष-वृत्ति के गाढ या सूक्ष्म जमे हुए सस्कार ही मनुष्य को मोहक विषयो के प्रति आकृष्ट करते है, तथा प्रतिकूल विषयो का सम्पर्क होने पर चचल बना देते है ।

यहाँ **अरति**—का अर्थ है सयम-साधना मे, तपस्या, सेवा, स्वाध्याय, आदि के प्रति उत्पन्न होने वाली अरुचि एव अनिच्छा । इसप्रकार की अरुचि सयम-साधना के लिए घातक होती है ।

रति—का अर्थ है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध आदि मोहक विषयो से जनित चित्त की प्रसन्नता/रुचि या आकर्षण ।[2]

उक्त दोनो ही वृत्तियो मे-अरति और रति से, सयम-साधना खडित और भ्रष्ट हो सकती है अत वीर, पराक्रमी, इन्द्रिय-विजेता साधक अपना ही अनिष्ट करने वाली ऐसी वृत्तियो

---

१ **सम्मत्तदसिणो** पाठान्तर भी है ।

२ उत्तरा० अ० ५ की टीका । देखे अभि० राजेन्द्र भाग ६ पृ० ४६७ । यही पर आगमो के प्रसगानुसारी रति शब्द के अनेक अर्थ दिये है, जैसे—मैथुन (उत्त० १४) स्त्री-सुख (उत्त० १६) मनोवाछित वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न प्रसन्नता (दर्शन० १ तत्त्व) क्रीडा (दशवै० १) मोहनीय कर्मोदय जनित आनन्द रूप मनोविकार (धर्म० २ अधि)

को सहन कैसे करेगा ? यह तो उसके गुप्त शत्रु है, अत वह इनकी उपेक्षा नही कर सकता। वह न तो भोग-रति को सहन करेगा और न सयम-अरति को। इसलिए वह इन दोनो वृत्तियो मे ही अविमनस्क अर्थात् शात एव मध्यस्थ रहकर उनसे विरक्त रहता है।

सूत्र ९९. मे पाँच इन्द्रियविषयो मे प्रथम व अन्तिम विषय का उल्लेख करके मध्य के तीन विषय उसीमे अन्तर्निहित कर दिये है। इन्हे क्रमश यो समझना चाहिए—शब्द, रूप, रस गध और स्पर्श। ये कभी मधुर-मोहक रूप मे मन को ललचाते है तो कभी कटु अप्रिय रूप मे आकर चित्त को उद्वेलित भी कर देते है। साधक इनके प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल—दोनो प्रकार के स्पर्शों के प्रति समभाव रखता है। ये विषय ही तो असयमी जीवन मे प्रमाद के कारण होते है, अत इनसे निर्विण्ण—उदासीन रहने का यहाँ स्पष्ट सकेत किया है।

मोण—मौन के दो अर्थ किये जाते है, मौन—मुनिका भाव—**सयम**, अथवा मुनि-जीवन का मूल आधार **ज्ञान**।[1]

धुणे कम्मसरीरगं—से तात्पर्य है, इस औदारिक शरीर को धुनने से, क्षीण करने से तब तक कोई लाभ नही, जब तक राग द्वेष जनित कर्म (कार्मण) शरीर को क्षीण नही किया जाये। साधना का लक्ष्य कर्म-शरीर (आठ प्रकार के कर्म) को क्षीण करना ही है। यह औदारिक शरीर तो साधना का साधन मात्र है। हाँ, सयम के साधनभूत शरीर के नाम पर वह इसके प्रति ममत्व भी न लाये, सरस-मधुर आहार से इसकी वृद्धि भी न करे, इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा है—**पंतं लूहं सेवंति**—वह साधक शरीर से धर्मसाधना करने के लिए रूखा-सूखा, निर्दोष विधि से यथाप्राप्त भोजन का सेवन करे।

टीका आदि मे **समत्तदंसिणो** के स्थान पर **सम्मत्तदंसिणो** पाठ उपलब्ध है। टीकाकार शीलाकाचार्य ने इसका पहला अर्थ 'समत्वदर्शी तथा वैकल्पिक दूसरा अर्थ—सम्यक्त्वदर्शी किया है।[2] यहाँ नीरस भोजन के प्रति 'समभाव' का प्रसग होने से समत्वदर्शी अर्थ अधिक सगत लगता है। वसे 'सम्यक्त्वदर्शी' मे भी सभी भाव समाहित हो जाते है। वह सम्यक्त्वदर्शी वास्तव मे ससार-समुद्र को तैर चुका है। क्योंकि सम्यक्त्व की उपलब्धि ससारप्रवाह को तरने की निश्चित साक्षी है।

बध-मोक्ष-परिज्ञान

१००. दुब्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाति वत्तए।

१०१. एस वीरे पसंसिए अच्चेति लोगसजोग। एस णाए पवुच्चति।

ज दुक्ख पवेदित इह माणवाण तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति, इति कम्म परिण्णाय सव्वसो।

१ अभि० राजेन्द्र, भाग ६, पृ० ४४९ पर इसी सन्दर्भ मे **मोण** का अर्थ वचन-सयम भी किया है—'वाच सयमने।' तथा सर्वज्ञोक्तप्रवचनरूप ज्ञान (आचा० ५।२) सम्यक्चारित्र (उत्त० १५) समस्त सावद्य योगो का त्याग (आचा० ५।३) मौनव्रत (स्थाना० ५।१) आदि अनेक अर्थ किये है।

२ आचाराग टीका पत्राक १३०।

जे अणण्णदसी से अणण्णारामे, [1]जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी ।[2]

१०० जो पुरुष वीतराग की आज्ञा का पालन नही करता वह सयम-धन (ज्ञानादि रत्नत्रय) से रहित– दुर्वसु है। वह धर्म का कथन—निरूपण करने मे ग्लानि (लज्जा या भय) का अनुभव करता है, (क्योकि) वह चारित्र की दृष्टि से तुच्छ—हीन जो है।

वह वीर पुरुष (जो वीतराग की आज्ञा के अनुसार चलता है) सर्वत्र प्रशसा प्राप्त करता है और लोक-सयोग (धन, परिवार आदि जजाल) से दूर हट जाता है, मुक्त हो जाता है। यही न्याय्य (तीर्थकरो का) मार्ग कहा जाता है।

यहाँ (ससार मे) मनुष्यो के जो दुःख (या दुःख के कारण) बताये है, कुशल पुरुष उस दुःख को परिज्ञा—विवेक (दुःख मे मुक्त होने का मार्ग) बताते हैं। इस प्रकार कर्मो (कर्म तथा कर्म के कारण) को जानकर सर्व प्रकार से (निवृत्ति करे)।

जो अनन्य (आत्मा) को देखता है, वह अनन्य (आत्मा) मे रमण करता है। जो अनन्य मे रमण करता है, वह अनन्य को देखता है।

विवेचन—उक्त दो सूत्रो मे बध एव मोक्ष का परिज्ञान दिया गया है। सूत्र १०० मे बताया है, जो साधक वीतराग की आज्ञा की आराधना नही करता, अर्थात् आज्ञानुसार सम्यग् आचरण नही करता वह ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धन से दरिद्र हो जाता है। जिन शासन मे वीतराग की आज्ञा की आराधना ही सयम की आराधना मानी गई है। **आणाए मामग धम्म**—आदि वचनो मे आज्ञा और धर्म का सह-अस्तित्व बताया गया है, जहाँ आज्ञा है, वही धर्म है, जहाँ धर्म है वहाँ आज्ञा है। आज्ञा-विपरीत आचरण का अर्थ है—सयम-विरुद्ध आचरण। सयम से हीन साधक धर्म की प्ररूपणा करने मे, ग्लानि—अर्थात् लज्जा का अनुभव करने लगता है। क्योकि जब वह स्वय धर्म का पालन नही करता, तो उसका उपदेश करने का साहस कैसे करेगा? उसमे आत्मविश्वास की कमी हो जायेगी, तथा हीनता की भावना से स्वय ही आक्रात हो जायेगा। अगर दुस्साहस करके धर्म की बाते करेगा तब भी उसकी वाणी मे लज्जा, भय और असत्य की गध छिपी रहेगी।

अगले सूत्र मे आज्ञा की आराधना करने वाले मुनि के विषय मे बताया है—वही सर्वत्र प्रशसा प्राप्त करता है, जो वीतराग की आज्ञा का आराधक है। वह वास्तव मे वीर (निर्भय) होता है, धर्म का उपदेश करने मे कभी हिचकिचाता नही। उसकी वाणी में भी सत्य का प्रभाव व ओज गूंजता है।

लोगसंजोग—का तात्पर्य है—वह वीर साधक धर्माचरण करता हुआ ससार के सयोगो—बधनो से मुक्त हो जाता है।

सयोग दो प्रकार के हैं—(१) बाह्य सयोग—धन, भवन, पुत्र, परिवार आदि।

---

१ 'अणण्णरामे' पाठान्तर है।　　२. चूर्णि मे पाठान्तर—"से णियमा अणण्णदिट्ठी।"

(२) आभ्यन्तर संयोग—राग-द्वेष, कषाय, आठ प्रकार के कर्म आदि। आज्ञा का आराधक संयमी उक्त दोनों प्रकार के संयोगों से मुक्त होता है।

एस णाए—शब्द से दो अभिप्राय है—यह न्याय मार्ग (सन्मार्ग) है, तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मार्ग है। सूत्रकृत् में भी **नेआउअं सुअक्खायं**[1] एवं '**सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं**'[2] पद द्वारा सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का तथा मोक्ष स्थान का सूचन किया गया है।

एष नायक—यह—आज्ञा में चलने वाला मुनि मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने वाला नायक—नेता है। यह दूसरा अर्थ है।[3]

दुक्खं परिण्णाय—पद में दुःख शब्द से दुःख के हेतुओं का भी ग्रहण किया गया है। दुःख का हेतु राग-द्वेष है अथवा राग-द्वेषात्मक वृत्ति से आकृष्ट—बद्ध कर्म है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार जन्म और मरण दुःख है और जन्म मरण का मूल है—कर्म।[4] अतः कर्म ही वास्तव में दुःख है। कुशल पुरुष उस दुःख की परिज्ञा—अर्थात् दुःख से मुक्त होने का विवेक/ज्ञान बताते हैं।

इह कम्मं परिण्णाय सव्वसो—इस पद का एक अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है 'साधक कर्म को, अर्थात् दुःख के समस्त कारणों को सम्यक्तया जानकर फिर उसका सर्व प्रकार से उपदेश करे।

अणण्णदंसी अणण्णारामे—ये दोनों शब्द आध्यात्मिक रहस्य के सूचक प्रतीत होते हैं। अध्यात्म की भाषा में चेतन को 'स्व' तथा जड़ को 'पर'—अन्य कहा गया है। परिग्रह, कषाय, विषय आदि सभी 'अन्य' है। 'अन्य' से अन्य—अनन्य है, अर्थात् चेतन का स्वरूप, आत्म-स्वभाव, यह अनन्य है। जो इस अनन्य को देखता है, वह इस अनन्य में, आत्मा में रमण करता है। जो आत्म-रमण करता है, वह आत्मा को देखता है। आत्म-रमण एवं आत्म-दर्शन का यह क्रम है कि जो पहले आत्म-दर्शन करता है, वह आत्म-रमण करता है। जो आत्म-रमण करता है, वह फिर अत्यन्त निकटता से, अति-सूक्ष्मता व तन्मयता से सर्वांग आत्म-दर्शन कर लेता है।

रत्नत्रय की भाषा-शैली में इस प्रकार भी कहा जा सकता है, 'आत्मा को जानना—देखना सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन और आत्मा में रमण करना सम्यक् चारित्र है।

उपदेश-कौशल

१०२. जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति।
जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति।
अवि य हणे अणादियमाणे। एत्थं पि जाण सेय ति णत्थि।
केऽयं पुरिसे कं च णए।

---

१. श्रु० १ अ० ८ गा० ११। २. श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० २१।

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक १३१।१।

४ कम्मं च जाई मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई मरणं वयन्ति—३२।७

१०३. एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए,
उड्ढं अहं तिरियं दिसासु,
से सव्वतो सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पति छणपदेण वीरे।

१०४. से मेधावी जे अणुग्घातणस्स[1] खेत्तण्णे जे य बंधपमोक्खमण्णेसी।
कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के।
से जं च आरभे, जं च णारभे, अणारद्धं च ण आरभे।
छणं छणं परिण्णाय लोगसण्णं च सव्वसो।

१०२ (आत्मदर्शी) साधक जैसे पुण्यवान् (सम्पन्न) व्यक्ति को धर्म-उपदेश करता है, वैसे ही तुच्छ (विपन्न-दरिद्र) को भी धर्म उपदेश करता है और जैसे तुच्छ को धर्मोपदेश करता है, वैसे ही पुण्यवान को भी धर्मोपदेश करता है।

कभी (धर्मोपदेश-काल में किसी व्यक्ति या सिद्धान्त का) अनादर होने पर वह (श्रोता) उसको (धर्मकथी को) मारने भी लग जाता है। अत यहाँ यह भी जाने (उपदेश की उपयुक्त विधि जाने बिना) धर्मकथा करना श्रेय नहीं है।

पहले धर्मोपदेशक को यह जान लेना चाहिए कि वह पुरुष (श्रोता) कौन है? किस देवता को (किस सिद्धान्त को) मानता है?

१०३ वह वीर प्रशंसा के योग्य है, जो (समीचीन धर्म कथन करके) बद्ध मनुष्यों को मुक्त करता है।

वह (कुशल साधक) ऊँची दिशा, नीची दिशा और तिरछी दिशाओं में, सब प्रकार से समग्र परिज्ञा/विवेकज्ञान के साथ चलता है। वह हिंसा-स्थान से लिप्त नहीं होता।

१०४ वह मेधावी है, जो अनुद्घात—अहिंसा का समग्र स्वरूप जानता है, तथा जो कर्मों के बंधन से मुक्त होने की अन्वेषणा करता है।

कुशल पुरुष न बंधे हुए है और न मुक्त है। उन कुशल साधकों ने जिसका आचरण किया है और जिसका आचरण नहीं किया है (यह जानकर, श्रमण) उनके द्वारा अनाचरित प्रवृत्ति का आचरण न करे।

हिंसा और हिंसा के कारणों को जानकर उनका त्याग करदे। लोक-संज्ञा को भी सर्व प्रकार से जाने और छोड़ दे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में धर्म-कथन करने की कुशलता का वर्णन है। तत्त्वज्ञ उपदेशक

---

१ (क) 'अणुग्घायणस्स खेयण्णे' 'अणुग्घातण खेतण्णे'—पाठान्तर है।
(ख) टीकाकार ने 'अण' का अर्थ कर्म तथा 'उद्घातन' का 'क्षय करना' अर्थ करके '**अणोद्घातन खेवज्ञ**' का कर्म क्षय करने के मार्ग या रहस्य का ज्ञाता' अर्थ किया है। —**टीका पत्र १३३**

धर्म के तत्त्व को निर्भय होकर समभाव पूर्वक उपदेश करता है। सामने उपस्थित श्रोता समूह (परिषद्) मे चाहे कोई पुण्यवान—धन आदि मे सम्पन्न है, चाहे कोई गरीब, सामान्य स्थिति का व्यक्ति है। साधक धर्म का मर्म समझाने मे उनमे कोई भेदभाव नही करता। वह निर्भय, निस्पृह और यथार्थवादी होकर दोनो को समानरूप मे धर्म का उपदेश देता है।

पुण्णस्स—शब्द का '**पूर्णस्य**' अर्थ भी किया जाता है। पूर्ण की व्याख्या टीका मे इस प्रकार की है—

ज्ञानैश्वर्य-धनोपेतो　जात्यन्वयबलान्वित ।
तेजस्वी मतिवान् ख्यात पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात ॥

—जो ज्ञान, प्रभुता, धन, जाति और बल से सम्पन्न हो, तेजस्वी हो, बुद्धिमान् हो, प्रख्यात हो, उसे 'पूर्ण' कहा गया है। इसके विपरीत तुच्छ समझना चाहिए।

सूत्र के प्रथम चरण मे वक्ता की निस्पृहता तथा समभावता का निदर्शन है, किन्तु उत्तर चरण मे बौद्धिक कुशलता की अपेक्षा बताई गई है। वक्ता समयज्ञ और श्रोता के मानस को समझने वाला होना चाहिए। उसे श्रोता की योग्यता, उसकी विचारधारा, उसका सिद्धान्त तथा समय की उपयुक्तता को समझना बहुत आवश्यक है। वह द्रव्य से—समय को पहचाने, क्षेत्र से—इस नगर मे किस धर्म सम्प्रदाय का प्रभाव है, यह जाने। काल से—परिस्थिति को परखे, तथा भाव से—श्रोता के विचारो व मान्यताओ का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करे।

इस प्रकार का कुशल पर्यवेक्षण किये विना ही अगर वक्ता धर्म-कथन करने लगता है तो कभी सभव है, अपने सप्रदाय या मान्यताओ का अपमान समझकर श्रोता उलटा वक्ता को ही मारने-पीटने लगे। और इस प्रकार धर्म-वृद्धि के स्थान पर क्लेश-वृद्धि का प्रसग आ जाये। शास्त्रकार ने इसीलिए कहा है कि इस प्रकार उपदेश-कुशलता प्राप्त किये विना उपदेश न देना ही श्रेय है। अविधि या अकुशलता से कोई भी कार्य करना उचित नही, उससे तो न करना अच्छा है।

टीकाकार ने चार प्रकार की कथाओ का निर्देश करके बताया है कि बहुश्रुत वक्ता—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेदनी और निर्वेदनी—चारो प्रकार की कथा कर सकता है। अल्पश्रुत (अल्पवानी) वक्ता सिर्फ सवेदनी (मोक्ष की अभिलाषा जागृत करने वाली) तथा निर्वेदनी (वैराग्य प्रधान) कथा ही करे। वह आक्षेपणी (स्व-सिद्धान्त का मण्डन करने वाली) तथा विक्षेपणी (पर-सिद्धान्त का निराकरण-निरसन करने वाली) कथा न करे। अल्पश्रुत के लिए प्रारभ की दो कथाएँ श्रेयस्कर नही है।

सूत्र १०४ मे कुशल धर्म कथक को विशेष निर्देश दिये गये है। वह अपनी कुशल धर्म-कथा के द्वारा विषय-आसक्ति मे बद्ध अनेक मनुष्यो को प्रतिबोध देकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर देता है। वास्तव मे बधन से मुक्त होना तो आत्मा के अपने ही पुरुषार्थ से सभव है[1] किन्तु धर्म-कथक उसमे प्रेरक बनता है, इसलिए उसे एक नय से **बन्ध-मोचक** कहा जाता है।

१　बधप्पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थमेव—आचारांग—सूत्र १५५

अणुग्घातणस्स खेतण्णे—इस पद के दो अर्थ हो सकते हैं। टीकाकार ने—'कर्म प्रकृति के मूल एव उत्तर भेदो को जानकर उन्हे क्षीण करने का उपाय जानने वाला' यह अर्थ किया है।[1]

उद्घात-घात ये हिसा के पर्यायवाची नाम है। अत: 'अन+उद्+घात' अनुद्घात का अर्थ अहिसा व सयम भी होता है। साधक अहिसा व सयम के रहस्यो को सम्यक् प्रकार से जानता है, अत वह भी अनुद्घात का खेदज्ञ कहलाता है।

बंधप्पमोक्खमण्णेसी—इस पद का पिछले पद से सम्बन्ध करते हुए कहा गया है—जो कर्मों का समग्र स्वरूप या अहिसा का समग्र रहस्य जानता है, वह बधन से मुक्त होने के उपायो अन्वेषण /आचरण भी करता है। इस प्रकार ये दोनो पद ज्ञान-क्रिया की समन्विति के सूचक है।

कुसले पुण णो बद्धे—यह वाक्य भी रहस्यात्मक है। टीकाकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—कर्म का ज्ञान व मुक्ति की खोज—ये दोनो आचरण छद्मस्थ साधक के हैं। जो केवली हो चुके है, वे तो चार घातिकर्मों का क्षय कर चुके हैं, उनके लिए यह पद है। वे कुशल (केवली) चार कर्मों का क्षय कर चुके है अत वे न तो सर्वथा बद्ध कहे जा सकते है और न सर्वथा मुक्त, क्योकि उनके चार [2]भवोपग्राही कर्म शेष है।[3]

'कुशल' शब्द आगमो मे अनेक स्थानो पर अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। कही तत्वज्ञ[4] को कुशल कहा है, कही आश्रवादि के हेय-उपादेय स्वरूप के जानकार को।[5] सूत्रकृताग वृत्ति के अनुसार 'कुश' अर्थात् आठ प्रकार के कर्म, कर्म का छेदन करने वाले 'कुशल' कहलाते हैं।[6] यहाँ पर 'कुशल' शब्द तीर्थंकर भगवान् महावीर का विशेषण है।

वैसे, ज्ञानी, धर्म-कथा करने मे दक्ष, इन्द्रियो पर विजय पाने वाला, विभिन्न सिद्धान्तो का पारगामी, परीषह-जयी, तथा देश-काल का ज्ञाता मुनि कुशल कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'कुशल' शब्द 'केवली' के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है।

छण-छण—यह शब्द दो बार आने का प्रयोजन यह है कि हिंसा को, तथा हिंसा के कारणो को, तथा लोक-सज्ञा को समग्र रूप से जानकर उसका त्याग करे।[7]

१०५. उद्देसो पासगस्स णत्थि।

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टति त्ति बेमि।

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १३३

२ आयुष्य, वेदनीय, नाम, गोत्र—ये चार भवोपग्राही कर्म हैं।

३ आचा० शीला० टीका पत्राक १३३

४. आचा० १।२।२

५ भगवती श० २। उ० ५

६ सूत्रकृत १।६

७. आचा० टीका पत्राक १३४।१

१०५ द्रष्टा के लिए (सत्य का सम्पूर्ण दर्शन करने वाले के लिए) कोई उद्देश—(विधि-निषेध रूप विधान/निदेश) (अथवा उपदेश) नही है।

बाल—(अज्ञानी)। बार-बार विषयो मे स्नेह (आसक्ति) करता है। काम-इच्छा और विषयो को मनोज्ञ समझकर (उनका सेवन करता है) इसलिए वह दु खो का शमन नही कर पाता। वह शारीरिक एव मानसिक[1] दु खो से दु खी बना हुआ दु.खो के चक्र[2] मे ही परिभ्रमण करता रहता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

॥ लोगविजय द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

१. विषयो की तीव्र आसक्ति के कारण मानसिक उद्वेग, चिंता व्याकुलता रहती है तथा विषयो के अत्यधिक सेवन से शारीरिक दुख—रोग, पीडा आदि उत्पन्न होते है।

२. चूर्णि मे पाठ इस प्रकार है—**दुक्खी दुक्खावट्टमेए अणुपरियट्टति** दुक्खाण आवट्टो दुक्खावटो—चूर्णि (मुनि जम्बूविजयजी, टिप्पण पृ० ३०)

शीतोष्णीय—तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम 'शीतोष्णीय' है।
- शीतोष्णीय का अर्थ है—शीत (अनुकूल) और उष्ण (प्रतिकूल) परिषह आदि को समभावपूर्वक सहन करने से सम्बन्धित।
- श्रमणचर्या में बताये गये बाईस परिषहों में दो परिषह 'शीत-परिषह' है, जैसे 'स्त्री-परिषह, सत्कार-परिषह। अन्य बीस 'उष्ण-परिषह' माने गये है।[1]
- शीत से यहाँ 'भावशीत' अर्थ ग्रहण किया गया है, जो कि जीव का परिणाम-चिन्तन विशेष है। यहाँ चार प्रकार के भावशीत बताये गये है[2]—(१) मन्दपरिणामात्मक परिषह, (२) प्रमाद (कार्य-शैथिल्य या शीतल-विहारता) का उपशम, (३) विरति (प्राणातिपात आदि से निवृत्ति, सत्रह प्रकार का संयम) और (४) सुख (सातावेदनीय कर्मोदयजनित)।
- उष्ण से भी यहाँ 'भाव-उष्ण' का ग्रहण किया गया है, वह भी जीव का परिणाम/चिन्तन विशेष है। निर्युक्तिकार ने भाव-उष्ण ८ प्रकार के बताये है[3]—(१) तीव्र-दुःसह परिणामात्मक प्रतिकूल परिषह, (२) तपस्या में उद्यम, (३) क्रोधादि कषाय, (४) शोक, (५) आधि (मानसिक व्यथा), (६) वेद (स्त्री-पुरुष-नपुंसक रूप), (७) अरति (मोहोदयवश चित्त का विक्षेप) और (८) असातावेदनीय कर्मोदयजनित)।
- शीतोष्णीय अध्ययन का सार है—मुमुक्षु साधक को भावशीत और भाव-उष्ण, दोनों को ही समभावपूर्वक सहन करना चाहिए, सुख में प्रसन्न और दुःख में खिन्न नहीं होना चाहिए अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में समभाव रखना चाहिए।
- इन्हीं भाव-शीत और भाव-उष्ण के परिप्रेक्ष्य में इस अध्ययन के उद्देशकों में वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

१ आचा० नि० गाथा २०१।

२. 'सीयं परीसहपमायुवसम विरई सुहं तु उण्हं।' —आ० निर्यु० गा० २०२

३ 'परीसहतवुज्जय कसाय सोगाहिवेयारइ-दुक्खं।' —आ० निर्यु० गा० २०२

- प्रथम उद्देशक में धर्मदृष्टि से जागृत और सुप्त की चर्चा की है। विशेषत अप्रमाद और प्रमाद का, अनासक्ति और आसक्ति का विवेक बतलाया गया है।
- द्वितीय उद्देशक मे सुख-दु ख के कारणो का तत्त्वबोध निरूपित किया है।
- तृतीय उद्देशक में साधक का कर्त्तव्यबोध निर्दिष्ट है।
- चौथे उद्देशक में कषायादि से विरति का उपदेश है।
- इस प्रकार चारो उद्देशको मे आत्मा के परिणामो मे होने वाली भाव-शीतलता और भाव-उष्णता को लेकर विविध विषयो की चर्चा की गई है।[1]
- निष्कर्ष यह है कि तृतीय अध्ययन के चार उद्देशको एव छब्बीस सूत्रो मे सहिष्णुता और अप्रमत्तता का स्वर गूँज रहा है।
- सूत्र सख्या १०६ से प्रारभ होकर सूत्र १३१ पर तृतीय अध्ययन समाप्त होता है।

१. आचा० निर्युक्ति गाथा १९८, १९९।

'सीओसणिज्जं' तइअं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

शीतोष्णीय, तृतीय अध्ययन प्रथम उद्देशक

सुप्त-जागृत

१०६. सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरति ।
लोगंसि जाण अहियाय दुक्ख ।
समयं लोगस्स जाणित्ता एत्थ सत्थोवरते ।

१०६ अमुनि (अज्ञानी) सदा सोये हुए है, मुनि (ज्ञानी) सदैव जागते रहते है ।

इस बात को जानलो कि लोक मे अज्ञान (दु ख) अहित के लिए होता है ।

लोक (षड् जीव-निकायरूप ससार) मे इस आचार (समत्वभाव) को जानकर (सयमी पुरुष) (सयम मे बाधक—हिंसा, अज्ञानादि) जो शस्त्र है, उनसे उपरत रहे ।

विवेचन—यहाँ 'मुनि' शब्द सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि एव मोक्ष-मार्ग-साधक के अर्थ में प्रयुक्त है । जिन्होने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग रूप भाव-निद्रा का त्याग कर दिया है, जो सम्यक्बोध प्राप्त है और मोक्ष-मार्ग से स्खलित नही होते, वे मुनि है । इसके विपरीत जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि से ग्रस्त है, मिथ्यादृष्टि है, वे 'अमुनि'—अज्ञानी है । यहाँ भाव-निद्रा की प्रधानता से अज्ञानी को सुप्त और ज्ञानी को जागृत कहा गया है ।

सुप्त दो प्रकार के है—द्रव्यसुप्त और भावसुप्त । निद्रा-प्रमादवान् द्रव्यसुप्त है । जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि रूप महानिद्रा से व्यामोहित है, वे भावसुप्त है । अर्थात् जो आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से बिलकुल शून्य, मिथ्यादृष्टि, असयमी और अज्ञानी है, वे जागते हुए भी भाव से—आन्तरिक दृष्टि से सुप्त है । जो कुछ सुप्त हैं, कुछ जागृत हैं, सयम के मध्यबिन्दु मे है, वे देशविरत श्रावक सुप्त-जागृत है और जो पूर्ण रूप से जागृत हैं उत्कृष्ट सयमी और ज्ञानी है, वे जागृत हैं ।

वृत्तिकार ने मुनि का निर्वचन इस प्रकार किया है—जो जगत् की त्रैकालिक अवस्था पर मनन करता है या उन्हे जानता है, वह मुनि है ।[1] जो जगत की त्रैकालिक गति-

---

१. 'मन्यते मनुते वा जगत त्रिकालावस्थां मुनि ।' —आचा० शीला० टीका पत्रांक १३७

विधियों को जानता है, वही लोकाचार या जगत के भोगाभिलाषी स्वभाव को अथवा 'विश्व की समस्त आत्मा एक समान है'—इस समत्व-सूत्र को जानकर, हिंसा, मिथ्यात्व अज्ञानादि शस्त्रों से दूर रहता है।

यहाँ 'सुप्त' शब्द भावसुप्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भावसुप्त वह होता है, जो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, प्रमाद आदि के कारण हिंसादि में सदा प्रवृत्त रहता है।

जो दीर्घ संयम के आधारभूत शरीर को टिकाने के लिए आचार्य-गुरु आदि की आज्ञा से द्रव्य से सोते, निद्राधीन होते हुए भी आत्म-स्वरूप में जागृत रहते हैं, वे धर्म की दृष्टि से जागृत हैं। अथवा भाव से जागृत साधक, निद्रा-प्रमादवश सुषुप्त होते हुए भी भावसुप्त नहीं कहलाता। यहाँ भावसुप्त एवं भावजागृत—दोनों अवस्थाएँ धर्म की अपेक्षा से कही गयी हैं।[1]

अज्ञान दुःख का कारण है, इसलिए यहाँ 'अज्ञान' के स्थान पर 'दुःख' शब्द का प्रयोग किया गया है। चूर्णिकार ने दुःख का अर्थ 'कर्म' किया है। उन्होंने बताया है कि कर्म दुःख का कारण है। अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म आदि से सम्बन्धित भी है, इसलिए प्रसंगवश दुःख का अर्थ यहाँ अज्ञान भी किया जा सकता है।

'समय' शब्द[2] यहाँ प्रसंगवश दो अर्थों को अभिव्यक्त करता है—आचार और समता। लोक-प्रचलित आचार या रीति-रिवाज साधक को जानना आवश्यक है। संसार के प्राणी भोगाभिलाषी होने के कारण प्राणि-विघातक एवं कषायहेतुक लोकाचार के कारण, अनेक कर्मों का संचय करके नरकादि यातना-स्थानों में उत्पन्न होते हैं। कदाचित् कर्मफल भोगने के बाद वे धर्मप्राप्ति के कारण मनुष्य-जन्म, आर्य-क्षेत्र आदि में पैदा होते हैं, लेकिन फिर महामोह, अज्ञानादि अन्धकार के वश अशुभकर्म का उपार्जन करके अधोगतियों में जाते हैं। संसार के जन्म-मरण के चक्र से नहीं निकल पाते। यह है—लोकाचार। इस लोकाचार (समय) को जानकर हिंसा से उपरत होना चाहिए।

इसी प्रकार लोक (समस्त जीव समूह) में शत्रु-मित्रादि के प्रति अथवा समस्त प्राणियों के प्रति समता (समभाव—आत्मौपम्य दृष्टि) जान कर हिंसा आदि शस्त्रों से विरत होना चाहिए।

---

१. भगवती सूत्र में जयंती श्राविका और भगवान महावीर का सुप्त और जागृत के विषय में एक संवाद आता है। जयन्ती श्राविका प्रभु से पूछती है—"भंते! सुप्त अच्छे या जागृत?"
भगवान् ने धर्मदृष्टि से अनेकान्तशैली में उत्तर दिया—"जो धर्मिष्ठ है, उनका जागृत रहना श्रेयस्कर है और जो अधर्मिष्ठ है, पापी है, उनका सुप्त (सोया) रहना अच्छा।"
यहाँ सुप्त और जागृत द्रव्यदृष्टि से नहीं। —शतक १२। उ० २

२. देखिये 'समय' शब्द के विभिन्न अर्थ अमरकोष में—

"समया: शपथाचारकाल-सिद्धान्त-संविदः"

समय के अर्थ हैं—शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त और संविद् (प्रतिज्ञा या शर्त)।

अरति-रति-त्याग

१०७. जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमण्णागता भवंति[1] से आतवं णाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पण्णाणेहिं परिजाणति लोगं, मुणी ति वच्चे धम्मविदु त्ति अजू आवट्टसोए संगमभिजाणति ।

सीतोसिणच्चागी से णिग्गंथे अरति-रतिसहे फारुसियं णो वेदेति, जागर-वेरोवरते वीरे ! एवं दुक्खा पमोक्खसि ।

१०७. जिस पुरुष ने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श को सम्यक्प्रकार से परिज्ञात कर लिया है, (जो उनमें राग-द्वेष न करता हो), वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान् (आचारांग आदि आगमों का ज्ञाता), धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है। जो पुरुष अपनी प्रज्ञा (विवेक) से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है। वह धर्मवेत्ता और ऋजु (सरल) होता है।

(वह आत्मवान् मुनि) संग (आसक्ति) को आवर्त-स्रोत (जन्म-मरणादि चक्र के स्रोत—उद्गम) के रूप में बहुत निकट से जान लेता है।

वह निर्ग्रन्थ शीत और उष्ण (सुख और दुःख) का त्यागी (इनकी लालसा से) मुक्त होता है तथा वह अरति और रति को सहन करता है (उन्हें त्यागने में पीड़ा अनुभव नहीं करता) तथा स्पर्शजन्य सुख-दुःख का वेदन (आसक्तिपूर्वक अनुभव) नहीं करता।

जागृत (सावधान) और वैर से उपरत वीर ! तू इस प्रकार (ज्ञान, अनासक्ति, सहिष्णुता, जागरूकता और समता-प्रयोग द्वारा) दुःखों—दुःखों के कारण कर्मों से मुक्ति पा जाएगा।

विवेचन—इस सूत्र में पंचेन्द्रिय-विषयों के यथावस्थित स्वरूप के ज्ञाता तथा उनके त्यागी को ही मुनि, निर्ग्रन्थ एवं वीर बताया गया है।

अभिसमन्वागत का अर्थ है—जो विषयों के इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप को—स्वरूप को, उनके उपभोग के दुष्परिणामों को आगे-पीछे से, निकट और दूर से ज्ञ-परिज्ञा से भलीभाँति जानता है तथा प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनका त्याग करता है।

आत्मवान् का अर्थ है—ज्ञानादिमान् अथवा शब्दादि विषयों का परित्याग करके आत्मा की रक्षा करने वाला।

ज्ञानवान् का अर्थ है—जो जीवादि पदार्थों का यथावस्थित ज्ञान कर लेता है।

वेदवान् का अर्थ है—जीवादि का स्वरूप जिनसे जाना जा सके, उन वेदों—आचारांग आदि आगमों का ज्ञाता।

---

१ यहाँ पाठान्तर में **'आयवी'**, **'नाणवी'**, **'वेयवी'**, **'धम्मवी'**, **'बंभवी'**, मिलता है जिसका अर्थ होता है—वह आत्मविद्, ज्ञानवित्, आचारादिक आगमों का वेत्ता (वेदवित्), धर्मवित् और ब्रह्म (१८ प्रकार के ब्रह्मचर्य) का वेत्ता होता है।

धर्मवान् वह है—जो श्रुत-चारित्ररूप धर्म का अथवा साधना की दृष्टि से आत्मा के स्वभाव (धर्म) का ज्ञाता) है।[1]

ब्रह्मवान् का अर्थ है—जो अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य से सम्पन्न है।[2]

इस सूत्र का आशय यह है कि जो पुरुष शब्दादि विषयों को भलीभाँति जान लेता है, उनमें राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवित्, ज्ञानवित्, वेदवित्, धर्मवित् एव ब्रह्मवित् होता है।

वस्तुत शब्दादि विषयों की आसक्ति, आत्मा की अनुपलब्धि अर्थात् आत्म-स्वरूप के बोध के अभाव मे होती है। जो इन पर आसक्ति नहीं रखता, वही आत्मा की भलीभाँति उपलब्धि कर लेता है। जो आत्मा को उपलब्ध कर लेता है, उसे ज्ञान-आगम, धर्म और ब्रह्म (आत्मा) का ज्ञान हो जाता है।

'जो प्रज्ञा से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है', इस वाक्य का तात्पर्य है, जो साधक मति-श्रुतज्ञानजनित सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि से प्राणिलोक या प्राणियों के आधारभूत लोक (क्षेत्र) को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह मुनि कहलाता है। वृत्तिकार ने मुनि का निर्वचन इस प्रकार किया है—'जो जगत् की त्रिकालावस्था-गतिविधि का मनन करता है, जानता है, वह मुनि है'। 'ज्ञानी' के अर्थ मे यहाँ 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

ऋजु का अर्थ है—जो पदार्थों का यथार्थस्वरूप जानने के कारण सरलात्मा है, समस्त उपाधियों से या कपट से रहित होने से सरल गति—सरल मति है।

आवर्त स्रोत का आशय है—जो भाव-आवर्त्त का स्रोत—उद्गम है। जन्म-जरा-मृत्यु-रोग शोकादि दु खरूप ससार को यहा भाव-आवर्त (भवरजाल) कहा गया है।[4] इसका उद्गम स्थल है—विषयासक्ति।

---

१. 'धर्मवित्' का व्युत्पत्त्यर्थ देखिये—**'धर्मं चेतनाचेतनद्रव्यस्वभाव श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित्'**—"जो धर्म को—चेतन-अचेतन द्रव्य के स्वभाव को या श्रुत-चारित्ररूप धर्म को—जानता है, वह धर्मवित् है।' —आचा० टीका० पत्रांक १३९

२. (क) समवायांग १८।

(ख) **दिव्वा कामरइसुहा तिविहं तिविहेण नवविहा विरई।**
ओरालिया उ वि तहा त बभ अट्ठदसभेयं॥

अर्थात्—देव-सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काया से सेवन न करना, दूसरों से न कराना तथा करते हुए को भला न जानना, इस प्रकार नौ भेद हो जाते है। औदारिक अर्थात् मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी भोगों के लिए भी इसी प्रकार नौ भेद है। कुल मिलाकर अठारह भेद हो जाते है। —(प्रवचनसारोद्धार, द्वार १६८ गाथा १०६१)

३ देखें टिप्पण पृ० ८५

४ **रागद्वेषवशाविद्ध, मिथ्यादर्शनदुस्तरम्।**
जन्मावर्ते जगत् क्षिप्त, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम्॥

अर्थात्—राग-द्वेष की प्रचण्ड तरंगों से घिरा हुआ, मिथ्यादर्शन के कारण दुस्तर यह जगत् जन्म-मरणादि रूप आवर्त—भवरजाल मे पड़ा है। प्रमाद उसे अत्यन्त परिभ्रमण कराता है। —आचा० टीका पत्रांक १४०

'संग'-विषयो के प्रति राग-द्वेष रूप सम्बन्ध, लगाव या आसक्ति।

शीतोष्ण-त्यागी का मतलब है—जो साधक शीत-परिषह और उष्ण-परिषह अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परिषह को सहन करता हुआ उनमे निहित वैषयिक सुख और पीडा-जनक दु ख की भावना का त्याग कर देता है। अर्थात् सुख-दु ख की अनुभूति से चचल नही होता है।

'अरति-रतिसहे' का तात्पर्य है—जो सयम और तप में होनेवाली अप्रीति और अरुचि को समभावपूर्वक सहता है—उन पर विजय प्राप्त करता है, वह बाह्य एव आभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) से रहित निर्ग्रन्थ साधक है।

'फारुसिय णो बेदेति' का भाव है, वह निर्ग्रन्थ साधक परिषहो और उपसर्गों को सहने मे जो कठोरता—कर्कशता या पीडा उत्पन्न होती है, वह उस पीडा को पीडा रूप मे वेदन—अनुभव नही करता, क्योकि वह मानता है कि मैं तो कर्मक्षय करने के लिए उद्यत हूँ। मेरे कर्मक्षय करने मे ये परिषह, उपसर्गादि सहायक है। वास्तव मे अहिसादि धर्म का आचरण करते समय कई कष्ट आते है, लेकिन अज्ञानीजन कष्ट का वेदन (Feeling) करता है, जबकि ज्ञानीजन कष्ट को तटस्थ भाव से जानता है परन्तु उसका वेदन नही करता।

'जागर' और **'वेरोपरत'** ये दोनो 'वीर' के विशेषण है। जो साधक जागृत और वैर से उपरत है, वही वीर है—कर्मो को नष्ट करने मे सक्षम है। वीर शब्द से उसे सम्बोधित किया गया है। **'जागर'** शब्द का आशय है—असयमरूप भावनिद्रा का त्याग करके जागने वाला।

अप्रमत्तता

१०८. जरा-मच्चुवसोवणीते णरे सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति।
पासिय [1]आतुरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए।
मता एय मतिमं पास,
आरभज दुक्खमिण ति णच्चा,
मायी पमायी पुणरेति गब्भं।
उवेहमाणो सद्द-रूवेसु अजू माराभिसकी मरणा पमुच्चति।

१०९. अप्पमत्तो कामेहिं, उवरतो पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयण्णे। जे पज्जवजात-सत्थस्स खेतण्णे से असत्थस्स खेतण्णे। जे असत्थस्स खेतण्णे से पज्जवजातसत्थस्स खेतण्णे।

१०८ बुढापे और मृत्यु के वश मे पडा हुआ मनुष्य (शरीरादि के मोह से) सतत मूढ बना रहता है। वह धर्म को नही जान पाता।

(सुप्त) मनुष्यो को शारीरिक-मानसिक दु खो से आतुर देखकर साधक सतत अप्रमत्त (जागृत) होकर विचरण करे।

हे मतिमान्! तू मननपूर्वक इन (भावसुप्त आतुरों-दुखियो) को देख।

१ पाठान्तर है—**आतुरिए पाणे, आतुरपाणे।**

यह दु ख आरम्भज—प्राणि-हिंसाजनित है, यह जानकर (तू निरारम्भ होकर अप्रमत्त भाव से आत्महित मे प्रवृत्त रह)।

माया और प्रमाद के वश हुआ मनुष्य (अथवा मायी प्रमादवश) बार-बार जन्म लेता है—गर्भ मे आता है।

शब्द और रूप आदि के प्रति जो उपेक्षा करता है—राग-द्वेष नही करता है, वह ऋजु (आर्जव-धर्मशील सयमी) होता है, वह मार (मृत्यु या काम) के प्रति सदा आशकित (सतर्क) रहता है और मृत्यु (मृत्यु के भय) से मुक्त हो जाता है।

१०९ जो काम-भोगो के प्रति अप्रमत्त है, पाप कर्मों से उपरत—मन-वचन-काया से विरत है, वह पुरुष वीर और आत्मगुप्त (आत्मा को सुरक्षित रखने वाला) होता है और जो (अपने आप मे सुरक्षित होता है) वह खेदज्ञ (इन काम-भोगो से प्राणियो को तथा स्वय को होने वाले खेद का ज्ञाता) होता है, अथवा वह क्षेत्रज्ञ (अन्तरात्मा को जानने वाला) होता है।

जो (शब्दादि विषयो की) विभिन्न पर्यायसमूह के निमित्त से होने वाले शस्त्र (असयम, आसक्ति रूप) के खेद (अन्तम्-हार्द) को जानता है, वह अशस्त्र (सयम—अनासक्ति रूप) के खेद (अन्तम्) को जानता है, वह (विषयो के विभिन्न) पर्यायो से होने वाले शस्त्र (असयम) के खेद (अन्तस्) को जानता है।

विवेचन—इन सूत्रो मे साधक को वृद्धत्व, मृत्यु आदि विभिन्न दु खो से आतुर प्राणी की दशा एव उसके कारणो और परिणामो पर गम्भीरता से विचार करने का निर्देश दिया गया है। साथ ही यह भी बताया है कि शब्द-रूपादि कामो के प्रति अनासक्त रहने वाला सरलात्मा मुनि मृत्यु के भय से विमुक्त हो जाता है।

यहाँ वृत्तिकार ने एक शका उठाई है—देवता 'निर्जर' और 'अमर' कहलाते है, वे तो मोहमूढ नही होते होगे और धर्म को भलीभाँति जान लेते होगे ? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि "देवता निर्जर कहलाते है, पर उनमे भी जरा का सद्भाव है, क्योकि च्यवन-काल से पूर्व उनके भी लेश्या, बल, सुख, प्रभुत्व, वर्ण आदि क्षीण होने लगते है। यह एक तरह से जरावस्था ही है। और मृत्यु तो देवो की भी होती है, शोक, भय आदि दु ख भी उनके पीछे लगे है। इसलिए देव भी मोह-मूढ बन रहते है।"[1] आशय यह है कि जहाँ शब्द-

---

१ जैसा कि भगवतीसूत्र मे प्रश्नोत्तर है—"**देवाण भते ! सव्वे समवण्णा ?**
नो इणट्ठे समट्ठे।
से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ ?
गोयमा ! देवा दुविहा—पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य।
तत्थ ण जे ते पुव्वोववण्णगा ते ण अविसुद्धवण्णयरा, जे ण पच्छोववण्णगा ते ण विसुद्धवण्णयरा।
प्रश्न—भते ! सभी देव समान वर्ण वाले होते है ?
उत्तर—यह कथन सम्भव नही।

रूपादि काम-भोगो के प्रति राग-द्वेषात्मक वृत्ति है, वहाँ प्रमाद, मोह, माया, मृत्यु-भय आदि अवश्यम्भावी हैं।

'आउरपाणे' का तात्पर्य है—शारीरिक एव मानसिक दु खों के अथाह सागर मे डूबे हुए, आतुर—किकर्त्तव्यविमूढ बने हुए प्राणिगण।

'माई' शब्द चार कषायो मे से मध्यम कषाय का वाचक है। इसलिए उपलक्षण से आदि और अन्त के क्रोध, मान और लोभ कषाय का भी इससे ग्रहण हो जाता है। इस दृष्टि से वृत्तिकार मायी का अर्थ कषायवान् करते है।

'प्रमादी' का अर्थ मद आदि पाँचो या आठो प्रमादो से युक्त समझना चाहिए।

'उवेहमाणो', **'अज्जू'** और **'माराभिसकी'** ये तीन विशेषण अप्रमत्त एव जागृत साधक के हैं। ऋजु सरलात्मा होता है, वही सयम को कष्टकारक न समझकर आत्मविकास के लिए आवश्यक समझता है और वही मृत्यु के प्रति सावधान भी रहता है कि अचानक मृत्यु आकर मुझे भयभीत न कर दे।

'मरणा पमुच्चति' का अर्थ है—मरण के भय से या दु ख मे वह अप्रमत्त साधक मुक्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा के अमरत्व मे उसकी दृढ आस्था होती है।

'अप्रमत्त' शब्द यहाँ भीतर मे जागृत (चैतन्य को सतत स्मृति रखने वाला) और बाहर मे (विषय-कषाय आदि आत्म-बाह्य पदार्थों के विषय मे) सुप्त अर्थ मे प्रयुक्त है।

सूत्र १०९ मे शब्द-रूप आदि काम-भोगो से सावधान एव जागृत रहने वाले तथा हिसा आदि विभिन्न पाप कर्मों से विरत रहने वाले साधक को वीर, आत्मगुप्त और खेदज्ञ बताकर उसे शब्दादि कामो की विभिन्न पर्यायों से होने वाले शस्त्र (असयम) और उससे विपरीत अशस्त्र (सयम) का खेदज्ञ बताया गया है।

'खेयण्णे'—इसके सस्कृत मे दो रूप बनते है—खेदज्ञ और क्षेत्रज्ञ। यहाँ **'खेयण्णे'** का **'क्षेत्रज्ञ'** रूप अधिक सगत प्रतीत होता है और क्षेत्र का अर्थ आत्मा या आकाश की अपेक्षा अन्तस् (हार्द) अर्थ प्रसगानुसारी मालूम होता है।

शस्त्र और अशस्त्र से यहाँ असयम और सयम अर्थ का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि असयम—विभिन्न विषय-भोगो मे होने वाली आसक्ति शस्त्र है और सयम पापरहित अनुष्ठान होने से अशस्त्र है। निष्कर्ष यह है कि शस्त्र घातक होता है, अशस्त्र अघातक। जो

प्रश्न—भते! किस कारण से ऐसा कहा जाता है?

उत्तर—गौतम! देव दो प्रकार के है—पूर्वोपपन्नक और पश्चाद्-उपपन्नक। इनमे जो पूर्वोपपन्नक होते है, वे क्रमश उत्तरोत्तर अविशुद्धतर वर्ण के होते है और जो पश्चाद्-उपपन्नक होते है, वे उत्तरोत्तर क्रमश विशुद्धतर वर्ण के होते है। इसी प्रकार लेश्या आदि के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिए। च्यवनकाल मे सभी के निम्नलिखित बाते होती हैं—"माला का मुरझाना, कल्पवृक्ष का कम्पन, श्री और ह्री का नाश, वस्त्रो के उपराग का ह्रास, दैन्य, तन्द्रा, कामराग, अगभग, दृष्टिभ्रान्ति, कम्पन और अरति।

इसलिए देवो मे भी जरा और मृत्यु का अस्तित्व है। —आचा० चूर्णि पत्रांक १४०

इष्ट-अनिष्ट शब्दादि विषयों के सभी पर्यायो (प्रकारो या विकल्पो) को, उनके सयोग-वियोग को शस्त्रभूत—असयम को जानता है, वह सयम को अविघातक एव स्वपरोपकारी होने से अशस्त्रभूत समझता है। शस्त्र और अशस्त्र दोनो को भलीभांति जानकर अशस्त्र को प्राप्त करता है, शस्त्र का त्याग करता है।

लोक संज्ञा का त्याग

११०. अकम्मस्स ववहारो ण विज्जति।

कम्मुणा[1] उवाधि जायति।

१११. कम्मं च पडिलेहाए कम्ममूल च जं छणं,[2]

पडिलेहिय[3] सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परिण्णाय मेधावी विदित्ता लोगं वंता लोगसण्ण से मतिमं[4] परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

११० कर्मों से मुक्त (अकर्म-शुद्ध) आत्मा के लिए कोई व्यवहार नही होता। कर्म से उपाधि होती है।

१११ कर्म का भलीभाँति पर्यालोचन करके (उसे नष्ट करने का प्रयत्न करे)। कर्म का मूल (मिथ्यात्व आदि और) जो क्षण—हिसा है, उसका भलीभाँति निरीक्षण करके (परित्याग करे)।

इन सबका (पूर्वोक्त कर्म और उनसे सम्बन्धित कारण और निवारण का) सम्यक् निरीक्षण करके सयम ग्रहण करे तथा दो (राग और द्वेष) अन्तो से अदृश्य (दूर) होकर रहे।

---

१ **'उवहि'**, **'कम्मुणा उवधि'**, इस प्रकार के पाठान्तर भी मिलते है। चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"**कम्मुणा उवधि, उवधी तिविहो—आतोवही, कम्मोवही, सरीरोवही तत्थ अप्पा दुप्पउत्तो आतोवही, ततो कम्मोवही भवति, ततो सरीरोवही भवति, सरीरोवहीओ य ववहरिज्जति, तजहा '''नेरइओ एवमादि।**" कर्म से उपधि होती है। उपधि तीन प्रकार की है—आत्मोपधि, कर्मोपधि और शरीरोपधि। जब आत्मा विषय-कषायादि मे दुष्प्रयुक्त होता है, तब आत्मोपधि—आत्मा परिग्रह रूप होता है। तब कर्मोपधि का सचय होता है और कर्म से शरीरोपधि होती है। शरीरोपधि को लेकर नैरयिक, मनुष्य आदि व्यवहार (सज्ञा) होता है।

२ **'कम्ममाहूय ज छण'** इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है। उसका भावार्थ यह है कि जिस क्षण अज्ञान, प्रमाद आदि के कारण कर्मबन्धन की हेतु रूप कोई प्रवृत्ति हो जाय तो सावधान साधक तत्क्षण उसके मूल कारण की खोज करके उससे निवृत्त हो जाए।

३. **'पडिलेहिय सव्वं समायाय'** इसके स्थान पर चूर्णि मे **'पडिलेहेहि य सव्व समायाए'** पाठ मिलता है। इसका अर्थ है—भली-भांति निरीक्षण-परीक्षण करके पूर्वोक्त कर्म और उसके सब उपादान रूप तत्त्वों का निवारण करे।

४ किसी-किसी प्रति मे **'मतिम' (मइम)** के स्थान पर **'मेधावी'** शब्द मिलता है, उसका प्रसगवश अर्थ किया गया है—मेधावी—मर्यादावस्थित होकर साधक सयम पालन मे पराक्रम करे।

मेधावी साधक उसे (राग-द्वेषादि को) ज्ञात करके (ज्ञपरिज्ञा से जाने और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से छोडे)।

वह मतिमान् साधक (रागादि से मूढ या विषय-कषाय से ग्रस्त) लोक को जानकर लोक-सज्ञा (विषयैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि) का त्याग करके (सयमानुष्ठान मे) पराक्रम करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इन दोनो सूत्रो मे कर्म और उसके सयोग से होने वाली आत्मा की हानि, कर्म के उपादान (राग-द्वेष), बन्ध के मूल कारण आदि को भलीभाँति जानकर उसका त्याग करने का निर्देश किया है। अन्त मे कर्मों के बीज—राग और द्वेष रूप दो अन्तो का परित्याग करके (विषय-कषायरूप लोक) को जानकर लोक-सज्ञा को छोडकर सयम मे उद्यम करने की प्रेरणा दी है।

जो सर्वथा कर्ममुक्त हो जाता है, उसके लिए नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, बाल, वृद्ध, युवक, पर्याप्तक, अपर्याप्तक आदि व्यवहार—व्यपदेश (सज्ञाए) नही होता।

जो कर्ममुक्त है, उसके लिए ही कर्म को लेकर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि की या एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक की, मन्दबुद्धि, तीक्ष्णबुद्धि, चक्षुदर्शनी आदि, सुखी-दुखी, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, स्त्री-पुरुष, कषायी, अल्पायु-दीर्घायु, सुभग-दुर्भग, उच्चगोत्री-नीचगोत्री, कृपण-दानी, सशक्त-अशक्त आदि उपाधि—व्यवहार या विशेषण होता है। इन सब विभाजनो (विभेदो और व्यवहारो का हेतु कर्म है,) इसलिए कर्म ही उपाधि का कारण है।

'**कम्म च पडिलेहाए**' का तात्पर्य है कर्म का स्वरूप, कर्मों की मूल प्रकृति, उत्तर-प्रकृतियो, कर्मबन्ध के कारण, प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश रूप बन्ध के प्रकार, कर्मों का उदय, उदीरणा, सत्ता आदि तथा कर्मो के क्षय एव आस्रव-सवर के स्वरूप का भलीभाँति चिन्तन-निरीक्षण करके कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए।

'**कम्ममूल च ज छण, पडिलेहिय**' का अर्थ है—कर्मबन्ध के मूल कारण पाँच है—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। इन कर्मो के मूल का विचार करे। '**छण**' का अर्थ क्षणन-हिसन है, अर्थात् प्राणियो को पीडाकारक जो प्रवृत्ति है, उसका भी निरीक्षण करे एव परित्याग करे। इसका एक सरल अर्थ यह भी होता है—कर्म का मूल हिसा है अथवा हिंसा का मूल कर्म है। दो अन्त अर्थात् किनारे हैं—राग और द्वेष।

'**अदिस्समाणे**' का शब्दश अर्थ होना है—अदृश्यमान। इससे सम्बन्धित वाक्य का तात्पर्य है—राग और द्वेष से जीव दृश्यमान होता है, शीघ्र पहचान लिया जाता है, परन्तु वीतराग राग और द्वेष इन दोनो से दृश्यमान नही होता। अथवा यहाँ साधक को यह चेतावनी दी गयी है कि वह राग और द्वेष—इन दोनो अन्तो का स्पर्श करके रागी और द्वेषी सज्ञा से (अदिश्यमान) व्यपदिष्ट न हो।

'**लोक-सज्ञा**' का भावार्थ यो है—प्राणिलोक की आहारादि चार सज्ञाएँ अथवा दस सज्ञाएँ। वैदिक धर्मग्रन्थो मे वित्तैषणा, कामैषणा (पुत्रैषणा) और लोकैषणा रूप जो तीन एषणाएँ बताई हैं, वे भी लोकसज्ञा है। लोकसज्ञा का सक्षिप्त अर्थ 'विषयासक्ति' भी हो सकता है।

'**लोक**' से यहाँ तात्पर्य—रागादि मोहित लोक या विषय-कषायलोक से है।

'**परक्कमेज्जासि**' से सयम, तप, त्याग, धर्माचरण आदि मे पुरुषार्थ करने का निर्देश है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

बध-मोक्ष-परिज्ञान

११२. जातिं च वुड्ढि च इहऽज्ज पास, भूतेहिं जाण पडिलेह सातं।
तम्हाऽतिविज्ज[1] परम ति णच्चा सम्मत्तदसी ण करेति पाव ॥४॥

११३. उम्मु च पास इह मच्चिएहि, आरभजीवी[2] उभयाणुपस्सी।
कामेसु गिद्धा णिचय करेंति, ससिच्चमाणा पुणरेंति गब्भ ॥५॥

११४. अवि से हासमासज्ज, हंता णदीति मण्णति।
अलं बालस्स सगेण, वेर वड्ढेति अप्पणो ॥६॥

११५ तम्हाऽतिविज्जं परमं ति णच्चा, आयकदसी ण करेति पावं।
अग्ग[3] च मूल च विगिच धोरे, पलिछिदियाण णिक्कम्मदसी ॥७॥

११६. एस मरणा पमुच्चति, से हु दिट्ठभये[4] मुणी।
लोगसि परमदसी विवित्तजीवी उवसते समिते सहिते सदा जते कालकखी परिव्वए।
बहु च खलु पाव कम्म पगड।

११७. सच्चमि धिति कुव्वह। एत्थोवरए मेहावी सव्वं पाव कम्म झोसेति।

---

१ '**अतिविज्ज**' के स्थान पर चूर्णि मे '**तिविज्जो**' पाठ है जिसका अर्थ है—तीन विद्याओं का ज्ञाता।

२ **आरभजीवी उभयाणुपस्सी**' पाठ के स्थान पर '**आरम्भजीवी तु भयाणुपस्सी**' पाठ चूर्णि मे मिलता है, जिसका अर्थ है—जो व्यक्ति महारम्भी-महापरिग्रही है—वह अपने समक्ष वध, बन्ध, निरोध, मृत्यु आदि का भय देखता है।

३. भदन्त नागार्जुनीय वाचनानुसार यहाँ पाठ है-'**मूल च अग्ग च वियेस् वीर, कम्मासवा वेति विमोक्खण च। अविरता अस्सवे जीवा, विरता णिज्जरेंति।**' अर्थात्—"हे वीर! मूल और अग्र का विवेक कर, कर्मों के आश्रव (आस्रव) और कर्मो से विमोक्षण (मुक्ति) का भी विवेक कर। अविरत जीव आस्रवों मे रत रहते है, विरत कर्मों की निर्जरा करते है।"

४. '**दिट्ठभये**' के स्थान पर '**दिट्ठवहे**' और '**दिट्ठपहे**' पाठान्तर मिलते है।

११२ हे आर्य ! तू इस ससार मे जन्म और वृद्धि को देख । तू प्राणियों (भूतग्राम) को (कर्मबन्ध और उसके विपाकरूप दु ख को) जान और उनके साथ अपने सुख (दु ख) का पर्यालोचन कर । इससे त्रैविद्य (तीन विद्याओ का ज्ञाता) या अतिविद्य बना हुआ साधक परम (मोक्ष) को जानकर (समत्वदर्शी हो जाता है) । समत्वदर्शी पाप (हिंसा आदि का आचरण) नही करता ।

११३ इस समार मे मनुष्यो के साथ पाश (रागादि बन्धन) है, उसे तोड डाल, क्योकि ऐसे लोग (काम-भोगो की लालसा से, उनकी प्राप्ति के लिए) हिंसादि पापरूप आरभ करके जीते हैं और आरंभजीवी पुरुष इहलोक और परलोक (उभय) मे शारीरिक, मानसिक काम-भोगो को ही देखते रहते है, अथवा आरभजीवी होने से वह दण्ड आदि के भय का दर्शन (अनुभव) करते रहते है । ऐसे काम-भोगो मे आसक्त जन (कर्मों का) सचय करते रहते है । (आसक्ति रूप कर्मों की जडे) बार-बार सीची जाने से वे पुन -पुन जन्म धारण करते है ।

११४ वह (काम-भोगासक्त मनुष्य) हास्य-विनोद के कारण प्राणियो का वध करके खुशी मनाता है । बाल-अज्ञानी को इस प्रकार के हास्य आदि विनोद के प्रसग से क्या लाभ है ? उससे तो वह (उन जीवो के साथ) अपना वैर ही बढाता है ।

११५ इसलिए अति विद्वान (उत्तम ज्ञानी) परम—मोक्ष पद को जान कर (हिंसा आदि मे नरक आदि का आतक-दु ख देखता है) जो (हिंसा आदि पापो मे) आतक देखता है, वह पाप (हिंसा आदि पाप कर्म का आचरण) नही करता ।

हे धीर ! तू (इस आतक-दु ख के) अग्र और मूल का विवेक कर उसे पहचान ! वह धीर (साधक) (तप और सयम द्वारा रागादि बन्धनो को) परिच्छिन्न करके स्वय निष्कर्मदर्शी (कर्मरहित सर्वदर्शी) हो जाता है ।

११६ वह (निष्कर्मदर्शी) मरण से मुक्त हो जाता है । वह (निष्कर्मदर्शी) मुनि भय को देख चुका है (अथवा उसने मोक्ष पथ को देख लिया है) ।

वह (आत्मदर्शी मुनि) लोक (प्राणि-जगत) मे परम (मोक्ष या उसके कारण रूप सयम) को देखता है । वह विविक्त– (राग-द्वेष रहित शुद्ध) जीवन जीता है । वह उपशान्त, (पाच समितियो मे) समित (सम्यक् प्रवृत्त) (ज्ञान आदि से) सहित (समन्वित) होता । (अतएव) सदा सयत (अप्रमत्त-यतनाशील) होकर, (पण्डित-) मरण की आकाक्षा करता हुआ (जीवन के अन्तिम क्षण तक) परिव्रजन-विचरण करता है ।

(इस जीव ने भूतकाल मे) अनेक प्रकार के बहुत से पापकर्मों का बन्ध किया है ।

११७ (उन कर्मों को नष्ट करने हेतु) तू सत्य मे धृति कर । इस (सत्य) मे स्थिर रहने वाला मेधावी समस्त पापकर्मों का शोषण (क्षय) कर डालता है ।

विवेचन—इन सब सूत्रों मे बन्ध और मोक्ष तथा उनके कारणों से सम्बन्धित परम बोध दिया गया है।

११२वे सूत्र में जन्म और वृद्धि को देखने की प्रेरणा दी गयी है, उसका तात्पर्य यह है कि जिनवाणी के आधार पर वह अपने पूर्वजन्मो के विषय मे चिन्तन करे कि मैं एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के जीवो मे तथा नारक, तिर्यच, देव आदि योनियो मे अनेक बार जन्म लेकर फिर यहाँ मनुष्य-लोक मे आया हूँ। उन जन्मो मे मैंने कितने-कितने दु ख सहे होगे ? साथ ही वह यह भी जाने कि मैं कितनी निर्जरा और प्रचुर पुण्यसचय के फलस्वरूप एकेन्द्रिय से विकास करते-करते इस मनुष्य-योनि मे आया हूँ, कितनी पुण्यवृद्धि की होगी, तब मनुष्य-लोक मे भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, पचेन्द्रिय पूर्णता, उत्तम सयोग, दीर्घ-आयुष्य, श्रेष्ठ सयमी जीवन आदि पाकर इतनी उन्नति कर सका हूँ।

इस सूत्र का दूसरा आशय यह भी है कि ससार मे जीवो के जन्म और उसके साथ लगे हुए अनेक दु खो को तथा बालक, कुमार, युवक और वृद्ध रूप जो वृद्धि/विकास हुआ है, उस बीच आने वाले शारीरिक तथा मानसिक दु खो/सघर्षों को देख। अपने अतीत के अनेक जन्मो की तथा विकास की श्रृ खला को देखना ही चिन्तन की गहराई मे उतर कर जन्म और वृद्धि को देखना है। अतीत के अनेक जन्मो का, उनके कारणो और तज्जनित दु खो एव विकास-क्रम का चिन्तन करते-करते उन पर ध्यान केन्द्रित करने से ममूढता दूर हो जाती है और अपने पूर्वजन्मो का स्मरण (जाति-स्मरण) हो जाता है।[1] जब व्यक्ति अपने इस जीवन के ५०-६० वर्षों के घटनाचक्रो को स्मृति पथ पर ले आता है, तब यदि प्रयत्न करे और बुद्धि समोहित न हो तो पूर्वजन्मो की स्मृतिया भी उभर सकती है। पूर्वजन्म की स्मृति क्यो नही होती ? इसके विषय मे कहा गया है—

> **जायमाणस्स ज दुक्खं, मरमाणस्स जतुणो।**
> **तेण दुक्खेण समूढो, न सरइ आइमप्पणो॥**

---

१ जैसे मृगापुत्र को सयमी श्रमण को अनिमिष दृष्टि से देखते हुए, शुद्ध अध्यवसाय के कारण मोह दूर होते ही जाति-स्मरण ज्ञान हुआ और वह अपने पूर्वजन्म को देखने लगा। फलत विषयो से विरक्त और सयम मे अनुरक्त होकर उसने अपने माता-पिता से प्रव्रज्या के लिए अनुमति मागी। साथ ही वह अपने पिछले जन्मो मे उपभुक्त विषयभोगों के कटु एव दु खद परिणाम, शरीर और भोगो की अनित्यता, अशुचिता (गंदगी), मनुष्य जन्म की असारता, व्याधिग्रस्तता, जरा-मरण-ग्रस्तता आदि का वर्णन करने लगा था। उसने अपने माता-पिता से कहा था—

> **माणुसत्ते असारम्मि वाही-रोगाण आलए।**
> **जरामरणघत्थमि खण पि न रमामऽहं॥१५॥**
> **जम्म दुक्ख जरा दुक्ख रोगाणि मरणाणि य।**
> **अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसति जतवो॥१६॥**—उत्तरा० अ० १९

इससे स्पष्ट है कि अपने पिछले जन्मो और विकास-यात्रा का अनुस्मरण करने से साधक को जन्म-जरा आदि के साथ लगे हुए अनेक दु खो, उनके कारणो और उपादानो का ज्ञान हो सकता है।

जन्म और मृत्यु के समय जीव को जो दु:ख होता है, उस दु:ख से समूढ बना हुआ व्यक्ति अपने पूर्व जन्म का स्मरण नही कर पाता।

'**भूतेहिं जाण पडिलेह सातं**'—का तात्पर्य यह है कि ससार के समस्त भूतो (प्राणियो) को जो कि १४ भेदो मे विभक्त है, उन्हे जाने, उन भूतो (प्राणियो) के साथ अपने सुख की तुलना और पर्यालोचन करे कि जैसे मुझे सुख प्रिय है और दु:ख अप्रिय है, वैसे ही ससार के सभी प्राणियो को है। ऐसा समझ कर तू किसी का अप्रिय मत कर, दु:ख न पहुँचा। ऐसा करने से तू जन्म-मरणादि का दु:ख नही पाएगा।

'**तम्हाऽतिविज्ज परम ति णच्चा**'—इस सूत्र के अन्तर्गत कई पाठान्तर है। बहुत सी प्रतियो मे '**तिविज्जो**' पाठ मिलता है, वह यहाँ सगत भी लगता है, क्योकि इससे पूर्व शास्त्रकार तीन बातो का सूक्ष्म एव तात्त्विक दृष्टि से जानने-देखने का निर्देश कर चुके हैं। वे तीन बाते ये है—(१) पूर्वजन्म-श्रृ खला और विकास की स्मृति, (२) प्राणिजगत् को भलीभाँति जानना और (३) अपने सुख-दु:ख के साथ उनके सुख-दु:ख की तुलना करके पर्यालोचन करना। इन्ही तीनो बातो का ज्ञान प्राप्त करना त्रिविद्या है। त्रिविद्या जिसे उपलब्ध हो गयी है, वह त्रैविद्य कहलाता है।

बौद्धदर्शन मे भी त्रिविद्या का निरूपण इस प्रकार है—(१) पूर्वजन्मो को जानने का ज्ञान, (२) मृत्यु तथा जन्म को (इनके दु:खो को) जानने का ज्ञान, (३) चित्तमलो के क्षय का ज्ञान। इन तीन विद्याओ को प्राप्त कर लेने वाले को वहाँ '**तिविज्ज**' (त्रैविद्य) कहा है।[1]

दूसरा पाठान्तर है—'**अतिविज्जे**'—इसका अर्थ वृत्तिकार ने यो किया है—जिसकी विद्या जन्म, वृद्धि, सुख-दु:ख के दर्शन से अतीव तत्त्व विश्लेषण करने वाली है, वह अतिविद्य अर्थात् उत्तम ज्ञानी है।

इन दोनो सदर्भो मे वाक्य का अर्थ होता है—इसलिए वह त्रैविद्य या अतिविद्य (अति विद्वान्) परम को जानकर । यहाँ अतिविद्य या त्रिविद्य परम का विशेषण है, इसलिए अर्थ होता है—अतीव तत्त्व ज्ञान से युक्त या तीन विद्याओ से सम्बन्धित परम को जानकर ।

'**परम**' के अनेक अर्थ हो सकते है—निर्वाण, मोक्ष, सत्य (परमार्थ)। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र भी परम के साधन होने से परम माने गये है।

'**समत्तदसी**'—जो समत्वदर्शी है, वह पाप नही करता, इसका तात्पर्य यह है कि पाप और विषमता के मूल कारण राग और द्वेष है। जो अपने भावो को राग-द्वेष से कलुषित-मिश्रित नही करता और न किसी प्राणी को राग-द्वेषयुक्त दृष्टि से देखता है, वह समत्वदर्शी

---

१ त्रैविद्य का उल्लेख जैसे बौद्ध साहित्य मे मिलता है, वैसे वैदिक साहित्य मे भी मिलता है। देखिये—भगवद्गीता अ० ९ मे २० वा श्लोक—

"**त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते।**"

यहाँ त्रैविद्या का अर्थ वैसा ही कुछ होना चाहिए जैसा कि जैनशास्त्र मे पूर्वजन्म-दर्शन, विकास-दर्शन तथा प्राणिसमत्व-दर्शन, आत्मौपम्य—सुख-दु:ख-दर्शन है।

होता है। वह पाप कर्म के मूल कारण—राग-द्वेष को अन्त करण मे आने नही देता, तब उससे पाप कर्म होगा ही कैसे ?

'सम्मत्तदंसी' का एक रूप **'सम्यक्त्वदर्शी'** भी होता है।[1] सम्यक्त्वदर्शी पापाचरण नही करता, इसका रहस्य यही है कि पाप कर्म की उत्पत्ति, उसके कटु परिणाम और वस्तु के यथार्थ स्वरूप का सम्यग् ज्ञान जिसे हो जाता है, वह सत्यद्रष्टा असम्यक् (पाप का) आचरण कर ही कैसे सकता है ?

११३ वे सूत्र मे पाप कर्मों का सचय करने वाले की वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणति (फल) का दिग्दर्शन कराया गया है।

'पास' का अर्थ बधन है। उसके दो प्रकार है—द्रव्यबन्धन और भावबन्धन। यहाँ मुख्य भावबन्धन है। भाव बन्धन राग, मोह, स्नेह, आसक्ति, ममत्व आदि है। ये ही साधक को जन्म-मरण के जाल में फसाने वाले पाश है।

'आरभजीवी उभयाणुपस्सी' पद मे आरम्भ से महारम्भ और उसका कारण महापरिग्रह दोनो का ग्रहण हो जाता है। मनुष्यो—मर्त्यो के साथ पाश—बधन को तोडने का कारण यहाँ आरभजीवी आदि पदो से बताया गया है। जो आरभजीवी होता है, वह उभयलोक (इहलोक-परलोक) को या उभय (शरीर और मन दोनो) को ही देख पाता है, उससे ऊपर उठकर नही देखता। अथवा 'उ' को पृथक् मानने से **'भयाणुपस्सी'** पाठ भी होता है, जिसका अर्थ होता है—महारम्भ-महापरिग्रह के कारण वह पुन-पुन नरकादि के या इस लोक के भयो का दर्शन (अनुभव) किया करता है।

चार पुरुषार्थों मे कामरूप पुरुषार्थ जन साध्य होता है, तब उसका साधन बनता है—अर्थ। इसलिए काम-भोगो की आसक्ति मनुष्य को विविध उपभोग्य धनादि अर्थों—पदार्थों के सग्रह के लिए प्रेरित करती है। वह आसक्ति-महारभ-महापरिग्रह का मूल प्रेरक तत्त्व है।

'सिंचमाणा पुणरेंति गब्भ' मे बताया है—हिंसा, झूठ, चोरी, काम-वासना, परिग्रह आदि पाप या कर्म की जडे है। उन्हे जो पापी लगातार सीचते रहते है, वे बार-बार विविध गतियो और योनियो मे जन्म लेते रहते है।

११४ वे सूत्र मे प्राणियो के वध आदि के निमित्त विनोद और उससे होने वाली वैर-वृद्धि का सकेत किया गया है।

कई महारभी-महापरिग्रही मनुष्य दूसरो को मारकर, सताकर, जलाशय मे डुबाकर, कोडो आदि से पीटकर या सिंह आदि हिंस्र पशुओ के समक्ष मनुष्य को मरवाने के लिए छोडकर अथवा यज्ञादि मे निर्दोष पशु-पक्षियो की बलि देकर या उनका शिकार करके अथवा उनकी हत्या करके क्रूर मनोरजन करते है। इसी प्रकार कई लोग झूठ बोलकर, चोरी करके

---

१ आवश्यक निर्युक्ति (गा० १०४६) मे सम्यक्त्व को समत्व का पर्यायवाची बताया है—

"समया संमत्त-पसत्थ-संति-सिव-हिय-सुह अणिद च।
अदुगु छिअ अमगरहिअ अणवज्जमिमेऽवि एगट्ठा।"

या स्त्रियो के साथ व्यभिचार करके या दूसरे का धन, मकान आदि हड़प करके या अपने कब्जे मे करके हास-विनोद या प्रमोद की अनुभूति करते है। ये सभी दूसरे प्राणियो के साथ अपना वैर (शत्रुभाव) बढाते रहते है।[1]

'अल बालस्स सगेण' के दो अर्थ स्पष्ट होते है—एक अर्थ जो वृत्तिकार ने किया है, वह इस प्रकार है—"ऐसे मूढ अज्ञ पुरुष का हास्यादि, प्राणातिपातादि तथा विषय-कषायादिरूप सग न करे, इनका ससर्ग करने से वैर की वृद्धि होती है। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि ऐसे विवेकमूढ अज्ञ (बाल) का सग (ससर्ग) मत करो, क्योकि इससे साधक की बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी, मन की वृत्तियाँ चचल होगी। वह भी उसकी तरह विनोदवश हिंसादि पाप करने को देखादेखी प्रेरित हो सकता है।[2]

आतकदर्शी पाप नही करता, इसका रहस्य है—'कर्म या हिंसा के कारण दुःख होता है'—जो यह जान लेता है, वह आतकदर्शी है, वह स्वय पापानुबन्धी कर्म नही करता, न दूसरो से कराता है, न करने वाले का अनुमोदन करता है।

'अग्ग च मूल च विगिच धीरे'—इस पद मे आये—**'अग्र'** और **'मूल'** शब्द के यहाँ कई अर्थ होते है—वेदनीयादि चार अघातिकर्म अग्र हैं, मोहनीय आदि चार घातिकर्म मूल हैं।

मोहनीय सब कर्मों का मूल है, शेष सात कर्म अग्र है।

मिथ्यात्व मूल है, शेष अव्रत-प्रमाद आदि अग्र है।

धीर साधक को कर्मों के, विशेषत पापकर्मों के अग्र (परिणाम या आगे के शाखा-प्रशाखा रूप विस्तार) और मूल (मुख्य कारण या जड) दोनो पर विवेक-बुद्धि से निष्पक्ष होकर चिन्तन करना चाहिए। किसी भी दुष्कर्मजनित सकटापन्न समस्या के केवल अग्र (परिणाम) पर विचार करने से वह सुलझती नही, उसके मूल पर ध्यान देना चाहिए। कर्मजनित दुःखो का मूल (बीज) मोहनीय है, शेष सब उसके पत्र-पुष्प हैं।

इस सूत्र का एक और अर्थ भी वृत्तिकार ने किया है—दुःख और सुख के कारणो पर,

---

१ हसी-मजाक से भी कई बार तीव्र वैर बध जाता है। वृत्तिकार ने समरादित्य कथा के द्वारा सकेत किया है कि गुणसेन ने अग्निशर्मा की अनेक तरह से हसी उडाई, इस पर दोनो का वैर बध गया, जो नौ जन्मो तक लगातार चला। —आचा० टीका पत्राक १४५

२. **'अल बालस्स सगेणं'** इस सूत्र का एक अर्थ यह भी सम्भव है—बाल—अज्ञानी जन का सग—सम्पर्क मत करो, क्योकि अज्ञानी विषयासक्त मनुष्य का ससर्ग करने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जीवन मे अनेक दोषो और दुर्गुणो तथा उनके कुसस्कारो के प्रविष्ट होने की आशका रहती है। अपरिपक्व साधक को अज्ञानीजन के सम्पर्क से ज्ञान-दर्शन-चारित्र से भ्रष्ट होते देर नही लगती। उत्तराध्ययन (३२।५) मे स्पष्ट कहा है—

न वा लभेज्जा निउण सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥

"यदि निपुण ज्ञानी, गुणाधिक या सम-गुणी का सहाय प्राप्त न हो तो अनासक्त भावपूर्वक अकेला ही विचरण करे, किन्तु अज्ञानी का सग न करे।"

विवेक बुद्धि से सुशोभित धीर यो विचार करे—इनका मूल है असयम या कर्म और अग्र है—सयम-तप, या मोक्ष।[1]

'पलिछिंदियाणं णिक्कम्मदसी' का भावार्थ बहुत गहन है। तप और सयम के द्वारा राग-द्वेषादि बन्धनों को या उनके कार्यरूप कर्मों को सर्वथा छिन्न करके आत्मा निष्कर्मदर्शी हो जाता है। निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ हो सकते है—(१) कर्मरहित शुद्ध आत्मदर्शी, (२) राग-द्वेष के सर्वथा छिन्न होने से सर्वदर्शी, (३) वैभाविक क्रियाओ (कर्मों-व्यापारो) के सर्वथा न होने से अक्रियादर्शी और (४) जहाँ कर्मों का सर्वथा अभाव है, ऐसे मोक्ष का द्रष्टा।[2]

११६वे सूत्र मे मृत्यु से मुक्त आत्मा की विशेषताओ और उसकी चर्या के उद्देश्य का दिग्दर्शन कराया गया है।

'दिट्ठभए या दिट्ठपहे'—दोनो ही पाठ मिलते है। **'दिट्ठभए'** पाठ अधिक सगत लगता है, क्योकि प्रस्तुत सूत्र मे भय की चर्चा करते हुए कहा है—"मुनि इस जन्म-मरणादि रूप ससार का अवलोकन गहराई से करता है तो वह ससार मे होने वाले जन्म-मरण, जरा-रोग आदि समस्त भयो का दर्शन—मानसिक निरीक्षण कर लेता है। फलत वह ससार के चक्र मे नही फँसता, उनसे बचने का प्रयत्न करता है।" आगे के **'लोगंसि परमदसी विवित्तजीवी'** आदि विशेषण उसी सदर्भ मे अकित किये गये है।

'दिट्ठपहे' पाठ अगीकृत करने पर अर्थ होता है—जिसने मोक्ष का पथ देख लिया है, अथवा जो इस पथ का अनुभवी है।

सूत्र ११२ से ११७ तक शास्त्रकार का एक ही स्वर गूँज रहा है—ज्ञाता-द्रष्टा बनो। ज्ञाता-द्रष्टा का अर्थ है—अपने मन की गहराइयो मे उतर कर प्रत्येक वस्तु या विचार को जानो-देखो, चिन्तन करो, परन्तु उसके साथ राग और द्वेष को या इनके किसी परिवार को मत मिलाओ, तटस्थ होकर वस्तुस्वरूप का विचार करो, इसी का नाम ज्ञाता-द्रष्टा बनना है। इन सूत्रो मे चार प्रकार के द्रष्टा (दर्शी) बनने का उल्लेख है—(१) समत्वदर्शी या सम्यक्त्व-दर्शी, (२) आत्मदर्शी, (३) निष्कर्मदर्शी और (४) परमदर्शी। इसी प्रकार दृष्टभय/दृष्टपथ, अग्र और मूल का विवेक कर जन्म, वृद्धि, प्राणियो के साथ सुख-दु:ख मे ममत्व तथा आत्मैकत्व के प्रतिप्रेक्षण आदि मे भी द्रष्टा-ज्ञाता बनने का सकेत है।

'कालकंखी'—साधक को मृत्यु की आकाक्षा नही करनी चाहिए, क्योकि सलेखना के पाँच अतिचारो मे से एक है—**'मरणासंसप्पओगे'**—मृत्यु की आशसा-आकाक्षा न करना। फिर यहाँ उसे काल-काक्षी बताने के पीछे क्या रहस्य है? वृत्तिकार इस प्रश्न का समाधान यो करते है—काल का अर्थ है—मृत्युकाल, उसका आकाक्षी, अर्थात्—मुनि मृत्युकाल आने पर 'पडितमरण' को आकाक्षा (मनोरथ) करने वाला होकर परिव्रजन (विचरण) करे। 'पडितमरण' जीवन की सार्थकता है। पडितमरण की इच्छा करना मृत्यु को जीतने की कामना है।

---

१. आचा० टीका पत्राक १४५।　　　　२. आचा० टीका पत्राक १४५।

अतीत की बातों को आत्म-शुद्धि या दोष-परिमार्जन की दृष्टि से याद करना साधक के लिए आवश्यक है। इसलिए यहाँ शास्त्रकार ने साधक को स्मरण दिलाया है—'**बहुं च खलु पाव कम्म पगडं**'—इस आदेश सूत्र के परिप्रेक्ष्य में साधक पाप कर्म की विभिन्न प्रकृतियो, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, उन पापकर्मों से मिलने वाला फल—बध, उदय, उदीरणा, सत्ता, निर्जरा और कर्मक्षय आदि पर गहराई से चिन्तन करे।[1]

११७ वें सूत्र मे साधक को सत्य मे स्थिर रहने का अप्रतिम महत्त्व समझाया है।

वृत्तिकार ने विभिन्न दृष्टियो से सत्य के अनेक अर्थ किये है—

(१) प्राणियो के लिए जो हित है, वह सत्य है—वह है सयम।

(२) जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट आगम भी सत्य है, क्योकि वह यथार्थ वस्तु-स्वरूप को प्रकाशित करता है।

(३) वीतराग द्वारा प्ररूपित विभिन्न प्रवचन रूप आदेश भी सत्य हैं।[2]

असयत की व्याकुल चित्तवृत्ति

११८. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहइ पूरइत्तए।

से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरियावाए[3] जणवयपरिग्गहाए।

११८. वह (असयमी) पुरुष अनेक चित्त वाला है। वह चलनी को (जल से) भरना चाहता है।

वह (तृष्णा की पूर्ति के हेतु व्याकुल मनुष्य) दूसरो के वध के लिए, दूसरो के परिताप के लिए, दूसरो के परिग्रह के लिए तथा जनपद के वध के लिए, जनपद के परिताप के लिए और जनपद के परिग्रह के लिए (प्रवृत्ति करता है)।

विवेचन—इस सूत्र मे विषयासक्त असयमी पुरुष की अनेकचित्तता—व्याकुलता तथा विवेक-हीनता एव उसके कारण होने वाले अनर्थों का दिग्दर्शन है।

वृत्तिकार ने ससार-सुखाभिलाषी पुरुष को अनेकचित्त बताया है, क्योकि वह लोभ से प्रेरित होकर कृषि, व्यापार, कारखाने आदि अनेक धधे छेडता है, उसका चित्त रात-दिन उन्ही अनेक धधो की उधेडबुन मे लगा रहता है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १४७।

२ आचा० शीला० टीका पत्राक १४७।

३ चूर्णि के अनुसार '**जणवयपरितावाए**' पाठ भी है, उसका अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'**पररट्ठमद्दणे वा रायाणो जणवय परितावयति**'—पर राष्ट्र का मर्दन करने के लिए राजा लोग जनपद या जानपदो को सतप्त करते हैं। वृत्तिकार ने '**जनपदानां परिवादाय**' अर्थ किया है, अर्थात् जनपदनिवासी लोगो के परिवाद (बदनाम करने) के लिए—यह चुगलखोर है, जासूस है, चोर है, लुटेरा है, इस प्रकार मर्मोद्घाटन के लिए प्रवृत्त होते है।

अनेकचित्त पुरुष अतिलोभी बनकर कितनी बडी असम्भव इच्छा करता है, इसके लिए शास्त्रकार चलनी का दृष्टान्त देकर समझाते है कि वह चलनी को जल से भरना चाहता है, अर्थात् चलनी रूप महातृष्णा को धनरूपी जल से भरना चाहता है। वह अपने तृष्णा के खप्पर को भरने हेतु दूसरे प्राणियो का वध करता है, दूसरो को शारीरिक, मानसिक सताप देता है, द्विपद (दास-दासी, नौकर-चाकर आदि), चतुष्पद (चौपाये जानवरो) का सग्रह करता है, इतना ही नही, वह अपार लोभ से उन्मत्त होकर सारे जनपद या नागरिको का सहार करने पर उतारू हो जाता है, उन्हे नाना प्रकार से यातनाएँ देने को उद्यत हो जाता है, अनेक जनपदो को जीतकर अपने अधिकार मे कर लेता है। यह है—तृष्णाकुल मनुष्य की अनेक चित्तता—किवा व्याकुलता का नमूना।

सयम में समुत्थान

११९ आसेवित्ता एयमट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिता।
तम्हा तं बिइय[1] नासेवते णिस्सार पासिय णाणी।
उववाय चयण णच्चा अणण्ण चर माहणे।
से ण छणे, न छणावए, छणत णाणुजाणति।
[2]णिव्विद णंदि अरते पयासु अणोमदसी णिसण्णे पावेहि[3] कम्मेहि।
१२०. कोधादिमाण हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंत।
तम्हा हि वीरे विरते वधातो, छिंदिज्ज सोत लहुभूयगामी[4] ॥८॥
१२१. गथ परिण्णाय इहऽज्ज[5] वीरे, सोयं[6] परिण्णाय चरेज्ज दते।
उम्मुग्ग[7] लद्धु इह माणवेहि, णो पाणिण पाणे समारभेज्जासि ॥९॥
त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

---

१ **'बिइय नो सेवते'**, **'बीय नो सेवे'**, **'बितिय नासेवए'**—ये पाठान्तर मिलते है। चूर्णिकार इस वाक्य का अर्थ करते हैं—"**द्वितीय मृषावादमसयम वा नासेवते**"—दूसरे मृषावाद का या असयम (पाप) का सेवन नही करता।

२ **'णिव्विज्ज'** पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है—विरक्त होकर।

३ **'पावेसु कम्मेसु'** पाठ चूर्णि मे है, जिसका अर्थ है—**'पाव कोहादिकसाया तेसु'**—पाप है क्रोधादि कषाय, उनमे।

४ चूर्णि मे इसके स्थान पर **'छिंदिज्ज सोत ण हु भूतगाम'** पाठ मिलता है। उत्तरार्ध का अर्थ यो है—ईर्यासमिति आदि से युक्त साधक १४ प्रकार के भूतग्राम (प्राणि-समूह) का छेदन न करे।

५ **'इहऽज्ज'** के स्थान पर **'इह वज्ज'** एव **'इहेज्ज'** पाठ भी मिलते है। **'इह अज्ज'** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"**इह पवयणे, अज्जेव मा चिरा**"— इस प्रवचन मे आज ही—बिलकुल विलम्ब किये बिना प्रवृत्त हो जाओ"।

६ **'सोगं'**, **'सोत'** पाठान्तर भी हैं, 'सोग' का अर्थ शोक है।

७ **'उम्मुग्ग'** के स्थान पर **'उम्मग्ग'** भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—उन्मज्जन।

११९. इस प्रकार कई व्यक्ति इस अर्थ—(वध, परिताप, परिग्रह आदि असयम) का आसेवन—आचरण करके (अन्त मे) सयम-साधना मे सलग्न हो जाते है। इसलिए वे (काम-भोगों को, हिंसा आदि आस्रवों को छोडकर) फिर दुबारा उनका आसेवन नही करते।

हे ज्ञानी! विषयो को निस्सार देखकर (तू विषयाभिलाषा मत कर)। (केवल मनुष्यो के ही जन्म-मरण नही), देवो के भी उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) निश्चित है, यह जानकर (विषय-सुखो मे आसक्त मत हो)। हे माहन! (अहिंसक) तू अनन्य (सयम या रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग) का आचरण कर।

वह (अनन्यसेवी मुनि) प्राणियो की हिसा स्वय न करे, न दूसरो से हिंसा कराए और न हिसा करने वाले का अनुमोदन करे।

तू (कामभोग-जनित) आमोद-प्रमोद से विरक्ति कर (विरक्त हो)। प्रजाओं (स्त्रियो) मे अरक्त (आसक्ति रहित) रह।

अनवमदर्शी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षदर्शी साधक) पापकर्मों से विषण्ण—उदासीन रहता है।

१२० वीर पुरुष कषाय के आदि अग—क्रोध (अनन्तानुबन्धी आदि चारो प्रकार के क्रोध) और मान को मारे (नष्ट करे), लोभ को महान नरक के रूप मे देखे। (लोभ साक्षात् नरक है), इसलिए लघुभूत (मोक्षगमन का इच्छुक अथवा अपरिग्रहवृत्ति अपना कर) बनने का अभिलाषी, वीर (जीव) हिसा से विरत होकर स्रोतो (विषय-वासनाओ) को छिन्न-भिन्न कर डाले।

१२१ हे वीर इस लोक मे ग्रन्थ (परिग्रह) को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से आज ही अविलम्ब छोड दे, इसी प्रकार (ससार के) स्रोत-विषयो को भी जानकर दान्त (इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला) बनकर सयम मे विचरण कर। यह जानकर कि यही (मनुष्य-जन्म मे) मनुष्यो द्वारा ही उन्मज्जन (ससार-सिन्धु से तरना) या कर्मों से उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है, मुनि प्राणियो के प्राणों का समारम्भ—सहार न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—११९वे सूत्र मे विषय-भोगो से विरक्त होकर सयम-साधना मे जुटे हुए साधक को विषय-भोगो की असारता एव जीवन की अनित्यता का सन्देश देकर हिसा, काम-भोग-जनित आनन्द, अब्रह्मचर्य आदि पापो से विरत रहने की प्रेरणा दी गयी है।

यह निश्चित है कि जो मनुष्य विषय-भोगो मे प्रबल आसक्ति रखेगा, वह उनकी प्राप्ति के लिए हिसा, क्रूर मनोविनोद, असत्य, व्यभिचार, क्रोधादि कषाय, परिग्रह आदि विविध पापकर्मों मे प्रवृत्त होगा। अत विषय-भोगो से विरक्त सयमीजन के लिए इन सब पापकर्मों से दूर रहने तथा विषय-भोगो की निस्सारता एव जीवन की क्षणभगुरता की प्रेरणा देनी अनिवार्य है। साथ ही यह भी बताना आवश्यक है कि कर्मों से मुक्त होने या ससार-सागर से पार

होने का पुरुषार्थ तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य लोक मे मनुष्य के द्वारा ही सम्भव है, अन्य लोको मे या अन्य जीवो द्वारा नही।

विषय-भोग इसलिए निस्सार हैं कि उनके प्राप्त होने पर तृप्ति कदापि नही होती। इसीलिए भरत चक्रवर्ती आदि विषय-भोगो को निस्सार समझकर सयमानुष्ठान के लिए उद्यत हो गये थे, फिर वे पुन उनमे लिपटे नही।

'उववाय' और **चयणं'**—इन दोनो पदो को अकित करने का आशय यह है कि मनुष्यो का जन्म और मरण तो सर्वविदित है ही, देवो के सम्बन्ध मे जो भ्रान्ति है कि उनका विषय-सुखो से भरा जीवन अमर है, वे जन्मते-मरते नही, अत इसे बताने के लिए उपपात और च्यवन—इन दो पदो द्वारा देवो के भी जन्म-मरण का सकेत किया है।[1] इतना ही नही, विषय-भोगो की नि सारता और जीवन की अनित्यता इन दो बातो द्वारा ससार की एव ससार के सभी स्थानो की अनित्यता, क्षणिकता एव विनश्वरता यहाँ ध्वनित कर दी है।[2]

'न छणे, न छणावाए' इन पदो मे **'छण'** शब्द का रूपान्तर **'क्षण** होना है।**'क्षणु हिंसायाम्'** हिसार्थक **'क्षणु'** धातु से **'क्षण'** शब्द बना है।[3] अत इन दोनो पदो का अर्थ होना है, स्वय हिसा न करे और न हो दूसरो के द्वारा हिसा कराए। उपलक्षण से हिसा करने वाले का अनुमोदन भी न करे।

'अणण्ण' शब्द का तात्पर्य है—अनन्य—मोक्षमार्ग। क्योकि मोक्षमार्ग से अन्य—असयम है और जो अन्यरूप-असयम रूप नही है, वह ज्ञानादि रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग अनन्य है।[4] **'अनन्य'** शब्द मोक्ष, सयम और आत्मा की एकता का भी बोधक है। ये आत्मा से अन्य नही है, आत्मपरिणति रूप ही है अर्थात् मोक्ष एव सयम आत्मा मे ही स्थित है। अत. वह आत्मा से अभिन्न **'अनन्य'** है।

'अणोमदसी' शब्द का तात्पर्य है–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदर्शी। अवम का अर्थ है–हीन। हीन है—मिथ्यात्व-अविरति आदि। अवमरूप मिथ्यात्वादि से विपरीत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनवम उच्च—महान हैं। साधक को सदा उच्चद्रष्टा होना चाहिए। अनवम—उदात्त का द्रष्टा—अनवमदर्शी यानी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदर्शी होता है।

लोभ को नरक इसलिए कहा गया है कि लोभ के कारण हिंसादि अनेक पाप होते है, जिनसे प्राणी सीधा नरक मे जाता है। गीता मे भी कहा है—

त्रिविध नरकस्येव द्वारं नाशनमात्मनः।
काम. क्रोधस्तथा लोभ· तस्मादेतत् त्रय त्यजेत्॥

ये तीन आत्मनाशक और नरक के द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए मनुष्य इन तीनो का परित्याग करे।

---

१. देखें पृष्ठ ९० पर देवो के जरा सम्बन्धी टिप्पण।
२ आचा० शीला० टीका पत्राक १४८।
३. आचा० शीला० टीका पत्राक १४८।
४ आचा० शीला० टीका पत्राक १४८।

'लहुभूयगामी' के दो रूप होते है—(१) लघुभूतगामी और (२) लघुभूतकामी। लघुभूत-जो कर्मभार से सर्वथा रहित है—मोक्ष या सयम को प्राप्त करने के लिए जो गतिशील है, वह लघुभूतगामी है और जो लघुभूत (अपरिग्रही या निष्पाप होकर बिलकुल हलका) बनने की कामना (मनोरथ) करता है, वह लघुभूतकामी है।[1] ज्ञातासूत्र मे[2] लघुभूत तुम्बी का उदाहरण देकर बताया है कि जैसे—सर्वथा लेपरहित होने पर तुम्बी जल के ऊपर आ जाती है, वैसे ही लघुभूत आत्मा ससार से ऊपर मोक्ष मे पहुँच जाता है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

समता-दर्शन

१२२. संधि लोगस्स जाणित्ता आयओ बहिया पास।
तम्हा ण हंता ण विघातए।
जमिण अण्णमण्णवितिगिछाए पडिलेहाए ण करेति पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं[3] सिया ?।

१२३. समय तत्थुवेहाए अप्पाण विप्पसादए।
अणण्णपरम णाणी णो पमादे कयाइ वि।
आयगुत्ते सदा वीरे जायामायाए जावए ॥१०॥
विराग रूवेहिं गच्छेज्जा महता खुड्डएहिं वा।[4]
आगतिं गतिं परिण्णाय दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से ण छिज्जति, ण भिज्जति, ण डज्झति, ण हम्मति कंचणं सव्वलोए।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १४८ २ अध्ययन ६

३. 'मुणी कारणं' इस प्रकार के पदच्छेद किये हुए पाठ के स्थान पर 'मुणिकारण' ऐसा एकपदीय पाठ चूर्णिकार को अभीष्ट है। इसकी व्याख्या यो की गई है वहाँ—तत्थ मुणिस्स कारणं, अद्दोहणातीति मुणिकारणाणि ? ताणि तत्थ ण संति, ण तत्थ मुणि कारण सिया तत्थ वि ताव मुणि कारण ण अत्थि।—क्या वहाँ (द्रोह या पाप) नही, हुआ, उसमे मुनि का कारण है ? द्रोह न हुए, इसीलिए वहाँ वे मुनि के कारण नही हुए है। शायद उसमे मुनि कारण नही है। वहाँ भी मुनि कारण नही है।

४. नागार्जुनीय वाचना मे यहाँ अधिक पाठ इस प्रकार है—

'विसयम्मि पंचगम्मी वि, दुविहम्मि तियं तियं।
भावओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसु वि ॥'

—शब्दादि पाँच विषयो के दो प्रकार है—इष्ट, अनिष्ट। उनके भी तीन-तीन भेद हैं—हीन, मध्यम और उत्कृष्ट। इन्हे भावत। परमार्थत भली-भाँति जानकर वह (मुनि) पाप कर्म से लिप्त नही होता, क्योंकि वह उनमे राग और द्वेष नही करता।

१२४. अवरेण पुव्वं ण सरंति एगे किमस्स तीतं किं वाऽऽगमिस्सं ।
भासंति एगे इह माणवा तु[1] जमस्स तीत तं आगमिस्स ।।११।।
णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं अट्ठं णियच्छति तथागता उ ।
विधूतकप्पे एताणुपस्सी णिज्झोसइत्ता ।
का अरती के आणंदे ? एत्थपि अग्गहे[2] चरे ।
सव्वं हास परिच्चज्ज अल्लीणगुत्तो[3] परिव्वए ।

१२२ साधक (धर्मानुष्ठान की अपूर्व) सन्धि—वेला समझ कर (प्राणि-लोक को दु ख न पहुँचाए) अथवा प्रमाद करना उचित नही है ।

अपनी आत्मा के समान बाह्य-जगत (दूसरी आत्माओ) को देख ! (सभी जीवो को मेरे समान ही सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है) यह समझकर मुनि जीवो का हनन न करे और न दूसरो से घात कराए ।

जो परस्पर एक दूसरे की आशका मे, भय से, या दूसरे के सामने (उपस्थिति मे) लज्जा के कारण पाप कर्म नही करता, तो क्या ऐसी स्थिति मे उस (पाप कर्म न करने) का कारण मुनि होना है ? (नही)

१२३- इस स्थिति मे (मुनि) समता की दृष्टि से पर्यालोचन (विचार) करके आत्मा को प्रसाद—उल्लास युक्त रखे ।

ज्ञानी मुनि अनन्य परम—(सर्वोच्च परम सत्य, सयम) के प्रति कदापि प्रमाद (उपेक्षा) न करे ।

वह साधक सदा आत्मगुप्त (इन्द्रिय और मन को वश मे रखने वाला) और वीर (पराक्रमी) रहे, वह अपनी सयम-यात्रा का निर्वाह परिमित—(मात्रा के अनुसार) आहार से करे ।

वह साधक छोटे या बडे रूपो—(दृश्यमान पदार्थो) के प्रति विरति धारण करे ।

---

१ यहाँ चूर्णिकार का अभिमत पाठ यो है—

किह से अतीत, किह आगमिस्स ?
जह से अतीत, तह आगमिस्स ।

इन पक्तियो का अर्थ प्राय एक-सा है ।

२ इसके बदले चूर्णि मे पाठ है—'**एत्थ वि अगरहे चरे**' । इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'**रागदोसेहिं अगरहो, तन्निमित्त जह ण गरहिज्जति ण रज्जति दुस्सति वा**'—ग्रहण—(कर्मबन्धन) होता है राग और द्वेष से । राग-द्वेष को ग्रहण न करने पर अ-ग्रह हो जाएगा । अर्थात् मुनि विषयादि के निमित्त राग-द्वेष का ग्रहण नही करता—न राग से रक्त होता है, न द्वेष से द्विष्ट ।

३ '**अल्लीणगुत्तो**' के स्थान पर '**आलीणगुत्ते**' पाठ भी क्वचित् मिलता है । चूर्णिकार ने '**अल्लीणगुत्तो**' का अर्थ इस प्रकार किया है—**धम्मं आयरिय वा अल्लीणो तिविहाए गुत्तीए गुत्तो**—धर्म मे तथा आचार्य मे इन्द्रियादि को समेट कर लीन है और तीन गुप्तियो मे गुप्त है ।

समस्त प्राणियों (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के जीवो) की गति और आगति को भली-भाँति जानकर जो दोनो अन्तो (राग और द्वेष) से दूर रहता है, वह समस्त लोक मे किसी से (कही भी) छेदा नही जाता, भेदा नही जाता, जलाया नही जाता और मारा नही जाता।

१२४ कुछ (मूढमति) पुरुष भविष्यकाल के साथ पूर्वकाल (अतीत) का स्मरण नही करते। वे इसकी चिन्ता नही करते कि इसका अतीत क्या था, भविष्य क्या होगा ? कुछ (मिथ्याज्ञानी) मानव यो कह देते है कि जो (जैसा) इसका अतीत था, वही (वैसा ही) इसका भविष्य होगा। किन्तु तथागत (सर्वज्ञ) (राग-द्वेष के अभाव के कारण) न अतीत के (विषय-भोगादि रूप) अर्थ का स्मरण करते हैं और न ही भविष्य के (दिव्यागना-सगादि वैषयिक सुख) अर्थ का चिन्तन करते है।

(जिसने कर्मो को विविध प्रकार से धून-कम्पित कर दिया है, ऐसे) विधूत के समान कल्प—आचार वाला महर्षि इन्ही (तथागतो) के दर्शन का अनुगामी होता है, अथवा वह क्षपक महर्षि वर्तमान का अनुदर्शी हो (पूर्व सचित) कर्मों का शोषण करके क्षीण कर देता है।

उस (धूत-कल्प) योगी के लिए भला क्या अरति है और क्या आनन्द है ? वह इस विषय मे (अरति और आनन्द के विषय मे) बिलकुल ग्रहण रहित (अग्रह-किसी प्रकार की पकड से दूर) होकर विचरण करे। वह सभी प्रकार के हास्य आदि (प्रमादो) का त्याग करके इन्द्रियनिग्रह तथा मन-वचन-काया को तीन गुप्तियो से गुप्त (नियत्रित) करते हुए विचरण करे।

विवेचन—सूत्र १२२ से १२४ तक सब मे आत्मा के विकास, आत्म-समता, आत्म-शुद्धि, आत्म-प्रसन्नता, आत्म-जागृति, आत्म-रक्षा, पराक्रम, विषयो से विरक्ति, राग-द्वेष से दूर रहकर आत्म-रक्षण, आत्मा का अतीत और भविष्य, कर्म से मुक्ति, आत्मा की मित्रता, आत्म-निग्रह आदि आध्यात्मिक आरोहण का स्वर गूँज रहा है।

सधि लोगस्स जाणित्ता—यह सूत्र बहुत ही गहन और अर्थ गम्भीर है। वृत्तिकार ने सधि के सदर्भ मे इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की है—

(१) उदीर्ण दर्शन मोहनीय के क्षय तथा शेष के उपशान्त होने से प्राप्त सम्यक्त्व भाव-सन्धि है।

(२) विशिष्ट क्षायोपशमिक भाव प्राप्त होने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति रूप भाव-सन्धि।

(३) चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक् चारित्र रूप भाव-सन्धि।

(४) सन्धि का अर्थ—सन्धान, मिलन या जुडना है। कर्मोदयवश ज्ञान-दर्शन-चारित्र के टूटते हुए अध्यवसाय का पुन जुडना या मिलना भाव-सन्धि है।

(५) धर्मानुष्ठान का अवसर भी सन्धि कहलाता है।

आध्यात्मिक (क्षायोपशमिकादि भाव) सन्धि को जानकर प्रमाद करना श्रेयस्कर नही

है, आध्यात्मिक लोक के तीन स्तम्भो—ज्ञान-दर्शन-चारित्र का टूटने से सतत रक्षण करना चाहिए। जैसे कारागार में बन्द कैदी के लिए दीवार मे हुए छेद या बेडी को टूटी हुई जानकर प्रमाद करना अच्छा नही होता, वैसे ही आध्यात्मिक लोक मे मुमुक्षु के लिए भी इस जीवन को, मोह-कारागार की दीवार का या बन्धन का छिद्र जानकर क्षणभर भी पुत्र, स्त्री या ससार सुख के व्यामोह रूप प्रमाद मे फँसे रहना श्रेयस्कर नही होता।[1]

'आयओ बहिया पास' का तात्पर्य है—तू अध्यात्मलोक को अपनी आत्मा तक ही सीमित मत समझ। अपनी आत्मा का ही सुख-दु ख मत देख। अपनी आत्मा से बाहर लोक मे व्याप्त समस्त आत्माओ को देख। वे भी तेरे समान हैं, उन्हे भी सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है। इस प्रकार आत्म-समता की दृष्टि प्राप्त कर।

इसी बोधवाक्य की फलश्रुति अगले वाक्य—**'तम्हा ण हता ण विघातए'** मे दे दी है कि आत्मौपम्यभाव से सभी के दु ख-सुख को अपने समान जानकर किसी जीव का न तो स्वय घात करे, न दूसरो से कराए।

अध्यात्मज्ञानी मुनि पाप कर्म का त्याग केवल काया से या वचन से ही नही करता, मन से भी करता है। ऐसी स्थिति मे वह अपने त्याग के प्रति सतत वफादार रहता है। जो व्यक्ति किसी दूसरे के लिहाज, दबाव या भय से अथवा उनके देखने के कारण पापकर्म नही करता, किन्तु परोक्ष मे छिपकर करता है, वह अपने त्याग के प्रति वफादार कहाँ रहा ? यही शका इस सूत्र (**जमिण अण्णमण्ण सिया ?**) मे उठायी गई है। इसमे से ध्वनि यही निकलती है कि जो व्यक्ति व्यवहार-बुद्धि से प्रेरित होकर दूसरो के भय, दबाव या देखते हुए पापकर्म नही करता, यह उसका सच्चा त्याग नही, क्योकि उसके अन्त करण मे पापकर्म-त्याग की प्रेरणा जगी नही है। इसलिए वह निश्चयदृष्टि से मुनि नही है, मात्र व्यवहारदृष्टि से वह मुनि कहलाता है। उसके पापकर्म-त्याग मे उसका मुनित्व कारण नही है।[2]

इसी सूत्र के सन्दर्भ मे अगले सूत्र मे समता के माध्यम से आत्म-प्रसन्नता की प्रेरणा दी गई है—इसका तात्पर्य यह है कि साधक मन-वचन-काया की समता—एकरूपता को देखे। दूसरो के देखते हुए पापकर्म न करने की तरह परोक्ष मे भी न करना, समता है। इस प्रकार की समता मे प्रेरित होकर जो साधक समय—(आत्मा या सिद्धान्त) के प्रति वफादार रहते हुए लज्जा, भय आदि से भी पापकर्म नही करता, तप-त्याग एव सयम का परिपालन करता है, उसमे उसका मुनित्व कारण हो जाता है।

'समय' के यहाँ तीन अर्थ फलित होते है। समता, आत्मा और सिद्धान्त।[3] इन तीनो के परिप्रेक्ष्य मे—इन तीनो को केन्द्र मे रखकर—साधक को पापकर्म-त्याग की प्रेरणा यहाँ दी गई है। इसी से आत्मा प्रसन्न हो सकती है अर्थात आत्मिक प्रसन्नता—उल्लास का अनुभव हो सकता है। जिसके लिए यहाँ कहा गया है—**'अप्पाण विप्पसायए।'**

---

१ आचा० टीका पत्र १४९
२ आचा० टीका पत्र १५०
३ आचा० टीका पत्र १५०

'आगति गति परिण्णाय' का तात्पर्य यह है कि चार गतियाँ हैं, उनमे से किस गति का जीव कौन-कौन सी गति मे आ सकता है और किस गति से कहाँ-कहाँ जा सकता है ? इसका ऊहापोह करना चाहिए। जैसे तिर्यंच और मनुष्य की आगति और गति (गमन) चारो गतियो मे हो सकती है, किन्तु देव और नारक की आगति-गति तिर्यंच और मनुष्य इन दो ही गतियो से हो सकती है। किन्तु मनुष्य इन चारो गतियो मे गमनागमन की प्रक्रिया को तोडकर पचम गति—मोक्षगति मे भी जा सकता है, जहाँ से लौटकर वह अन्य किसी गति मे नही जाता। उसका मूल कारण दो अन्तो—राग-द्वेष का लोप, नाश करना है। फिर उस विशुद्ध मुक्त आत्मा का लोक मे कही भी छेदन-भेदनादि नही होता।[1]

१२४वे सूत्र की व्याख्या वृत्तिकार ने दार्शनिक, भौतिक और आध्यात्मिक साधना, इन तीनो दृष्टियो से की है। कुछ दार्शनिको का मत है—भविष्य के साथ अतीत की स्मृति नही करना चाहिए। वे भविष्य और अतीत मे कार्य-कारण भाव नही मानते। कुछ दार्शनिको का मन्तव्य है—जैसा जिस जीव का अतीत था, वैसा ही उसका भविष्य होगा। इनमे चिन्ता करने की क्या जरूरत है ?

तथागत (सर्वज्ञ) अतीत और भविष्य की चिन्ता नही करते, वे केवल वर्तमान को ही देखते है।

मोह और अज्ञान से आवृत बुद्धि वाले कुछ लोग कहते है कि यदि जीव के नरक आदि जन्मो मे प्राप्त या उस जन्म मे बालक, कुमार आदि वय मे प्राप्त दु खादि का विचार—स्मरण करे या भविष्य मे इस सुखाभिलाषी जीव को क्या-क्या दु ख आएँगे ? इसका स्मरण-चिन्तन करेगे तब तो वर्तमान मे सासारिक सुखो का उपभोग ही नही कर पाएगे। जैसा कि वे कहते है—

केण ममेत्थुप्पत्ती कह इओ तह पुणो वि गतव्व।
जो एत्तिय वि चिंतइ इत्थ सो को न निव्विण्णो॥

भूतकाल के किस कर्म के कारण मेरी यहाँ उत्पत्ति हुई ? यहाँ से मरकर मै कहाँ जाऊँगा ? जो इतना भी इस विषय मे चिन्तन कर लेता है, वह ससार से उदासीन हो जाएगा, ससार के सुखो मे उसे अरुचि हो जाएगी।

कई मिथ्याज्ञानी कहते है—"अतीत और अनागत के विषय मे क्या विचार करना है ? इस प्राणी का जैसा भी अतीत—स्त्री, पुरुष, नपु सक, सुभग-दुर्भग, सुखी-दु खी, कुत्ता, बिल्ली, गाय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप रहा है, वही इस जन्म मे प्राप्त और अनुभूत हुआ है और इस जन्म (वर्तमान) मे जो रूप (इनमे से) प्राप्त हुआ है, वही रूप आगामी जन्म (भविष्य) मे प्राप्त होगा, इसमे पूछना ही क्या है ? साधना करने की भी क्या जरूरत है ?"

आध्यात्मिक दृष्टि वाले साधक पूर्व अनुभूत विषय-सुखोपभोग आदि का स्मरण नही करते और न भविष्य के लिए विषय-सुख प्राप्ति का निदान (कामना मूलक सकल्प) करते हैं, क्योकि वे राग-द्वेष से मुक्त है।

---

१ आचा० टीका पत्र १५०

तात्पर्य यह है—राग-द्वेष रहित होने से ज्ञानी जन न तो अतीत कालीन विषय-सुखो के उपभोगादि का स्मरण करते हैं और न ही भविष्य मे विषय-सुखादि की प्राप्ति का चिन्तन करते हैं। मोहोदयग्रस्त व्यक्ति ही अतीत और अनागत के विषय-सुखो का चिन्तन-स्मरण करते है।[1]

'विधूतकप्पे एताणुपस्सी' का अर्थ है—जिन्होने अष्टविध कर्मों को नष्ट (विधूत) कर दिया है, वे 'विधूत' कहलाते है। जिस साधक ने ऐसे विधूतो का कल्प—आचार ग्रहण किया है, वह इन वीतराग सर्वज्ञो का अनुदर्शी होता है। उसकी दृष्टि भी इन्ही के अनुरूप होती है।

अरति, इष्ट वस्तु के प्राप्त न होने या वियोग होने से होती है और रति (आनन्द) इष्ट-प्राप्ति होने से। परन्तु जिस साधक का चित्त धर्म व शुक्लध्यान मे रत है, जिसे आत्म-ध्यान मे ही आत्मरति—आत्म-सन्तुष्टि या आत्मानन्द की प्राप्ति हो चुकी है, उसे इस बाह्य अरति या रति (आनन्द) से क्या मतलब है? इसलिए साधक को प्रेरणा दी गयी है—**'एत्थपि अग्गहे चरे'** अर्थात् आध्यात्मिक जीवन मे भी अरति-रति (शोक या हर्ष) के मूल राग-द्वेष का ग्रहण न करता हुआ विचरण करे।[2]

मित्र-अमित्र-विवेक

१२५. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्त, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

जं जाणेज्जा उच्चालयित तं जाणेज्जा दूरालयित, जं जाणेज्जा दूरालइतं तं जाणेज्जा उच्चालइतं।

१२६. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।

१२५ हे पुरुष (आत्मन्)! तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर, अपने से भिन्न मित्र क्यो ढूँढ रहा है?

जिसे तुम (अध्यात्म की) उच्च भूमिका पर स्थित समझते हो, उसका घर (स्थान) अत्यन्त दूर (सर्व आसक्तियो से दूर या मोक्षमार्ग मे) समझो, जिसे अत्यन्त दूर (मोक्ष मार्ग मे स्थित) समझते हो, उसे तुम उच्च भूमिका पर स्थित समझो।

१२६ हे पुरुष! अपना (आत्मा का) ही निग्रह कर। इसी विधि से तू दुःख से (कर्म से) मुक्ति प्राप्त कर सकेगा।

सत्य मे समुत्थान

१२७. पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि। सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए[3] मेधावी मारं तरति।

सहिते धम्ममादाय सेयं समणुपस्सति।

दुहतो जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जंसि एगे पमादेंति।

---

१ आचा० टीका पत्र १५१।
२ आचा० टीका पत्र १५२।
३ 'उवट्ठिए से मेहावी'—यह पाठान्तर भी है।

सहिते दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए ।
पासिम दविए लोगालोगपवंचातो मुच्चति त्ति बेमि ।
॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

१२७ हे पुरुष ! तू सत्य को ही भलीभाँति समझ ! सत्य की आज्ञा (मर्यादा) मे उपस्थित रहने वाला वह मेधावी मार (मृत्यु, समार) को तर जाता है।

सत्य या ज्ञानादि से युक्त (सहित) साधक धर्म को ग्रहण करके श्रेय (आत्म-हित) का सम्यक् प्रकार से अवलोकन—साक्षात्कार कर लेता है।

राग और द्वेष (इन) दोनो से कलुषित आत्मा जीवन की वन्दना, सम्मान और पूजा के लिए (हिंसादि पापो मे) प्रवृत्त होता है। कुछ साधक भी इन (वन्दनादि) के लिए प्रमाद करते है।

ज्ञानादि से युक्त साधक (उपसर्ग-व्याधि आदि से जनित) दुःख की मात्रा से स्पृष्ट होने पर व्याकुल नही होता।

आत्मद्रष्टा वीतराग पुरुष लोक मे आलोक (द्वन्द्वो) के समस्त प्रपचो (विकल्पो) से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—इस सूत्र मे परम सत्य को ग्रहण करने और तदनुसार प्रवृत्ति करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही सत्ययुक्त साधक की उपलब्धियो एव असत्ययुक्त मनुष्यो की अनुपलब्धियो की भी सक्षिप्त झाकी दिखाई है।

'सच्चमेव समभिजाणाहि' मे वृत्तिकार सत्य के तीन अर्थ करते है—(१) प्राणिमात्र के लिए हितकर-सयम, (२) गुरु-साक्षी से गृहीत पवित्र सकल्प (शपथ), (३) सिद्धान्त या सिद्धान्त-प्रतिपादक आगम।[1]

साधक किसी भी मूल्य पर सत्य को न छोडे, सत्य की ही आसेवना, प्रतिज्ञापूर्वक आचरण करे, सभी प्रवृत्तियो मे सत्य को ही आगे रखकर चले। सत्य—स्वीकृत सकल्प एव सिद्धान्त का पालन करे, यह इस वाक्य का आशय है।

'दुहतो' (दुहत) के चार अर्थ वृत्तिकार ने किये है—
(१) राग और द्वेष दो प्रकार से,
(२) स्व और पर के निमित्त से,
(३) इहलोक और परलोक के लिए,
(४) दोनो से (राग और द्वेष से) जो हत है, वह दुर्हत है।[2]

'जीवियस्स परिवदण-माणण-पूयणाए'—इस वाक्य का अर्थ भी गहन है। मनुष्य अपने वन्दन, सम्मान एव पूजा-प्रतिष्ठा के लिए बहुत उखाड-पछाड करता है, अपनी प्रसिद्धि के लिए बहुत ही आरम्भ-समारम्भ, आडम्बर और प्रदर्शन करता है, सत्ताधीश बनकर प्रशसा,

१ आचा० टीका पत्र १५३। २ आचा० टीका पत्र १५३।

पूजा-प्रतिष्ठा पाने के हेतु अनेक प्रकार की छल-फरेब एव तिकडमबाजी करता है। ऐसे कार्यों के लिए हिंसा, झूठ, माया, छल-कपट, बेईमानी, धोखेबाजी करने मे कई लोग सिद्धहस्त होते हैं। अपने तुच्छ, क्षणिक जीवन मे राग-द्वेष-वश पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए बडे-बडे नामी साधक भी अपने त्याग, वैराग्य एव सयम की बलि दे देते है, इसके लिए हिंसा, असत्य, बेईमानी, माया आदि करने मे कोई दोष ही नही मानते। जिन्हे तिकडमबाजी करनी आती नही, वे मन ही मन राग और द्वेष की, मोह और घृणा-ईर्ष्या आदि की लहरो पर खेलते रहते हैं, कर कुछ नही सकते, पर कर्मबन्धन प्रचुर मात्रा मे कर लेते हैं। दोनो ही प्रकार के व्यक्ति पूजा-सम्मान के अर्थी हैं और प्रमादग्रस्त हैं।[1]

'झझाए' का अर्थ है—मनुष्य दु ख और सकट के समय हतप्रभ हो जाता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित होकर किंकर्त्तव्यमूढ हो जाती है, वह अपने साधना-पथ या सत्य को छोड बैठता है। झझा का सस्कृत रूप बनता है ध्यन्धता (धी+अन्धता) बुद्धि की अन्धता। साधक के लिए यह बहुत बडा दोष है। झझा दो प्रकार की होती है—राग-झझा और द्वेष-झझा। इष्टवस्तु की प्राप्ति होने पर राग-झझा होती है, जबकि अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर द्वेष-झझा होती है। दोनो ही अवस्थाओ मे सूझ-बूझ मारी जाती है।[2]

लोकालोक प्रपच का तात्पर्य है—चौदह राजू परिमित लोक मे जो नारक, तिर्यंच आदि एव पर्याप्तक-अपर्याप्तक आदि सैकडो आलोको—अवलोकनो के विकल्प (प्रपच) है, वही है—लोकालोक प्रपच।[3]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

कषाय-विजय

१२८. से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च। एतं पासगस्स दसणं उवरतसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाण सगडब्भि।

१२९. जे एगं जाणति से सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणति से एगं जाणति।
सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्पमत्तस्स णत्थि भयं।
जे[4] एग णामे से बहु णामे जे बहु णामे से एगं णामे।

---

१. आचा० टीका पत्र १५३ २. आचा० टीका पत्र १५४

३ आचाराग टीका पत्र १५४

४ यहाँ पाठान्तर भी है—**जे एगणामे से बहुणामे, जे बहुणामे से एगणामे**—इसका भाव है—जो एक स्वभाव वाला है, (उपशान्त है) वह अनेक स्वभाव वाला (अन्य गुण युक्त भी) है। जो अनेक स्वभाव वाला है वह एक स्वभाव वाला भी है।

दुक्खं लोगस्स जाणित्ता, वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं।
परेण परं जंति, णावकंखंति जीवितं।
एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो विगिंचमाणे एगं विगिंचइ।
सड्ढी आणाए मेधावी।
लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं।
अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं।

१३०. जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोधं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च णरगं च तिरियं च दुक्खं च।

एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स—आयाणं निसिद्धा सगडब्भि।

१३१. किमत्थि उवधी पासगस्स, ण विज्जति ? णत्थि त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

१२८ वह (सत्यार्थी साधक) क्रोध, मान, माया और लोभ का (शीघ्र ही) वमन (त्याग) कर देता है। यह दर्शन (उपदेश) हिंसा से उपरत तथा समस्त कर्मों का अन्त करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी (तीर्थंकर) का है। जो कर्मों के आदान (कषायों, आस्रवों) का निरोध करता है, वही स्व-कृत (कर्मों) का भेत्ता (नाश करने वाला) है।

१२९ जो एक को जानता है, वह सब को जानता है।

जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

प्रमत्त को सब ओर से भय होता है, अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता।

जो एक को झुकाता है, वह बहुतों को झुकाता है, जो बहुतों को झुकाता है, वह एक को झुकाता है।

साधक लोक—(प्राणि-समूह) के दुःख को जानकर (उसके हेतु कषाय का त्याग करे)

वीर साधक लोक के (संसार के) संयोग (ममत्व-सम्बन्ध) का परित्याग कर महायान (मोक्षपथ) को प्राप्त करते हैं। वे आगे से आगे बढ़ते जाते हैं, उन्हें फिर (असंयमी) जीवन की आकांक्षा नहीं रहती।

एक (अनन्तानुबंधी कषाय) को (जीतकर) पृथक् करने वाला, अन्य (कर्मों) को भी (जीतकर) पृथक् कर देता है, अन्य को (जीतकर) पृथक् करने वाला, एक को भी पृथक् कर देता है।

(वीतराग की) आज्ञा में श्रद्धा रखने वाला मेधावी होता है।

साधक आज्ञा से (जिनवाणी के अनुसार) लोक (षट्जीवनिकायरूप या

कषायरूप लोक) को जानकर (विषयो) का त्याग कर देता है, वह अकुतोभय (पूर्ण-अभय) हो जाता है।

शस्त्र (असयम) एक से एक बढकर तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता है किन्तु अशस्त्र (सयम) एक से एक बढकर नही होता।

१३० जो क्रोधदर्शी होता है, वह मानदर्शी होता है,
जो मानदर्शी होता है, वह मायादर्शी होता है,
जो मायादर्शी होता है, वह लोभदर्शी होता है,
जो लोभदर्शी होता है, वह प्रेमदर्शी होता है,
जो प्रेमदर्शी होता है, वह द्वेषदर्शी होता है,
जो द्वेषदर्शी होता है, वह मोहदर्शी होता है
जो मोहदर्शी होता है, वह गर्भदर्शी होता है,
जो गर्भदर्शी होता है, वह जन्मदर्शी होता है,
जो जन्मदर्शी होता है, वह मृत्युदर्शी होता है,
जो मृत्युदर्शी होता है, वह नरकदर्शी होता है,
जो नरकदर्शी होता है, वह तिर्यंचदर्शी होता है,
जो तिर्यंचदर्शी होता है, वह दु खदर्शी होता है,

(अत) वह मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यच और दु ख को वापस लौटा दे (दूर भगा दे)। यह समस्त कर्मों का अन्त करने वाले, हिंसा-असयम से उपरत एव निरावरण द्रष्टा (पश्यक) का दर्शन (आगमोक्त उपदेश) है।

जो पुरुष कर्म के आदान—कारण को रोकता है, वही स्व-कृत (कर्म) का भेदन कर पाता है।

१३१ क्या सर्व-द्रष्टा की कोई उपधि होती है, या नही होती? नही होती।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सूत्र १२८ से १३१ तक मे कषायो के परित्याग पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही कषायो का परित्याग कौन करता है, उनके परित्याग से क्या उपलब्धियाँ प्राप्त होती है, कषायो के परित्यागी की पहिचान क्या है? इन सब बातो पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

१२८ वे सूत्र मे क्रोधादि चारो कषायो के वमन का निर्देश इसलिए किया गया है कि साधु-जीवन मे कम से कम अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग तो अवश्य होना चाहिए, परन्तु यदि चारित्र-मोहनीय कर्म के उदयवश साधु-जीवन मे भी अपकार करने वाले के प्रति तीव्र क्रोध आ जाय, जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, तप, लाभ एव ऐश्वर्य आदि का मद उत्पन्न हो जाये, अथवा पर-वचना या प्रच्छन्नता, गुप्तता आदि के रूप मे माया का सेवन हो जाये, अथवा अधिक पदार्थों के सग्रह का लोभ जाग

उठे तो तुरन्त ही सभल कर उसका त्याग कर देना चाहिए, उसे शीघ्र ही मन से खदेड देना चाहिए, अन्यथा वह अड्डा जमा कर बैठ जाएगा, इसलिए यहाँ शास्त्रकार ने 'वंता' शब्द का प्रयोग किया है। वृत्तिकार ने कहा है—क्रोध, मान, माया और लोभ को वमन करने से ही पारमार्थिक (वास्तविक) श्रमण भाव होता है, अन्यथा नही।

इस (कषाय-परित्याग) को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का दर्शन इसलिए बताया गया है कि कषाय का सर्वथा परित्याग किये बिना निरावरण एव सकल पदार्थग्राही केवल (परम) ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति नही होती और न ही कषाय-त्याग के बिना सिद्धि-सुख प्राप्त हो सकता है।[1]

'आयाण सगडब्भि'—यह वाक्य इसी उद्देशक मे दो बार आया है, परन्तु पहली बार दिए गये वाक्य मे **आयाण** के बाद **'निसिद्धा'** शब्द नही है, जबकि दूसरी बार प्रयुक्त इसी वाक्य मे **'निसिद्धा'** शब्द प्रयुक्त है। इसका रहस्य विचारणीय है। लगता है—लिपिकारो की भूल से **'निसिद्धा'** शब्द छूट गया है।[2]

'आदान' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—'आत्म-प्रदेशो के साथ आठ प्रकार के कर्म जिन कारणो से आदान—ग्रहण किये जाते है, चिपकाये जाते हैं, वे हिंसादि पाच आस्रव, अठारह पापस्थान या उनके निमित्त रूप कषाय—आदान हैं।[3]

इन कषायरूप आदानो का जो प्रवेश रोक देता है, वही साधक अनेक जन्मो मे उपार्जित स्वकृत कर्मों का भेदन करने वाला होता है।[4]

आत्म-जागृति या आत्मस्मृति के अभाव मे ही कषाय की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह भी एक प्रकार से प्रमाद है और जो प्रमादग्रस्त है, उसे कषाय या तज्जनित कर्मों के कारण सब ओर से भय है। प्रमत्त व्यक्ति द्रव्यत —सभी आत्म-प्रदेशो से कर्म सचय करता है, क्षेत्रत —छह दिशाओ मे व्यवस्थित, कालत —प्रतिक्षण, भावत —हिंसादि तथा कषायो से कर्म सग्रह करता है। इसलिए प्रमत्त को इस लोक मे भी भय है, परलोक मे भी। जो आत्महित मे जागृत है, उसे न तो ससार का भय रहता है, न ही कर्मों का।[5]

'एग जाणइ०' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जो विशिष्ट ज्ञानी एक परमाणु आदि द्रव्य तथा उसके किसी एक भूत-भविष्यत् पर्याय अथवा स्व या पर पर्याय को पूर्ण रूप से जानता है, वह समस्त द्रव्यो एव पर-पर्यायो को जान लेता है, क्योकि समस्त वस्तुओ के ज्ञान के बिना अतीत-अनागत पर्यायो सहित एक द्रव्य का पूर्ण ज्ञान नही हो सकता। इसी प्रकार जो ससार की सभी वस्तुओ को जानता है, वह किसी एक वस्तु को भी उसके अतीत-अनागत पर्यायो सहित जानता है। एक द्रव्य का सिद्धान्त दृष्टि से वास्तविक लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

---

१ आचा० टीका पत्र १५४
२ आचा० टीका पत्र १५५
३ आचा० टीका पत्र १५५
४ आचा० टीका पत्र १५५
५ आचा० टीका पत्र १५५

एगदवियस्स जे अत्थपज्जवा वजणपज्जवा वावि ।
तीयाऽणागयभूया तावइयं त हवइ दव्व ॥

'एक द्रव्य के जितने अर्थपर्यव और व्यजनपर्यव अतीत, अनागत और वर्तमान मे होते है, उतने सब मिलाकर एक द्रव्य होता है ।'[1]

प्रत्येक वस्तु द्रव्यदृष्टि से अनादि, अनन्त और अनन्त धर्मात्मक है । उसके भूतकालीन पर्याय अनन्त हैं, भविष्यत्कालीन पर्याय भी अनन्त होगे और अनन्त धर्मात्मक होने से वर्तमान पर्याय भी अनन्त है ।

ये सब उस वस्तु के स्व-पर्याय है । इनके अतिरिक्त उस वस्तु के सिवाय जगत् मे जितनी दूसरी वस्तुएँ है उनमे से प्रत्येक के पूर्वोक्त रीति से जो अनन्त-अनन्त पर्याय हैं, वे सब उस वस्तु के पर-पर्याय है ।

ये पर-पर्याय भी स्व-पर्यायो के ज्ञान मे सहायक होने से उस वस्तु—सम्बन्धी है । जैसे स्व-पर्याय वस्तु के साथ अस्तित्व सम्बन्ध से जुडे हुए है, उसी प्रकार पर-पर्याय भी नास्तित्व सम्बन्ध से उस वस्तु के साथ जुडे हैं ।

इस प्रकार वस्तु के अनन्त भूतकालीन, अनन्त भविष्यत्कालीन, अनन्त वर्तमानकालीन स्व-पर्यायो को और अनन्तानन्त पर-पर्यायो को जान लेने पर ही उस एक वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है । इसके लिए अनन्तज्ञान की आवश्यकता है । अनन्तज्ञान होने पर ही एक वस्तु पूर्णरूप से जानी जाती है और जिसमे अनन्तज्ञान होगा, वह ससार की सर्व वस्तुओ को जानेगा ।

इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि जो एक वस्तु को पूर्ण रूप से जानता है, वह सभी वस्तुओ को पूर्ण रूप से जानता है और जो सर्व वस्तुओ को पूर्ण रूप से जानता है, वही एक वस्तु को पूर्ण रूप से जानता है । यही तथ्य इस श्लोक मे प्रकट किया गया है—

एको भाव सर्वथा येन दृष्ट' सर्वे भावा. सर्वथा तेन दृष्टा ।
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा, एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट ॥

'जे एग नामे०'—इस सूत्र का आशय भी बहुत गम्भीर है—(१) जो विशुद्ध अध्यवसाय से एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को नमा देता है—क्षय कर देता है, वह बहुत से अनन्तानुबन्धी मान आदि को नमा-खपा देता है, अथवा अपने ही अन्तर्गत अप्रत्याख्यानी आदि कषाय-प्रकारो को नमा-खपा देता है । (२) जो एक मोहनीय कर्म को नमा देता है—क्षय कर देता है, वह शेष कर्म प्रकृतियो को भी नमा-खपा देता है ।

इसी प्रकार जो बहुत से कम स्थिति वाले कर्मों को नमा-खपा देता है, वह उतने समय मे एक अनन्तानुबन्धी कषाय को नमाता-खपाता है, अथवा एक मात्र मोहनीय कर्म को (उतने समय मे) नमाता-खपाता है, क्योकि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटा-कोटी सागरोपमकाल की है, जबकि शेष कर्मों की २० या ३० कोटा-कोटी सागरोपम से अधिक स्थिति नही है ।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १५५ ।

यहाँ '**नाम**' शब्द '**क्षपक**'(क्षय करने वाला)या '**उपशामक**' अर्थ में ग्रहण करना अभीष्ट है। उपशमश्रेणी की दृष्टि से भी इसी तरह एकनाम, बहुनाम की चतुर्भंगी समझ लेनी चाहिए।[1]

कषाय-त्याग की उपलब्धियाँ बताते हुए, '**अति वीरा महाजाण परेण पर जति**' इत्यादि वाक्य कहे गये हैं। कर्म-विदारण मे समर्थ, सहिष्णु या कषाय-विजयी साधक वीर कहलाते है। वृत्तिकार ने '**महायान**' शब्द के दो अर्थ किये है—

(१) महान् यान (जहाज) महायान है, वह रत्नत्रयरूप धर्म है, जो मोक्ष तक साधक को पहुँचा देता है।[2]

(२) जिसमे सम्यग्दर्शनादि त्रय रूप महान् यान हैं, उस मोक्ष को महायान कहते है।[3]

'महायान' का एक अर्थ—विशाल पथ अथवा 'राजमार्ग' भी हो सकता है। सयम का पथ—राजमार्ग है, जिस पर सभी कोई निर्भय होकर चल सकते है।

'**परेण पर जति**' का शब्दश अर्थ तो किया जा चुका है। परन्तु इसका तात्पर्य है आध्यात्मिक दृष्टि से (कषाय-क्षय करके) आगे से आगे बढ़ना। वृत्तिकार ने इसका स्पष्टीकरण यो किया है—सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने से नरक-तिर्यचगतियो मे भ्रमण रुक जाता है, साधक सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र का यथाशक्ति पालन करके आयुष्य क्षय होने पर सौधर्मादि देवलोको मे जाता है, पुण्य शेष होने से वहाँ से मनुष्यलोक मे कर्मभूमि, आर्यक्षेत्र, सुकुल-जन्म, मनुष्यगति तथा सयम आदि पाकर विशिष्टतर अनुत्तर देवलोक तक पहुँच जाता है। फिर वहाँ से च्यवकर मनुष्य जन्म तथा उक्त उत्तम सयोग प्राप्त कर उत्कृष्ट सयम पालन करके समस्त कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पर अर्थात् सयमादि के पालन से पर—अर्थात् स्वर्ग-परम्परा से अपवर्ग (मोक्ष) भी प्राप्त कर लेता है।[4] अथवा पर—सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (४) से उत्तरोत्तर आगे बढते-बढते साधक अयोगिकेवली गुणस्थान (१४) तक पहुँच जाता है। अथवा पर—अनन्तानुबन्धी के क्षय से पर—दर्शनमोह—चारित्रमोह का क्षय अथवा भवोपग्राही-घाती कर्मो का क्षय कर लेता है।

उत्तरोत्तर तेजोलेश्या प्राप्त कर लेना है, यह भी '**परेण पर जति**' का अर्थ है।

'**णावकखति जीवित**' के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये है—

(१) दीर्घजीविता नही चाहते, कर्मक्षय के लिए उद्यत क्षपक साधक इस बात की परवाह (चिन्ता) नही करते कि जीवन कितना बीता है, कितना शेष रहा है।

(२) वे असयमी जीवन की आकाक्षा नही करते।[5]

'**एग विगिचमाणे**'—इस सूत्र का आशय यह है कि क्षपकश्रेणी पर आरूढ उत्कृष्ट साधक एक अनन्तानुबन्धीकषाय का क्षय करता हुआ, पृथक्—अन्य दर्शनावरण आदि का भी क्षय कर लेता है। आयुष्यकर्म बध भी गया हो तो भी दर्शनसप्तक का क्षय कर लेता है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १५६।
२ आचा० शीला० टीका पत्राक १५६।
३ आचा० शीला० टीका पत्राक १५६।
४ आचा० शीला० टीका पत्राक १५६।
५. आचा० शीला० टीका पत्राक १५७।

पृथक्—अन्य का क्षय करता हुआ एक अनन्तानुबन्धी नामक कषाय का भी क्षय कर देता है। '**विगिंच**' शब्द का अर्थ 'क्षय करना' ही ग्रहण किया गया है।[1]

'**अत्थि सत्थं परेण परं**'—इस सूत्र की शब्दावली के पीछे रहस्य यह है कि जनसाधारण को शस्त्र से भय लगता है, साधक को भी, फिर वह अकुतोभय कैसे हो सकता है? इसी का समाधान इस सूत्र द्वारा किया गया है कि द्रव्यशस्त्र उत्तरोत्तर तीखा होता है, जैसे एक तलवार है, उससे भी तेज दूसरा शस्त्र हो सकता है। जैसे शस्त्रो मे उत्तरोत्तर तीक्ष्णता मिलती है, वैसी तीक्ष्णता अशस्त्र मे नही होती। अशस्त्र है—सयम, मैत्री, क्षमा, कषाय-क्षय, अप्रमाद आदि। इनमें एक दूसरे से प्रतियोगिता नही होती। इसी प्रकार भावशस्त्र है-द्वेष, घृणा, क्रोधादि कषाय, ये सभी उत्तरोत्तर तीव्र-मन्द होते हैं। जैसे राम को श्याम पर मद क्रोध हुआ, हरि पर वह तीव्र हुआ और रोशन पर वह और भी तीव्रतर हो गया, किन्तु 'कमल' पर उसका क्रोध तीव्रतम हो गया। इस प्रकार सज्वलन, प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और अनन्तानुबन्धी क्रोध की तरह मान, माया, लोभ तथा द्वेष आदि मे उत्तरोत्तर तीव्रता होती है। किन्तु अशस्त्र में समता होती है। समभाव एकरूप होता है, वह एक के प्रति मद और दूसरे के प्रति तीव्र नही हो सकता।[2]

'**जे कोहदंसी**' इत्यादि क्रम-निरूपण का आशय भी क्रोधादि का स्वरूप जानकर उनका परित्याग करने वाले साधक की पहिचान बताना है। क्रोधदर्शी आदि मे जो 'दर्शी' शब्द जोडा गया है, उसका तात्पर्य है—क्रोधादि के स्वरूप तथा परिणाम आदि को जो पहले ज्ञपरिज्ञा से जानता है, देख लेता है, फिर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनका परित्याग करता है, क्योंकि ज्ञान सदैव अनर्थ का परित्याग करता है।

'**ज्ञानस्य फल विरति**'—ज्ञान का फल पापो का परित्याग करना है, यह उक्ति प्रसिद्ध है। इसी लम्बे क्रम को बताने के बाद शास्त्रकार स्वय निरूपण करते हैं—

'**से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोध च**' ' क्रोधादि के स्वरूप को जान लेने के बाद साधक क्रोधादि से तुरन्त हट जाये, निवृत्त हो जाए।[3]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १५७। २ आचा० शीला० टीका पत्रांक १५७।

३. आचा० शीला० टीका पत्राक १५८।

सम्यक्त्व—चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र के चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है।
- सम्यक्त्व वह अध्ययन है—जिसमे आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित सत्यों—सचाइयो—सम्यक् वस्तुतत्त्वो का निरूपण हो। यथार्थ वस्तुस्वरूप का नाम सम्यक्त्व है।[1]
- 'सम्यक्त्व' शब्द से भाव सम्यक् का ग्रहण करना यहाँ अभीष्ट है, द्रव्य सम्यक् का नही।
- भाव सम्यक् चार प्रकार के हैं, जो मोक्ष के अग हैं[2]—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान, (३) सम्यक्चारित्र और (४) सम्यक्तप। इन चारो भाव-सम्यक्-तत्त्वार्थो का प्रतिपादन करना ही सम्यक्त्व अध्ययन का उद्देश्य है।
- द्रव्य सम्यक् सात प्रकार से होता है—(१) मनोऽनुकूल बनाने से, (२) द्रव्य को सुसस्कृत करने से, (३) कुछ द्रव्यो को सयुक्त करने (मिलाने) से, (४) लाभदायक द्रव्य प्रयुक्त (प्रयोग) करने से, (५) खाया हुआ द्रव्य प्रकृति के लिए उपयुक्त होने से, (६) कुछ खराब द्रव्यो को निकाल (परित्यक्त कर) देने से शेष द्रव्य और (७) किसी द्रव्य मे से सडा हुआ भाग काट (छिन्न कर) देने से बचा हुआ द्रव्य।[3]
- इसी प्रकार भाव सम्यक् भी सात प्रकार से होता है। भाव सम्यक् भी कृत, सुसस्कृत, सयुक्त, प्रयुक्त, उपयुक्त, परित्यक्त और छिन्नरूप से सात प्रकार से होता है। इसका परिचय यथास्थान दिया जायेगा।
- सम्यक्त्व अध्ययन के चार उद्देशक है। इसी भावसम्यक्त्व के परिप्रेक्ष्य मे चारो उद्देशको मे वस्तुतत्त्व का सागोपाग प्रतिपादन किया गया है। प्रथम उद्देशक मे यथार्थ वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन होने से **सम्यग्वाद** की चर्चा है।

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक १५९।
  (ख) **'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्'** —तत्त्वार्थ० १।२।
  (ग) उत्तराध्ययनसूत्र अ० २८, गा० १, २, ३।

२ आचा० शीला० टीका पत्राक १५९।

३ आचा० निर्युक्ति गा० २१८।

※ द्वितीय उद्देशक मे विभिन्न धर्म-प्रवादियो (प्रवक्ताओ) के प्रवादो मे युक्त-अयुक्त की विचारणा होने से **धर्म-परीक्षा** का निरूपण है।

※ तृतीय उद्देशक मे निर्दोष-निरवद्य तप का वर्णन होने से उसका नाम **सम्यक् तप** है।

※ चतुर्थ उद्देशक मे **सम्यक् चारित्र** से सम्बन्धित निरूपण है।

※ इस प्रकार चार उद्देशको मे क्रमश सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् तप और सम्यक् चारित्र, इन चारो भाव सम्यको का भलीभाँति विश्लेषण है।[1]

※ निर्युक्तिकार ने भाव सम्यक् के तीन ही प्रकार बताये है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इनमे दर्शन और चारित्र के क्रमश. तीन-तीन भेद है—(१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक और (३) क्षायिक।

※ सम्यग्ज्ञान के दो भेद है—(१) क्षायोपशमिक ज्ञान और (२) क्षायिक ज्ञान।[2]

※ प्रस्तुत चतुर्थ अध्ययन के चार उद्देशक सूत्र १३२ से प्रारम्भ होकर सूत्र १४६ पर समाप्त होते हैं।

※

---

१ आचा० निर्युक्ति गा० २१५, २१६।

२ (क) आचा० निर्युक्ति गा० ११९, तत्त्वार्थ सूत्र २।३।

(ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक १५९।

'सम्मत्तं' चउत्थं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

सम्यक्त्व चतुर्थ अध्ययन प्रथम उद्देशक

सम्यग्वाद अहिंसा के संदर्भ में

१३२. से बेमि– जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति —सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं[1] पवेदिते। तं जहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा, उवरतदंडेसु वा अणुवरतदंडेसु वा सोवधिएसु वा अणुवधिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा।

१३३. तच्चं चेतं तहा चेतं अस्सिं चेतं पवुच्चति।
तं आइत्तु ण णिहे, ण णिक्खिवे, जाणित्तु धम्मं जहा तहा।
दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा।
णो लोगस्सेसणं चरे।
जस्स णत्थि इमा णाती अण्णा तस्स कतो सिया।
दिट्ठं सुतं मयं विण्णायं जमेयं परिकहिज्जति।
समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जातिं पकप्पेंती।

अहो य रातो य जतमाणे धीरे सया आगतपण्णाणे, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

---

१ 'खेतण्णेहिं' के स्थान पर 'खेअण्णेहिं,' 'खेदण्णेहिं' आदि शब्द हैं, अर्थ पूर्ववत् है। चूर्णिकार ने 'खित्तण्णो' (क्षेत्रज्ञ) शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—'खित्तं आगासं, खित्तं जाणतीति खित्तण्णो, तं तु आहारभूतं दव्व-काल-भावाणं अमुत्तं च पवुच्चति। मुत्तामुत्ताणि खित्तं च जाणतो पाएण दव्वादीणि जाणइ। जो वा संसारियाणि दुक्खाणि जाणति सो खित्तण्णो पंडितो वा।''
—क्षेत्र अर्थात् आकाश, क्षेत्र को जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। आकाश या क्षेत्र द्रव्य-काल-भावों का आधारभूत और अमूर्त है। मूर्त-अमूर्त और क्षेत्र को जो जानता है, वह प्रायः द्रव्यादि को जानता है। अथवा जो सांसारिक दुःखों को जानता है, वह भी क्षेत्रज्ञ या पण्डित कहलाता है।

१३२ मैं कहता हूँ—

जो अर्हन्त भगवान् अतीत मे हुए है, जो वर्तमान मे है और जो भविष्य मे होंगे, वे सब ऐसा आख्यान (कथन) करते है, ऐसा (परिषद मे) भाषण करते है, (शिष्यो का सशय निवारण करने हेतु—) ऐसा प्रज्ञापन करते है, (तात्त्विक दृष्टि से—) ऐसा प्ररूपण करते है—समस्त प्राणियो, सर्व भूतो, सभी जीवो और सभी सत्त्वो का (डडा आदि से) हनन नही करना चाहिए, बलात् उन्हे शासित नही करना चाहिए, न उन्हे दास बनाना चाहिए, न उन्हे परिताप देना चाहिए और न उनके प्राणो का विनाश करना चाहिए ।

यह अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है । खेदज्ञ अर्हन्तो ने (जीव—) लोक को सम्यक् प्रकार से जानकर इसका प्रतिपादन किया है ।

(अर्हन्तो ने इस धर्म का उन सबके लिए प्रतिपादन किया है), जैसे कि—

जो धर्माचरण के लिए उठे हैं, अथवा अभी नही उठे है । जो धर्मश्रवण के लिए उपस्थित हुए है, या नही हुए है, जो (जीवो को मानसिक, वाचिक और कायिक) दण्ड देने से उपरत है, अथवा अनुपरत है, जो (परिग्रहरूप) उपधि से युक्त है, अथवा उपधि से रहित है, जो सयोगो (ममत्व सम्बन्धो) मे रत है, अथवा सयोगो मे रत नही है ।

१३३ वह (अर्हत्प्ररूपित अहिंसा धर्म) तत्त्व—सत्य है, तथ्य है (तथारूप ही है) । यह इस (अर्हत्प्रवचन) मे सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित है ।

साधक उस (अर्हत्-भाषित-धर्म) को ग्रहण करके (उसके आचरण हेतु अपनी शक्तियो को) छिपाए नही और न ही उसे (आवेश मे आकर) फेके या छोडे । धर्म का जैसा स्वरूप है, वैसा जानकर (आजीवन उसका आचरण करे) ।

(इष्ट-अनिष्ट) रूपो (इन्द्रिय-विषयो) से विरक्ति प्राप्त करे ।

वह लोकैषणा मे न भटके ।

जिस मुमुक्षु मे यह (लोकैषणा) बुद्धि (ज्ञाति=सज्ञा) नही है, उससे अन्य (सावद्यारम्भ-हिंसा) प्रवृत्ति कैसे होगी ? अथवा जिसमे सम्यक्त्व ज्ञाति नही है या अहिंसा बुद्धि नही है, उसमे दूसरा विवेक बुद्धि कैसे होगी ?

यह जो (अहिंसा धर्म) कहा जा रहा है, वह इष्ट श्रुत (सुना हुआ), मत (माना हुआ) और विशेष रूप से ज्ञात (अनुभूत) है ।

हिंसा मे (गृद्धिपूर्वक) रचे-पचे रहने वाले और उसी मे लीन रहने वाले मनुष्य बार बार जन्म लेते रहते हैं ।

(मोक्षमार्ग मे) अहर्निश यत्न करने वाले, सतत प्रज्ञावान, धीर साधक ! उन्हे देख जो प्रमत्त है (धर्म से) बाहर है । इसलिए तू अप्रमत्त होकर सदा (अहिंसादि रूप धर्म मे) पराक्रम कर ।

— ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—इन दो सूत्रो मे अहिंसा के तत्त्व का सम्यक् निरूपण, अहिंसा की त्रैकालिक एव सार्वभौमिक मान्यता, सार्वजनीनता एव इसकी सत्य-तथ्यता का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अहिंसा व्रत को स्वीकार करने वाले साधक को कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे सावधान रहकर अहिंसा के आचरण के लिए पराक्रम करना चाहिए ? यह भी बता दिया गया है। यही अहिंसा धर्म के सम्बन्ध मे सम्यग्वाद का प्ररूपण है।

'**से बेमि**' इन पदो द्वारा गणधर, तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा ज्ञात, अतीत-अनागत-वर्तमान तीर्थंकरो द्वारा प्ररूपित, अनुभूत, केवलज्ञान द्वारा दृष्ट अहिंसा धर्म की सार्वभौमिकता की घोषणा करते है।[1]

आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण मे थोडा-थोडा अन्तर है। दूसरो के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उसका उत्तर देना आख्यान—कथन है, देव-मनुष्यादि की परिषद् मे बोलना—भाषण कहलाता है, शिष्यो की शका का समाधान करने के लिए कहना 'प्रज्ञापन' है, तात्त्विक दृष्टि से किसी तत्त्व या पदार्थ का निरूपण करना 'प्ररूपण' है।[2]

प्राण, भूत, जीव और सत्व वैसे तो एकार्थक माने गए है, जैसे कि आचार्य जिनदास कहते है– '**एगटिठता वा एते**', किन्तु इन शब्दो के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किये गये है।[3]

'हतव्वा' से लेकर '**उद्देवेयव्वा**' तक हिंसा के ही विविध प्रकार बताये गये है। इनका अर्थ पृथक्-पृथक् इस प्रकार है[4]—

'**हतव्वा**'—डडा/चाबुक आदि से मारना-पीटना।

'**अज्जावेतव्वा**'—बलात् काम लेना, जबरन आदेश का पालन कराना, शासित करना।

'**परिघेत्तव्वा**'—बधक या गुलाम बनाकर अपने कब्जे मे रखना। दास-दासी आदि रूप मे रखना।

'**परितावेयव्वा**'[5] —परिताप देना, सताना, हैरान करना, व्यथित करना।

उद्देवेयव्वा'—प्राणो से रहित करना, मार डालना।

---

१ अतीत के तीर्थंकर अनन्त है, क्योकि काल अनादि होता है। भविष्य के भी अनन्त है क्योकि आगामी काल भी अनन्त है, वर्तमान मे कम से कम (जघन्य) २० तीर्थंकर है जो पाच महाविदेहो मे से प्रत्येक मे चार-चार के हिसाब से है। अधिक मे अधिक (उत्कृष्ट) १७० तीर्थंकर हो सकते है। महाविदेह क्षेत्र ५ है, उनमे प्रत्येक मे ३२-३२ तीर्थंकर होते है, अत ३२ × ५ = १६० तीर्थंकर हुए। ५ भरत क्षेत्रो मे पाच और ५ ऐरावत क्षेत्रो मे पाच—यो कुल मिलाकर एक साथ १७० तीर्थंकर हो सकते है। कुछ आचार्यों का कहना है कि मेरु पर्वत से पूर्व और अपर महाविदेह मे एक-एक तीर्थंकर होते है, यो ५ महाविदेहो मे १० तीर्थंकर विद्यमान होते है। जैसा कि एक आचार्य ने कहा है—

सत्तरसयमुक्कोस, इअरे दस समयखेत्तजिणमाण।
चोत्तीस पढमदीवे अणतरऽद्धे य ते दुगुणा॥ —आचा० वृत्ति पत्र १६२

२ आचा० शीला० टीका पत्राक १६२।

३ देखिए प्रथम अध्ययन सूत्राक ४९ का विवेचन।

४ आचा० निर्युक्ति गा० २२५, २२६ तथा आचा० शीला० टीका पत्राक १६२।

५ परितापना के विविध प्रकारो के चिन्तन के लिए ऐर्यापथिक **(इरियावहिया)** सूत्र मे पठित '**अभिहया**' से लेकर '**जीवियाओ ववरोविआ**' तक का पाठ देखे। —श्रमणसूत्र (उपा० अमरमुनि) पृ० ५४

यह अहिंसा धर्म किंचित् हिंसादि से मिश्रित या पापानुबन्धयुक्त नहीं है, इसे द्योतित करने हेतु 'शुद्ध' विशेषण का प्रयोग किया गया है। यह त्रैकालिक और सार्वदेशिक, सदा सर्वत्र विद्यमान होने से इसे 'नित्य' कहा है, क्योंकि पंचमहाविदेह में तो यह सदा रहता है। शाश्वत इसलिए कहा है कि यह शाश्वत—सिद्धगति का कारण है।[1]

भ० महावीर ने प्रत्येक आत्मा में ज्ञानादि अनन्त क्षमताओं का निरूपण करके सबको स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज करने की प्रेरणा दी—**अप्पणा सच्चमेसेज्जा**'—यह कहकर। यही कारण है कि उन्होंने किसी पर अहिंसा धर्म के विचार थोपे नहीं, यह नहीं कहा कि "मैं कहता हूँ, इसलिए स्वीकार कर लो।" बल्कि भूत, भविष्य, वर्तमान के सभी तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित है, इसलिए यह अहिंसाधर्म सार्वभौमिक है, सर्वजन- ग्राह्य है, व्यवहार्य है, सर्वज्ञों ने केवलज्ञान के प्रकाश में इसे देखा है, अनुभव किया है, लघुकर्मी भव्य जीवों ने इसे सुना है, अभीष्ट माना है। जीवन में आचरित है, इसके शुभ-परिणाम भी जाने-देखे गए है, इस प्रकार अहिंसा धर्म की महत्ता एवं उपयोगिता बताने के लिए ही '**उट्ठिएसु**' से लेकर इस उद्देशक के अन्तिम वाक्य तक के सूत्रों द्वारा उल्लेख किया गया है, ताकि साधक की दृष्टि, मति, गति, निष्ठा और श्रद्धा अहिंसाधर्म में स्थिर हो जाए।[2]

'**दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा**' का आशय यह है कि इष्ट या अनिष्ट रूप जो कि दृष्ट है—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है, उनमें निर्वेद—वैराग्य धारण करे। इष्ट के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेष/घृणा न करे।[3]

'**लोकैषणा**' से तात्पर्य है—सामान्यतया इष्ट विषयों के संयोग और अनिष्ट के वियोग की लालसा। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी प्राणियों में रहती है, इसलिए साधक के लिए इस लोकैषणा का अनुसरण करने का निषेध किया गया है।[4]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

सम्यग्ज्ञान आस्रव-परिस्रव चर्चा

१३४. जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।
जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।
२ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।
३ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६२।
४ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६२।

एते य पए संबुज्झमाणे[1] लोगं च आणाए अभिसमेच्चा पुढो पवेदितं । आघाति[2] णाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झमाणाणं विण्णाणपत्ताणं ।

अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता ।

अहासच्चमिणं ति बेमि ।

णाऽणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि ।

इच्छापणीता वंकाणिकेया कालग्गहीता णिचये णिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पेंति ।[3]

१३५. इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवति । अहोववातिए फासे पडिसंवेदयंति । चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं चिट्ठं परिविचिट्ठति । अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं णो चिट्ठं परिविचिट्ठति ।

एगे वदंति अदुवा वि णाणी, णाणी वदंति अदुवा वि एगे ।

१३६. आवंती केआवंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति "से दिट्ठं च णे, सुयं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो सुपडिलेहियं च णे—सव्वे[4] पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे सत्ता, हंतव्वा, अज्जावेतव्वा, परिघेत्तव्वा, परितावेतव्वा, उद्दवेतव्वा । एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ दोसो ।" अणारियवयणमेयं ।

१३७. तत्थ जे ते आरिया[5] ते एवं वयासी—"से दुद्दिट्ठं च भे, दुस्सुयं च भे, दुम्मयं च भे, दुव्विण्णायं च भे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो दुप्पडिलेहितं च भे, जं णं तुब्भे एवं आचक्खह, एवं भासह, एवं पण्णवेह, एवं परूवेह—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेतव्वा, परिघेत्तव्वा, परितावेयव्वा, उद्दवेतव्वा । एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ[6] दोसो ।" अणारियवयणमेयं ।

---

१ **'एते य पए संबुज्झमाणे'** पाठ में किसी-किसी प्रति में **'य'** नहीं है । चूर्णि में इन पदों की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"**एते य पदे संबुज्झ, च सद्दा अण्णे य जीव-अजीव-बंध-संवर-मोक्खा । सम संगतं वा पसत्थं वा बुज्झमाणे**"—**'च'** शब्द से अन्य (तत्त्व) जीव, अजीव, बन्ध, संवर और मोक्ष पदों का ग्रहण कर लेना चाहिए । **'संबुज्झमाणे'** का अर्थ है—सम्यक्, संगत या प्रशस्तरूप से समझने वाला ।

२ भदन्त नागार्जुनीय वाचना में इस प्रकार का पाठ उपलब्ध है—"**आघाति धम्मं खलु से जीवाणं, संसारपडिवण्णाणं मणुस्सभवत्थाणं आरंभविणयीणं दुक्खुव्वेअसुहेसगाणं, धम्मसवणगवेसगाणं (निक्खित्त सत्थाणं) सुस्सूसमाणाणं पडिपुच्छमाणाणं विण्णाणपत्ताणं ।**" इसका भावार्थ इस प्रकार है—ज्ञानी पुरुष उन जीवों को धर्मोपदेश देते हैं, जो संसार (चतुर्गति रूप) में स्थित हैं, मनुष्यभव में स्थित हैं, आरम्भ से विशेष प्रकार से हटे हुए हैं, दुःख से उद्विग्न होकर सुख की तलाश करते हैं, धर्म-श्रवण की तलाश में रहते हैं, शस्त्र-त्यागी हैं, धर्म सुनने का इच्छुक हैं, प्रति-प्रश्न करने के अभिलाषी हैं, जिन्हें विशिष्ट अनुभव युक्त ज्ञान प्राप्त है ।

३ **'पुढो पुढो जाइं पकप्पेंति'** के स्थान पर **'एत्थ मोहे पुणो पुणो'** पाठ मिलता है । इसका अर्थ है—इस विषय में पुनः पुनः मोह-मूढ बनते हैं ।

४ यहाँ पाठ में क्रम भंग हुआ लगता है । **'सव्वे पाणा, सव्वे भूता, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता'**—यही क्रम ठीक लगता है ।

५ **'आरिया'** के स्थान पर **'आयरिया'** पाठ भी है, उसका अर्थ है—आचार्य ।

[६] **'णत्थेत्थ'** के स्थान पर कई प्रतियों में **'नत्थित्थ'** शब्द मिलता है ।

१३८. वयं पुण एवमाचिक्खामो,[1] एवं भासामो, एवं पण्णवेमो, एवं परूवेमो—'सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परियावेयव्वा, ण उद्दवेतव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ दोसो।' आरियवयणमेयं।

१३९. पुव्वं णिकाय समयं पत्तेयं[2] पुच्छिस्सामो–[3] हं भो पावादुया! किं भे सायं दुक्खं उताहु[4] असायं? समिता पडिवण्णे या वि एवं बूया—सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

१३४ जो आस्रव (कर्मबन्ध) के स्थान है, वे ही परिस्रव—कर्मनिर्जरा के स्थान बन जाते है, (इसीप्रकार) जो परिस्रव है, वे आस्रव हो जाते है, जो अनास्रव-व्रत विशेष है, वे भी (अशुभ अध्यवसाय वाले के लिए) अपरिस्रव—कर्म के कारण हो जाते है, (इसीप्रकार) जो अपरिस्रव—पाप के कारण है, वे भी (कदाचित्) अनास्रव (कर्मबंध के कारण) नही होते है।

इन पदो (भगों-विकल्पो) को सम्यक् प्रकार से समझने वाला तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित लोक (जीव समूह) को आज्ञा (आगमवाणी) के अनुसार सम्यक् प्रकार से जानकर आस्रवो का सेवन न करे।

ज्ञानी पुरुष, इस विषय मे, संसार मे स्थित, सम्यक् बोध पाने के लिए उत्सुक एवं विज्ञान-प्राप्त (हित की प्राप्ति और अहित से निवृत्ति के निश्चय पर पहुंचे हुए) मनुष्यो को उपदेश करते है।

जो आर्त अथवा प्रमत्त (विषयासक्त) होते है, वे भी (कर्मो का क्षयोपशम होने पर अथवा शुभ अवसर मिलने पर) धर्म का आचरण कर सकते है।

यह यथातथ्य-सत्य है, ऐसा मै कहता हूँ।

जीवो को मृत्यु के मुख मे (कभी) जाना नही होगा, ऐसा सम्भव नही है। फिर भी कुछ लोग (विषय-सुखो की) इच्छा द्वारा प्रेरित और वक्रता (कुटिलता) के घर बने रहते है। वे मृत्यु की पकड मे आ जाने पर भी (अथवा धर्माचरण का काल/अवसर हाथ मे आ जाने पर भी भविष्य मे करने की बात सोचकर) कर्म-सचय करने या धन-सग्रह मे रचे-पचे रहते है। ऐसे लोग विभिन्न योनियो मे बारम्बार जन्म ग्रहण करते रहते है।

१३५ इस लोक मे कुछ लोगो को उन-उन (विभिन्न मतवादो) का सम्पर्क होता है (वे उन मतान्तरो की असत्य धारणाओ से बधकर कर्मास्रव करते है और

१ '**माचिक्खामो**' के स्थान पर कही-कही '**मातिक्खामो**' पाठ मिलता है।

२ कई प्रतियो मे '**पत्तेयं पत्तेयं**'—यों दो बार यह शब्द अंकित है।

३ '**हं भो पावादुया!**' के स्थान पर किसी प्रति मे '**हं भो पावादिया**' तथा **हं भो समणा माहणा किं** ' पाठ है।

४ '**सायं दुक्खं उताहु असायं**' के स्थान पर '**सातं दुक्खं उदाहु अस्सातं**'—ऐसा पाठ चूर्णि मे मिलता है।

तब वे आयुष्य पूर्ण कर) लोक मे होने वाले (विभिन्न) दुखो का संवेदन—भोग करते है।

जो व्यक्ति अत्यन्त गाढ अध्यवसायवश क्रूर कर्मों मे प्रवृत्त होता है, वह (उन क्रूर कर्मों के फलस्वरूप) अत्यन्त प्रगाढ वेदना वाले स्थान मे पैदा होता है। जो गाढ अध्यवसाय वाला न होकर, क्रूर कर्मों मे प्रवृत्त नही होता, वह प्रगाढ वेदना वाले स्थान मे उत्पन्न नही होता।

यह बात चौदह पूर्वो के धारक श्रुतकेवली आदि कहते है या केवलज्ञानी भी कहते है। जो यह बात केवलज्ञानी कहते है वही श्रुतकेवली भी कहते है।

१३६, इस मत-मतान्तरो वाले लोक मे जितने भी, जो भी श्रमण या ब्राह्मण है, वे परस्पर विरोधी भिन्न-भिन्न मतवाद (विवाद) का प्रतिपादन करते है। जैसे कि कुछ मतवादी कहते है—"हमने यह देख लिया है, सुन लिया है, मनन कर लिया है, और विशेष रूप से जान भी लिया है, (इतना ही नही), ऊँची, नीची और तिरछी सभी दिशाओ मे सब तरह से भली-भाँति इसका निरीक्षण भी कर लिया है कि सभी प्राणी, सभी जीव, सभी भूत और सभी सत्त्व हनन करने योग्य है, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हे परिताप पहुँचाया जा सकता है, उन्हे गुलाम बनाकर रखा जा सकता है, उन्हे प्राणहीन बनाया जा सकता है। इसके सम्बन्ध मे यही समझ लो कि (इस प्रकार से) हिंसा मे कोई दोष नही है।"

यह अनार्य (पाप-परायण) लोगो का कथन है।

१३७ इस जगत् मे जो भी आर्य—पाप कर्मो से दूर रहने वाले है, उन्होने ऐसा कहा है—"ओ हिंसावादियो! आपने दोषपूर्ण देखा है, दोषयुक्त सुना है, दोषयुक्त मनन किया है, आपने दोषयुक्त ही समझा है, ऊँची-नीची-तिरछी सभी दिशाओ मे सर्वथा दोषपूर्ण होकर निरीक्षण किया है, जो आप ऐसा कहते है, ऐसा भाषण करते है, ऐसा प्रज्ञापन करते है, ऐसा प्ररूपण (मत-प्रस्थापन) करते है कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हनन करने योग्य है, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हे बलात् पकड कर दास बनाया जा सकता है, उन्हे परिताप दिया जा सकता है, उनको प्राणहीन बनाया जा सकता है, इस विषय मे यह निश्चित समझ लो कि हिंसा मे कोई दोष नही।" यह सरासर अनार्य-वचन है।

१३८ हम इस प्रकार कहते है, ऐसा ही भाषण करते हैं, ऐसा ही प्रज्ञापन करते है, ऐसा ही प्ररूपण करते है कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो की हिंसा नही करनी चाहिए, उनको जबरन शासित नही करना चाहिए, उन्हे पकड कर दास नही बनाना चाहिए, न ही परिताप देना चाहिए और न उन्हे डराना-धमकाना, प्राण-रहित करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे निश्चित समझ लो कि अहिंसा का पालन सर्वथा दोष रहित है।

यह (अहिंसा का प्रतिपादन) आर्यवचन है।

१३९. पहले उनमें से प्रत्येक दार्शनिक को, जो-जो उसका सिद्धान्त है, उसमे व्यवस्थापित कर हम पूछेंगे—"हे दार्शनिको ! प्रखरवादियो ! आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय ? यदि आप कहे कि हमे दुःख प्रिय है, तब तो वह उत्तर प्रत्यक्ष-विरुद्ध होगा, यदि आप कहे कि हमे दुःख प्रिय नही है, तो आपके द्वारा इस सम्यक् सिद्धान्त के स्वीकार किए जाने पर हम आपसे यह कहना चाहेंगे कि, "जैसे आपको दुःख प्रिय नही है, वैसे ही सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो को दुःख असाताकारक है, अप्रिय है, अशान्तिजनक है और महा भयंकर है।" —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक मे आस्रव और परिस्रव की परीक्षा के लिए तथा आस्रव मे पड़े हुए लोग कैसे परिस्रव (निर्जरा-धर्म) मे प्रवृत्ति हो जाते है तथा परिस्रव (धर्म) का अवसर आने पर भी लोग कैसे आस्रव मे ही फसे रहते है ? आस्रवमग्न जनो को नरकादि मे विभिन्न दुःखो का स्पर्श होता है तथा क्रूर अध्यवसाय से ही प्रगाढ वेदना होती है, अन्यथा नही इनके लिए विवेक सूत्र प्रस्तुत किये गये है। अन्त मे हिंसावादियो के मिथ्यावाद-प्ररूपणा का सम्यग्वाद के मण्डन द्वारा निराकरण किया गया है। इस प्रकार अर्हद्दर्शन की सम्यक्ता का स्थापन किया है।[1]

आस्रव का सामान्य अर्थ है—'**कायवाङ्मनः कर्म योगः, स आस्रवः**'[2] काया, वचन और मन की शुभाशुभ क्रिया—प्रवृत्ति योग कहलाती है, वही आस्रव है।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि मे प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है और इनसे विपरीत शुभ आशय से की जाने वाली प्रवृत्ति शुभकायास्रव है।

कठोर शब्द, गाली, चुगली निन्दा आदि के रूप मे पर-बाधक वचनो की प्रवृत्ति वाचिक अशुभ आस्रव है, इनसे विपरीत प्रवृत्ति वाचिक शुभास्रव है।

मिथ्याश्रुति, घातचिन्तन, अहितचिन्तन, ईर्ष्या, मात्सर्य, षड्यन्त्र आदि रूप मे मन की प्रवृत्ति मानस अशुभास्रव है और इनसे विपरीत मानस शुभास्रव है।[3]

(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) मैथुन और (५) परिग्रह—ये पाँच आस्रव-द्वार माने जाते है।[4] आस्रव के भेद कुछ आचार्यों ने मुख्यतया पाँच माने है[5]—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। कुछ आचार्यों ने (१) इन्द्रिय, (२) कषाय, (३) अव्रत, (४) क्रिया और (५) योग—ये पाँच मुख्य भेद मानकर उत्तर भेद ४२ माने है—५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ५ अव्रत, २५ क्रिया और ३ योग।[6] किन्तु इन सबका फलितार्थ एक ही है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४। २ तत्त्वार्थसूत्र अ० ६, सू० १, २।

३ तत्त्वार्थ-राजवार्तिक प्र० ७।१४।३९।२५।

४ (क) प्रश्नव्याकरण, प्रथम खण्ड आस्रवद्वार, (ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक १६४।

५ (क) समयसार सूत्र १६४, (ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड सू० ८६, (ग) बृ० द्रव्यसंग्रह सू० ३०।

६ (क) तत्त्वार्थसार ४।७, (ख) नवतत्त्वगाथा।

आस्रव का सर्व सामान्य लक्षण है—आठ प्रकार के शुभाशुभ कर्म जिन मिथ्यात्वादि स्रोतों से आते है—आत्म-प्रदेशो के साथ एकमेक हो जाते है, उन स्रोतो को आस्रव कहते है।[1]

आस्रव और बन्ध के कारणो मे कोई अन्तर नही है, किन्तु प्रक्रिया मे थोडा-सा अन्तर है। कर्मस्कन्धो का आगमन आस्रव कहलाता है और कर्मस्कन्धो के आगमन के बाद उन कर्म-स्कन्धो का जीव—(आत्म-) प्रदेशो मे स्थित हो जाना बन्ध है। आस्रव और बन्ध मे यही अन्तर है। इस दृष्टि से आस्रव को बन्ध का कारण कहा जा सकता है।[2]

इसीलिए प्रस्तुत सूत्र मे आस्रवो को कर्मबन्ध के स्थान—कारण बताया गया है।

परिस्रव जिन अनुष्ठान विशेषो मे कर्म चारो ओर से गल या बह जाता है, उसे परि-स्रव कहते है।[3]

नव तत्त्व की शैली मे इसे 'निर्जरा' कह सकते है, क्योकि निर्जरा का यही लक्षण है। इसीलिए यहाँ परिस्रव को 'निर्जरा स्थान, बताया गया है। आस्रवो मे निवृत्त होने का उपाय 'मूलाचार' मे यो बताया गया है—'मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगो से जो कर्म आते है वे सम्यग्दर्शन, विरति, क्षमादिभाव और योगनिरोध से नही आने पाते, रुक जाते है।[4] समयसार मे निश्चय दृष्टि से आस्रव-निरोध का उपाय बताते हुए कहा है।[5] —'ज्ञानी विचारता है कि मै एक हूँ, निश्चयत सबसे पृथक् हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञान और दर्शन से परिपूर्ण हूँ। इस प्रकार अपने आत्मभाव (स्वभाव) मे स्थित उसी चैतन्य अनुभव मे एकाग्रचित्त—तल्लीन हुआ मै इन सब क्रोधादि आस्रवो का क्षय कर देता हूँ। ये आस्रव जीव के साथ निबद्ध है, अनित्य है, अशरण है, दु खरूप है, इनका फल दु ख ही है, यह जानकर ज्ञानी पुरुष उनसे निवृत्त होता है। जैसे-जैसे जीव आस्रवो से निवृत्त होता जाता है, वैसे-वैसे वह विज्ञानघन स्वभाव होता है, यानी आत्मा ज्ञान मे स्थिर होता जाता है।''

इसी दृष्टि का सक्षेप कथन यहाँ पर हुआ है कि जो आस्रव के—कर्मबन्धन के स्थान है, वे ही ज्ञानी पुरुष के लिए परिस्रव—कर्मनिर्जरा के स्थान—(कारण) हो जाते है। इसका आशय यह है कि[6] विषय-सुखमग्न मनुष्यो के लिए जो स्त्री, वस्त्र, अलकार, शैया आदि वैषयिक सुख के कारणभूत पदार्थ कर्मबन्ध के हेतु होने से आस्रव है, वे ही पदार्थ विषय-सुखो से पराड् मुख साधको के लिए आध्यात्मिक चिन्तन का आधार बन कर परिस्रव—कर्मनिर्जरा के हेतु है—स्थान है और अर्हद्देव निर्ग्रन्थ मुनि, चारित्र, तपश्चरण, दशविध धर्म या दशविध समाचारी का पालन आदि जो कर्म-निर्जरा के स्थान है वे ही असम्बुद्ध—अज्ञानी व्यक्तियो के लिए कर्मोदयवश, अहकार आदि अशुभ अध्यवसाय के कारण, ऋद्धि-रस-साता के गर्ववश या आशातना के कारण आस्रव रूप—कर्मबन्ध स्थान हो जाते है।

इसी बात को अनेकान्तशैली से शास्त्रकार बताते है—जो व्रतविशेषरूप अनास्रव है, अशुभ परिणामो के कारण वे असम्बुद्ध अज्ञानी व्यक्ति के लिए अपरिस्रव—आस्रवरूप हो

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १८४।
२ द्रव्यसग्रह टीका ३३।२४।
३ आचा० शीला० टीका पत्राक १८४।
४ मूलाचार गा० २४१।
५ समयसार गा० ७३, ७४।
६ आचा० शीला० टीका पत्राक १८४।

जाते है, कर्मबन्ध के हेतु बन जाते है, उनकी दृष्टि और कर्मों की विषमता के कारण। इसी प्रकार जो अपरिस्रव है—आस्रवरूप—कर्मबन्ध के कारणरूप—किंवा कर्म से ग्रस्त वेश्या, हत्यारे, पापी या नारकीय जीव आदि है, वे ही सम्बुद्ध—ज्ञानवान् के लिए अनास्रवरूप हो जाते है, यानी वे उसके लिए आस्रवरूप न बनकर कर्मनिर्जरा के कारण बन जाते है। इसीलिए कहा है—

यथाप्रकारा यावन्त ससारावेशहेतव ।
तावन्तस्तद्विपर्यासात् निर्वाणसुखहेतव ॥

—जिस प्रकार के और जितने ससार-परिभ्रमण के हेतु है, उसी प्रकार के और उतने ही निर्वाण-सुख के हेतु है।

वास्तव मे इस सूत्र के आधार पर आस्रव, परिस्रव, अनास्रव और अपरिस्रव को लेकर चतुर्भंगी होती है, वह क्रमश इस प्रकार है -

(१) जो आस्रव है, वे परिस्रव है, जो परिस्रव है, वे आस्रव है।

(२) जो आस्रव है, वे अपरिस्रव है, जो अपरिस्रव है, वे आस्रव है।

(३) जो अनास्रव है, वे परिस्रव है, जो परिस्रव है, वे अनास्रव है।

(४) जो अनास्रव है, वे अपरिस्रव है, जो अपरिस्रव है, वे अनास्रव है।

प्रस्तुत सूत्र मे पहले और चौथे भग का निर्देश है। दूसरा भग शून्य है। अर्थात् आस्रव हो और निर्जरा न हो—ऐसा कभी नही होता। तृतीय भग शलेशी अवस्था-प्राप्त (निष्प्रकम्प-अयोगी) मुनि की अपेक्षा से है, उनको आस्रव नही होता केवल परिस्रव (सचित कर्मों का क्षय) होता है। चतुर्थ भग मुक्त आत्माओ की अपेक्षा से प्रतिपादित है। उनके आस्रव और परिस्रव दोनो ही नही होते। वे कर्म के बन्ध और कर्मक्षय दोनो से अतीत होते है।[1]

इस सूत्र का निष्कर्ष यह है कि किसी भी वस्तु, घटना, प्रवृत्ति, क्रिया, भावधारा या व्यक्ति के सम्बन्ध मे एकागी दृष्टि से सही निर्णय नही दिया जा सकता। एक ही क्रिया को करने वाले दो व्यक्तियो के परिणामो की धारा अलग-अलग होने से एक उससे कर्म-बन्धन कर लेगा, दूसरा उसी क्रिया से कर्म-निर्जरा (क्षय) कर लेगा। आचार्य अमितगति ने योगसार (६।१८) मे कहा है—

अज्ञानी बध्यते यत्र, सेव्यमानेऽक्षगोचरे ।
तत्रैव मुच्यते ज्ञानी पश्यतामाश्चर्यमीदृशम् ॥

इन्द्रिय-विषय का सेवन करने पर अज्ञानी जहाँ कर्मबन्धन कर लेता है, ज्ञानी उसी विषय के सेवन करने पर कर्मबन्धन से मुक्त होता है—निर्जरा कर लेता है। इस आश्चर्य को देखिए।

'अट्टा वि सता अदुवा पमत्ता'—इस सूत्र का आशय बहुत गहन है। कई लोग अशुभ आस्रव-पापकर्म मे पडे हुए या विषय-सुखो मे लिप्त प्रमत्त लोगो को देखकर यह कह देते है कि "ये क्या धर्माचरण करेंगे, ये क्या पाप कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यत होंगे?"

१. आचा० शीला० टीका पत्राक १६५।

शास्त्रकार कहते है कि अगर अनेकान्तवादात्मक सापेक्ष दृष्टिकोणमूलक उन आस्रव-परिस्रव के विकल्पो को वे हृदयगम कर ले तो इस विज्ञान को प्राप्त हो, किसी निमित्त से अर्जुनमाली, चिलातीपुत्र आदि की तरह आर्त्त—राग-द्वेषोदयवश पीडित भी हो जाएं अथवा शालिभद्र, स्थूलिभद्र आदि की तरह विषय-सुखो मे प्रमत्त व मग्न भी हो तो भी तथाविध कर्म का क्षयोपशम होने पर धर्म-बोध प्राप्त होते ही जाग्रत होकर कर्मबन्धन के स्थान मे धर्म मार्ग अपनाकर कर्मनिर्जरा करने लगते है।[1] इसमे कोई सन्देह नही, यह बात पूर्ण सत्य है, इसलिए आगे कहा गया है –'**अहासच्चमिण ति बेमि**'। इस सिद्धान्त ने प्रत्येक आत्मा मे विकास और कल्याण की असीम-अनन्त सम्भावनाओ का उद्घाटन कर दिया है तथा किसी पापात्मा को देखकर उसके प्रति तुच्छ धारणा न बनाने का भी सकेत दिया है।

कुछ विद्वानो ने इसका अर्थ यो किया है—"आर्त्त और प्रमत्त मनुष्य धर्म को स्वीकार नही करते।" हमारे विचार मे यह अर्थ-सगत नही है, क्योकि सामान्यत आर्त्त प्राणी दुःख से मुक्ति पाने के लिए धर्म की शरण ही ग्रहण करता है। फिर यहाँ 'आस्रव-परिस्रव' का अनैकान्तिक दृष्टि-प्रसग चल रहा है, जब आस्रव, परिस्रव बन सकता है, तो आर्त्त और प्रमत्त मनुष्य धर्म को स्वीकार कर शात और अप्रमत्त क्यो नही बन सकता? उसमे विकास व सुधार की सम्भावना स्वीकार करना ही उक्त वचन का उद्देश्य है—ऐसा हमारा विनम्र अभिमत है।

'**एगे वदति अदुवा वि णाणी**'—यह सूत्र परीक्षात्मक है। इसके द्वारा आस्रवो से बचने की पूर्वोक्त प्रेरणा की कसौटी की गयी है कि आस्रवो के त्याग की बात अन्य दार्शनिक लोग कहते-मानते है या ज्ञानी ही कहते-मानते है? इसके उत्तर मे आगे के सूत्रो मे कुछ विरोधी विचारधारा के दार्शनिको की मान्यता प्रस्तुत करके उनकी मान्यता क्यो अयथार्थ है? इसका कारण बताते हुए स्वकीय मत का स्थापन किया गया है। साथ ही हिंसा-त्याग क्यो आवश्यक है? इसके लिए एक अकाट्य अनुभवगम्य तर्क प्रस्तुत करके वदतो व्याघातन्यायेन उन्ही के उत्तर मे उनको निरुत्तर कर दिया गया है।[2]

निष्कर्ष यह है कि यहाँ से आगे के सभी सूत्र 'अहिंसा धर्म के आचरण के लिए हिंसा-त्याग की आवश्यकता' के सिद्धान्त की परीक्षा को लेकर प्रस्तुत किये गये है। एक दृष्टि से देखा जाय तो हिंसारूप आस्रव के त्याग की आवश्यकता का सिद्धान्त स्थापित करके—स्थालीपुलाकन्याय से शेष सभी आस्रवो (असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि) के त्याग की आवश्यकता ध्वनित कर दी गयी है।

'**नत्थेत्थ दोसो०**'—इस सूत्र के द्वारा साख्य, मीमासक, चार्वाक, वैशेषिक, बौद्ध आदि अन्य मतवादियो के हिंसा सम्बन्धी मन्तव्य मे असवाक्यता, सूक्ष्म प्राणियो की हिंसा का अस्वीकार, आत्मा के अस्तित्व का निषेध आदि दूषण ध्वनित किए गए है।[3] हिंसा मे कोई

---

१ योगसार ६।१८।   २ आचा० शीला० टीका पत्राक १६६।

३ आचा० शीला० टीका पत्राक १६८।

दोष नहीं है—इसे अनार्यवचन कहकर शास्त्रकार ने युक्ति से उनकी अनार्यवचनता सिद्ध की है। जैसे रोहगुप्त मन्त्री ने राजसभा में विभिन्न तीर्थिकों की धर्मपरीक्षा हेतु उन्हीं की उक्ति से उनको दूषित सिद्ध किया था और 'सकुण्डलं वा वयणं न वत्ति'—इस गाथा की पादपूर्ति क्षुल्लक मुनि द्वारा करवा कर अर्हत् धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की थी, वैसे ही धर्म-परीक्षा के लिए करना चाहिए। निर्युक्ति में इसका विस्तृत वर्णन है।[1]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

सम्यक् तप दुःख एवं कर्मक्षय-विधि

१४०. उवेहेणं बहिया य लोकं। से सव्वलोकंसि जे केइ विण्णू। अणुवियि[2] पास णिक्खित्तदंडा जे केइ सत्ता पलियं चयंति। णरा मुतच्चा धम्मविदु त्ति अंजू आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा।

एवमाहु सम्मत्तदंसिणो। ते सव्वे पावादिया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो।

१४१. इह आणाकंखी पंडिते अणिहे एगमप्पाणं सपेहाए धुणे सरीरं,[3] कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं। जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति[4] एवं अत्तसमाहिते अणिहे।

१४२. विगिंच कोहं अविकंपमाणे इमं निरुद्धाउयं सपेहाए। दुक्खं च जाण अदुवाऽऽगमेस्सं। पुढो फासाइं च फासे। लोयं च पास विप्फंदमाणं[5]।

जे णिव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणिदाणा ते वियाहिता।[6] तम्हाऽतिविज्जो णो पडिसंजलेज्जासि त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

१४० इस (पूर्वोक्त अहिंसादि धर्म से) विमुख (बाह्य) जो (दार्शनिक) लोग हैं, उनकी उपेक्षा कर! जो ऐसा करता है, वह समस्त मनुष्य लोक में जो कोई विद्वान् है, उनमें अग्रणी विज्ञ (विद्वान्) है। तू अनुचिन्तन करके देख—जिन्होंने (प्राणि-

---

१ (क) आचारांग नियुक्ति गा० २२८, २२९, २३०, २३१, (ख) उत्तरा० अ० २५।४२-४३ वृत्ति (ग) आचा० शीला० पत्रांक १६९-१७०।

२ **'अणुवियि'**, **'अणुवीइ'**, **'अणुविवितिय'**, **'अणुवितिय'**, **'अणुविय'** आदि पाठान्तर मिलते हैं।

३ **'सरीरं'** के स्थान पर **'सरीरगं'** शब्द मिलता है।

४ **'पमथति'** का अर्थ चूर्णि में है—**"भिसं मथेति"**—(अत्यन्त मथन करती है—जला देती है)।

५ चूर्णि में **'विप्फंदमाणं'** के स्थान पर **'विफुंडमाणं'** शब्द है।

६ **'तम्हाऽतिविज्जो'** के स्थान पर **'तम्हा तिविज्जा'** पाठ भी मिलता है। चूर्णि में पठित **'तम्हा ति विज्जं'** पाठ अधिक युक्तिसंगत लगता है।

विघातकारी) दण्ड (हिंसा) का त्याग किया है, (वे ही श्रेष्ठ विद्वान् होते है।) जो सत्त्वशील मनुष्य धर्म के सम्यक् विशेषज्ञ होते है, वे ही कर्म (पलित) का क्षय करते है। ऐसे मनुष्य धर्मवेत्ता होते है, अतएव वे सरल (ऋजु—कुटिलता रहित) होते है, (साथ ही वे) शरीर के प्रति अनासक्त या कषायरूपी अर्चा को विनष्ट किये हुए (मृतार्च) होते है, अथवा शरीर के प्रति भी अनासक्त होते है।

इस दुःख को आरम्भ (हिंसा) से उत्पन्न हुआ जानकर (समस्त हिंसा का त्याग करना चाहिए)—ऐसा समत्वदर्शियो (सम्यक्त्वदर्शियो या समस्तदर्शियो—सर्वज्ञो) ने कहा है।

वे सब प्रावादिक (यथार्थ प्रवक्ता सर्वज्ञ) होते है, वे दुःख (दुःख के कारण कर्मो) को जानने मे कुशल होते है। इसलिए वे कर्मो को सब प्रकार से जानकर उनको त्याग करने का उपदेश देते है।

१४१ यहा (अर्हत्प्रवचन मे) आज्ञा का आकाक्षी पण्डित (शरीर एव कर्मादि के प्रति) अनासक्त (स्नेहरहित) होकर एकमात्र आत्मा को देखता हुआ, शरीर (कर्म-शरीर) को प्रकम्पित कर डाले। (तपश्चरण द्वारा) अपने कषाय-आत्मा (शरीर) को कृश कर, जीर्ण कर डाले। जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला डालती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला वीतराग पुरुष प्रकम्पित, कृश एव जीर्ण हुए कषायात्मा—कर्म शरीर को (तप, ध्यान रूपी अग्नि से) शीघ्र जला डालता है।

१४२ यह मनुष्य-जीवन अल्पायु है, यह सम्प्रेक्षा (गहराई से निरीक्षण) करता हुआ साधक अकम्पित रहकर क्रोध का त्याग करे। (क्रोधादि से) वर्तमान मे अथवा भविष्य मे उत्पन्न होने वाले दुःखो को जाने। क्रोधी पुरुष भिन्न-भिन्न नरकादि स्थानो मे विभिन्न दुःखो (दुःख-स्पर्शो) का अनुभव करता है। प्राणिलोक को (दुःखप्रतीकार के लिए) इधर-उधर भाग-दौड करते (विस्पन्दित होते) देख!

जो पुरुष (हिंसा, विषय-कषायादि जनित) पापकर्मो से निवृत्त है, वे अनिदान (बन्ध के मूल कारणो से मुक्त) कहे गये है।

इसलिए हे अतिविद्वान्! (त्रिविद्य साधक!) तू (विषय-कषाय की अग्नि से) प्रज्वलित मत हो।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक मे दुःखो और उनके कारणभूत कर्मो को जानने तथा उनका त्याग करने के लिए बाह्य आभ्यन्तर सम्यक् तप का निर्देश किया गया है। आगे के सूत्रो मे सम्यक् तप की विधि बताई है। शरीर या कर्मशरीर—कषायात्मा को प्रकम्पित, कृश या जीर्ण करने का निर्देश सम्यक् तप का ही विधान है।

'उवेहेण—इस पद मे जो अहिंसादि धर्म से विमुख है, उनकी उपेक्षा करने का तात्पर्य है—उनके विधि-विधानो को, उनकी रीति-नीति को मत मान, उनके सम्पर्क मे मत आ,

उनको प्रतिष्ठा मत दे, उनके धर्मविरुद्ध उपदेश को यथार्थ मत मान, उनके आडम्बरों और लच्छेदार भाषणों से प्रभावित मत हो, उनके कथन को अनार्यवचन समझ।[1]

'से सव्वलोकंसि जे केइ विण्णू'—यहाँ सर्वलोक से तात्पर्य समस्त दार्शनिक जगत् से है। जो व्यक्ति धर्म-विरुद्ध हिंसादि की प्ररूपणा करते हैं, उनके विचारों से जो भ्रान्त नहीं होता, वह अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से चिन्तन-मनन करता है, हेय-उपादेय का विवेक करता है, सारे संसार के प्राणियों के दुःख का आत्मौपम्यदृष्टि से विचार करता है, उसे समस्त दार्शनिक जगत् में श्रेष्ठ विद्वान कहा गया है।[2]

मन, वचन और काया से प्राणियों का विघात करने वाली प्रवृत्ति को **'दण्ड'** कहा है। यहाँ दण्ड हिंसा का पर्यायवाची है। हिंसायुक्त प्रवृत्ति भाव-दण्ड है।[3]

'मुतच्चा' शब्द का संस्कृत रूप होता है- **मृतार्चा**। **'अर्चा'** शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त है—शरीर और क्रोध (तेज)। इसलिए **'मृतार्चा'** का अर्थ हुआ—

(१) जिसकी देह अर्चा/साजसज्जा, संस्कार-शुश्रूषा के प्रति मृतवत् है—जो शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीन या अनासक्त है।

(२) क्रोध तेज से युक्त होता है, इसलिए क्रोध को अर्चा अग्नि कहा गया है। उपलक्षण से समस्त कषायों का ग्रहण कर लेना चाहिए। अतः जिसकी कषायरूप अर्चा मृत -विनष्ट हो गई है, वह भी 'मृतार्च' कहलाता है।[4]

'सम्मत्तदंसिणो'—इस शब्द के संस्कृत में तीन रूप बनते हैं—**'समत्वदर्शिनः'** **'सम्यक्त्वदर्शिनः'** और **'समस्तदर्शिनः'**। ये तीनों ही अर्थ घटित होते हैं। सर्वज्ञ अर्हद्देव की प्राणिमात्र पर समत्वदृष्टि होती ही है, वे प्राणिमात्र को आत्मवत् जानते-देखते हैं, इसलिए **'समत्वदर्शी'** होते हैं। इसी प्रकार वे प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, विचारधारा, घटना आदि के तह में पहुँचकर उसकी सचाई (सम्यक्ता) को यथावस्थित रूप से जानते-देखते हैं, इसलिए वे **'सम्यक्त्वदर्शी'** हैं और **'समस्तदर्शी'** (सर्वज्ञ-सर्वदर्शी) भी हैं।[5]

'इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो'—का तात्पर्य है, कर्मों से सर्वथा मुक्त एवं सर्वज्ञ होने के कारण वे कर्म-विदारण करने में कुशल वीतराग तीर्थंकर कर्मों का ज्ञान करा कर, उन्हें सर्वथा छोड़ने का उपदेश देते हैं।

आशय यह है कि वे कर्ममुक्ति में कुशल पुरुष कर्म का लक्षण, उसका उपादान कारण, कर्म की मूल-उत्तर प्रकृतियाँ, विभिन्न कर्मों के बन्ध के कारण, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के रूप में बन्ध के प्रकार, कर्मों के उदयस्थान, विभिन्न कर्मों की उदीरणा, सत्ता और स्थिति, कर्मबन्ध के तोड़ने—कर्ममुक्त होने के उपाय आदि सभी प्रकार से कर्म का परिज्ञान करते हैं और कर्म से मुक्त होने की प्रेरणा करते हैं।[6]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
२ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
३ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
४ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
५ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७१।
६ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७२।

'आणाकखी पडिते अणिहे'—यहाँ वृत्तिकार ने **'आणाकखी'** का अर्थ किया है-**'आज्ञाकाक्षी'**—सर्वज्ञ के उपदेश के अनुसार अनुष्ठान करने वाला।[1] किन्तु आज्ञा की आकाक्षा नही होती, उसका तो पालन या अनुसरण होता है, जैसा कि स्वय टीकाकार ने भी आशय प्रकट किया है। हमारी दृष्टि से यहाँ **'अणाकखा'** शब्द होना अधिक सगत है, जिसका अर्थ होगा—**'अनाकाक्षी'**—निस्पृह, किसी से कुछ भी अपेक्षा या आकाक्षा न रखने वाला। ऐसा व्यक्ति ही शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव (परिवार आदि) एव निर्जीव धन, वस्त्र, आभूषण, मकान आदि के प्रति अस्निह—स्नेहरहित—निर्मोही या राग रहित हो सकेगा। अत **'अनाकाक्षी'** पद स्वीकार कर लेने पर **'अस्निह'** या **'अनीह'** पद के साथ सगति बैठ सकती है।

आगमकार की भावना के अनुसार उस व्यक्ति को पण्डित कहा जा सकता है, जो शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान मे निपुण हो।

'एगमप्पाण सपेहाए'—इस वाक्य की चूर्णिकार ने एकत्वानुप्रेक्षा और अन्यत्व-अनुप्रेक्षा-परक व्याख्याए की है। एकाकी आत्मा की सप्रेक्षा (अनुप्रेक्षा) इस प्रकार करनी चाहिए—

एक प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्।
जायते म्रियते चैक एको याति भवान्तरम् ॥१॥
सदैकोऽह, न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न त पश्यामि यस्याऽह, नासौ भावीति यो मम ॥२॥
ससार एवाऽयमनर्थसार, क कस्य, कोऽत्र स्वजन परो वा।
सर्वे भ्रमन्ति स्वजना परे च, भवन्ति भूत्वा, न भवन्ति भूय. ॥३॥
विचिन्त्यमेतद् भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात्।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरिय ममैव अह पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥४॥

—आत्मा अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है, अकेला ही जन्मान्तर मे जाता है।१।

—मै सदैव अकेला हूँ। मेरा कोई नही है, न मै किसी दूसरे का हूँ। मै ऐसा नही देखता कि जिसका मै अपने आपको बता सकूँ, न ही उसे भी देखता हूँ, जो मेरा हो सके।२।

—इस ससार मे अनर्थ की ही प्रधानता है। यहाँ कौन किसका है? कौन स्वजन या पर-जन है? ये सभी स्वजन और पर-जन तो ससार-चक्र मे भ्रमण करते हुए किसी समय (जन्म मे) स्वजन और फिर पर-जन हो जाते है। एक समय ऐसा आता है जब न कोई स्वजन रहता है, न कोई पर-जन।३।

—आप यह चिन्तन कीजिए कि मै अकेला हूँ। पहले भी मेरा कोई न था और पीछे भी मेरा कोई नही है। अपने कर्मो (मोहनीयादि) के कारण मुझे दूसरो को अपना मानने की भ्रान्ति हो रही है। वास्तव मे पहले भी मै अकेला था, अब भी अकेला हूँ और पीछे भी मै अकेला ही रहूँगा।४।[2]

---

१ आचा शीला टीका पत्रांक १७३।

२ आचाराग वृत्ति एव निर्युक्ति पत्राक १७३।

सामायिक पाठ[1] और आवश्यक सूत्र[2] आदि मे इस सम्बन्ध मे काफी प्रकाश डाला गया है।

'कसेहि अप्पाणं'—वाक्य मे **'आत्मा'** का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—**'परव्यतिरिक्त आत्मा-शरीर'**—दूसरो से अतिरिक्त अपना शरीर।[3]

यहाँ ध्यान, तपस्या एव धर्माचरण के समय उपस्थित हुए उपसर्गों, कष्टो और परिषहो को समभावपूर्वक सहन करते हुए कर्मशरीर को कृश, जीर्ण एव दग्ध करने हेतु जीर्ण काष्ठ और अग्नि की उपमा दी है।[4] किन्तु साथ ही उसके लिए साधक से दो प्रकार की योग्यता की अपेक्षा भी की गयी है—(१) आत्मसमाधि एव (२) अस्निहता-अनासक्ति की। इसलिए इस प्रकरण मे 'आत्मा' से अर्थ है—कषायात्मारूप कर्मशरीर से। इसी सूत्र के **'धुणे सरीर'** वाक्य से इसी अर्थ का समर्थन मिलता है। अत कर्मशरीर को कृश, प्रकम्पित एव जीर्ण करना यहाँ विवक्षित प्रतीत होता है। इस स्थूल शरीर की कृशता यहाँ गौण है। तपस्या के साथ-साथ आत्मसमाधि और अनासक्ति रखते हुए यदि यह (शरीर) भी कृश हो जाय तो कोई बात नही। इसके लिए निशीथभाष्य की यह गाथा देखनी चाहिए—

> **"इंदियाणि कसाए य गारवे य किसे कुरु।**
> **णो वयं ते पसंसामो, किसं साहु सरीरगं।"**—३७५८

—एक साधु ने लम्बे उपवास करके शरीर को कृश कर डाला। परन्तु उसका अहकार, क्रोध आदि कृश नही हुआ था। वह जगह-जगह अपने तप का प्रदर्शन और बखान किया करता था। एक अनुभवी मुनि ने उसकी यह प्रवृत्ति देखकर कहा—हे साधु! तुम इन्द्रियो, विषयो, कषायो और गौरव-अहकार को कृश करो। इस शरीर को कृश कर डाला तो क्या हुआ? कृश शरीर के कारण तुम प्रशसा के योग्य नही हो।

'विगिंच कोह अविकंपमाणे'—इसका तात्पर्य यह है कि क्रोध आने पर मनुष्य का हृदय, मस्तिष्क व शरीर कम्पायमान हो जाता है, इसलिए अन्तर मे क्रुद्ध—कम्पायमान व्यक्ति क्रोध

---

१. आचार्य अमितगति ने सामायिक पाठ मे भी इसी एकत्वभाव की सम्पुष्टि की है—

> एक सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मल साधिगम-स्वभाव।
> बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वता कर्मभवा स्वकीया ॥२६॥

—ज्ञान स्वभाव वाला शुद्ध और शाश्वत अकेला आत्मा ही मेरा है, दूसरे समस्त पदार्थ आत्मबाह्य है, वे शाश्वत नही है। वे सब कर्मोदय से प्राप्त होने से अपने कहे जाते है, वस्तुत वे अपने नही है, बाह्यभाव है।

२ आवश्यक सूत्र मे सस्तार-पौरुषी मे एकत्वभावना-मूलक ये गाथाएँ पढ़ी जाती है—

> **एगोऽहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ।**
> **एव अदीणमणसो अप्पाणमणुसासइ ॥११॥**
> **एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।**
> **सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१२॥**

३ आचा० शीला० टीका पत्राक १७३।

४ आचाराग (मुनि नथमल जी) पृ० २३४।

को नही छोड सकता। वह तो एकदम कम्पायमान हुए बिना ही दूर किया जा सकता है। इससे पूर्व सूत्र मे 'अस्निह' पद से रागनिवृत्ति का विधान किया था, अब यहाँ क्रोध-त्याग का निर्देश करके द्वेषनिवृत्ति का विधान किया गया है।[1]

'दुक्खं च जाण ... विप्फंदमाण'—इन वाक्यो मे क्रोध से होने वाले वर्तमान और भविष्य के दुःखो को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से छोडने की प्रेरणा दी गयी है। क्रोध से भविष्य मे विभिन्न नरकभूमियो मे होने वाले तथा सर्पादि योनियो मे होने वाले दुःखो का दिग्दर्शन भी कराया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि क्रोधादि के परिणामस्वरूप केवल अपनी आत्मा ही दुःखो का अनुभव नही करती, अपितु सारा संसार क्रोधादिवश शारीरिक-मानसिक दुःखो से आक्रान्त होकर उनके निवारण के लिए इधर-उधर दौड-धूप करता रहता है, इसे तू विवेक-चक्षुओ से देख!

'विप्फंदमाण' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—"अस्वतन्त्र रूप से इधर-उधर दुःख-प्रतीकार के लिए दौडते हुए।"[2]

'जे णिव्वुडा पावेहि कम्मेहि अणिदाणा'—यह लक्षण उपशान्तकषाय साधक का है। **'णिव्वुडा'** का अर्थ है—तीर्थकरो के उपदेश से जिनका अन्तःकरण वासित है, विषय-कषाय की अग्नि के उपशम से जो निवृत्त है—शान्त है, शीतीभूत है। पापकर्मो से अनिदान का अर्थ है—पाप कर्मबन्ध के निदान—(मूल कारण रागद्वेष) से रहित।[3]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

सम्यक्चारित्र : साधना के संदर्भ मे

१४३. आवीलए पवीलए णिप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं[4]।
तम्हा अविमणे वीरे सारए समिए सहिते सदा जते।
दुरणुचरो[5] मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं।

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७३।

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७४।

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७४।

४ चूर्णि मे इसके स्थान पर **'इहेच्चा उवसम'** पाठ मिलता है, जिसका अर्थ वहाँ किया गया है—"**इहेति इह प्रवचने, एच्चा आगतु**" इस प्रवचन (वीतराग दर्शन) मे (उपशम) प्राप्त करने के लिए।

५ **'दुरणुचरो ...'** आदि वाक्य का अर्थ चूर्णि मे इस प्रकार है—"**केण दुरणुचरो? जे ण अणियट्टगामी।**" अर्थात् (यह) मार्ग किसके लिए दुरनुचर है? जो अनिवृत्तगामी (मोक्षगामी = मोक्षपथगामी) नही है। "**वीरा तव-णियम-संजमेसु ण विसीदंति अणियट्टकामी।**"—अर्थात् अनिवृत्त (मोक्ष) कामी वीर तप, नियम और संयम से कभी घबराते नही।

विगिंच मंस-सोणित ।

एस पुरिसे दविए वीरे आयाणिज्जे[1] वियाहिते जे धुणाति समुस्सय वसित्ता बंभचेरसि ।

१४४. णेत्तेहि पलिछिण्णेहि[2] आयाणसोतगढिते बाले अव्वोच्छिण्णबधणे अणभिक्कत-संजोए ।

[3]तमंसि अविजाणओ आणाए लभो णत्थि त्ति बेमि ।

१४५. जस्स णत्थि पुरे पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ? ।

से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरभोवरए ।

सम्ममेतं[4] ति पासहा ।

जेण बध वह घोर परिताव च दारुण ।

पलिछिदिय बाहिरग च सोत णिक्कम्मदसी इह मच्चिएहि ।

कम्मुणा सफलं दट्ठु ततो णिज्जाति वेदवी ।

१४६. जे खलु भो वीरा समिता सहिता सदा जता सथडदसिणो आतोवरता अहा तहा लोग उवेहमाणा पाईण पडीण दाहिणं उदीण इति सच्चंसि परिविचिट्ठिसु । साहिस्सामो णाण वीराण समिताणं सहिताण सदा जताणं सथडदसीण आतोवरताण अहा तहा लोगमुवेहमाणाणं ।

किमत्थि उवाही पासगस्स, ण विज्जति ? णत्थि त्ति बेमि ।

।। चउत्थो उद्देसओ समत्तो ।।

१४३ मुनि पूर्व-सयोग (गृहस्थपक्षीय पूर्व-सयोग या अनादिकालीन असयम के साथ रहे हुए पूर्व सम्बन्ध) का त्यागकर उपशम (कषायो और इन्द्रिय-विषयो का उपशमन) करके (शरीर—कर्मशरीर का) आपीडन करे, फिर प्रपीडन करे और तब निष्पीडन करे ।

(तप तथा सयम मे पीडा होती है) इसलिए मुनि सदा अविमना (—विषयो के प्रति रति, भय, शोक से मुक्त), प्रसन्नमना, स्वारत (—तप-सयमादि मे रत),

---

१ इसके स्थान पर '**आताणिज्जे,**' '**आयाणिए,**' '**आवाणिओ**', **आताणिओ**'—ये पद कही-कही मिलते है ।

२ '**णेत्तेहि पलिछिण्णेहि**' का अर्थ चूर्णि मे यो किया गया है—"**णयतीति णेताणि चक्खुमादीणि । जेसि साजतस्स दव्वणेताणि छिण्णाति आसी, ज भणित जिताणि, त एव केयि परीसहोदया भावणेत्तेहि छिण्णेहि, कि ? सतोतेहि मुच्छिता जाव अज्झोववण्णा ।**" नेत्र-चक्षु आदि है । जिस सयमी के द्रव्यनेत्र नष्ट हो गए फिर भी इन्द्रिया जीत ली, वे ही माधक परिषह के उदय होने पर भाव नेत्रो के स्रोत (राग-द्वेष रहितता) नष्ट होने पर आसक्त—विषय-मूच्छित हो जाते है ।

३ इसके स्थान पर '**तमस्स अवियाणतो**' पाठ है । चूर्णि मे अर्थ किया गया है—'**एव तस्स अवियाणतो तत्थ अवाया भवति**' अर्थात् मोहान्धकार के कारण आत्महित न जानने के कारण अनेक अपाय (आपत्तिया) उपस्थित होते है ।

४ चूर्णि मे पाठ यो है—'**एत च सम्म पासहा**' ।

(पच समितियों से—) समित, (ज्ञानादि से—) सहित, (कर्मविदारण मे—) वीर होकर (इन्द्रिय और मन का) सयमन करे।

अप्रमत्त होकर जीवन-पर्यन्त सयम-साधन करने वाले, अनिवृत्तगामी (मोक्षार्थी) मुनियो का मार्ग अत्यन्त दुरनुचर (चलने मे अति कठिन) होता है।

(सयम और मोक्षमार्ग मे विघ्न करने वाले शरीर का) मास और रक्त (विकट तपश्चरण द्वारा) कम कर।

यह (उक्त विकट तपस्वी) पुरुष सयमी, रागद्वेष का विजेता होने से पराक्रमी और दूसरो के लिए अनुकरणीय आदर्श तथा मुक्तिगमन के योग्य (द्रव्यभूत) होता है। वह ब्रह्मचर्य मे (स्थित) रहकर शरीर या कर्मशरीर को (तपश्चरण आदि से) धुन डालता है।

१४४ नेत्र आदि इन्द्रियो पर नियन्त्रण—सयम का अभ्यास करते हुए भी जो पुन (मोहादि उदयवश) कर्म के स्रोत—इन्द्रियविषयादि (आदान स्रोतो) मे गृद्ध हो जाता है तथा जो जन्म-जन्मो के कर्मबन्धनो को तोड नही पाता, (शरीर तथा परिवार आदि के—) सयोगो को छोड नही सकता, मोह-अन्धकार में निमग्न वह बाल-अज्ञानी मानव अपने आत्महित एव मोक्षोपाय को (या विषयासक्ति के दोषो को) नही जान पाता। ऐसे माधक को (तीर्थकरो की) आज्ञा (उपदेश) का लाभ नही प्राप्त होता। —ऐसा मै कहता हूँ।

१४५ जिसके (अन्त करण मे भोगासक्ति का—) पूर्व-सस्कार नही है और पश्चात् (भविष्य) का सकल्प भी नहीं है, बीच मे उसके (मन मे विकल्प) कहाँ से होगा?

(जिसकी भोगाकाक्षाएँ शान्त हो गई है) वही वास्तव मे प्रज्ञानवान् है, प्रबुद्ध है और आरम्भ से विरत है।

(भोगाकाक्षा मे निवृत्ति होने पर ही सावद्य आरम्भ—हिंसादि से निवृत्ति होती है) यह सम्यक् (सत्य) है, ऐसा तुम देखो—सोचो।

(भोगासक्ति के कारण) पुरुष बन्ध, वध, घोर परिताप और दारुण दुख पाता है।

(अत) पापकर्मो के बाह्य (-परिग्रह आदि) एव अन्तरग (—राग, द्वेष, मोह आदि) स्रोतो को बन्द करके इस ससार मे मरणधर्मा प्राणियो के बीच तुम निष्कर्म-दर्शी (कर्ममुक्त-अमृतदर्शी) बन जाओ।

कर्म अपना फल अवश्य देते है, यह देखकर ज्ञानी पुरुष उनसे (कर्मों के बन्ध, सचय या आस्रव से) अवश्य ही निवृत्त हो जाता है।

१४६ हे आर्यो! जो साधक वीर है, पाच समितियो से समित—सम्पन्न है, ज्ञानादि से सहित है, सदा सयत है, सतत शुभाशुभदर्शी (प्रतिपल जागरूक) है, (पाप-

कर्मों से) स्वत. उपरत हैं, लोक जैसा है उसे वैसा ही देखते है, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—सभी दिशाओ मे भली प्रकार सत्य मे स्थित हो चुके है, उन वीर समित, सहित, सदा यतनाशील, शुभाशुभदर्शी, स्वय उपरत, लोक के यथार्थ द्रष्टा, ज्ञानियो के सम्यग् ज्ञान का हम कथन करेंगे, उसका उपदेश करेंगे।

(ऐसे) सत्यद्रष्टा वीर के कोई उपाधि (कर्मजनित नर-नारक आदि विशेषण) होती है या नही होती ? नही होती। ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक मे सम्यक्चारित्र की साधना के सन्दर्भ मे आत्मा के साथ शरीर और शरीर से सम्बद्ध बाह्य पदार्थों के सयोगो, मोहबन्धनो, आसक्तियो, रागद्वेषो एव उनसे होने वाले कर्मबन्धो का त्याग करने की प्रेरणा दी गयी है।

'**आवीलए पवीलए निप्पीलए**'—ये तीन शब्द मुनि-जीवन की साधना के क्रम को सूचित करते है। आपीडन, प्रपीडन और निष्पीडन, ये क्रमश मुनि-जीवन की साधना की तीन भूमिकाएँ है।

मुनि-जीवन की प्राथमिक तैयारी के लिए दो बात अनिवार्य है, जो इस सूत्र मे सूचित की गई है—

'**जहित्ता पुव्वसजोग, हिच्चा उवसम**'--(१) मुनि-जीवन को अगीकार करने मे पूर्व के धन-धान्य, जमीन-जायदाद, कुटुम्ब-परिवार आदि के साथ ब ि हुए ममत्व-सम्बन्धो—सयोगो का त्याग एव (२) इन्द्रिय और मन (विकारो) की उपशान्ति।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद मुनि साधना की तीन भूमिकाओ से गुजरता है—प्रथम भूमिका दीक्षित होने से लेकर शास्त्राध्ययन काल तक की है। उसमे वह सयमरक्षा एव शास्त्राध्ययन के हेतु आवश्यक तप (आयबिल-उपवास आदि) करता है। यह 'आपीडन' है।

उसके पश्चात् दूसरी भूमिका आती है—शिष्यो या लघमुनियो के अध्यापन एव धर्म प्रचार-प्रसार की। इस दौरान वह सयम की उत्कृष्ट साधना और दीर्घ तप करता है। यह 'प्रपीडन' है।

इसके बाद तीसरी भूमिका आती है—शरीरत्याग की। जब मुनि आत्म-कल्याण के साथ -कल्याण की साधना काफी कर चुकता है और शरीर भी जीर्ण-शीर्ण एव वृद्ध हो जाता है, तब वह समाधिमरण की तैयारी मे सलग्न हो जाता है। उस समय दीर्घकालीन (मासिक-पाक्षिक आदि) बाह्य और आभ्यन्तर तप, कायोत्सर्ग, उत्कृष्ट त्याग आदि की साधना करता है। यह 'निष्पीडन' है।

साधना की इन तीनो भूमिकाओ मे बाह्य—आभ्यन्तर तप एव शरीर तथा आत्मा का भेद-विज्ञान करके तदनुरूप स्थूल शरीर के आपीडन, प्रपीडन और निष्पीडन की प्रेरणा दी गयी है।[1]

---

१ आयारो (मुनि नथमलजी) पृ १७१।

यह तपश्चरण कर्मक्षय के लिए होता है, इसलिए कर्म या कार्मणशरीर का पीडन भी यहाँ अभीष्ट है।

वृत्तिकार ने गुणस्थान से भी इन तीनो भूमिकाओ का सम्बन्ध बताया है। अपूर्वकरणादि गुणस्थानो मे कर्मों का आपीडन हो, अपूर्वकरण एव अनिवृत्तिबादर गुणस्थानो मे प्रपीडन हो। तथा सूक्ष्म-सम्पराय-गुणस्थान मे निष्पीडन हो। अथवा उपशमश्रेणी मे आपीडन, क्षपकश्रेणी मे प्रपीडन एव शैलेशी अवस्था मे निष्पीडन हो।[1]

'**विगिंच मंस-सोणित**'—कहकर ब्रह्मचर्य साधक को मास-शोणित घटाने का निर्देश दिया गया है। क्योकि मास-शोणित की वृद्धि से काम-वासना प्रबल होती है, उससे ब्रह्मचर्य की साधना मे विघ्न आने की सम्भावना बढ जाती है। उत्तराध्ययनसूत्र मे इसी आशय को स्पष्टता के साथ कहा गया है—

'जहा दवग्गि पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई।—३२।११

—जैसे प्रबल पवन के साथ प्रचुर इन्धन वाले वन मे लगा दावानल शात नही होता, इसी प्रकार प्रकामभोजी की इन्द्रियाग्नि (वासना) शात नही होती। ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन कभी भी हितकर नही है।

प्रकाम (रसयुक्त यथेच्छ भोजन) से मास-शोणित बढता है। शरीर मे जब मास और रक्त का उपचय नही होगा तो इसके बिना क्रमश मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य का भी उपचय नही होगा। इस अवस्था मे सहज ही आपीडन आदि की साधना हो जाती है।

'**वसित्ता बंभचेरंसि**'—ब्रह्मचर्य मे निवास करने का तात्पर्य भी गहन है। ब्रह्मचर्य के चार अर्थ फलित होते है—(१) ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) मे विचरण करना, (२) मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रिय-सयम और (३) गुरुकुलवास तथा (४) सदाचार।

यहाँ ब्रह्मचर्य के ये सभी अर्थ घटित हो सकते है किन्तु दो अर्थ अधिक सगत प्रतीत होते है—(१) सदाचार तथा (२) गुरुकुलवास। '**वसित्ता**' शब्द 'गुरुकुल निवास' अर्थ को सूचित करता है। किन्तु यहाँ सम्यक्-चारित्र का प्रसग है। ब्रह्मचर्य चारित्र का एक मुख्य अग है। इस दृष्टि से 'ब्रह्मचर्य' मे रहकर अर्थ भी घटित हो सकता है।[2]

'**आयाणसोतगढिते**'—इसका शब्दश अर्थ होता है—'**आदान के स्रोतो मे गृद्ध**'। 'आदान' का अर्थ कर्म है, जो कि ससार का बीजभूत होता है। उसके स्रोत (आने के द्वार)—इन्द्रिय-विषय, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग। इन आदान-स्रोतो मे रात-दिन रचे-पचे रहने वाले अज्ञानी का अन्त करण राग, द्वेष और महामोहरूप अन्धकार से आवृत्त रहता है, उसे अर्हद्देव के प्रवचनो का लाभ नही मिल पाता, न उसे धर्मश्रवण मे रुचि जागती है, न उसे

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १७४।१७५।

२ आचा० शीला० टीका पत्राक १७५।

कोई अच्छा कार्य या धर्माचरण करने की सूझती है।[1] इसीलिए कहा है—'**आणाए लभो णत्थि**'—आज्ञा का लाभ नही मिलता।

आज्ञा के यहाँ दो अर्थ सूचित किये गये है—श्रुतज्ञान और तीर्थंकर-वचन या उपदेश। ज्ञान या उपदेश का सार आस्रवो से विरति और सयम या आचार मे प्रवृत्ति है। उसी से कर्म-निर्जरा या कर्ममुक्ति हो सकती है। आज्ञा का अर्थ वृत्तिकार ने बोधि या सम्यक्त्व भी किया है।[2]

'**जस्स णत्थि पुरे पच्छा**'—इस पक्ति मे एक खास विषय का सकेत है। '**णत्थि**' शब्द इसमे त्रैकालिक विषय से सम्बद्ध अव्यय है। इस वाक्य का एक अर्थ वृत्तिकार ने यो किया है—जिसकी भोगेच्छा के पूर्व सस्कार नष्ट हो चुके है, तब भला बीच मे, वर्तमान काल मे वह भोगेच्छा कहाँ से आ टपकेगी? '**मूल नास्ति कुत· शाखा**'—भोगेच्छा का मूल ही नही है, तब वह फलेगी कैसी? साधना के द्वारा भोगेच्छा की आत्यन्तिक एव त्रैकालिक निवृत्ति हो जाती है, तब न अतीत का सस्कार रहता है, न भविष्य की वाञ्छा/कल्पना, ऐसी स्थिति मे तो उसका चिन्तन भी कैसे हो सकता है?[3]

इसका एक अन्य भावार्थ यह भी है—"जिसे पूर्वकाल मे बोधि-लाभ नही हुआ, उसे भावी जन्म मे कैसे होगा? और अतीत एव भविष्य मे बोधि-लाभ का अभाव हो, वहाँ मध्य (बीच) के जन्म मे बोधि-लाभ कैसे हो सकेगा?

'**णिक्कम्मदसी**' का तात्पर्य **निष्कर्म को देखने वाला है**। निष्कर्म के पाँच अर्थ इसी सूत्र मे यत्र-तत्र मिलते है—(१) मोक्ष, (२) सवर, (३) कर्मरहित शुद्ध आत्मा, (४) अमृत और (५) शाश्वत। मोक्ष, अमृत और शाश्वत—ये तीनो प्राय समानार्थक है। कर्मरहित आत्मा स्वय अमृत रूप बन जाती है और सवर मोक्षप्राप्ति का एक अनन्य साधन है। जिसकी समस्त इन्द्रियो का प्रवाह विषयो या सासारिक पदार्थों की ओर से हटकर मोक्ष या अमृत की ओर उन्मुख हो जाता है, वही निष्कर्मदर्शी होता है।

'**साहिस्सामो णाण**'—इन पदो का अर्थ भी समझ लेना आवश्यक है। वृत्तिकार तो इन शब्दो का इतना अर्थ करके छोड देते है—' "**सत्यवता यज्ज्ञान-योऽभिप्रायस्तदह कथयिष्यामि।**"[4] त्रिकालवर्ती सत्यदर्शियो का जो ज्ञान/अभिप्राय है, उसे मैं कहूगा। परन्तु '**साधिष्याम**' का एक विशिष्ट अर्थ यह भी हो सकता है—उस ज्ञान को साधना करूँगा, अपने जीवन मे रमाऊँगा, उतारूँगा, उसे कार्यान्वित करूँगा।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ सम्यक्त्व चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७४। २ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७५।
३ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७६। ४ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७७।

लोकसार—पञ्चम अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र का पंचम अध्ययन है—'लोकसार'।
- 'लोक' शब्द विभिन्न दृष्टियों से अनेक अर्थों का द्योतक है। जैसे—**नामलोक**—'लोक' इस संज्ञा वाली कोई भी सजीव या निर्जीव वस्तु। **स्थापनालोक**—चतुर्दशरज्जू परिमित लोक की स्थापना (नक्शे में खींचा हुआ लोक का चित्र)। **द्रव्यलोक**—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूप षड्विध। **भावलोक**—औदयिकादि षड्भावात्मक या सर्वद्रव्य—पर्यायात्मक लोक या क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषाय-लोक। **गृहस्थ-**लोक आदि भी 'लोक' शब्द से व्यवहृत होते हैं।
- यहाँ 'लोक' शब्द मुख्यतः प्राणि-लोक (संसार) के अर्थ में प्रयुक्त है।[1]
- 'सार' शब्द के भी विभिन्न दृष्टियों से अनेक अर्थ होते हैं—निष्कर्ष, निचोड़, तत्त्व, सर्वस्व, ठोस, प्रकर्ष, सार्थक, सारभूत आदि।
- सांसारिक भोग-परायण भौतिक लोगों की दृष्टि में धन, काम-भोग, भोग-साधन, शरीर, जीवन, भौतिक उपलब्धियाँ आदि सारभूत मानी जाती हैं, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि में ये सब पदार्थ सारहीन हैं, क्षणिक हैं, नाशवान् हैं, आत्मा को पराधीन बनाने वाले हैं, और अन्ततः दुःखदायी हैं। इसलिए इनमें कोई सार नहीं है।
- अध्यात्म की दृष्टि में मोक्ष (परम पद), परमात्मपद, आत्मा (शुद्ध निर्मल ज्ञानादि स्वरूप), मोक्ष प्राप्ति के साधन—धर्म, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, (अहिंसादि), तप, संयम, समत्व आदि सारभूत हैं।[2]
- निर्युक्तिकार ने लोक के सार के सम्बन्ध में प्रश्न उठाकर समाधान किया है कि लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है, और संयम का सार—निर्वाण—मोक्ष है।[3]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७८।

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक १७८।

३ **लोगस्ससार धम्मो, धम्मंपि य नाणसारियं बिंति।**
नाणं संजमसारं, संजमसारं च निव्वाणं ॥२४४॥

—आचा० निर्युक्ति आचा० टीका में उद्धृत

- लोकसार अध्ययन का अर्थ हुआ—समस्त जीव लोक के सारभूत मोक्षादि के सम्बन्ध मे चिन्तन और कथन।
- लोकसार अध्ययन का उद्देश्य है—साधक लोक के सारभूत परमपद (परमात्मा, आत्मा और मोक्ष) के सम्बन्ध मे प्रेरणा प्राप्त करे और मोक्ष से विपरीत आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, असयम, अज्ञान और मिथ्यादर्शन आदि का स्वरूप तथा इनके परिणामो को भलीभाँति जानकर इनका त्याग करे।
- इस अध्ययन का वैकल्पिक नाम 'आवती' भी प्रसिद्ध है। इसका कारण यह है कि इस अध्ययन के उद्देशक १, २, ३ का प्रारम्भ **'आवती'** पद से ही हुआ है, अत प्रथम पद के कारण इसका नाम 'आवती' भी प्रसिद्ध हो गया है।
- लोकसार अध्ययन के ६ उद्देशक है। प्रत्येक उद्देशक मे भावलोक के सारभूत तत्त्व को केन्द्र मे रखकर कथन किया गया है।
- प्रथम उद्देशक मे मोक्ष के विपरीत पुरुषार्थ, काम और उसके मूल कारणो (अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, आसक्ति, माया आदि) तथा उनके निवारणोपाय के सम्बन्ध मे निरूपण है।
- दूसरे उद्देशक में अप्रमाद और परिग्रह-त्याग की प्रेरणा है।
- तीसरे उद्देशक मे मुनिधर्म के सन्दर्भ मे अपरिग्रह और काम-विरक्ति का सदेश है।
- चौथे उद्देशक मे अपरिपक्व साधु की एकचर्या से होने वाली हानियो का, एव अन्य चर्याओ मे कर्मबन्ध और उसका विवेक तथा ब्रह्मचर्य आदि का प्रतिपादन है।
- पाचवे उद्देशक मे आचार्य महिमा, सत्यश्रद्धा, सम्यक्-असम्यक्-विवेक, अहिसा और आत्मा के स्वरूप का वर्णन है।
- छठे उद्देशक मे मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि के परित्याग का तथा आज्ञा निर्देश एव परमआत्मा के स्वरूप का निरूपण है।
- यह अध्ययन सूत्र सख्या १४७ से प्रारम्भ होकर सूत्र १७६ पर समाप्त होता है।

'लोगसारो' अथवा 'आवंती' पञ्चमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

लोकसार (आवंती) · पंचम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

काम . कारण और निवारण

१४७. आवंती[1] केआवंती लोयसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए वा एतेसु चेव विप्परामुसंति ।

गुरू से कामा । ततो से मारस्स अंतो । जतो से मारस्स अंतो ततो से दूरे ।

१४७ इस लोक (जीव-लोक) मे जितने भी (जो भी) कोई मनुष्य सप्रयोजन (किसी कारण से) या निष्प्रयोजन (बिना कारण) जीवों की हिंसा करते है, वे उन्ही जीवो (षड्जीवनिकायो) मे विविध रूप मे उत्पन्न होते हैं ।

उनके लिए शब्दादि काम (विपुल विषयेच्छा) का त्याग करना बहुत कठिन होता है ।

इसलिए (षड्जीवनिकाय-वध तथा विशाल काम-भोगेच्छाओ के कारण वह) मृत्यु की पकड मे रहता है, इसलिए अमृत (परमपद) से दूर होता है ।

विवेचन—इस उद्देशक मे पचेन्द्रिय विषयक काम-भोगो और उनकी पूर्ति के लिए किए जाने वाले हिंसादि पाप-कर्मों की, तथा ऐसे मूढ अज्ञानी के जीवन की भी नि सारता बताकर अज्ञान एव मोह से होने वाले पापकर्मों से दूर रहने की प्रेरणा दी गयी है । विषय-कषायो से प्रेरित होकर एकाकी विचरण करने वाले साधक की अज्ञानदशा का भी विशद निरूपण किया गया है ।

'**विप्परामुसंति**' क्रियापद है, यह प्रस्तुत सूत्र-पाठ मे दो बार प्रयुक्त हुआ है । 'वि+परामृश' दोनो से 'विपरामृशति' क्रियापद बना है । पहली बार इसका अर्थ किया गया है—जो विविध प्रकार से विषयाभिलाषा या कषायोत्तेजना के वश (षड्जीवनिकायो को) परामृश—उपताप करते हैं, डडे या चाबुक या अन्य प्रकार से मारपीट आदि करके जीवघात करते है ।

दूसरी बार जहाँ यह क्रियापद आया है, वहाँ प्रसगवश अर्थ किया गया है—उन एकेन्द्रियादि प्राणियो का अनेक प्रकार से विघात करने वाले, उन्हे पीडा देकर पुन उन्ही

---

१ चूर्णि मे भदन्त नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है—"**आवंति केयि लोए छक्काय समारभंति**"
शीलांक टीकानुसार नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है—**आवन्ति केइ लोए छक्कायवहं समारभंति** ·

षड् जीवनिकायो में अनेक बार उत्पन्न होते है। अथवा षड्जीवनिकाय को दी गयी पीडा से उपार्जित कर्मों को, उन्ही कायो (योनियो) मे उत्पन्न होकर उन-उन प्रकारो से उदय मे आने पर भोगते है—अनुभव करते है।

'अट्ठाए अणट्ठाए'—'अर्थ' का भाव यहाँ पर प्रयोजन या कारण है। हिंसा (जीव-विघात) के तीन प्रयोजन होते है—काम, अर्थ और धर्म। विषय-भोगो के साधनो को प्राप्त करने के लिए जहाँ दूसरो का वध या उत्पीडन किया जाता है, वहा **कामार्थक** हिंसा है, जहाँ व्यापार-धन्धे, कल-कारखाने या कृषि आदि के लिए हिंसा की जाती है, वहाँ वह **अर्थार्थक** है और जहाँ दूसरे धर्म-सम्प्रदाय वालो को मारा-पीटा या सताया जाता है, उन पर अन्याय-अत्याचार किया जाता है या धर्म के नाम से या धर्म निमित्त पशुबलि आदि दी जाती है, वहाँ **धर्मार्थक** हिंसा है। ये तीनो प्रकार की हिंसाएं अर्थवान् और शेष हिंसा अनर्थक कहलाती है, जैसे—मनोरजन, शरीरबल-वृद्धि आदि करने हेतु निर्दोष प्राणियो का शिकार किया जाता है, मनुष्यों को भूखे शेर के आगे छोडा जाता है, मुर्गे, साड, भैसे आदि परस्पर लडाए जाते है। ये सब हिंसाएँ निरर्थक है।

चूर्णिकार ने कहा है—**'आत-पर उभयहेतु अट्ठा, सेसा अणट्ठाए'**—अपने, दूसरे के या दोनो के प्रयोजन सिद्ध करने हेतु की जाने वाली हिंसा-प्रवृत्ति अर्थवान् और निष्प्रयोजन की जाने वाली निरर्थक या अनर्थक कहलाती है।[1]

'गुरू से कामा' का रहस्य यह है कि अज्ञानी की कामेच्छाएं इतनी दुस्त्याज्य होती है कि उन्हे अतिक्रमण करना सहज नही होता, अल्पसत्त्व व्यक्ति तो काम की पहली ही मार मे फिसल जाता है, काम की विशाल सेना से मुकाबला करना उसके वश की बात नही। इसलिए अज्ञजन के लिए कामो को 'गुरु' कहा गया है।[2]

'ततो से मारस्स अतो' इस पंक्ति का भावार्थ यह भी है कि सुखार्थी जन काम-भोगो का परित्याग नही कर सकता, अत काम-भोगो के परित्याग के बिना वह मृत्यु की पकड के भीतर होता है और चू कि मृत्यु की पकड के अन्दर होने से वह जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से घिरा रहता है अत वह सुख से सैकडो कोस दूर हो जाता है।[3]

१४८. णेव से अतो णेव से दूरे।

से पासति फुसितमिव कुसग्गे पणुण्ण णिवतित वातेरित। एव बालस्स जीवित मंदस्स अविजाणतो।

कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति, मोहेण गब्भ मरणाइ एति। एत्थ मोहे पुणो पुणो।

१४८ वह (कामनाओ का निवारण करने वाला) पुरुष न तो मृत्यु की सीमा (पकड) मे रहता है और न मोक्ष से दूर रहता है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १७९, आचा० निर्युक्ति।

२ आचा० शीला० टीका पत्राक १८०।   ३ आचा० शीला० टीका पत्राक १८०।

वह पुरुष (कामनात्यागी) कुश की नोक को छुए हुए (बारम्बार दूसरे जल-कण पडने से) अस्थिर और वायु के झोके से प्रेरित (प्रकम्पित) होकर गिरते हुए जल-बिन्दु की तरह जीवन को (अस्थिर) जानता-देखता है। बाल (अज्ञानी), मन्द (मन्द बुद्धि) का जीवन भी इसी तरह अस्थिर है, परन्तु वह (मोहवश) (जीवन के अनित्यत्व) को नही जान पाता।

(इसी अज्ञान के कारण) वह बाल—अज्ञानी (कामना के वश हुआ) हिंसादि क्रूर कर्म उत्कृष्ट रूप से करता हुआ (दु ख को उत्पन्न करता है।) तथा उसी दु ख से मूढ उद्विग्न होकर वह विपरीत दशा (सुख के स्थान पर दु ख) को प्राप्त होता है।

उस मोह (मिथ्यात्व-कषाय-विषय-कामना) से (उद्भ्रान्त होकर कर्मबन्धन करता है, जिसके फलस्वरूप) बार-बार गर्भ में आता है, जन्म-मरणादि पाता है।

इस (जन्म-मरण की परम्परा) मे (मिथ्यात्वादि के कारण) उसे बारम्बार मोह (व्याकुलता) उत्पन्न होता है।

विवेचन—'**णेव से अतो णेव से दूरे**'—पद मे कामनात्यागी के लिए कहा गया है—'वह मोक्ष से तो दूर नही है और मृत्यु की सीमा के अन्दर नही है अर्थात् वह जीवन्मुक्त स्थिति मे है।'

इस पद का अनेक नयो से विवेचन किया गया है।

एक नय के अनुसार वह कामनात्यागी सम्यक् दृष्टि पुरुष ग्रन्थि-भेद हो जाने के कारण अब कर्मों की सुदीर्घ सीमा मे भी नही रहा और देशोनकोटा-कोटी कर्मस्थिति रहने के कारण कर्मों से दूर भी नही रहा।

दूसरे नय के अनुसार यह पद केवलज्ञानी के लिए है। चार घाति-कर्मों का क्षय हो जाने मे न तो वह ससार के भीतर है और भवोपग्राही चार अघातिकर्मों के शेष रहने के कारण न वह ससार से दूर है।

तीसरे नय के अनुसार इसका अर्थ है—जो साधक श्रमणवेश लेकर विषय-सामग्री को छोड देता है, किन्तु अन्त करण से कामना का त्याग नही कर पाता, वह अन्तरग रूप मे साधना के निकट- -सीमा मे नही है, और बाह्य रूप मे साधना से दूर भी नही है, क्योंकि साधक के वेश मे जो है।

इस सूत्र मे अज्ञानी की मोह-मूढता का चित्रण करते हुए उसके तीन विशेषण दिये है—

(१) बाल, (२) मन्द और (३) अविजान। बालक (शिशु) मे यथार्थ ज्ञान नही होता, उसी तरह वह भी अस्थिर व क्षण-भगुर जीवन को अजर-अमर मानता है, यह उसकी ज्ञान-शून्यता ही उसका बचपन (बालत्व) है। सदसद्विवेक बुद्धि का अभाव होने से वह 'मन्द' है। तथा परम अर्थ—मोक्ष का ज्ञान नही होने से वह 'अविजान' है। इसी अज्ञानदशा के कारण वह सुख के लिए क्रूर कर्म करता है, बदले मे दु ख पाता है, बार-बार जन्म व मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।

संसारस्वरूप-परिज्ञान

१४९. संसयं परिजाणतो संसारे परिण्णाते भवति, संसयं अपरिजाणतो संसारे अपरिण्णाते भवति।

जे[1] छेये से सागारियं ण सेवे। कट्टु एवं अविजाणतो[2] बितिया मंदस्स बालिया।

लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणयाए त्ति बेमि।

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे। एत्थ फासे पुणो पुणो।

१४९. जिसे संशय (मोक्ष और संसार के विषय मे संदेह) का परिज्ञान हो जाता है, उसे संसार के स्वरूप का परिज्ञान हो जाता है।

जो संशय को नही जानता, वह संसार को भी नही जान पाता।

जो कुशल (मोह के परिणाम या संसार के कारण को जानने मे निपुण) है, वह मैथुन सेवन नही करता। जो ऐसा (गुप्तरूप से मैथुन का सेवन) करके (गुरु आदि के पूछने पर) उसे छिपाता है—अनजान बनता है, यह उस मूर्ख (काममूढ) की दूसरी मूर्खता (अज्ञानता) है।

उपलब्ध काम-भोगो का (उनके उपभोग के कटु-परिणामो का) पर्यालोचन करके, सर्व प्रकार से जानकर उन्हे स्वय सेवन न करे और दूसरो को भी काम-भोगो के कटुफल का ज्ञान कराकर उनके अनासेवन (सेवन न करने) की आज्ञा-उपदेश दे, ऐसा मैं कहता हूँ।

हे साधको! विविध काम-भोगो (इन्द्रिय-विषयो) मे गृद्ध-आसक्त जीवो को देखो, जो नरक-तिर्यंच आदि यातना-स्थानो मे पच रहे है—उन्ही विषयो से खिंचे जा रहे है। (वे इन्द्रिय-विषयो के वशीभूत प्राणी) इस संसार-प्रवाह मे (कर्मो के फल-स्वरूप) उन्ही स्थानो का बारम्बार स्पर्श करते है, (उन्ही स्थानो मे पुन-पुन जन्मते-मरते है)।

---

१ (क) '**जे छेये से सागारियं**' के बदले '**से सागारियं ण सेवए**' पाठ है। अर्थ होता है—'वह (साधक) अब्रह्मचर्य (मैथुन)—सेवन न करे।'

(ख) नागार्जुनीय पाठान्तर इस प्रकार है—**जे खलु विसए सेवति, सेवित्ता नालोएति, परेण वा पुट्ठो णिण्हवति, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्ठतरएण वा (दोसेण) उवलिंपिज्जा।**"—"जो विषय (मैथुन) सेवन करता है, सेवन करके उसकी आलोचना नही करता, दूसरे द्वारा पूछे जाने पर छिपाता है, अथवा उस दूसरे व्यक्ति को अपने दोष से या इससे भी बढकर पापिष्ठ दोष से लिप्त करता है।"

२ '**अविजाणतो**' के बदले चूर्णि मे '**अवयाणतो**' पाठ है। '**अव परिवर्जने अवयाणति ज भणित ण्हवति**'; 'अव' परिवर्जन अर्थ मे है, अर्थात् मैं नही जानता, इस प्रकार पूछने पर इन्कार कर देता है, या पूछने पर अवज्ञा कर देता है। वृत्तिकार ने अर्थ किया है—**अकार्यमपलपतोऽविज्ञापयतो वा।** उस अकार्य का अपलाप (गोपन) करता हुआ या न बताता हुआ।

विवेचन—इस सूत्र मे सशय को परिज्ञान का कारण बताया है। इसका आशय यह है कि सशय यहाँ शका के अर्थ मे है। जब तक किसी पदार्थ के विषय मे सशय—जिज्ञासा नहीं होती, तब तक उसके सम्बन्ध मे ज्ञान के नये-नये उन्मेष खुलते नही है। जिज्ञासा-मूलक सशय मनुष्य के ज्ञान की अभिवृद्धि करने मे बहुत बडा कारण है। भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गणधर गौतम स्वामी मन मे जिज्ञासा-मूलक सशय उठते ही भगवान् के पास समाधान के लिए सविनय उपस्थित होते है। भगवती सूत्र मे ऐसे जिज्ञासा मूलक छत्तीस हजार सशयो का समाधान अंकित है। इतनी बडी ज्ञानराशि सशयों के निमित्त से प्राप्त हो सकी। **'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'**—'संशय का आश्रय लिए बिना मनुष्य कल्याण के दर्शन नही कर पाता'—यह नीति सूत्र जिज्ञासा—प्रधान सशय का समर्थन करता है। पश्चिमी दर्शनकार दर्शन का आरम्भ भी आश्चर्य के प्रति जिज्ञासा से मानते है।

ससार जन्म-मरण के चक्र का नाम है, वह सुखकर है या दु खकर ? ऐसी सशयात्मक जिज्ञासा पैदा होगी तभी ज्ञपरिज्ञा से ससार की असारता का यथार्थ परिज्ञान (दर्शन) होगा, तभी प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उससे निवृत्ति होगी। जिसे ससार के प्रति सशयात्मक जिज्ञासा न होगी, उसे ससार की असारता का ज्ञान नही होगा, फलत ससार से उसकी निवृत्ति नही होगी।[1]

'बितिया मदस्स बालया'—इस पद मे बताया है कि साधक की पहली मूढता यह है कि उसने गुप्तरूप से मैथुन-सेवन किया, उस पर दूसरी मूढता यह है कि वह उसे छिपाता है, गुरु आदि द्वारा पूछने पर बताता नही है। इस सम्बन्ध मे नागार्जुनीय वाचना मे अधिक स्पष्ट पाठ है—**"जे खलु विसए सेवई, सेवित्ता वा णालोएई, परेण वा पुट्ठो निण्हवइ, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्ठयरेण दोसेण उव-लिंपिज्जति।"**—अर्थात् जो साधक विषय (मैथुन) सेवन करता है, सेवन करके उसकी आलोचना गुरु आदि के समक्ष नही करता, दूसरे (ज्येष्ठ साधु) के पूछने पर छिपाता है, अथवा उस दूसरे को अपने उस दोष मे या पापिष्ठकर दोष मे लपेटता है," यह दोहरा दोष-सेवन है—एक अब्रह्मचर्य का, दूसरा असत्य का।[2] इस सूत्र का सकेत है कि प्रमाद या अज्ञानवश भूल हो जाने पर उसे सरलतापूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा करने से दोष की शुद्धि हो जाती है। यदि दोष को छिपाने का प्रयत्न किया जाता है तो वह दोष पर दोषदोहरा पाप करता है।

आरंभ-कषाय-पद

१५०. आवंती केआवंती लोयंसि आरंभजीवी एतेसु चेव आरंभजीवी। एत्थ वि बाले परिपच्चमाणे[3] रमति पावेहिं कम्मेहिं असरणं सरणं ति मण्णमाणे।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १८१।

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक १८२ मे उद्धृत।

३ इसके बदले चूर्णि मे **'पलिप्पमाणे'** पाठ मिलता है, जिसका अर्थ होता है—(विषय-पिपासा से) संतप्त = छटपटाता हुआ।

१५१ इहमेगेसिं एगचरिया भवति । से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए[1] बहुलोभे बहुरते[2] बहुणडे बहुसढे बहुसंकप्पे आसवसक्की[3] पलिओछण्णे[4] उट्ठितवादं पवदमाणे, 'मा मे केइ अदक्खु' अण्णाण-पमाददोसेणं ।

सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति ।

अट्टा पया माणव[5] ! कम्मकोविया,[6]

जे अणुवरता अविज्जाए पलिमोक्खमाहु, आवट्टं अणुपरियट्टंति त्ति बेमि ।

।। पढमो उद्देसओ समत्तो ।।

१५० इस लोक मे जितने भी मनुष्य आरम्भजीवी (हिंसादि पापकर्म करके जीते) हैं, वे इन्ही (विषयासक्तियों-काम की कामनाओ के कारण आरम्भजीवी है ।

अज्ञानी साधक इस सयमी (साधु) जीवन मे भी विषय-पिपासा मे छटपटाता हुआ (कामाग्नि प्रदीप्त होने के कारण) अशरण (सावद्य प्रवृत्ति) को ही शरण मानकर पापकर्मों मे रमण करता है ।

१५१ इस ससार के कुछ साधक (विषय-कषाय के कारण) अकेले विचरण करते है। यदि वह साधक अत्यन्त क्रोधी है, अतीव अभिमानी है, अत्यन्त मायी (कपटी) है, अति लोभी है, भोगो मे अत्यासक्त है, नट की तरह बहुरूपिया है, अनेक प्रकार की शठता—प्रवचना करता है, अनेक प्रकार के सकल्प करता है, हिंसादि आस्रवो मे आसक्त रहता है, कर्मरूपी पलीते से लिपटा हुआ (कर्मों मे लिप्त) है, 'मै भी साधु हूँ, धर्माचरण के लिए उद्यत हुआ हूँ, इस प्रकार से उत्थितवाद बोलता (डींग

१　**'बहुमाए'** के बदले चूर्णि मे पाठ है—**'बहुमायी'**, अर्थ किया गया है— **कल्कतपसा च बहुमायी**—मिथ्या या दम्भपूर्ण तपस्या के कारण अत्यन्त कपटी, दम्भी या ढोंगी ।

२　**'बहुरते'** का अर्थ चूर्णि मे किया गया है **'बहुरतो उवचिणाति कम्मरयं'**—बहुत से पाप कर्म रूप रज का सचय करता है ।" शीलाकाचार्य ने अर्थ किया है—**बहुरजा बहुपापो, बहुषु वाऽऽरम्भादिषु रतो बहुरत** । अर्थात्—बहुत पाप करने वाला, जो बहुत-से आरम्भादि पापो मे रत रहता है, वह बहुरत है ।

३　**'आसवसक्की'** का अर्थ चूर्णि मे यो है -**आसवेसु विसु (स) त्तो आसव (स) क्की ।** आसव पान करके अधिकतर सोया रहता है, या आश्रवो मे आसक्त रहता है । **'अहवा आसवे अणुसचरति'**--या आस्रवो मे ही विचरण करता है ।

४.　**'पलिओछण्णे'** मे **'पलिअ'** का अर्थ चूर्णिकार करते है--**"प्रलीयते भव येन यच्च भूत्वा प्रलीयते, प्रलीयमुच्यते कर्म भृश लीन यदात्मनि'**—जिससे जीव ससार मे विशेष लीन होता है, जो उत्पन्न होकर लीन हो जाता है, उसे प्रलीय कहते है, वह है कर्म, जो आत्मा मे अत्यन्त लीन हो जाता है ।

५　**'मणुयवच्चा माणवा तेसिं आमन्त्रण'**—जो मनुज (मनुष्य) के अपत्य है, वे मानव है, यहाँ मानव शब्द का सम्बोधन मे बहुवचन का रूप है ।

६　चूर्णि मे **'कम्मअकोविता'** पाठ है, अर्थ है—**कह कम्म बज्झति मुच्चति वा** कर्मकोविद (कर्म-पण्डित उसे कहते है, जो यह भलीभाति जानता है कि कर्म कैसे बधते हैं, कैसे छूटते है ?'

झाँकता) है, 'मुझे कोई देख न ले' इस आशका से छिप-छिपकर अनाचार-कुकृत्य करता है, (तो समझ लो) वह यह सब अज्ञान और प्रमाद के दोष से सतत मूढ बना हुआ (करता है), वह मोहमूढ धर्म को नही जानता (धर्म-अधर्म का विवेक नही कर पाता)।

हे मानव ! जो लोग प्रजा (विषय-कषायों) से आर्त्त—पीडित है, कर्मबन्धन करने मे ही चतुर हैं, जो आश्रवो (हिंसादि) से विरत नही है, जो अविद्या से मोक्ष प्राप्त होना बतलाते है, वे (जन्म-मरणादि रूप) ससार के भवर-जाल मे बराबर चक्कर काटते रहते हैं।—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—सूत्र १५१ मे एकाकी विचरण करने वाले **अज्ञानी साधक के विषय में** कहा है। '**एगचरिया**'—साधक के लिए एकचर्या दो प्रकार की है—प्रशस्त **और अप्रशस्त। इन** दोनो प्रकार की एकचर्या के भी दो भेद हैं—द्रव्य-एकचर्या और भाव-एकचर्या। द्रव्यत प्रशस्त एकचर्या तब होती है, जब प्रतिमाधारी, जिनकल्पी या सघादि के किसी महत्त्वपूर्ण कार्य या साधना के लिए एकाकी विचरण स्वीकार किया जाए। वह द्रव्यत प्रशस्त एकचर्या होती है। जिस एकचर्या के पीछे विषय-लोलुपता हो, अतिस्वार्थ हो, दूसरो से पूजा-प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि पाने का लोभ हो, कषायो की उत्तेजना हो, दूसरो की सेवा न करनी पड़े, दूसरो को अपने किसी दोष या अनाचार का पता न लग जाए—इन कारणो से एकाकी विचरण स्वीकार करना अप्रशस्त-एकचर्या है। यहाँ पर अप्रशस्त एकचर्या के दोषो का विशद उद्घाटन हुआ है।

भाव से एकचर्या तभी हो सकती है, जब राग-द्वेष न रहे। यह अप्रशस्त नही होती। अत भाव से, प्रशस्त एकचर्या ही होती है और यह तीर्थंकरो आदि को होती है।

प्रस्तुत सूत्र मे द्रव्य से अप्रशस्त एकचर्या करने वाले की गलत रीति-नीति का निरूपण किया है। प्रशस्त एकचर्या अपनाने वाले मे ऐसे दोष-दुर्गुणो का न होना अत्यन्त आवश्यक है।[1] अप्रशस्त एकचर्या अपनाने वाला साधक अज्ञान और प्रमाद से ग्रस्त रहता है। अज्ञान दर्शनमोहनीय का और प्रमाद चारित्रमोहनीय कर्म के उदय का सूचक है।[2]

'**उत्थितवाद**' पद के द्वारा एकचर्या करने वालो की उन मिथ्या उक्तियो का निरसन किया है जो यदा-कदा वे करते है—जैसे—'मै इसलिए एकाकी विहार करता हूँ कि अन्य साधु शिथिलाचारी है, मै उग्र आचारी हूँ, मै उनके साथ कैसे रह सकता हूँ ? आदि'। सूत्रकार का कथन है कि इस प्रकार की आत्म-प्रशसा सिर्फ उसका वाग्जाल है। इस 'उत्थितवाद' को—स्वय को सयम मे उत्थित बताने की मायापूर्ण उक्ति मात्र समझना चाहिए।

मोक्ष के दो साधन सूत्रकृताग सूत्र मे बताये गये हैं[3]—विद्या (ज्ञान) और चारित्र।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १८२। २ आचा० शीला० टीका पत्राक १८२।

३ **आहसु विज्जा चरणं पमोक्खो**—सूत्रकृताग श्रु० १, अ० १२ गा० ११।

अविद्या मोक्ष का कारण नही है। चूर्णिकार 'अविज्जाए' के स्थान पर 'विज्जाए' पाठ मानकर इसका अर्थ करते हैं—जैसे मंत्रो से विष का नाश हो जाता है (उतर जाता है), वैसे ही विद्या (देवी के मंत्र) से या (कोरे ज्ञान से) कोई-कोई परिमोक्ष (सर्वथा मुक्ति) चाहते हैं, जैसे सांख्य विद्या—तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष होता है, यह सांख्यो का मत है। जैसा कि सांख्य कहते हैं—

पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रत ।
जटी मुंडी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशय ॥

—२५ तत्त्वो का जानकार किसी भी आश्रम मे रत हो, अवश्य मुक्त हो जाता है, चाहे वह जटाधारी हो, मुण्डित हो या शिखाधारी हो।

मोक्ष से विपरीत संसार है। अविद्या संसार का कारण है। अत जो दार्शनिक अविद्या को विद्या मानकर मोक्ष का कारण बताते हैं, वे संसार के भवरजाल मे बार-बार पर्यटन करते रहते है, उनके संसार का अन्त नही आता।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अप्रमाद का पथ

१५२. आवंती केआवंती लोगंसि अणारंभजीवी, एतेसु[1] चेव अणारंभजीवी।

एत्थोवरते तं झोसमाणे अयं संधी ति अदक्खु, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे ति अन्नेसी[2]।

एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते। उट्ठिते णो पमादए जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं।
पुढो छंदा[3] इह माणवा।
पुढो दुक्खं पवेदितं।

से अविहिंसमाणे[4] अणवयमाणे[5] पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए। एस समियापरियाए वियाहिते।

१ 'एतेसु चेव अणारंभजीवी' के बदले चूर्णि मे पाठ है—'एतेसु चेव छक्काएसु'—इन्ही षड् जीवनिकायों में । शीलांकाचार्य अर्थ करते है —'तेष्वेव गृहिषु' अर्थात्—उन्ही गृहस्थो मे।'

२ 'अन्नेसी' के बदले 'मण्णेसी' 'मन्नसी' पाठ है, जिसका अर्थ है—मानते है।

३ 'पुढो छंदा इह माणवा' के बदले 'पुढो छंदाण माणवाण' पाठ है—अलग-अलग स्वच्छन्द मानवों के ।'

४ 'से अविहिंसमाणे' इत्यादि पाठ का अर्थ चूर्णि मे मिलता है—"अणारंभजीविणा तवो अधिट्ठेयव्वो जत्थ उवदेसो पुढो (पुट्ठो) फासे। अहवा जति तं विरतं परीसहा फुसिज्जा तत्थ सुत्त—पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए। पुट्ठो पत्तो।" इसका अर्थ है—अनारम्भजीवी को तपश्चर्या का अनुष्ठान करना चाहिए। जिस साधक के हृदय मे भगवदुपदेश स्पर्श कर गया है वह परीषहों का स्पर्श होने पर

१५३. जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आतंका[1] फुसंति । इति उदाहु धीरे[2] । ते फासे पुट्ठोऽधियासते ।

से पुव्वं पेतं पच्छा पेतं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितियं असासतं चयोवचइयं[3] विप्परिणामधम्मं । पासह एयं रूवसंधिं ।

समुपेहमाणस्स एगायतणरतस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरयस्स त्ति बेमि ।

१५२ इस मनुष्य लोक मे जितने भी अनारम्भजीवी (अहिंसा के पूर्ण आराधक) है, वे (इन सावद्य-आरम्भ-प्रवृत्त गृहस्थो) के बीच रहते हुए भी अनारम्भजीवी (विषयो से निर्लिप्त-अप्रमत्त रहते हुए जीते) हैं ।

इस सावद्य-आरम्भ से उपरत अथवा आर्हत्शासन मे स्थित अप्रमत्त मुनि 'यह सन्धि (उत्तम अवसर या कर्मविवर-आस्रव) है'—ऐसा देखकर उसे (कर्मविवर-आस्रव को) क्षीण करता हुआ (क्षण भर भी प्रमाद न करे) ।

'इस औदारिक शरीर (विग्रह) का यह वर्तमान क्षण है', इस प्रकार जो क्षणान्वेषी (एक-एक क्षण का अन्वेषण करता है एव प्रत्येक क्षण का महत्त्व समझता है) है, (वह सदा अप्रमत्त रहता है) ।

यह (अप्रमाद का) मार्ग आर्यो (तीर्थकरो) ने बताया है ।

(साधक मोक्ष की साधना के लिए) उत्थित होकर प्रमाद न करे ।

प्रत्येक का दु ख और सुख (अपना-अपना स्वतन्त्र होता है) (अर्थात् दु ख-सुख के अतरग कारण कर्म सबके अपने-अपने होते है)—यह जानकर प्रमाद न करे ।

इस जगत मे मनुष्य पृथक्-पृथक् विभिन्न अध्यवसाय (अभिप्राय या सकल्प) वाले होते है, (इसलिए) उनका दु ख (या दु ख का अन्तरग कारण कर्म) भी (नाना प्रकार का) पृथक्-पृथक् होता है—ऐसा तीर्थकरो ने कहा है ।

विविध प्रकार से समभाव से सहन करे । यदि उस विरत साधु को परीषहो का स्पर्श हो तो यह सूत्र वहाँ उपयुक्त है—**पुट्ठो फासे विप्प०** ।

५ **'अणवयमाणे'** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**'अववमाणे मुसावाद'**—जो मृषावाद (झूठ) नही बोलता ।

६ **'समियापरियाए वियाहिते'** के बदले चूर्णि मे **'समिताए परियाए वियाहिते'** पाठ स्वीकार करके अर्थ किया गया है—'समगमण सभिता परिगमण परियाए, विविह आहिते वियाहिते'—सम—गमन है समिता, परिगमन है—पर्याय, विविध प्रकार से आहित व्याहित होना है ।

१ **'आतका'** के बदले चूर्णि मे **'रोगातका'** पाठ है । अर्थ होता है—रोगरूप उपद्रव ।

२ इसके स्थान पर **'वीरो'** या **'धीरो'** पाठ मिलता है, जिसका अर्थ चूर्णि मे किया गया है—''धी (धी) रो तित्थगरो अण्णतरो वा आयरियविसेसो ।''—धी (धी) र का अर्थ है—तीर्थकर या कोई आचार्य विशेष ।

३ इसकी चूर्णि मे व्याख्या की गई है—''**इट्ठाहारतो चिज्जति,** तदभावा अवचिज्जति, अतो चयोवचइय,'' अर्थात्—अभीष्ट आहार से चय होता है, उसके अभाव मे अपचय होता है, इसलिए कहा—**'चयोवचइय ।'**

वह (अनारम्भजीवी) साधक किसी भी जीव हिंसा न करता हुआ, वस्तु के स्वरूप को अन्यथा न कहे (मृषावाद न बोले) । (यदि) परीषहो और उपसर्गों का स्पर्श हो तो उनसे होने वाले दु खस्पर्शों को विविध उपायो (ससार की असारता की भावना आदि) से प्रेरित होकर समभावपूर्वक सहन करे । ऐसा (अहिंसक और सहिष्णु) साधक शमिता या समता का पारगामी, (उत्तम चारित्र-सम्पन्न) कहलाता है ।

१५३ जो साधक पापकर्मों मे आसक्त नही है, कदाचित् उन्हे आतक (शीघ्र-घाती व्याधि, मरणान्तक पीडा आदि) स्पर्श करे—पीडित करे, ऐसे प्रसग पर धीर (वीर) तीर्थंकर महावीर ने कहा कि 'उन दु खस्पर्शों को (समभावपूर्वक) सहन करे ।'

यह प्रिय लगने वाला शरीर पहले या पीछे (एक न एक दिन) अवश्य छूट जाएगा । इस रूप-सन्धि—देह के स्वरूप को देखो, छिन्न-भिन्न और विध्वस होना, इसका स्वभाव है । यह अध्रुव है, अनित्य है, अशाश्वत है, इसमे उपचय-अपचय (बढ-घट) होता रहता है, विविध परिवर्तन होते रहना इसका स्वभाव है ।

जो (अनित्यता आदि स्वभाव से युक्त इस शरीर के स्वरूप को और इस शरीर को मोक्ष-लाभ के अवसर—सन्धि के रूप मे देखना है), आत्म-रमण रूप एक आयतन मे लीन है, (शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों की—) मोह ममता से मुक्त है, उस हिंसादि से विरत साधक के लिए ससार-भ्रमण का मार्ग नही है—ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—इस उद्देशक के पूर्वार्द्ध मे अप्रमाद क्यो, क्या और कैसे ? इस पर कुछ सूत्रो मे सुन्दर प्रकाश डाला गया है । इसके उत्तरार्द्ध मे प्रमाद के एक अन्यतम कारण परिग्रह-वृत्ति के त्याग पर प्रेरणादायक सूत्र अकित है ।

अप्रमाद के पथ पर चलने के लिए एक सजग प्रहरी को भाँति सचेष्ट और सतर्क रहना पडता है । खासतौर से उसे शरीर पर—स्थूल शरीर पर ही नही, सूक्ष्म कार्मण शरीर पर—विशेष देखभाल रखनी पडती है । इसकी हर गतिविधि की बारीकी से जाच-परख कर आगे बढना होता है । अगर अष्टविध[1] प्रमाद मे से कोई भी प्रमाद जरा भी भीतर मे घुस आया तो वह आत्मा की गति-प्रगति को रोक देगा, इसलिए प्रमाद के मोर्चों (सधि) पर बराबर निगरानी रखनी चाहिए । जैसे-जैसे साधक अप्रमत्त होकर स्थूल शरीर की क्रियाओ और उनसे मन पर होने वाले प्रभावो को देखने का अभ्यास करता जाता है, वैसे-वैसे कार्मण शरीर की गतिविधि को देखने की शक्ति भी आती जाती है । शरीर के सूक्ष्म दर्शन का इस तरह दृढ अभ्यास होने पर अप्रमाद की गति बढती है और शरीर से प्रवाहित होने वाली

१ प्रमाद के पाँच, छह तथा आठ भेद हैं । (क) १ मद्य, २ विषय, ३ कषाय, ४ निद्रा, ५ विकथा । (उत्त० नि० १८०) (ख) १ मद्य, २ निद्रा ३ विषय, ४ कषाय, ५ द्यूत, ६ प्रतिलेखन (स्था० ६) (ग) १ अज्ञान, २ सशय, ३ मिथ्याज्ञान, ४ राग, ५ द्वेष, ६ स्मृतिभ्रश, ७ धर्म मे अनादर, ८ योग-दुष्प्रणिधान (प्रव० द्वार २०७)—देखे, अभि० राजे० भाग ५, पृ० ४८०

चैतन्य-धारा की उपलब्धि होने लगती है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—"**एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते।**"

आरम्भ और अनारम्भ : साधु-जीवन मे—साधु गृहस्थाश्रम के बाह्य आरम्भो से बिलकुल दूर रहता है, परन्तु साधना-जीवन मे उसकी दैनिकचर्या के दौरान कई आरम्भ प्रमादवश हो जाते है। उसी प्रमाद को यहाँ आरम्भ कहा गया है—

"**आदाणे निक्खेवे भासुस्सग्गे अ ठाण-गमणाई।**
सव्वो पमत्तजोगो समणस्सऽवि होइ आरम्भो॥[1]

—अपने धर्मोपकरणो या सयम-सहायक साधनो को उठाने-रखने, बोलने, बैठने, गमन करने, भिक्षादि द्वारा आहार का ग्रहण एव सेवन करने एव मल-मूत्रादि का उत्सर्ग करने आदि मे श्रमण का भी मन-वचन-काया से समस्त प्रमत्त योग आरम्भ है।' आशय यह है कि गृहस्थ जहाँ सावद्य कार्यों मे प्रवृत्त होते है, वहाँ साधु निरवद्य कार्यों मे ही प्रवृत्त होते हैं। आरम्भ-जीवी गृहस्थ का भिक्षा, स्थान आदि के रूप मे सहयोग प्राप्त करके भी, उनके बीच रहकर भी वे आरम्भ मे लिप्त—आसक्त नही होते। इसलिए वे आरम्भजीवी मे भी अनारम्भजीवी रहते है। ससार मे रहते हुए भी वे जल-कमलवत् निर्लेप रहते हैं। शरीर-साधनार्थ भी वे निरवद्य विधि से जीते हैं।[2] यही—अनारम्भजीवी साधक का लक्षण है।

'**अय खणेत्ति अन्नेसी**'—इस पद का अर्थ है कि शरीर के वर्तमान क्षण पर चिन्तन करे—शरीर के भीतर प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहे है, रोग-पीडा आदि नये-नये रूप मे उभर रहे है, उनको देखे, एक क्षण का गम्भीर अन्वेषण भी शरीर की नश्वरता को स्पष्ट कर देता है। अत गम्भीरतापूर्वक शरीर के वर्तमान क्षण का अन्वेषण करे।

पचमहाव्रती साधु को गृहीत प्रतिज्ञा के निर्वाह के समय कई प्रकार के परीषह (कष्ट), उपसर्ग, दु ख, आतक आदि आ जाते है, उस समय उसे क्या करना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते है—'**ते फासे पुट्ठोऽधियासते से पुव्व पेत पच्छा पेत**' इसका आशय यह है कि उस समय साधक उन दु खस्पर्शो को अनाकुल और धैर्यवान होकर सहन करे। ससार की असारता की भावना, दु ख सहने से कर्म-निर्जरा की साधना आदि का विचार करके उन दु खो का वेदन न करे, मन मे दु खो के समय समभाव रखे। शरीर को अनित्य, अशाश्वत, क्षणभ-गुर और नाशवान् तथा परिवर्तनशील मानकर इससे आसक्ति हटाए, देहाध्यास न करे। साथ ही यह भी विचार करे कि मैने पूर्व मे जो असातावेदनीय कर्म बाधे है, उनके विपाक (फल) स्वरूप जो दु ख आएँगे, वे, मुझे ही सहने पडेगे, मेरे स्थान पर कोई अन्य सहन करने नही आएगा और किए हुए कर्मों के फल भोगे बिना छुटकारा कदापि नही हो सकता। अत जैसे पहले भी मैने असातावेदनीय कर्म-विपाक-जनित दु ख सहे थे, वैसे बाद मे भी मुझे ये दु ख सहने पडेगे। ससार मे कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है, जिस पर असातावेदनीय कर्म के फलस्वरूप दु ख, रोग आदि आतक न आये हो, यहाँ तक कि वीतराग तीर्थकर जैसे महापुरुषो

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १८५ मे। २ आचा० शीला० टीका पत्राक १८६।

के भी पूर्वकृत असातावेदनीय कर्मवश दु ख, आतक आदि आ जाते है। उन्हे भी कर्मफल अवश्य भोगने पडते है। अत मुझे भी इनके आने पर घबराना नही चाहिए, समभावपूर्वक इन्हे सहते हुए कर्मफल भोगने चाहिए।[1]

'णत्थि मग्गे विरयस्स'—हिसादि आश्रवद्वारो से निवृत्त मुनि के लिए कोई मार्ग नही है, इस कथन के पीछे तीन अर्थ फलित होते हैं—

(१) इस जन्म मे विविध परमार्थ भावनाओ के अनुप्रेक्षण के कारण शरीरादि की आसक्ति मे मुक्त साधक के लिए नरक-तिर्यचादिगमन (गति) का मार्ग नही है—बन्द हो जाता है।

(२) उसी जन्म में समस्त कर्मक्षय हो जाने के कारण उसके लिए चतुर्गतिरूप कोई मार्ग नही है।

(३) जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु, चार दु ख के मुख्य मार्ग है। विरत और विप्रमुक्त के लिए ये मार्ग बन्द हो जाते है।[2]

यहाँ पर छद्मस्थ श्रमण के लिए प्रथम और तृतीय अर्थ घटित होता है। समस्त कर्मक्षय करने वाले केवली के लिए द्वितीय अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार अप्रमत्त साधक ससार-भ्रमण मे मुक्त हो जाता है।

परिग्रह त्याग की प्रेरणा

१५४. आवती केआवती लोगसि परिग्गहावती, से अप्प वा बहु वा अणु वा थूल वा चित्तमत वा अचित्तमत वा, एतेसु चेव परिग्गहावती।

एतदेवेगेसि महब्भय भवति।

लोगवित्त च ण उवेहाए।

एते सगे अविजाणतो।

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक १८६।

(ख) कर्मफल स्वेच्छा से भोगने और अनिच्छा से भोगने मे बहुत अन्तर पड जाता है। एक आचार्य ने कहा है—

> **स्वकृतपरिणताना दुर्नयाना विपाक,**
> **पुनरपि सहनीयोऽत्र ते निर्गुणस्य।**
> **स्वयमनुभवताऽसौ दु.खमोक्षाय सद्यो,**
> **भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते॥**

—खेद खिन्न होकर स्वकृत-कर्मो के बन्ध का विपाक अभी नही सहोगे तो फिर (कभी न कभी) सहन करना (भोगना) ही पडेगा। यदि वह कर्मफल स्वय स्वेच्छा से भोग लोगे तो शीघ्र दु ख से छुटकारा हो जायगा। यदि अनिच्छा से भोगोगे तो वह सैकडो भवो (जन्मो) मे गमन का कारण हो जाएगा।

२ आचा० शीला० टीका पत्राक १८७।

१५५. से सुपडिबुद्धं सूवणीयं[1] ति णच्चा पुरिसा ! परमचक्खू ! विपरिक्कम ।
एतेसु चेव बंभचेरं ति बेमि ।
से सुतं च मे अज्झत्थं[2] च मे—बंधपमोक्खो तुज्झऽज्झत्थेव ।
१५६. एत्थ विरते अणगारे दीहराय तितिक्खते ।
पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए ।
एयं मोणं सम्मं अणुवासेज्जासि त्ति बेमि ।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

१५४ इस जगत् मे जितने भी प्राणी परिग्रहवान् है, वे अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त (सजीव) या अचित्त (निर्जीव) वस्तु का परिग्रहण (ममतापूर्वक ग्रहण या सग्रह) करते है। वे इन (वस्तुओ) मे (मूर्च्छा-ममता रखने के कारण) ही परिग्रहवान् हैं। यह परिग्रह ही परिग्रहियो के लिए महाभय का कारण होता है।

साधको ! असयमी—परिग्रही लोगो के वित्त—धन या वृत्त (सज्ञाओ) को देखो। (इन्हे भी महान भय रूप समझो)।

जो (परिग्रहजनित) आसक्तियो को नही जानता, वह महाभय को पाता है। (जो अल्प, बहुत द्रव्यादि तथा शरीरादिरूप परिग्रह से रहित होता है उसे परिग्रह-जनित महाभय नही होता।)

१५५ (परिग्रह महाभय का हेतु है—) यह (वीतराग सर्वज्ञो द्वारा) सम्यक् प्रकार से प्रतिबुद्ध (ज्ञात) है और सुकथित है, यह जानकर, हे परमचक्षुष्मान् (एकमात्र मोक्षदृष्टिमान्) पुरुष ! तू (परिग्रह आदि से मुक्त होने के लिए) पुरुषार्थ (पराक्रम) कर।

(जो परिग्रह से विरत है) उनमे ही (परमार्थत) ब्रह्मचर्य होता है।

ऐसा मै कहता हूँ।

मैंने सुना है, मेरी आत्मा मे यह अनुभूत (स्थिर) हो गया है कि बन्ध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा मे ही स्थित है।

१५६ इस परिग्रह से विरत अनगार (अपरिग्रहवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाले क्षुधा-पिपासा आदि) परीषहो को दीर्घरात्रि—मृत्युपर्यन्त-जीवन भर सहन करे।

---

१ **'सूवणीय ति णच्चा'** के बदले चूर्णि मे पाठ है—**'सुत अणुविचिंतेति णच्चा'**। अर्थ किया गया है—"सुतेण अणुविंचितित्ता गणधरेहि णच्चा'—अर्थात्—सूत्र से तदनुरूप चिन्तन करके गणधरो द्वारा प्रस्तुत है, इसे जान कर।

२ **'अज्झत्थ'** के बदले चूर्णि मे पाठ है—**'अज्झत्थित।'** अर्थ किया है—"**ऊहितं गुणितं चिंतितं ति एकट्ठा।**' 'अध्यात्मित' का अर्थ होता है—ऊहित, गुणित या चिन्तित। यानी (मन मे) ऊहापोह कर लिया है, चिन्तन कर लिया है, या गुणन कर लिया है।

जो प्रमत्त (विषयादि प्रमादों से युक्त) हैं, उन्हें निर्ग्रन्थ धर्म से बाहर समझ (देख)। अतएव अप्रमत्त होकर परिव्रजन-विचरण कर।

(और) इस (परिग्रहविरतिरूप) मुनिधर्म का सम्यक् परिपालन कर।

ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—**'एतेसु चेव परिग्गहावंती'**—इस वाक्य का आशय बहुत गहन है। वृत्तिकार ने इसका रहस्य खोलते हुए कहा है—परिग्रह (चाहे थोडा सा भी हो, सूक्ष्म हो) सचित्त (शिष्य-शिष्या, भक्त, भक्ता का) हों या अचित्त (शास्त्र, पुस्तक, वस्त्र, पात्र, क्षेत्र, प्रसिद्धि आदि का) हो, अल्प मूल्यवान् हो या बहुमूल्य, थोडे से वजन का हो या वजनदार, यदि साधक की मूर्च्छा, ममता या आसक्ति इनमे से किसी भी पदार्थ पर थोडी या अधिक है तो महाव्रतधारी होते हुए भी उसकी गणना परिग्रहवान् गृहस्थो मे होगी।

इसका दूसरा आशय यह भी है—इन्हीं षड्जीवनिकायरूप सचित्त जीवों के प्रति या विषयभूत अल्पादि द्रव्यों के प्रति मूर्च्छा—ममता करने वाले साधक परिग्रहवान् हो जाते है। इस प्रकार अविरत होकर भी स्वय विरतिवादी होने की डींग हाकने वाला साधक अल्प-परिग्रह से भी परिग्रहवान् हो जाता है। आहार—शरीरादि के प्रति जरा-सी मूर्च्छा-ममता भी साधक को परिग्रही बना सकती है, अत उसे सावधान (अप्रमत्त) रहना चाहिए।[1]

'एतदेवेगेसिं महब्भयं भवति'—इस वाक्य में **'एगेसिं'** से तात्पर्य उन कतिपय साधकों से है, जो अपरिग्रहव्रत धारण कर लेने के बावजूद भी अपने उपकरणों या शिष्यों आदि पर मूर्च्छा-ममता रखते है। जैसे गृहस्थ के मन मे परिग्रह की सुरक्षा का भय बना रहता है, वैसे ही पदार्थों (सजीव-निर्जीव) के प्रति ममता-मूर्च्छा रखने वाले साधक के मन मे भी सुरक्षा का भय बना रहता है। इसीलिए परिग्रह को महाभय रूप कहा है। अगर इस कथन का साक्षात् अनुभव करना हो तो महापरिग्रही लोगो के वृत्त (चरित्र) या वित्त (स्थिति) को देखो कि उन्हें अहर्निश जान को कितना खतरा रहता है।[2]

'लोगवित्तं'—का एक अर्थ—लोकवृत्त—लोगो का व्यावहारिक कष्टमय जीवन है। तथा दूसरा अर्थ—लोकसज्ञा से है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप लोक-सज्ञा को भय रूप जानकर उसकी उपेक्षा कर दे।

'एतेसु चेव अबंभचेरं' का आशय यह है कि प्राचीन काल मे स्त्री को भी परिग्रह माना जाता था। यही कारण है कि भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म की प्ररूपणा की थी। ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह व्रत के अन्दर गतार्थ कर लिया गया था।

ब्रह्मचर्य-भग भी मोहवश होता है, मोह आभ्यन्तर परिग्रह मे है। इसलिए ब्रह्मचर्य-भग को अपरिग्रह व्रत-भग का कारण समझा जाता है। इस दृष्टि से कहा गया है कि परिग्रह मे विरत व्यक्तियो मे ही वास्तव मे ब्रह्मचर्य का अस्तित्व है। जिसकी शरीर और वस्तुओ के प्रति मूर्च्छा-ममता होगी, न वह इन्द्रिय-सयम रूप ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेगा, न वह अन्य

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १८७। २. आचा० शीला० टीका पत्राक १८८।

अहिंसादि व्रतों का आचरणरूप ब्रह्मचर्य पालन कर सकेगा, और न ही गुरुकुलवास रूप ब्रह्मचर्य में रह पाएगा, और न वह आत्मा-परमात्मा (ब्रह्म) मे विचरण कर पाएगा। इसीलिए कहा गया कि परिग्रह से विरत मनुष्यो मे ही सच्चे अर्थ मे ब्रह्मचर्य रह सकेगा।[1]

'परमचक्खू'—परमचक्षु के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) जिसके पास परम-ज्ञान-रूपी—चक्षु (नेत्र) है वह परमचक्षु है, अथवा (२) परम—मोक्ष पर ही एकमात्र जिसके चक्षु (दृष्टि) केन्द्रित है, वह भी परमचक्षु है।[2]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

मुनि-धर्म की प्रेरणा

१५७. आवती केआवती लोगंसि अपरिग्गहावंती, एएसु चेव अपरिग्गहावंती। सोच्चा[3] वई मेधावी पंडियाण निसामिया। समियाए धम्मे आरिएहिं[4] पवेदिते।

जहेत्थ मए संधी झोसिते एवमण्णत्थ संधी दुज्झोसए भवति।

तम्हा बेमि णो णिहेज्ज[5] वीरियं।

१५७. इस लोक मे जितने भी अपरिग्रही साधक है, वे इन धर्मोपकरण आदि मे (मूर्च्छा-ममता न रखने तथा उनका संग्रह न करने के कारण) ही अपरिग्रही हैं।

मेधावी साधक (तीर्थंकरो की आगमरूप) वाणी सुनकर तथा (गणधर एवं आचार्य आदि) पण्डितो के वचन पर चिन्तन-मनन करके (अपरिग्रही) बने।

आर्यों (तीर्थंकरों) ने समता मे धर्म कहा है।

(भगवान् महावीर ने कहा—) जैसे मैने ज्ञान-दर्शन-चारित्र—इन तीनो की सन्धि रूप (समन्वित—) साधना की है, वैसी साधना अन्यत्र (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रहित या स्वार्थी मार्ग मे) दु:साध्य—दुराराध्य है। इसलिए मैं कहता हूँ—(—तुम मोक्षमार्ग की इस समन्वित साधना मे पराक्रम करो), अपनी शक्ति को छिपाओ मत।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १८८। २ आचा० शीला० टीका पत्रांक १८८।

३ 'सोच्चा वई मेहा (धा) वी' इस पंक्ति का चूर्णिकार अर्थ करते हैं—"सोच्चा—सुणित्ता, वयं—वयणं, मेहावी सिस्सामतणं। अहवा सोच्चा मेहाविवयणं ति तित्थगरवयणं, तं पडितेहिं भण्णमाणं गणहरादीहिं णिसामिया।—अर्थात्—वचन सुनकर हे मेधावी! अथवा मेधाविवचन=तीर्थंकरवचन सुनकर गणधरादि द्वारा हृदयंगम किये गए उन वचनो को, आचार्यों (पण्डितो) द्वारा उन वचनो को।

४. 'आरिएहिं' के बदले किसी प्रति मे 'आयरिएहिं' पाठ मिलता है, उसका अर्थ है—आचार्यों द्वारा।

५ 'णो णिहेज्ज' के बदले कहीं 'णो णिण्हवेज्ज', या 'णो णिहेज्जा' पाठ है। अर्थ समान है। चूर्णिकार कहते है—'णिहण ति वा गूहणं ति वा छायण ति वा एगट्ठा'—निह्नवन (छुपाना), गूहन और छादन ये तीनो एकार्थक है।

विवेचन—इस उद्देशक में मुनिधर्म के विविध अगोपागो की चर्चा की गई है। जैसे—रत्नत्रय की समन्वित साधना की, उस साधना मे रत माधको की उत्थित-पतित मनोदशा की, भाव युद्ध की, विषय-कषायामक्ति की, लोक-सम्प्रेक्षा की रीति की, कर्मस्वातन्त्र्य की, प्रशसा-विरक्ति की, सम्यक्त्व और मुनित्व के अन्योन्याश्रय की, इस साधना के अयोग्य एव योग्य साधक की और योग्य साधक के आहारादि की भलीभाँति चर्चा-विचारणा प्रस्तुत की गई है।

'समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते'—इस पद के विभिन्न नयो के अनुसार वृत्तिकार ने चार अर्थ प्रस्तुत किये है—

(१) आर्यों—तीर्थंकरो ने समता मे धर्म बताया है।[1]

(२) देशार्य भाषार्य, चारित्रार्य आदि आर्यों मे समता से—समभावपूर्वक—निष्पक्षपात-भाव से भगवान् ने धर्म का कथन किया है, जैसे कि इसी शास्त्र मे कहा गया है—**'जहा पुण्णस्स कत्थई, तहा तुच्छस्स कत्थई'** (जैसे पुण्यवान् को यह उपदेश दिया जाता है, वैसे तुच्छ निर्धन, पुण्यहीन को भी)।

(३) समस्त हेय बातो से दूर—आर्यो ने शमिता (कषायादि की उपशान्ति) मे प्रकर्ष रूप मे या धर्म कहा है।

(४) तीर्थकरो ने उन्ही को धर्म-प्रवचन कहा है, जिनकी इन्द्रियाँ और मन उपशान्त थे।[2]

इन चारो मे से प्रसिद्ध अर्थ पहला है, किन्तु दूसरा अर्थ अधिक सगत लगता है, क्योंकि अपरिग्रह की बात कहते-कहते, एकदम 'समता' के विषय मे कहना अप्रासगिक-सा लगता है और इसी वाक्य के बाद भगवान् ने ज्ञानादित्रय की समन्वित साधना के सदर्भ मे कहा है। इसलिए यहाँ यह अर्थ अधिक जँचता है कि 'तीर्थकरो' ने समभावपूर्वक—निष्पक्षपातपूर्वक धर्म का उपदेश दिया है।'

'जहेत्थ मए सधी झोसिते '—इस पक्ति के भी वृत्तिकार ने दो अर्थ प्रस्तुत किये हैं—

(१) जैसे मैंने मोक्ष के सम्बन्ध मे ज्ञानादित्रय की समन्वित (सन्धि) साधना की है ।

(२) जैसे मैंने (मुमुक्षु बनकर) स्वय ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक मोक्ष की प्राप्ति के लिए अष्टविध कर्म-सन्तति (सन्धि) का (दीर्घ तपस्या करके) क्षय किया है।

इन दोनो मे से प्रथम अर्थ अधिक सगत लगता है।[3]

उस युग में कुछ दार्शनिक सिर्फ ज्ञान से ही मोक्ष मानते थे, कुछ कर्म (क्रिया) से ही मुक्ति बतलाते थे और कुछ भक्तिवादी सिर्फ भक्ति से ही मोक्ष (परमात्मा) प्राप्ति मानते थे। किन्तु तीर्थंकर महावीर ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इसी के अन्तर्गत तप) इन तीनो की सन्धि (समन्विति-मेल) को मोक्षमार्ग बताया था, क्योंकि भगवान् ने स्वय इन

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १८९। २ आचा० शीला० टीका पत्राक १८९।

३ आचा० शीला० टीका पत्राक १८९।

तीनों की समन्विति को लेकर मोक्ष की साधना-सेवना की थी और अत्यन्त विकट-उत्कट कर्मों को काटने के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र (समभाव रूप) के साथ दीर्घ तपस्या की थी। इसलिए ज्ञानादि तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है यह प्रतिपादन उन्होंने स्वय अनुभव के बाद किया था। इससे दूसरे अर्थ की भी संगति बिठाई जा सकती है कि भगवान् महावीर ने अपने पूर्वकृत-कर्मों की सन्तति (परम्परा) का क्षय स्वय दीर्घतपस्याएँ करके तथा परीषहादि को समभावपूर्वक सहन करके किया है। यही (ज्ञानादित्रयपूर्वक तप का) उपदेश उन्होंने अपने शिष्यों को देते हुए कहा है—**'तम्हा बेमि णो णिहेज्ज वीरियं'**—मैंने ज्ञानादि त्रय की सन्धि के साथ तपश्चर्या द्वारा कर्म-सतति का क्षय करने का स्वय अनुभव किया है, इसलिए कहता हूँ—"ज्ञानादि त्रय एव तपश्चरण आदि की साधना करने की अपनी शक्ति को जरा भी मत छिपाओ, जितना भी सम्भव हो सके अपनी समस्त शक्ति को ज्ञानादि की साधना के साथ-साथ तपश्चर्या मे झोक दो।"[1]

तीन प्रकार के साधक

१५८. जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छाणिवाती। जे पुव्वुट्ठाई पच्छाणिवाती। जे णो पुव्वुट्ठाई णो पच्छाणिवाती। से वि[2] तारिसए सिया जे परिण्णाय लोगमण्णेसिति।

एयं णिदाय मुणिणा पवेदितं - इह आणकंखी पंडिते अणिहे पुव्वावररायं जयमाणे सया सीलं सपेहाए[3] सुणिया भवे अकामे अझंझे।

१५८ (इस मुनिधर्म मे प्रव्रजित होने वाले मोक्ष-मार्ग-साधक तीन प्रकार के होते है)—(१) एक वह होता है—जो पहले साधना के लिए उठता (उद्यत) है और बाद मे (जीवन पर्यन्त) उत्थित ही रहता है, कभी गिरता नही। (२) दूसरा वह है—जो पहले साधना के लिए उठता है, किन्तु बाद मे गिर जाता है। (३) तीसरा वह होता है—जो न तो पहले उठता है और न ही बाद मे गिरता है।

जो साधक लोक को परिज्ञा से जान और त्याग कर पुन (पचन-पाचनादि सावद्य कार्य के लिए) उसी का आश्रय लेता या ढूँढता है, वह भी वैसा ही (गृहस्थ-तुल्य) हो जाता है।

इस (उत्थान-पतन के कारण) को केवलज्ञानालोक से जानकर मुनीन्द्र

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १८९।

२ इसके बदले चूर्णि मे इस प्रकार पाठ है—**से वि तारिसए चेव जे परिण्णात लोगमण्णेसति** अर्थात् लोओ जे अपरिण्णाय लोग छज्जीवकायलोग अणुएसति—अण्णेसति। पढिज्जइ य—**लोगमणुस्सिते,** परिण्णात पच्चक्खाय पुणरवि तदत्था लोग अस्सिता।" अकार का लोप होने से लोक (षड्जीव-निकाय लोक) का स्वरूप न जानकर पुन उसी का अन्वेषण करता है। अथवा यह पाठ है—'लोग-मणुस्सिते', जिसका अर्थ होता है—षड्जीवनिकायरूप लोक को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से लोकप्रवाह छोडकर पुन उसके लिए लोक के आश्रित होना। "

३ **'सपेहाए'** के बदले **'सपेहाए'** पाठ है। **सपेहाए** का अर्थ चूर्णिकार कहते है **'सम्म पेक्ख'** सदा शील का सम्यक् प्रेक्षण करके।

(तीर्थंकर) ने कहा—मुनि आज्ञा मे रुचि रखे, वह पण्डित है, अत स्नेह—आसक्ति से दूर रहे। रात्रि के प्रथम और अन्तिम भाग मे (स्वाध्याय और ध्यान मे) यत्नवान् रहे अथवा सयम मे प्रयत्नशील रहे, सदा शील का सम्प्रेक्षण-अनुशीलन करे (लोक मे सारभूत तत्त्व-परमतत्त्व को) सुनकर काम और लोभेच्छा। माया (झझा) से मुक्त हो जाए।

विवेचन—मुनिधर्म की स्थापना करते समय साधको के जीवन मे कई आरोह-अवरोह (चढाव-उतार) आते है, उसी के तीन विकल्प प्रस्तुत सूत्र पक्ति मे प्रस्तुत किये है। वृत्तिकार ने सिंहवृत्ति और शृगालवृत्ति की उपमा देकर समझाया है। इसके दो भग (विकल्प) होते है—

(१) कोई साधक सिंहवृत्ति से निष्क्रमण करता (प्रव्रजित होता) है, और उसी वृत्ति पर अन्त तक टिका रहता है, वह 'पूर्वोत्थायी पश्चात् अनिपाती' है।

(२) कोई सिंहवृत्ति से निष्क्रमण करता है, किन्तु बाद मे शृगालवृत्ति वाला हो जाता है। यह 'पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती' नामक द्वितीय भग है।

पहले भग के निदर्शन के रूप मे गणधरो तथा धन्ना एव शालिभद्र आदि मुनियो को लिया जा सकता है, जिन्होने अन्त तक अपना जीवन तप, सयम मे उत्थित के रूप मे बिताया।

दूसरे भग के निदर्शन के रूप मे नन्दिषेण कुण्डरीक आदि साधको को प्रस्तुत कर सकते है, जो पहले तो बहुत ही उत्साह, तीव्र वैराग्य के साथ प्रव्रज्या के लिए उत्थित हुए लेकिन बाद मे मोहकर्म के उदय से सयमी जीवन मे शिथिल और पतित हो गये थे।

इसके दो भग और होते है—

(३) जो पूर्व मे उत्थित न हो, बाद मे श्रद्धा से भी गिर जाय। इस भग के निदर्शन के रूप मे किसी श्रमणोपासक गृहस्थ को ले सकते है जो मुनिधर्म के लिए तो तैयार नही हुआ इतना ही नही, जीवन के विकट सकटापन्न क्षणो मे सम्यग्दर्शन से भी गिर गया।

(४) चौथा भग है—जो न तो पूर्व उत्थित होता है और न ही पश्चान्निपाती। इसके निदर्शन के रूप मे बालतापसो को ले सकते है, जो मुनिधर्म मे दीक्षित होने के लिए तैयार न हुए और जब उठे ही नही तो गिरने का सवाल ही कहा रहा।[1]

मुनि-धर्म के साधको की उत्थित-पतित मनोदशा को जानकर भगवान् ने मुनि-धर्म मे स्थिरता के लिए आठ मूलमन्त्र बताए, जिनका इस सूत्र मे उल्लेख है—

(१) साधक **आज्ञाकाक्षी** (आज्ञारुचि) हो, आज्ञा के दो अर्थ होते है—तीर्थकरो का उपदेश और तीर्थकर प्रतिपादित आगम।

(२) **पण्डित** हो—सद्-असद् विवेकी हो। अथवा '**स पण्डितो य करणैरखण्डित**.' इस श्लोकार्ध के अनुसार इन्द्रियो एव मन से पराजित न हो, अथवा '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माण तमाहु पण्डित बुधा**' गीता की इस उक्ति के अनुसार जो ज्ञानरूपी अग्नि से अपने कर्मो को जला डालता हो उसे ही तत्त्वज्ञो ने पण्डित कहा है।

(३) **अस्निह हो**—स्निग्धता—आसक्ति से रहित हो।

(४) पूर्वरात्रि और अपररात्रि मे **यत्नवान रहना**। रात्रि के प्रथम याम को पूर्वरात्र और

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १९० ।

रात्रि के पिछले याम को अपररात्र कहते है। इन दोनो यामो मे स्वाध्याय, ध्यान, ज्ञान-चर्चा या आत्मचिन्तन करते हुए अप्रमत्त रहना यतना है।[1]

(५) **शील सम्प्रेक्षा**—(१) महाव्रतो की साधना, (२) तीन (मन-वचन-काया की) गुप्तियाँ (सुरक्षा-स्थिरता), (३) पञ्चेन्द्रिय दम (सयम) और (४) क्रोधादि चार कषायो का निग्रह—ये चार प्रकार के शील है, चिन्तन की गहराइयो मे उतर कर अपने मे उनका सतत निरीक्षण करना शील-सम्प्रेक्षा है।

(६) लोक मे सारभूत परमतत्त्व (ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक मोक्ष) का **श्रवण** करना।

(७) **काम-रहित** (इच्छाकाम और मदनकाम से रहित अकाम होना)।

(८) **झझा** (माया या लोभेच्छा) से रहित होना।[2]

इन अष्टविध उपायो का सहारा लेकर मुनि अपने मार्ग मे सतत आगे बढता रहे।

अन्तर लोक का युद्ध

१५९. इमे ण चेव जुज्झाहि, कि ते जुज्झेण बज्झतो ?
जुद्धारिहं[3] खलु दुल्लभं। जहेत्थ कुसलेहि परिण्णाविवेगे भासिते।
चुते हु बाले गब्भातिसु रज्जति। अस्सि चेतं पवुच्चति रूवंसि वा छणंसि वा।
से हु एगे संविद्धपहे[4] मुणी अण्णहा लोगमुवेहमाणे[5]।
१६०. इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति, संजमति, णो पगब्भति,
उवेहमाणे पत्तेयं सातं वण्णादेसी णारभे कंचणं सव्वलोए
एगप्पमुहे विदिसप्पतिण्णे णिव्विण्णचारी अरते पयासु।
से वसुमं सव्वसमण्णागतपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं तं णो अण्णेसी।

१५९. इसी (कर्म-शरीर) के साथ युद्ध कर, दूसरो के साथ युद्ध करने से तुझे क्या मिलेगा ?

(अन्तर-भाव) युद्ध के योग (साधन) अवश्य ही दुर्लभ है।

जैसे कि तीर्थंकरो (मार्ग-दर्शन-कुशल) ने इस (भावयुद्ध) के परिज्ञा और विवेक (ये दो शस्त्र) बताए है।

---

१ दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

'से पुव्वरत्तावररत्तकाले संपिक्खए अप्पगमप्पएणं। (चूलिका) २।१२

—साधक पूर्वरात्रि एव अपररात्रि मे ध्यानस्थ होकर आत्मा से आत्मा का सम्यक् निरीक्षण करे।

२ आचा० शीला० टीका पत्राक १९०।

३ **'जुद्धारिहं'** के बदले कही **'जुद्धारियं च दुल्लहं'** पाठ है। इसका अर्थ वृत्तिकार ने किया है—युद्ध दो प्रकार के होते है—अनार्ययुद्ध और आर्ययुद्ध। **तत्रानार्यसंग्रामयुद्ध, परीषहादि रिपुयुद्धं त्वार्यं, तद्-दुर्लभमेव तेन युद्धयस्व।**—अनार्ययुद्ध है शस्त्रास्त्रो से सग्राम करना, और परिषहादि शत्रुओ के साथ युद्ध करना आर्ययुद्ध है, वह दुर्लभ ही है। अत परिषहादि के साथ आर्ययुद्ध करो।

४ **'संविद्धपहे'** के बदले **'संविद्धभये'** पाठान्तर है। जिसका अर्थ है—जिसने भय को देख लिया है।

५ **'लोगमुवेहमाणे'** के बदले चूर्णि मे **'लोगं उविक्खमाणे'** पाठ है, जिसका अर्थ होता है—लोक की उपेक्षा या उत्प्रेक्षा (निरीक्षण) करता हुआ।

(मोक्ष-साधना के लिए उत्थित होकर) भ्रष्ट होने वाला अज्ञानी साधक गर्भ आदि (दु ख-चक्र) मे फँस जाता है। इस आर्हत् शासन मे यह कहा जाता है—रूप (तथा रसादि) मे एव हिंसा (उपलक्षण से असत्यादि) मे (आसक्त होने वाला उत्थित होकर भी पुन पतित हो जाता है)।

केवल वही एक मुनि मोक्षपथ पर अभ्यस्त (आरूढ) रहता है, जो (विषय-कषायादि के वशीभूत एव हिंसादि मे प्रवृत्त) लोक का अन्यथा (भिन्नदृष्टि से) उत्प्रेक्षण (गहराई मे अनुप्रेक्षण) करता रहा है अथवा जो (कषाय-विषयादि) लोक की उपेक्षा करता रहता है।

१६० इस प्रकार कर्म (और उसके कारण) को सम्यक् प्रकार जानकर वह (साधक) सब प्रकार से (किसी जीव की) हिंसा नही करता, (शुद्ध) सयम का आचरण करता है, (असयम-कर्मों या अकार्य मे प्रवृत्त होने पर) धृष्टता नही करता।

प्रत्येक प्राणी का सुख अपना-अपना (प्रिय) होता है, यह देखता हुआ (वह किसी की हिंसा न करे)।

मुनि समस्त लोक (सभी क्षेत्रो) मे कुछ भी (शुभ या अशुभ) आरम्भ (हिंसा) तथा प्रशसा का अभिलाषी होकर न करे।

मुनि अपने एकमात्र लक्ष्य—मोक्ष की ओर मुख करके (चले), वह (मोक्षमार्ग मे) विपरीत दिशाओ को तेजी से पार कर जाए, (शरीरादि पदार्थों के प्रति) विरक्त (ममत्व-रहित) होकर चले, स्त्रियो के प्रति अरत (अनासक्त) रहे।

सयमधनी मुनि के लिए सर्व समन्वागत प्रज्ञारूप (सम्पूर्णसत्य-प्रज्ञात्मक) अन्त करण से पापकर्म अकरणीय है, अत साधक उनका अन्वेषण न करे।

विवेचन—'इमेण चेव जुज्झाहि जुद्धारिह खलु दुल्लभ'—साधना के पूर्वोक्त आठ मूलमत्रो को सुनकर कुछ शिष्यो ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—'भते! भेद-विज्ञान की भावना के साथ हम रत्नत्रय की साधना मे पराक्रम करते रहते है, अपनी शक्ति जरा भी नही छिपाते, आपके उपदेशानुसार हम साधना मे जुट गये लेकिन अभी तक हमारे समस्त कर्ममलो का क्षय नही हो सका, अत समस्त कर्ममलो से रहित होने का असाधारण उपाय बताइए।'

इस पर भगवान् ने उनसे पूछा--'क्या तुम और अधिक पराक्रम कर सकोगे?' वे बोले—'अधिक तो क्या बताए, लौकिक भाषा मे सिंह के साथ भी हम युद्ध कर सकते है, शत्रुओ के साथ जूझना और पछाडना तो हमारे बाँए हाथ का खेल है।'

इस पर भगवान् ने कहा--'वत्स! यहाँ इस प्रकार का बाह्य युद्ध नही करना है, यहाँ तो आन्तरिक युद्ध करना है। यहाँ तो स्थूल शरीर और कर्मो के साथ लडना है। यह औदारिक शरीर, जो इन्द्रियो और मन के शस्त्र लिए हुए है, विषय-सुखपिपासु है और स्वेच्छाचारी बनकर तुम्हे नचा रहा है, इसके साथ युद्ध करो और उस कर्मशरीर के साथ लडो, जो वृत्तियो के माध्यम से तुम्हे अपना दास बना रहा है, काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर आदि सब कर्म-शत्रु की सेना है, इसलिए तुम्हे कर्मशरीर और स्थूल-शरीर के साथ आन्तरिक युद्ध करके कर्मों

को क्षीण कर देना है। किन्तु 'इस भाव युद्ध' के योग्य सामग्री का प्राप्त होना अत्यन्त दुष्कर है।' यह कहकर उन्होंने इस आन्तरिक युद्ध के योग्य सामग्री की प्रेरणा दी जो यहाँ '**जहेत्थ कुसलेहिं** ' से लेकर '**णो अण्णेसी**' तक अंकित है।

आन्तरिक युद्ध के लिए दो शस्त्र बताये हैं - परिज्ञा और विवेक। परिज्ञा से वस्तु का सर्वतोमुखी ज्ञान करना है और विवेक से उसके पृथक्करण की दृढ भावना करनी है। विवेक कई प्रकार का होता है—धन, धान्य, परिवार, शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि से पृथक्त्व/भिन्नता का चिन्तन करना, परिग्रह-विवेक आदि है। कर्म से आत्मा के पृथक्त्व की दृढ भावना करना कर्म-विवेक है और ममत्व आदि विभावों से आत्मा को पृथक् समझना—भाव-विवेक है।[1]

'**रूवंसि वा छणंसि वा**'—यहाँ रूप शब्द समस्त इन्द्रिय-विषयों का तथा शरीर का, एवं 'क्षण' शब्द हिंसा के अतिरिक्त असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का सूचक है, क्योंकि यहाँ दोनों शब्दों के आगे 'वा' शब्द आये हैं।[2]

'**वण्णादेसी**'—वर्ण के प्रासंगिक दो अर्थ होते हैं—यश और रूप। वृत्तिकार ने दोनों अर्थ किए हैं। रूप के सन्दर्भ में प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ यों होता है—मुनि सौन्दर्य बढ़ाने का इच्छुक होकर कोई भी (लेप, औषधि-प्रयोग आदि) प्रवृत्ति न करे, अथवा मुनि रूप (चक्षुरिन्द्रिय विषय) का इच्छुक होकर (तदनुकूल) कोई भी प्रवृत्ति न करे।[3]

'**वसुमं**'—वसुमान् धनवान् को कहते हैं, मुनि के पास संयम ही धन है, इसलिए 'संयम का धनी' अर्थ यहाँ अभीष्ट है।[4]

सम्यक्त्व-मुनित्व की एकता

१६१. जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा।

ण इमं सक्कं सिढिलेहिं अद्दिज्जमाणेहिं[5] गुणासाएहिं[6] वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं।

मुणी मोणं समादाय धुणे सरीरगं[7]।
पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो।
एस ओहंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १९१। २ आचा० शीला० टीका पत्रांक १९१।

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक १९२। ४ आचा० शीला० टीका पत्रांक १९३।

५ '**अद्दिज्जमाणेहिं**' का एक विशेष अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'**अहवा अद्द अभिभवे, परीसहेहिं अभिभूयमाणेण** ।' अर्थात्—अद्द धातु अभिभव अर्थ में है। इसलिए यहाँ अर्थ होता है—परीषहों द्वारा पराजित हो जाने वाला।

६ '**गुणासाएहिं**' के बदले '**गुणासातेहिं**' पाठान्तर है। चूर्णि में इसका अर्थ यों किया गया है—'**गुणसातेणं ति गुणे सादयति, गुणा वा साता जं भणितं सुहा।** गुण=पंचेन्द्रिय-विषय में जो सुख मानता है, अथवा विषय ही जिसके लिए साता (सुख) रूप है।

७ '**सरीरगं**' के बदले '**कम्मसरीरगं**' पाठ कई प्रतियों में है।

१६१ (तुम) जिस सम्यक् (वस्तु के सम्यक्त्व-सत्यत्व) को देखते हो, वह मुनित्व को देखते हो, जिस मुनित्व को देखते हो, वह सम्यक् को देखते हो।

(सम्यक्त्व या सम्यक्त्वादित्रय) का सम्यक्रूप से आचरण करना उन साधकों द्वारा शक्य नहीं है, जो शिथिल (संयम और तप में दृढता से रहित) हैं, आसक्तिमूलक स्नेह से आर्द्र बने हुए हैं, विषयास्वादन में लोलुप हैं, वक्राचारी (कुटिल) हैं, प्रमादी (विषय-कषायादि प्रमाद से युक्त) हैं, जो गृहवासी (गृहस्थभाव अपनाए हुए) हैं।

मुनि मुनित्व (समस्त सावद्य प्रवृत्ति का त्याग) ग्रहण करके स्थूल और सूक्ष्म शरीर को प्रकम्पित करे—कृश कर डाले।

समत्वदर्शी वीर (मुनि) प्रान्त (बासी या बचा-खुचा थोडा-सा) और रूखा (नीरस, विकृति-रहित) आहारादि का सेवन करते हैं।

इस जन्म-मृत्यु के प्रवाह (ओघ) को तरने वाला मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—**'जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा'** यहाँ 'सम्यक्' और 'मौन' दो शब्द विचारणीय हैं। सम्यक् शब्द से यहाँ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों समन्वित रूप से ग्रहण किए गए हैं तथा मौन का अर्थ है मुनित्व—मुनिपन। वास्तव में जहाँ सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय होंगे, वहाँ मुनित्व का होना अवश्यम्भावी है और जहाँ मुनित्व होगा, वहाँ रत्नत्रय का होना अनिवार्य है।[1]

'सम्म' का अर्थ साम्य भी हो सकता है। साम्य और मौन (मुनित्व) का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी उपयुक्त है।

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक में समत्व-प्रधान मुनिधर्म की सुन्दर प्रेरणा दी गई है।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

चर्या-विवेक

१६२ गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परक्कंतं भवति अवियत्तस्स भिक्खुणो।
वयसा वि एगे बुइता कुप्पंति माणवा।
उण्णतमाणे य णरे महता मोहेण मुज्झति।

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक १९३।
(ख) 'मौन' शब्द के लिए अध्ययन २ सूत्र ९९ का विवेचन देखें।

संबाहा बहवे भुज्जो २ दुरतिक्कमा अजाणतो अपासतो ।

एतं ते मा होउ ।

एयं कुसलस्स दसण । तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए[1] तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे, जयं विहारी चित्तणिवाती पथणिज्झाई पलिवाहिरे[2] पासिय पाणे गच्छेज्जा ।

से अभिक्कममाणे पडिक्कमाणे सकुचेमाणे पसारेमाणे विणियट्टमाणे सपलिमज्जमाणे ।

१६२ जो भिक्षु (अभी तक) अव्यक्त—अपरिपक्व-अवस्था मे है, उसका अकेले ग्रामानुग्राम विहार करना दुर्यात (अनेक उपद्रवो से युक्त अत अवाछनीय गमन) और दुष्पराक्रम (दु साहस से युक्त पराक्रम) है ।

कई मानव (अपरिपक्व साधक) (थोडे-से प्रतिकूल) वचन सुनकर भी कुपित हो जाते है । स्वय को उन्नत (उत्कृष्ट-उच्च) मानने वाला अभिमानी मनुष्य (अपरिपक्व साधक) (जरा-से सम्मान और अपमान मे) प्रबल मोह से (अज्ञानोदय से) मूढ (मतिभ्रान्त-विवेकविकल) हो जाता है ।

उस (अपरिपक्व मन स्थिति वाले साधक) को एकाकी विचरण करते हुए अनेक प्रकार की उपसर्गजनित एव रोग-आतक आदि परीषहजनित सबाधाएँ—पीडाएँ बार-बार आती है तब उस अज्ञानी—अतत्त्वदर्शी के लिए उन बाधाओ को पार करना अत्यन्त कठिन होता है, वे उसके लिए दुर्लंघ्य होती है ।

(ऐसी अव्यक्त अपरिपक्व अवस्था मे—मैं अकेला विचरण करूँ), ऐसा विचार तुम्हारे मन मे भी न हो ।

यह कुशल (महावीर) का दर्शन/उपदेश है । (अव्यक्त साधक द्वारा एकाकी विचरण मे ये दोष उन्होने केवलज्ञान के प्रकाश मे देखे है) ।

अत परिपक्व साधक उस (वीतराग महावीर के दर्शन मे/सघ के आचार्य—गुरु या सयम) मे ही एकमात्र दृष्टि रखे, उसी के द्वारा प्ररूपित विषय-कषायासक्ति से मुक्ति मे मुक्ति माने, उसी को आगे (दृष्टिपथ मे) रखकर विचरण करे, उसी का सज्ञान-स्मृति सतत सब कार्यो मे रखे, उसी के सान्निध्य मे तल्लीन होकर रहे ।

---

१ इसके बदले **'तम्मोत्तीए'** पाठान्तर है, जिसका अर्थ शीलाकवृत्ति मे है—**'तेनोक्ता मुक्ति· तन्मुक्तिस्तया'**—उसके (तीर्थकरादि) के द्वारा उक्त (कथित) मुक्ति को तन्मुक्ति कहते है, उससे ।

२ **'पलिबाहरे'** मे 'पलि' का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है-**'चित्तणिधायी पलि'** जो चित्त मे रखी जाती है, वह पलि है ।

'पलिबाहरे' प्रतीप आहरे, जन्तु दृष्ट्वा चरण सकोचए 'देसी भासाए'—पलिव देशी भाषा मे व्यवहृत होता है । दोनो शब्दो का अर्थ हुआ—प्रतिकूल (दिशा मे) खीच ले यानी जन्तु को देखकर पैर सिकोड ले । परन्तु शीलाकाचार्य इसका अन्य अर्थ करते है—परि समन्ताद् गुरोरवग्रहात् पुरत पृष्ठतो वाऽवस्थानात् कार्यमृते सदा बाह्य स्यात् ।—कार्य के सिवाय गुरु के अवग्रह (क्षेत्र) से आगे-पीछे चारो ओर स्थिति से बाहर रहने वाला ।

मुनि (प्रत्येक चर्या मे) यतनापूर्वक विहार करे, चित्त को गति मे एकाग्र कर, मार्ग का सतत अवलोकन करते हुए (दृष्टि टिका कर) चले । जीव-जन्तु को देखकर पैरो को आगे बढने से रोक ले और मार्ग मे आने वाले प्राणियो को देखकर गमन करे ।

वह भिक्षु (किसी कार्यवश कही) जाता हुआ, (कही से) वापस लौटता हुआ, (हाथ, पैर आदि) अगो को सिकोडता हुआ, फैलाता (पसारता हुआ) समस्त अशुभप्रवृत्तियो से निवृत्त होकर, सम्यक् प्रकार से (हाथ-पैर आदि अवयवो तथा उनके रखने के स्थानो को) परिमार्जन (रजोहरणादि से) करता हुआ समस्त क्रियाएँ करे ।

विवेचन—इस सूत्र मे अव्यक्त साधु के लिए एकाकी विचरण का निषेध किया गया है । वृत्तिकार ने अव्यक्त का लक्षण देकर उसकी चतुर्भगी (चार विकल्प) बताई है । अव्यक्त साधु के दो प्रकार है—(१) श्रुत (ज्ञान) से अव्यक्त और (२) वय (अवस्था) से अव्यक्त ।

जिस साधु ने 'आचार प्रकल्प' का (अर्थ सहित) अध्ययन नही किया है, वह गच्छ मे रहा हुआ श्रुत से अव्यक्त है और गच्छ से निर्गत की दृष्टि से अव्यक्त वह है, जिसने नौवे पूर्व की तृतीय आचारवस्तु तक का अध्ययन न किया हो । वय से गच्छगत अव्यक्त वह है, जो सोलह वर्ष की उम्र से नीचे का हो, परन्तु गच्छनिर्गत अव्यक्त वह कहलाता है, जो ३० वर्ष की उम्र से नीचे का हो ।

चतुर्भगी इस प्रकार है—(१) कुछ साधक श्रुत और वय दोनो से अव्यक्त होते है, उनकी एकचर्या सयम और आत्मा की विघातक होती है ।

(२) कुछ साधक श्रुत से अव्यक्त, किन्तु वय से व्यक्त होते है, अगीतार्थ होने से उनकी एकचर्या मे भी दोनो खतरे है ।

(३) कुछ साधक श्रुत से व्यक्त किन्तु वय से अव्यक्त होते है, वे बालक होने के कारण सबसे पराभूत हो सकते है ।

(४) कुछ साधक श्रुत और वय दोनो से व्यक्त होते है । वे भी प्रयोजनवश या प्रतिमा स्वीकार करके एकाकी विहार या अभ्युद्यत विहार अगीकार कर सकते है किन्तु कारण विशेष के अभाव मे उनके लिए भी एकचर्या की अनुमति नही है । प्रयोजन के अभाव मे व्यक्त के एकाकी विचरण मे कई दोषो की सम्भावनाएँ है । अकस्मात् अतिसार या वातादि क्षोभ से कोई व्याधि हो जाय तो सयम और आत्मा की विराधना होने की सम्भावना है, प्रवचन हीलना (सघ की बदनामी) भी हो सकती है ।

वय व श्रुत से अव्यक्त साधक के एकाकी विचरण मे दोष ये है—किसी गाव मे किसी व्यक्ति ने जरा-सा भी उसे छेड दिया या अपशब्द कह दिया तो उसके भी गाली गलौज या मारामारी करने को उद्यत हो जाने की सम्भावना है । गाव मे कुलटा स्त्रियो के फस जाने

का खतरा है, कुत्तो आदि का भी उपसर्ग सम्भव है। धर्म-विद्वेषियो द्वारा उसे बहकाकर धर्म-भ्रष्ट किये जाने की भी सम्भावना रहती है।[1]

इसी सूत्र मे आगे बताया गया है कि अव्यक्त साधु एकाकी विचरण क्यो करता है? इससे क्या हानियाँ हैं? किसी अव्यक्त साधु के द्वारा सयम मे स्खलना (प्रमाद) हो जाने पर गुरु आदि उसे उपालम्भ देते है— कठोर वचन कहते है, तब वह क्रोध से भडक उठता है, प्रतिवाद करता है— "इतने साधुओ के बीच मे मुझे क्यो तिरस्कृत किया गया? क्या मै अकेला ही ऐसा हूँ? दूसरे साधु भी तो ऐसा प्रमाद करते है? मुझ पर ही क्यो बरस रहे है? आपके गच्छ (सघ) मे रहना ही बेकार है।" यो क्रोधान्धकार से दृष्टि आच्छन्न होने पर महामोहोदयवश वह अव्यक्त, अपुष्टधर्मा, अपरिपक्व साधु गच्छ से निकलकर उसी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जैसे समुद्र से निकलकर मछली विनष्ट हो जाती है। अथवा क्रिया या प्रवचन-पटुता, व्यावहारिक कुशलता आदि के मद मे छके हुए अभिमानी अव्यक्त साधु की गच्छ मे कोई जरा-सी प्रशसा करता है तो वह फूल उठता है और कोई जरा-सा कुछ कठोर शब्द कह देता है, या प्रशसा नही करता या दूसरो की प्रशसा या प्रसिद्धि होते देखता है तो भडक कर गच्छ (सघ) मे निकल कर अकेला घूमता रहता है। अपने अभिमानी स्वभाव के कारण वह अव्यक्त साधु जगह-जगह झगडता फिरता है, मन मे सक्लेश पाता है, प्रसिद्धि के लिए मारा-मारा फिरता है, अज्ञजनो से प्रशसा पाकर, उनके चक्कर मे आकर अपना शुद्ध आचार-विचार-विहार छोड बैठता है। निष्कर्ष यह है कि गुरु आदि का नियन्त्रण न रहने के कारण अव्यक्त साधु का एकाकी विचरण बहुत ही हानिजनक है।[2]

गुरु के सान्निध्य मे गच्छ मे रहने से गुरु के नियन्त्रण मे अव्यक्त साधु को क्रोध के अवसर पर बोध मिलता है—

"आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थान्वेषणे मति कार्या।
यदि सत्य क कोप? स्यादनृत कि नु कोपेन!" ।।१।।
"अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोप कथ न ते?
धर्मार्थकाममोक्षाणा, प्रसह्य परिपन्थिनि" ।।२।।

—बुद्धिमान् साधु को क्रोध आने पर वास्तविकता के अन्वेषण मे अपनी बुद्धि लगानी चाहिए कि यदि (दूसरो की कही हुई बात) सच्ची है तो मुझे क्रोध क्यो करना चाहिए, यदि झूठी है तो क्रोध करने से क्या लाभ? ।१। यदि अपकारी के प्रति क्रोध करना ही है तो अपने वास्तविक अपकारी क्रोध के प्रति ही क्रोध क्यो नही करते, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारो पुरुषार्थो मे जबर्दस्त बाधक—शत्रु बना हुआ है? ।२।

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक १९४।
(ख) **"अक्कोस-हरण-मारण धम्मब्भसाण बालसुलभाण।**
लाभ मण्णइ धीरो जहुत्तरण्ण अभावंमि।।"

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक १९४-१९५।
(ख) **साहम्मिएहिं सम्मुज्जएहि एगागिओ अ जो विहरे।**
आयकपउरयाए छक्कायवहम्मि आवडइ ।।१।।

अव्यक्त साधु अनुभव में और आचार के अभ्यास मे कच्चा होने मे अप्रिय घटनाक्रम के समय ज्ञाता—द्रष्टा नही रह सकता।[1] उन विघ्न-बाधाओ से वह उच्छृंखल और स्वच्छन्द (एकाकी) साधु सफलतापूर्वक निपट नही सकता।[2] क्योंकि बाधाओं, उपसर्गों को सहन करने की क्षमता और कला—विनय तथा विवेक से आती है। बाधाओ को सहन करने से क्या लाभ है? उस पर विचार करने के लिए गम्भीर विचार व ज्ञान की अपेक्षा रहती है। अव्यक्त साधु मे यह सब नही होता।

स्थानांग सूत्र (८।५९४) मे बताया है—एकाकी विचरने वाला साधु निम्न आठ गुणो से युक्त होना चाहिए—

(१) दृढ श्रद्धावान्, (२) सत्पुरुषार्थी, (३) मेधावी, (४) बहुश्रुत, (५) शक्तिमान्, (६) अल्प उपधि वाला, (७) धृतिमान् तथा (८) वीर्य-सम्पन्न।

अव्यक्त साधु मे ये गुण नही होते अत उसका एकाकीविहार नितान्त अहितकर बताया है।

'तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए'—ये विशेषण साधक की ईर्या-समिति के भी द्योतक है। चलते समय चलने में ही दृष्टि रखे, पथ पर नजर टिकाये, गति मे ही बुद्धि को नियोजित करके चले। यहाँ पर ईर्यासमिति का प्रसग भी है। चूर्णिकार ने इसे आचार्य (गुरु) आदि तथा ईर्या दोनो से सम्बन्ध माना है जबकि टीकाकार ने इन विशेषणो को आचार्य के साथ जोडा है। इन विशेषणो से आचार्य की आराधना-उपासना के पाँच प्रकार सूचित होते है—

(१) 'तद्दिट्ठीए'—आचार्य ने जो दृष्टि, विचार दिया है, शिष्य अपना आग्रह त्यागकर गुरु-प्रदत्त दृष्टि से ही चिन्तन करे।

एगागिअस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए।
भिक्खऽविसोहि महव्वय तम्हा सविइज्जए गमण ॥२॥

१ परिणाम का चिन्तन करने की क्षमता न होने से वह अद्रष्टा माना गया है।

२. **जह सायरंमि मीणा सखोह साअरस्स असहता।**
णिंति तओ सुहकामी णिग्गयमित्ता विणस्सति ॥१॥
एव गच्छसमुद्दे सारणवाईहि चोइआ सता।
णिति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्सति ॥२॥
गच्छमि केई पुरिसा सउणी जह पजरतरणिरुद्धा।
सारण-वारण-चोइय पासत्थगया परिहरति ॥३॥
जहा दियापोयमपक्खजाय सवासया पविउमण मणाग।
तमचाइया तरुणमपत्तजाय, ढकादि अव्वत्तगम हरेज्जा ॥४॥—आचा० शीला० टीका पत्राक १९४

—जैसे समुद्र की तरगो के प्रहार से क्षुब्ध होकर मछली आदि सुख की लालसा से बाहर निकलकर दुखी होती है। इसी प्रकार गुरुजनो की सारणा-वारणादि से क्षुब्ध होकर जो श्रमण बाहर चले जाते है, वे विनाश को प्राप्त हो जाते है—१-२।

—जैसे शुक-मैना आदि पक्षी पिजरे मे बँधे रहकर सुरक्षित रहते है। वैसे ही श्रमण गच्छ मे पार्श्वस्थ आदि के प्रहारो से सुरक्षित रहते है—३।

—जैसे नवजात पक्ष-रहित पक्षी आदि को ढक आदि पक्षियो से भय रहता है, वैसे ही अव्यक्त-अगीतार्थ को अन्यतीर्थिको का भय बना रहता है—४।

(२) '**तम्मुत्तीए**'—गुरु की आज्ञा मे ही तन्मय हो जाय।

(३) '**तप्पुरक्कारे**'—गुरु के आदेश को सदा अपने सामने—आगे रखे या शिरोधार्य करे।

(४) '**तस्सण्णी**'- गुरु द्वारा उपदिष्ट विचारो की स्मृति मे एकरस हो जाय।

(५) '**तण्णिवेसणे**'—गुरु के चिन्तन मे ही स्वय को निविष्ट कर दे, दत्तचित्त हो जाय।

'**से अभिक्कममाणे**'—आदि पदो का अर्थ वृत्तिकार ने सघाश्रित साधु के विशेषण मान कर किया है।[1] जबकि किसी-किसी विवेचक ने इन पदो को '**पाणे**' का द्वितीयान्त बहुवचनान्त विशेषण मानकर अर्थ किया है। दोनो ही अर्थ हो सकते है।

कर्म का बध और मुक्ति

१६३. एगया गुणसमितस्स रीयतो कायसंफासमणुचिण्णा एगतिया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेदणवेज्जावडिय[2]। ज आउट्टिकय[3] कम्म त परिण्णाय विवेगमेति। एव से अप्पमादेण विवेग किट्टति वेदवी।

१६३ किसी समय (यतनापूर्वक) प्रवृत्ति करते हुए गुणसमित (गुणयुक्त) अप्रमादी (सातवें से तेरहवे गुणस्थानवर्त्ती) मुनि के शरीर का सस्पर्श पाकर कुछ (सम्पातिम आदि) प्राणी परिताप पाते है। कुछ प्राणी ग्लानि पाते है अथवा कुछ प्राणी मर जाते है, (अथवा विधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए प्रमत्त—षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि के कायस्पर्श से न चाहते हुए भी कोई प्राणी परितप्त हो जाए या मर जाए) तो उसके इस जन्म मे वेदन करने (भोगने) योग्य कर्म का बन्ध हो जाता है।

(किन्तु उस षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि के द्वारा) आकुट्टि से (आगमोक्त विधिरहित—अविधिपूर्वक—) प्रवृत्ति करते हुए जो कर्मबन्ध होता है, उसका (क्षय) ज्ञपरिज्ञा से जानकर (- परिज्ञान कर) दस प्रकार के प्रायश्चित्त मे से किसी प्रायश्चित्त से करे।

इस प्रकार उसका (प्रमादवश किए हुए साम्परायिक कर्मबन्ध का) विलय (क्षय) अप्रमाद (से यथोचित्त प्रायश्चित्त से) होता है, ऐसा आगमवेत्ता शास्त्रकार कहते है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे ईर्यासमितिपूर्वक गमन करने वाले साधक के निमित्त से होने वाले आकस्मिक जीव-वध के विषय मे चिन्तन किया गया है।

---

१ आचा० शीला टीका पत्राक १९६।

२ '**वेज्जावडिय**' के बदले चूर्णि मे '**वेयावडिय**' पाठ मानकर अर्थ किया गया है—"तवो वा छेदो वा करेति वेयावडिय, कम्म खवणीय विदारणीय वेयावडिय।"—अर्थात्—तप, छेद या वैयावृत्य (सेवा) (जिसके वेदन-भोगने के लिए) करता है, वह वैयावृत्यिक है, जो कर्म-विदारणीय क्षय करने योग्य है, वह भी वेदापतित है।

३ '**आउट्टिकत परिण्णातविवेगमेति**' यह पाठान्तर चूर्णि मे है। अर्थ होता है—जो आकुट्टिकृत है, उसे परिज्ञात करके विवेक नामक प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

एक समान प्राणिवध होने पर भी कर्मबन्ध एक-सा नहीं होता, वह होता है—कषायों की तीव्रता-मन्दता या परिणामों की धारा के अनुरूप।

कायस्पर्श में किसी प्राणी का वध या उसे परिताप हो जाने पर प्रस्तुत सूत्र द्वारा वृत्तिकार ने उस हिंसा के पाँच परिणाम सूचित किये हैं—

(१) शैलेशी (निष्कम्प अयोगी) अवस्था-प्राप्त मुनि के द्वारा प्राणी का प्राण-वियोग होने पर भी बन्ध के उपादान कारण—योग का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता।

(२) उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली (वीतराग) के स्थिति-निमित्तक कषाय न होने से सिर्फ दो समय की स्थिति वाला कर्मबन्ध होता है।

(३) अप्रमत्त (छद्मस्थ—छठे से दशवें गुणस्थानवर्ती) साधु के जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत. आठ मुहूर्त की स्थितिवाला कर्मबन्ध होता है।

(४) विधिपूर्व प्रवृत्ति करते हुए प्रमत्त साधु (षष्ठगुणस्थानवर्ती) से यदि अनाकुट्टिवश (अकामत) किसी प्राणी का वध हो जाता है तो उसके जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत ८ वर्ष की स्थिति का कर्मबन्ध होता है, जिसे वह उसी भव (जीवन) में वेदन करके क्षीण कर देता है।

(५) आगमोक्त कारण के बिना आकुट्टिवश यदि किसी प्राणी की हिंसा हो जाती है, तो उससे जनित कर्मबन्ध को वह सम्यक् प्रकार से परिज्ञात करके प्रायश्चित्त[1] द्वारा ही समाप्त कर सकता है।[2]

ब्रह्मचर्य-विवेक

१६४. से पभूतदंसी पभूतपरिण्णाणे उवसंते समिए सहिते सदा जते दट्ठुं विप्पडिवेदेति अप्पाणं—किमेस जणो करिस्सति ?

एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ।

मुणिणा हु एतं पवेदितं।

उब्बाधिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि णिब्बलासए अवि ओमोदरियं कुज्जा, अवि उड्ढं ठाणं ठाएज्जा, अवि गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अवि आहारं वोच्छिंदेज्जा, अवि चए इत्थीसु मणं।

पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा।

इच्चेते कलहासंगकरा भवंति।

पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्ज अणासेवणाए त्ति बेमि।

---

१ आगमों में दस प्रकार के प्रायश्चित्त बताये गये हैं—(१) आलोचनार्ह, (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह, (४) विवेकार्ह, (५) व्युत्सर्गार्ह, (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह, (८) मूलार्ह, (९) अनवस्थाप्यार्ह और (१०) पाराञ्चिकार्ह। —स्था० ६।१।२६३ तथा दशवै० १।१ हारिभद्रीय टीका

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक १९७।

१६५. से णो काहिए, णो पासणिए, णो संपसारए, णो मामए, णो कतकिरिए, वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सदा पावं ।

एतं मोणं[1] समणुवासेज्जासि त्ति बेमि ।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

१६४. वह प्रभूतदर्शी, प्रभूत परिज्ञानी, उपशान्त, समिति (सम्यक्प्रवृत्ति) से युक्त, (ज्ञानादि-) सहित, सदा यतनाशील या इन्द्रियजयी अप्रमत्त मुनि (ब्रह्मचर्य से विचलित करने—उपसर्ग करने) के लिए उद्यत स्त्रीजन को देखकर अपने आपका पर्यालोचन (परिप्रेक्षण) करता है—

'यह स्त्रीजन मेरा क्या कर लेगा ?' अर्थात् मुझे क्या सुख प्रदान कर सकेगा ? (तनिक भी नहीं)

(वह स्त्री-स्वभाव का चिन्तन करे कि जितनी भी लोक में स्त्रियां हैं, वे मोह-रूप हैं, भाव बन्धन रूप हैं), वह स्त्रियाँ परम आराम (चित्त को मोहित करने वाली) हैं। (किन्तु मैं तो सहज आत्मिक-सुख से सुखी हूं, ये मुझे क्या सुख देंगी ?)

ग्रामधर्म—(इन्द्रिय-विषयवासना) से उत्पीडित मुनि के लिए मुनीन्द्र तीर्थंकर महावीर ने यह उपदेश दिया है कि—

वह निर्बल (निःसार) आहार करे, ऊनोदरिका (अल्पाहार) भी करे—कम खाए, ऊर्ध्व स्थान (टांगों को ऊंचा और सिर को नीचा, अथवा सीधा खड़ा) होकर कायोत्सर्ग करे—(शीतकाल या उष्णकाल में खड़े होकर आतापना ले), ग्रामानुग्राम विहार भी करे, आहार का परित्याग (अनशन) करे, स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होने वाले मन का परित्याग करे।

(स्त्री-संग में रत अतत्त्वदर्शियों को कहीं-कहीं) पहले (अर्थोपार्जनादिजनित ऐहिक) दण्ड मिलता है और पीछे (विषयनिमित्तक कर्मफलजन्य दुःखों का) स्पर्श होता है, अथवा कहीं-कहीं पहले (स्त्री-सुख) स्पर्श मिलता है, बाद में उसका दण्ड (मार-पीट, सजा, जेल अथवा नरक आदि) मिलता है।

इसलिए ये काम-भोग कलह (कषाय) और आसक्ति (द्वेष और राग) पैदा करने वाले होते हैं। स्त्री-संग से होने वाले ऐहिक एवं पारलौकिक दुष्परिणामों को आगम के द्वारा तथा अनुभव द्वारा समझ कर आत्मा को उनके अनासेवन की आज्ञा दे। अर्थात् स्त्री का सेवन न करने का सुदृढ़ संकल्प करे। —ऐसा मैं कहता हूं।

१ **'एतं मोणं'** पाठ का अर्थ चूर्णि में किया गया है—**एतं मोणं**—मुणिभावो मोणं, सम्मं नाम ण आसस-प्पओगादीहिं उवहतं **अणुवासिज्जासि**। अहवा तित्थगरादीहिं वसिमं अणुवसिज्जासि। —मुनिभाव या मुनित्व का नाम मौन है। जीवन-मरणादि की आकांक्षा रहित होना ही सम्यक् है। सम्यक् रूप से अन्वेषण करो अथवा तीर्थंकरादि द्वारा जिसे बसाया गया था, उस (मुनित्व) को जीवन में बसाओ—उतारो।

१६५ ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए) कामकथा—कामोत्तेजक कथा न करे, वासनापूर्ण दृष्टि से स्त्रियों के अंगोपांगों को न देखे, परस्पर कामुक भावों—संकेतों का प्रसारण न करे, उन पर ममत्व न करे, शरीर की साज-सज्जा से दूर रहे (अथवा उनकी वैयावृत्य न करे), वचनगुप्ति का पालक वाणी से कामुक आलाप न करे—वाणी का संयम रखे, मन को भी कामवासना की ओर जाते हुए नियंत्रित करे, सतत पाप का परित्याग करे।

इस (अब्रह्मचर्य-विरति रूप) मुनित्व को जीवन में सम्यक् प्रकार से बसा ले—जीवन में उतार ले।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में ब्रह्मचर्य की साधना के विघ्नरूप स्त्री-संग का वर्जन तथा विषयों की उग्रता कम करने के लिए तप आदि का निर्देश है।

'स्त्री' एक हौवा है उनके लिए, जिनका मन स्वयं के काबू में नहीं है, जो दान्त, शान्त, एवं तत्त्वदर्शी नहीं है, उन्हीं को स्त्रीजन से भय हो सकता है, अतः साधक पहले यही चिन्तन करे—यह स्त्री-जन मेरा—मेरी ब्रह्मचर्यसाधना का क्या बिगाड़ सकती है, अर्थात् कुछ भी नहीं।

'एस से परमारामो'—पद में **'एस'** शब्द से 'स्त्री-जन का ग्रहण न करके **'संयम'** ही उसके लिए परम आराम (सुखरूप) है'—यह अर्थ ग्रहण करना अधिक संगत लगता है। यह निष्कर्ष इसी में से फलित होता है कि मैं तो संयम से सहज आत्मसुख में हूँ, यह स्त्री-जन मुझे क्या सुख देगा? यह विषय-सुखों में डुबाकर मुझे असंयमजन्य दुःख-परम्परा में ही डालेगा।[1] कुन्दकुन्दाचार्य की यह उक्ति ठीक इसी बात पर घटित होती है—

> **"तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।**
> **तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति॥"**[2]

—जिसकी दृष्टि ही अन्धकार का हरण करने वाली है, उसे दीपक से कोई काम नहीं होता। आत्मा स्वयं सुखरूप है, फिर उसके लिए विषय किस काम के?

'णिब्बलासए' के दो अर्थ फलित होते हैं—(१) निर्बल—निःसार अन्त-प्रान्तादि आहार करने वाला और (२) शरीर से निर्बल (कमजोर-कृश) होकर आहार करे। दोनों अर्थों में कार्य-कारण भाव है। पुष्टिकर शक्ति-युक्त भोजन करने से शरीर शक्तिशाली बनता है। सशक्त शरीर में कामोद्रेक की सम्भावना रहती है। शक्तिहीन भोजन करने से शरीरबल घट जाता है, कामोद्रेक की सम्भावना भी कम हो जाती है और शक्तिहीन शरीर होता है—शक्तिहीन—निःसार, अल्प एवं तुच्छ भोजन करने से। वास्तव में दोनों उपायों का उद्देश्य कामवासना को शान्त करना है।[3]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक १९८।
२ प्रवचनसार गाथा ६७।
३ आचा० शीला० टीका पत्रांक १९८।

'उड्ढं ठाण ठाएज्जा'—ऊर्ध्वस्थान मुख्यनया सर्वांगासन, वृक्षासन आदि का सूचक है।[1] भगवतीसूत्र[2] मे इस मुद्रा को 'उड्ढं जाणू अहो सिरे' के रूप मे बताया है। हठयोग प्रदीपिका[3] मे भी 'अध शिराश्चोर्ध्वपाद' का प्रयोग बताया है। इस आसन से कामकेन्द्र शान्त होते है, जिससे कामवासना भी शान्त हो जाती है। 'उड्ढ जाणू अहो सिरे' का अर्थ उत्कुटिकासन है और 'अध शिराश्चोर्ध्वपाद' का अर्थ शीर्षासन। जो मनीषी 'उड्ढ ' का अर्थ शीर्षासन लेते है, वह आगम-सम्मत नही है। अगशास्त्रो मे शीर्षासन का कही भी उल्लेख नही है।

साधक के सुखशील होने पर भी कामवासना उभरती है, इसीलिए कहा गया है—'आयावयाहि चय सोगमल्ल'[4] आतापना लो, सुकुमारता को छोडो। ग्रामानुग्राम विहार करने से श्रम या सहिष्णुता का अभ्यास होता है, सुखशीलता दूर होती है, विशेषत एक स्थान पर रहने से होने वाले सम्पर्कजनित मोह-बन्धन से भी छुटकारा हो जाता है।

'चए इत्थीसु मण'—स्त्रियो मे प्रवृत्त मन का परित्याग करने का आशय मन को कही और जगह बाँधकर फेकना नही है, अपितु मन को स्त्री के प्रति काम-सकल्प करने से रोकना है, हटाना है क्योकि काम-वासना का मूल मन मे उत्पन्न सकल्प ही है। इसीलिए साधक कहता है—

"काम! जानामि ते मूल, सकल्पात् किल जायसे।
सकल्प न करिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि॥"

'काम! मै तुम्हारे मूल को जानता हूं कि तू सकल्प से पैदा होता है। मै सकल्प ही नही करूंगा, तब तू मेरे मन मे पैदा नही हो सकेगा।[5]

निष्कर्ष यह है कि सूत्र १६४ मे काम-निवारण के ६ मुख्य उपाय बताये गये है जो उत्तरोत्तर प्रभावशाली है—यथा (१) नीरस भोजन करना—विगय-त्याग, (२) कम खाना—ऊनोदरिका (३) कायोत्सर्ग—विविध आसन करना, (४) ग्रामानुग्राम विहार—एक स्थान पर अधिक न रहना, (५) आहार-त्याग—दीर्घकालीन तपस्या करना तथा (६) स्त्री-सग के प्रति मन का सर्वथा विमुख रखना। इन उपायो मे से जिस साधक के लिए जो उपाय अनुकूल और लाभदायी हो, उसी का उसे सबसे अधिक अभ्यास करना चाहिए। जिस-जिस उपाय से विषयेच्छा निवृत्त हो, वह-वह उपाय करना चाहिए। वृत्तिकार ने तो हठयोग जैसा प्रयोग भी बता दिया है—"पर्यन्ते अपि पात विदध्यात् अप्युद्बन्धन कुर्यात्, न च स्त्रीषु मन. कुर्यात्।" सभी उपायो के अन्त मे आजीवन सर्वथा आहार-त्याग करे, ऊपर से पात (गिर जाय), उद्बन्धन करे, फासी लगा ले किन्तु स्त्री के साथ अनाचार सेवन की बात भी मन मे न लाए।[6]

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक १९८।
२. शतक १ उद्देशक ९
३ अध्याय १ श्लोक ८१
४ दशवै० २।५
५ आचा० शीला० टीका पत्राक १९८।
६ आचा० शीला० टीका पत्राक १९८।

पंचमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

आचार्य-महिमा

१६६. से बेमि, तं जहा—अवि हरवे पडिपुण्णे चिट्ठति समंसि भोमे उवसंतरए सारक्खमाणे। से चिट्ठति सोतमज्झए। से पास सव्वतो गुत्ते। पास लोए महेसिणो जे य पण्णाणमंता पबुद्धा आरंभोवरता। सम्ममेतं ति पासहा। कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्ति बेमि।

१६६ मैं कहता हूँ—जैसे एक जलाशय (ह्रद) जो (कमल या जल से) परिपूर्ण है, समभूभाग मे स्थित है, उसकी रज उपशान्त (कीचड से रहित) है, (अनेक जलचर जीवो का) सरक्षण करता हुआ, वह जलाशय स्रोत के मध्य मे स्थित है। (ऐसा ही आचार्य होता है)।

इस मनुष्यलोक मे उन (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) सर्वत (मन, वचन और काया से) गुप्त (इन्द्रिय-सयम से युक्त) महर्षियो को तू देख, जो उत्कृष्ट ज्ञानवान् (आगमज्ञाता) है, प्रबुद्ध है और आरम्भ से विरत है।

यह (मेरा कथन) सम्यक् है, इसे तुम अपनी तटस्थ बुद्धि से देखो।

वे काल प्राप्त होने की काक्षा समाधि-मरण की अभिलाषा से (जीवन के अन्तिम क्षण तक मोक्षमार्ग मे) परिव्रजन (उद्यम) करते है। ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र मे ह्रद (जलाशय) के रूपक द्वारा आचार्य की महिमा बताई गई है **'अवि हरवे'** पाठ मे **'अवि'** शब्द ह्रद के अन्य विकल्पो का सूचक है। इसलिए वृत्तिकार ने चार प्रकार के ह्रद बताकर विषय का विशद विवेचन किया है—

(१) एक ह्रद ऐसा है, जिसमे से पानी—जल प्रवाह निकलता है और मिलता भी है, सीता और सीतोदा नामक नदियो के प्रवाह मे स्थित ह्रद समान।

(२) दूसरा ह्रद ऐसा है, जिसमे से जल-स्रोत निकलता है किन्तु मिलता नही, हिमवान पर्वत पर स्थित पद्मह्रदवत।

(३) तीसरा ह्रद ऐसा है, जिसमे से जल-स्रोत निकलता नही, मिलता है, लवणोदधि के समान।

(४) चौथा ह्रद ऐसा है, जिसमे से न जल-स्रोत निकलता है और न मिलता है, मनुष्यलोक मे बाहर के समुद्रो की तरह।

श्रुत (शास्त्रज्ञान) और धर्माचरण की दृष्टि से प्रथम भग मे स्थविरकल्पी आचार्य आते है, जिनमे दान और आदान (ग्रहण) दोनो है, वे शास्त्रज्ञान एव आचार का उपदेश देते भी है तथा स्वय भी ग्रहण एव आचरण करते है। दूसरे भग मे तीर्थंकर आते है, जो शास्त्रज्ञान एव उपदेश देते तो है, किंतु लेने की आवश्यकता उन्हे नही रहती। तृतीय भग मे **'अहालंदिक'**

विशिष्ट साधना करने वाला साधु आता है, जो देता नहीं, शास्त्रीय ज्ञान आदि लेता है। चतुर्थ भग मे प्रत्येकबुद्ध आते है, जो ज्ञान न देते है, न लेते है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रथम भग वाले ह्रद के रूपक द्वारा आचार्य की महिमा का वर्णन किया है। आचार्य आचार्योचित ३६ गुणो, पाँच आचारो, अष्ट सम्पदाओं[1] एव निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं। वे ससक्तादि-दोष रहित सुखविहार योग्य (सम) क्षेत्र मे रहते है, अथवा ज्ञानादि रत्नत्रय रूप समता की भावभूमि मे रहते हैं। उनके कषाय उपशान्त हो चुके हैं या मोह-कर्मरज उपशान्त हो गया है, षड्जीवनिकाय के या सघ के सरक्षक हैं, अथवा दूसरो को सदुप-देश देकर नरकादि दुर्गतियो से बचाते है, श्रुतज्ञान रूप स्रोत के मध्य मे रहते है, शास्त्रज्ञान देते है, स्वय लेते भी है।

महेसिणो के सस्कृत मे '**महर्षि**' तथा '**महैषी**' दो रूप होते हैं। 'महैषी' का अर्थ है—महान्—मोक्ष की इच्छा करने वाला।[2]

पण्णाणमंता पबुद्धा— 'प्रज्ञावान् और प्रबुद्ध' चूर्णिकार प्रज्ञावान् का अर्थ चौदह पूर्वधारी और प्रबुद्ध का अर्थ मन पर्यवज्ञानी करते है। वर्तमान मे प्राप्त शास्त्रज्ञान मे पारगत विद्वान् को भी प्रबुद्ध कहते है।

'**सम्ममेत ति पासहा**' का प्रयोग चिन्तन की स्वतन्त्रता का सूचक है। शास्त्रकार कहते है—मेरे कहने से तू मत मान, अपनी मध्यस्थ व कुशाग्र बुद्धि से स्वतन्त्र, निष्पक्ष चिन्तन द्वारा इसे देख।

सत्य मे दृढ श्रद्धा

१६७. वितिगिच्छसमावन्नेण अप्पाणेण णो लभति समाधि।
सिता[3] वेगे अणुगच्छति, असिता वेगे अणुगच्छति।
अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कह ण णिव्विज्जे?
१६८ तमेव सच्च णीसंकं जं जिणेहिं पवेदित।

१६७ विचिकित्सा-प्राप्त (शकाशील) आत्मा समाधि प्राप्त नही कर पाता।

कुछ लघुकर्मा सित (बद्ध/गृहस्थ) आचार्य का अनुगमन करते है, (उनके कथन को समझ लेते है) कुछ असित (अप्रतिबद्ध/अनगार) भी विचिकित्सादि रहित होकर (आचार्य का) अनुगमन करते है। इन अनुगमन करने वालो के बीच मे रहता हुआ (आचार्य का) अनुगमन न करने वाला (तत्त्व नही समझने वाला) कैसे उदासीन (सयम के प्रति खेदखिन्न) नही होगा?

---

१ (क) आचा शीला टीका पत्राक १९१।
(ख) आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोग और संग्रहपरिज्ञा, ये आचार्य की आठ गणि-सम्पदाएँ है। —आयारदसा ४ पृ० २१

२ देखे, दशवै० ३।१ की अग० चूर्णि पृ० ५९ तथा जिन० चू० पृ० १११, हारि० टीका ११६।
—**महान्त एषितु शील येषां ते महेसिणो**—।

३ चूर्णि मे पाठान्तर—'**सिया वि अणुगच्छति, असिता वि अणुगच्छति एगदा**'।

१६८ वही सत्य है, जो तीर्थंकरो द्वारा प्ररूपित है, इसमे शका के लिए कोई **अवकाश नही है।**

विवेचन—जिस तत्त्व का अर्थ सरल होता है, वह सुखाधिगम कहलाता है। जिसका अर्थ दुर्बोध होता है, वह दुरधिगम तथा जो नही जाना जा सकता, वह अनधिगम तत्त्व होता है। साधारणत दुरधिगम अर्थ के प्रति विचिकित्सा या शका का भाव उत्पन्न होता है। यहाँ बताया है कि विचिकित्सा से जिसका चित्त डावाँडोल या कलुषित रहता है, वह आचार्यादि द्वारा समझाए जाने पर भी सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्रादि के विषय मे समाधान नही पाता।[1]

विचिकित्सा—ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो विषयो मे हो सकती है। जैसे—"आगमोक्त ज्ञान सच्चा है या झूठा? इस ज्ञान को लेकर कही मै धोखा तो नही खा जाऊँगा? मै भव्य हूँ या नही? ये जो नौ तत्त्व या षट् द्रव्य बताए है, क्या ये सत्य है? अर्हन्त और सिद्ध कोई होते है या यो ही हमे डराने के लिए इनकी कल्पना की गई है? इतने कठोर तप, सयम और महाव्रतरूप चारित्र का कुछ सुफल मिलेगा या यो ही व्यर्थ का कष्ट सहना है?" ये और इस प्रकार की शकाएं साधक के चित्त को अस्थिर, भ्रान्त, अस्वस्थ और असमाधियुक्त बना देती है। मोहनीय कर्म के उदय से ऐसी विचिकित्सा होती है। इसी को लेकर गीता मे कहा है—'**सशयात्मा विनश्यति**'। विचिकित्सा से मन मे खिन्नता पैदा होती है कि मैने इतना जप, तप, सवर किया, सयम पाला, धर्माचरण किया, महाव्रतो का पालन किया, फिर भी मुझे अभी तक केवलज्ञान क्यो नही हुआ? मेरी छद्मस्थ अवस्था नष्ट क्यो नही हुई? इस प्रकार की विचिकित्सा नही करनी चाहिए।[2] इस खिन्नता को मिटाकर मन समाधि प्राप्त करने का आलम्बन सूत्र है—'**तमेव सच्च०**' आदि।[3]

'समाधि'—समाधि का अर्थ है मन का समाधान। विषय की व्यापक दृष्टि से इसके चार अर्थ होते है—

(१) मन का समाधान। (२) शका का निराकरण। (३) चित्त की एकाग्रता और (४) ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप सम्यग्भाव। यह भाव-समाधि कही जाती है।

वृत्तिकार के अनुसार यहाँ समाधि का अर्थ है ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे युक्त चित्त की स्वस्थता। विभिन्न सूत्रो के अनुसार समाधि के निम्न अर्थ भी मान्य है।

(१) सम्यग् मोक्ष-मार्ग मे स्थित होना।[4] (२) राग-द्वेष-परित्याग रूप धर्मध्यान।[5] (३) अच्छा स्वास्थ्य।[6] (४) चित्त की प्रसन्नता, स्वस्थता।[7] (५) नीरागता।[8] (६) योग।[9]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २०१।

२ उत्तराध्ययन सूत्र (२।४०-४३) मे इस मन स्थिति को प्रज्ञा-परीषह तथा अज्ञान-परीषह बताया है।

३ आचा० शीला० टीका पत्राक २०१।

४ सम० २०।

५ सूत्रकृत् १।२।२।

६ आव० मल० २।

७ सम० ३२।

८ व्यव० उ० १।

९ उत्तरा० २।

(७) सम्यगदर्शन, मोक्ष आदि विधि।[1] (८) चित्त की एकाग्रता।[2] (९) प्रशस्त भावना।[3] दशवैकालिक[4] मे चार प्रकार की समाधि का विस्तृत वर्णन है।

'तमेव सच्च'—इस पंक्ति का आशय यह है कि साधक को कदाचित् स्व-पर-समय के ज्ञाता आचार्य के अभाव मे सूक्ष्म, व्यवहित (काल से दूर), दूरवर्ती (क्षेत्र से दूर) पदार्थों के विषय मे दृष्टान्त, हेतु आदि के न होने से सम्यग्ज्ञान न हो पाए तो भी शका—विचिकित्सादि छोड कर अनन्य श्रद्धापूर्वक यही सोचना चाहिए कि वही एकमात्र सत्य है, नि शक है, जो राग-द्वेष विजेता तीर्थकरो ने प्ररूपित किया है। कदाचित् कोई शका उत्पन्न हो जाए, या पदार्थ को सम्यक् प्रकार से नही जाना जा सके तो यह भी सोचना चाहिए—

वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां तथ्य भूतार्थदर्शनम्॥

मिथ्या भाषण के मुख्य दो कारण है—(१) कषाय और (२) अज्ञान। इन दोनो कारणो से रहित वीतराग और सर्वज्ञ कदापि मिथ्या नही बोलते। इसलिए उनके वचन तथ्य, सत्य है, यथार्थवस्तुस्वरूप के दर्शक है।

भगवती सूत्र मे कांक्षामोहनीय कर्म-निवारण के सन्दर्भ मे इसी वाक्य को आधार (आलम्बन) मानकर मन मे धारण करने से जिनाज्ञा का आराधक माना गया है।[5]

सम्यक-असम्यक्-विवेक

१६९. सड्ढिस्स ण समणुण्णस्स सपव्वयमाणस्स समिय ति मण्णमाणस्स एगदा समिया होति १, समिय ति मण्णमाणस्स एगदा असमिया होति २, असमिय ति मण्णमाणस्स एगया समिया होति ३, असमिय ति मण्णमाणस्स एगया असमिया होति ४, समिय ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होति उवेहाए ५, असमिय ति मण्णमाणस्स समिया वा

---

१ सूत्रकृत १।१३। २ द्वात्रि० द्वा० ११।

३ स्थानाग २।३ (उक्त सभी स्थल देखें अभि० राजेन्द्र भाग ७ पृ० ४१९-२०)

४ अध्ययन ९ मे विनयसमा, तप समाधि, आचारसमाधि का सुन्दर वर्णन है।

५ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २०१।

(ख) **अत्थि ण भते! समणा वि निग्गथा कखामोहणिज्ज कम्म वेदेंति?**
हता अत्थि।
कहन्न समणा वि णिग्गथा कखामोहणिज्ज कम्म वेदेति?
गोयमा! तेसु तेसु नाणतरेसु चरित्ततरेसु० सकिया कखिया विइगिच्छासमावन्ना, भेयसमावन्ना कलुससमावन्ना, एव खलु गोयमा! समणा वि निग्गथा कखामोहणिज्ज कम्म वेदेंति।
तत्थालंबण! तमेव सच्च नीसक ज जिणेहि पवेइय।
से णू-ण भते! एव मण धारेमाणे आणाए आराहए भवति?—
एवं मण धारेमाणे आणाए आराहए भवति।" —शतक १, उ० ३, सूत्र १७०

६ **'वूया एव उवेह समियाए'** यह पाठान्तर चूर्णि मे है। कहता है—इस प्रकार से सम्यक् रूप से पर्यालोचन कर।

असमिया वा असमिया होंति उवेहाए ६। उवेहमाणो अणुवेहमाण बूया—उवेहाहि समियाए, इच्चेवं तत्थ[1] संधी झोसितो भवति।

से उट्ठितस्स ठितस्स गतिं समणुपासह।

एत्थ वि बालभावे अप्पाणं णो उवदंसेज्जा[2]।

१६९. श्रद्धावान् सम्यक् प्रकार से अनुज्ञा (आचार्याज्ञा या जिनोपदेश के अनुसार, ज्ञान) शील एव प्रव्रज्या को सम्यक् स्वीकार करने या पालने वाला (१) कोई मुनि जिनोक्त तत्त्व को सम्यक् मानता है और उस समय (उत्तरकाल मे) भी सम्यक् (मानता) रहता है। (२) कोई प्रव्रज्याकाल मे सम्यक् मानता है, किन्तु बाद मे किसी समय (ज्ञेय की गहनता को न समझ पाने के कारण मति-भ्रमवश) उसका व्यवहार असम्यक् हो जाता है। (३) कोई मुनि (प्रव्रज्याकाल मे) असम्यक् (मिथ्यात्वाश के उदयवश) मानता है किन्तु एक दिन (शका का समाधान हो जाने से उसका व्यवहार) सम्यक् हो जाता है। (४) कोई साधक (प्रव्रज्या के समय आगमोक्त ज्ञान न मिलने से) उसे असम्यक् मानता है और बाद मे भी (कुतर्क-बुद्धि के कारण) असम्यक् मानता रहता है। (५) (वास्तव मे) जो साधक (निष्पक्षबुद्धि या निर्दोषहृदय से किसी वस्तु को सम्यक् मान रहा है, वह (वस्तु प्रत्यक्षज्ञानियो की दृष्टि मे) सम्यक् हो या असम्यक्, उसकी सम्यक् उत्प्रेक्षा (सम्यक् पर्यालोचन—छानबीन या शुद्ध अध्यवसाय) के कारण (उसके लिए) वह सम्यक् ही होती है। (६) (इसके विपरीत) जो साधक किसी वस्तु को असम्यक् मान रहा है, वह (प्रत्यक्षज्ञानियो की दृष्टि मे) सम्यक् हो या असम्यक्, उसके लिए असम्यक् उत्प्रेक्षा (अशुद्ध अध्यवसाय) के कारण वह असम्यक् ही होती है।

(इस प्रकार) उत्प्रेक्षा (शुद्ध अध्यवसाय पूर्वक पर्यालोचन) करने वाला उत्प्रेक्षा नही करने वाले (मध्यस्थभाव से चिन्तन नही करने वाले) से कहता है—सम्यक् भाव समभाव-माध्यस्थ्यभाव से उत्प्रेक्षा (पर्यालोचना) करो।

इस (पूर्वोक्त) प्रकार से व्यवहार मे होने वाली सम्यक्—असम्यक् की गुत्थी (सधि) सुलझाई जा सकती है। (अथवा इस पद्धति से (मिथ्यात्वादि के कारण होने वाली) कर्मसन्ततिरूप सन्धि तोडी जा सकती है।)

तुम (सयम मे सम्यक् प्रकार से) उत्थित (जागृत-पुरुषार्थवान्) और स्थित (सयम मे शिथिल) की गति देखो।

तुम बाल भाव (अज्ञान-दशा) मे भी अपने आपको प्रदर्शित मत करो।

---

१ यहाँ **तत्थ-तत्थ** दो बार हैं। चूर्णिकार व्याख्या करते है—"तत्थ-तत्थ णाणतरे, दसणचरित्तातरे लिंगतरे वा सधाण सधी।—इस प्रकार वहाँ वहाँ ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर और वेशान्तर मे होने वाली समस्या (सधि) सुलझाई जा सकती है।

२ **'णो दरिसिज्जा'** पाठान्तर चूर्णि मे है, जिसका अर्थ होता है—**'मत दिखाओ'**।

विवेचन—सब श्रमण—आत्मसाधक प्रत्यक्षज्ञानी नही होते और न ही सबका ज्ञान, तर्कशक्ति, बुद्धि, चिन्तनशक्ति, स्फुरणाशक्ति, स्मरणशक्ति, निर्णयशक्ति, निरीक्षण-परीक्षण शक्ति एक-जैसी होती है, साथ ही परिणामो-अध्यवसायों की धारा भी सबकी समान नही होती, न सदा-सर्वदा शुभ या अशुभ ही होती है। अतीन्द्रिय (अनधिगम्य) पदार्थों के विषय मे तो वह **'तमेव सच्चं०'** का आलम्बन लेकर सम्यक् (सत्य) का ग्रहण और निश्चय कर सकता है, किन्तु जो पदार्थ इन्द्रियप्रत्यक्ष है, या जो व्यवहार-प्रत्यक्ष हैं, उनके विषय मे सम्यक्-असम्यक् का निर्णय कैसे किया जाय ? इसके सम्बन्ध मे सूत्र १६९ में पहले तो साधक के दीक्षा-काल और पश्चात्काल को लेकर सम्यक्-असम्यक् की विवेचना की है, फिर उसका निर्णय दिया है। जिसका अध्यवसाय शुद्ध है, जिसकी दृष्टि मध्यस्थ एव निष्पक्ष है, जिसका हृदय शुद्ध व सत्यग्राही है, वह व्यवहारनय से किसी भी वस्तु, व्यक्ति या व्यवहार के विषय को सम्यक् मान लेता है तो वह सम्यक् ही है और असम्यक् मान लेता है तो असम्यक् ही है, फिर चाहे प्रत्यक्षज्ञानियो की दृष्टि मे वास्तव मे वह सम्यक् हो या असम्यक्।

यहाँ **'उवेहाए'** शब्द का सस्कृत रूप होता है—**उत्प्रेक्षया**। उसका अर्थ शुद्ध अध्यवसाय या मध्यस्थदृष्टि, निष्पक्ष सत्यग्राही बुद्धि, शुद्ध सरल हृदय से पर्यालोचन करना है।[1]

गति के 'दशा' या 'स्वर्ग-मोक्षादिगति' अर्थ के सिवाय वृत्तिकार ने और भी अर्थ सूचित किये है—ज्ञान-दर्शन की स्थिरता, सकल-लोकश्लाघ्यता, पदवी, श्रुतज्ञानाधारता, चारित्र मे निष्कम्पता।[2]

अहिंसा की व्यापक दृष्टि

१७०. तुम सि णाम तं[3] चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि,
तुम सि णाम तं चेव ज अज्जावेतव्व ति मण्णसि,
तुमं सि णाम त चेव ज परितावेतव्वं ति मण्णसि,
तुमं सि णाम त चेव ज परिघेतव्वं ति मण्णसि,
एव तं चेव ज उद्दवेतव्वं ति मण्णसि।

अंजू चेय पडिबुद्धजीवी। तम्हा ण हंता, ण वि घातए। अणुसंवेयणमप्पाणेणं, जं[4] हंतव्वं णाभिपत्थए।

१७०. तू वही है, जिसे तू हनन योग्य मानता है;
तू वही है, जिसे तू आज्ञा मे रखने योग्य मानता है,
तू वही है, जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है,

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २०२। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०३।

३ 'त चेव' के बदले **तच्चेव** पाठ है।

४ **'जं हतव्व णाभिपत्थए'** की व्याख्या चूर्णि मे यो है—'जमिति जम्हा कारणा, हतव्व मारेयव्वमिति, ण पडिसेहे, अभिमुह पत्थए।''—जिस कारण से उसे मारना है, उसकी ओर (तदभिमुख) इच्छा भी न करो। 'न' प्रतिषेध अर्थ मे है।

तू वही है, जिसे तू दास बनाने हेतु ग्रहण करने योग्य मानता है,
तू वही है, जिसे तू मारने योग्य मानता है।

ज्ञानी पुरुष ऋजु (सरलात्मा) होता है, वह (परमार्थत हन्तव्य और हन्ता की एकता का) प्रतिबोध पाकर जीने वाला होता है। इस (आत्मैक्य के प्रतिबोध) के कारण वह स्वय हनन नही करता और न दूसरो से हनन करवाता है। (न ही हनन करने वाले का अनुमोदन करता है।)

कृत-कर्म के अनुरूप स्वय को ही उसका फल भोगना पडता है, इसलिए किसी का हनन करने की इच्छा मत करो।

विवेचन— **'तुम सि णाम त चेव'** इत्यादि सूत्र मे भगवान् महावीर ने आत्मौपम्यवाद (आयतुले पयासु) का निरूपण करके सर्व प्रकार की हिसा से विरत होने का उपदेश दिया है। दो भिन्न आत्माओ के सुख या दु ख की अनुभूति (सवेदन) की समता सिद्ध करना ही इस सूत्र का उद्देश्य है। इसका तात्पर्य है—'दूसरे के द्वारा किसी भी रूप मे तेरी हिसा की जाने पर जैसी अनुभूति तुझे होती है, वैसी ही अनुभूति उस प्राणी को होगी, जिसकी तू किसी भी रूप मे हिसा करना चाहता है।'[1] इसका एक भाव यह भी है कि तू किसी अन्य की हिसा करना चाहता है, पर वास्तव मे यह उसकी (अन्य की) हिसा नही, किन्तु तेरी शुभवृत्तियो की हिसा है, अत तेरी यह हिसा-वृत्ति एक प्रकार से आत्म-हिसा (स्व-हिसा) ही है।

'अजू' का अर्थ ऋजु—सरल, सयम मे तत्पर, प्रबुद्ध साधु होता है। यहा पर यह आशय प्रतीत होता है—ऋजु और प्रतिबुद्धजीवी बनकर ज्ञानी पुरुष हिसा से बचे किसी भय, प्रलोभन या छल-बल से नही।[2]

'अणुसंवेयणमप्पाणेण'—मे अनुसवेदन का अर्थ यह भी हो सकता है कि तुमने दूसरे जीव को जिस रूप मे वेदना दी है, तुम्हारी आत्मा को भी उसी रूप मे वेदना की अनुभूति होगी, वेदना भोगनी होगी।[3]

आत्मा ही विज्ञाता

१७१. जे आता से विण्णाता, जे विण्णाता से आता।

जेण विजाणति से आता। त पडुच्च पडिसखाए। एस[4] आतावादी समियाए परियाए वियाहिते त्ति बेमि।

॥ पचमो उद्देसओ समत्तो ॥

१७१ जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है, क्योकि (मति आदि) ज्ञानो से आत्मा (स्व-पर को) जानता है, इसलिए वह आत्मा है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्राक २०४। २. आचा० शीला० टीका पत्राक २०४।

३ आचा० शीला० टीका पत्राक २०४।

४ **'एस आतावादी'** के बदले चूर्णि मे **'एस आतावाते'** पाठ है। अर्थ किया है—अप्पणो वातो आतावातो। —यह आत्मवाद है, अर्थात् आत्मा का (अपना) वाद = आत्मवाद होता है।

उस (ज्ञान की विभिन्न परिणतियो) की अपेक्षा से आत्मा की (विभिन्न नामो से) प्रतीति—पहचान होती है।

यह आत्मवादी सम्यक्ता (सत्यता या शमिता) का पारगामी (या सम्यक् भाव मे दीक्षा पर्यायवाला) कहा गया है।

विवेचन—'जे आता से विण्णाता०' तथा **'जेण विजाणाति से आता'** इन दो पंक्तियो द्वारा शास्त्रकार ने आत्मा का लक्षण द्रव्य और गुण दोनो अपेक्षाओ से बता दिया है। चेतन ज्ञाता द्रव्य है, चैतन्य (ज्ञान) उसका गुण है। यहाँ ज्ञान (चेतन्य) से आत्मा (चैतन) की अभिन्नता तथा ज्ञान आत्मा का गुण है, इसलिए आत्मा से ज्ञान की भिन्नता दोनो बता दी हैं। द्रव्य और गुण न सर्वथा भिन्न होते है, न सर्वथा अभिन्न। इस दृष्टि से आत्मा (द्रव्य) और ज्ञान (गुण) दोनो न सर्वथा अभिन्न है, न भिन्न। गुण द्रव्य मे ही रहता है और द्रव्य का ही अश है, इस कारण दोनो अभिन्न भी है और आधार एव आधेय की दृष्टि से दोनो भिन्न भी है। दोनो की अभिन्नता और भिन्नता का सूचन भगवती सूत्र[1] मे मिलता है—

"जीवे ण भंते ! जीवे जीवे जीवे ?"

"गोयमा, जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे।

—"भंते ! जीव चैतन्य जीव है ?"

"गौतम ! जीव नियमत चैतन्य है, चैतन्य भी नियमत जीव है।"

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी (ज्ञाता) और ज्ञान दोनो आत्मा है। ज्ञान ज्ञानी का प्रकाश है। इसी प्रकार ज्ञान की क्रिया (उपयोग) घट-पट आदि विभिन्न पदार्थों को जानने मे होती है। अत ज्ञान मे या ज्ञान की क्रिया से ज्ञेय या ज्ञानी आत्मा को जान लिया जाता है।[2] सार यह है कि जो ज्ञाता है वह तू (आत्मा) ही है, जो तू है, वही ज्ञाता है। तेरा ज्ञान तुझ से भिन्न नही है।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

आज्ञा-निर्देश

१७२. अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे निरुवट्ठाणा।

एतं ते मा होतु।

एत कुसलस्स दसण। तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे अभिभूय अदक्खू।

१ शतक ६। उद्देशक १० सूत्र १७४।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २०५।

अणभिभूते पभू णिरालंबणताए, जे[1] महं अबहिमणे।

पवादेण पवायं जाणेज्जा सहसम्मइयाए[2] परवागरणेणं अण्णेसिं वा सोच्चा।

१७३ णिद्देसं णातिवत्तेज्ज मेहावी सुपडिलेहिय[3] सव्वओ सव्वताए सम्ममेव समभिजाणिया।

इह आरामं परिण्णाय अल्लीणगुत्तो परिव्वए।

निट्ठियट्ठी वीरे आगमेणं सदा परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

१७२ कुछ साधक अनाज्ञा (तीर्थंकर की अनाज्ञा) में उद्यमी होते हैं और कुछ साधक आज्ञा मे अनुद्यमी होते हैं।

यह (अनाज्ञा मे उद्यम और आज्ञा में अनुद्यम) तुम्हारे जीवन मे न हो। यह (अनाज्ञा मे अनुद्यम और आज्ञा में उद्यम) मोक्ष मार्ग-दर्शन-कुशल तीर्थंकर का दर्शन (अभिमत) है।

साधक उसी (तीर्थंकर महावीर के दर्शन) मे अपनी दृष्टि नियोजित करे, उसी (तीकर्थंर के दर्शनानुसार) मुक्ति मे अपनी मुक्ति माने, (अथवा उसी मे मुक्त मन से लीन हो जाए), सब कार्यों मे उसे आगे करके प्रवृत्त हो, उसी के सज्ञान-स्मरण मे सलग्न रहे, उसी मे चित्त को स्थिर कर दे, उमी का अनुसरण करे।

जिसने परीषह-उपसर्गों-बाधाओ तथा घातिकर्मों को पराजित कर दिया है, उसी ने तत्त्व (सत्य) का साक्षात्कार किया है। जो (परीषहोपसर्गो या विघ्न-बाधाओ से) अभिभूत नही होता, वह निरालम्बनता (निराश्रयता-स्वावलम्बन) पाने मे समर्थ होता है।

जो महान् (मोक्षलक्षी लघुकर्मा) होता है (अन्य लोगो की भौतिक अथवा यौगिक विभूतियो व उपलब्धियों को देखकर) उसका मन (सयम से) बाहर नही होता।

प्रवाद (सर्वज्ञ तीर्थंकरो के वचन) से प्रवाद (विभिन्न दार्शनिको या तीर्थिको के वाद) को जानना (परीक्षण करना) चाहिए। (अथवा) पूर्वजन्म की स्मृति से (या सहसा उत्पन्न मति-प्रतिभादि ज्ञान से), तीर्थंकर से प्रश्न का उत्तर पाकर (या व्याख्या सुनकर), या किसी अतिशय ज्ञानी या निर्मल श्रुत ज्ञानी आचार्यादि से सुन कर (प्रवाद के यथार्थ तत्त्व को जाना जा सकता है)।

१७३ मेधावी निर्देश (तीर्थंकरादि के आदेश-उपदेश) का अतिक्रमण न करे।

---

१ '**जे महं अबहिमणे**' का चूर्णि मे अर्थ यो है—**जे इति णिद्देसे, 'अहमेव सो जो अबहिमणो'**—**अर्थात्**—'जे' निर्देश अर्थ मे है। 'जो अबहिर्मना है, वह मै हू।'—वह मेरा ही अगभूत है।

२ '**सहसम्मुइयाए**' '**सह समुतियाए**' ये दोनो पाठान्तर मिलते हैं। परन्तु '**सहसम्मइयाए**' पाठ समुचित लगता है।

३ '**सुपडिलेहिय**' का अर्थ चूर्णि मे किया गया है—'मय भगवता सुष्ठु पडिलेहित विण्णात तमेव सिद्धत भागवत।' —स्वय भगवान् ने सम्यक् प्रकार मे विशेष रूप से (अपने केवलज्ञान के प्रकाश मे) जाना है, वही भागवत सिद्धान्त है।

वह सब प्रकार से (हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप मे तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप मे) भली-भाँति विचार करके सम्पूर्ण रूप से (सामान्य-विशेषात्मक रूप से सर्व प्रकार) (पूर्वोक्त जाति-स्मरण आदि तीन प्रकार से) साम्य (सम्यक्त्व-यथार्थता) को जाने।

इस सत्य (साम्य) के परिशीलन मे आत्म-रमण (आत्म-सुख) की परिज्ञा करके आत्मलीन (मन-वचन-काया की गुप्तियो से गुप्त) होकर विचरण करे। मोक्षार्थी अथवा सयम-साधना द्वारा निष्ठितार्थ (कृतार्थ) वीर मुनि आगम-निर्दिष्ट अर्थ या आदेश-निर्देश के अनुसार सदा पराक्रम करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक मे तीर्थंकरो की आज्ञा-अनाज्ञा के अनुसार चलने वाले साधको का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् आसक्ति-त्याग से सम्बन्धित निर्देश किया गया है और अन्त मे परमात्मा के स्वरूप की झाकी दी गयी है, जो कि लोक मे सारभूत पदार्थ है।

'सोवट्ठाणा णिरुवट्ठाणा'—ये दोनो पद आगम के पारिभाषिक शब्द है। वृत्तिकार इनका स्पष्टीकरण करते है कि दो प्रकार के बाधक होते है—

(१) अनाज्ञा मे सोपस्थान और (२) आज्ञा मे निरुपस्थान।

'उपस्थान' शब्द यहाँ उद्यत रहने या उद्यम/पुरुषार्थ करने के अर्थ में है। अनाज्ञा का अर्थ तीर्थंकरादि के उपदेश से विरुद्ध, अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से कल्पित मार्ग का अनुसरण करना या कल्पित अनाचार का सेवन करना है। ऐसी अनाज्ञा मे उद्यमी वे होते हैं, जो इन्द्रियों के वशवर्ती (दास) होते है, अपने ज्ञान, तप, सयम, शरीर-सौन्दर्य, वाक्पटुता आदि के अभिमान मे ग्रस्त होते है, सद-असद् विवेक से रहित और 'हम भी प्रव्रज्या ग्रहण किये हुए साधक हैं', इस प्रकार के गर्व से युक्त होते है। वे धर्माचरण की तरह प्रतीत होने वाले अपने मन-माने सावद्य आचरण मे उद्यम करते रहते है और आज्ञा मे अनुद्यमी वे होते है, जो आज्ञा का प्रयोजन, महत्त्व और उसके लाभ समझते है, कुमार्ग से उनका अन्तःकरण वासित नही है, किन्तु आलस्य, दीर्घसूत्रता, प्रमाद, गफलत, सशय, भ्रान्ति, व्याधि, जडता (बुद्धिमन्दता), आत्मशक्ति के प्रति अविश्वास आदि के कारण तीर्थंकरो द्वारा निर्दिष्ट धर्माचरण के प्रति उद्यमवान् नही होते है। यहाँ दोनो ही प्रकार के साधको को ठीक नही बताया है। कुमार्गाचरण और सन्मार्ग का अनाचरण दोनो ही त्याज्य है। तीर्थंकर का दर्शन है—अनाज्ञा मे निरुद्यम और आज्ञा मे उद्यम करना।[1]

'तद्दिट्ठीए' आदि पदो का अर्थ वृत्तिकार ने तीर्थंकर-परक और आचार्य-परक दोनो ही प्रकार से किया है।[2] दोनो ही अर्थ सगत है क्योंकि दोनो के उपदेश मे भेद नही होता। इससे पूर्व की पक्ति है—**'एत कुसलस्स दसण।'**

'अभिभूय और अणभिभूते'—मूल मे ये दो शब्द ही मिलते है, किससे और कैसे? यह वहाँ नही बताया गया है, किन्तु पक्ति के अन्त मे **'पभू णिरालबणताए'** पद दिये है, इनसे ध्वनित होता है कि निरालम्बी (स्वावलम्बी) बनने मे जो बाधक तत्त्व है, उन्हे अभिभूत कर देने पर

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २०५। २ आचा० शीला० टीका पत्राक २०६।

ही साधक अनभिभूत होता है, वही निरवलम्बी (स्वाश्रयी) बनने मे समर्थ होता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे निरालम्बी की विशेषता बताते हुए कहा गया है "निरालम्बी के योग (मन-वचन-काया के व्यापार) आत्मस्थित हो जाते है। वह स्वय के लाभ मे सन्तुष्ट रहता है, पर के द्वारा हुए लाभ मे रुचि नही रखता, न दूसरे से होने वाले लाभ के लिए ताकता है, न दूसरे मे अपेक्षा या स्पृहा रखता है, न दूसरे से होने वाले लाभ की आकाक्षा करता है। इस प्रकार पर से होने वाले लाभ के प्रति अरुचि, अप्रतीक्षा, अनपेक्षा, अस्पृहा या अनाकाक्षा रखने से वह साधक द्वितीय सुखशय्या को प्राप्त करके विचरण करता है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार 'अभिभूय' का आशय है—'परीषह, उपसर्ग या घातिकर्मचतुष्टय को पराजित करके।' वस्तुत साधना के बाधक तत्त्वो मे परीषह, उपसर्ग (कष्ट) आदि भी है, घातिकर्म भी हैं,[2] भौतिक सिद्धियाँ, यौगिक उपलब्धियाँ या लब्धियाँ भी बाधक है, उनका सहारा लेना आत्मा को पगु और परावलम्बी बनाना है। इसी प्रकार दूसरे लोगो से अधिक सहायता की अपेक्षा रखना भी पर-मुखापेक्षिता है, इन्द्रिय-विषयो, मन के विकारो आदि का सहारा लेना भी उनके वशवर्ती होना है, इससे भी आत्मा पराश्रित और निर्बल होता है। निरवलम्बी अपनी ही उपलब्धियो मे सन्तुष्ट रहता है। वह दूसरो पर या दूसरो से मिली हुई सहायता, प्रशसा या प्रतिष्ठा पर निर्भर नही रहता। साधक को आत्म-निर्भर (स्व-अवलम्बी) बनना चाहिए।

भगवान महावीर ने प्रत्येक साधक को धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे स्वतन्त्र चिन्तन का अवकाश दिया। उन्होने दूसरे प्रवादो की परीक्षा करने की छूट दी। कहा—'मुनि अपने प्रवाद (दर्शन या वाद) को जानकर फिर दूसरे प्रवादो को जाने-परखे। परीक्षा के समय पूर्ण मध्यस्थता-निष्पक्षता एव समत्वभावना रहनी चाहिए।[3] स्व-पर-वाद का निष्पक्षता के साथ परीक्षण करने पर वीतराग के दर्शन की महत्ता स्वत सिद्ध हो जाएगी।

आसक्ति-त्याग के उपाय

१७४. उड्ढं सोता अहे सोता तिरिय सोता वियाहिता।
एते सोया वियक्खाता जेहि सग ति पासहा॥१२॥
[4]आवट्टमेय तु पेहाए एत्थ विरमेज्ज वेदवी।

---

१ **'निरालबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति। सएण लाभेण सतुस्सइ, परलाभ नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभ अणासायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्च सुहसेज्ज उवसपज्जित्ताण विहरइ।'** —उत्तराध्ययनसूत्र २९।३४

२ आचा० शीला० टीका पत्राक २०६। ३. (आयारो) पृष्ठ २२३।

४ **आवट्टमेय तु पेहाए'** के बदले चूर्णि मे **'अट्टमेय तुवेहाए'** पाठ मिलता है। अर्थ किया गया है—'रामदोसवसट्ट कम्मबधग उवेहेत्ता' —रागद्वेष के वश पीडित होने से हुए कर्मबन्ध का विचार करके—।

१७५. विणएत्तु सोतं निक्खम्म एस महं अकम्मा जाणति, पासति, पडिलेहाए णावकंखति ।

१७४ ऊपर (आसक्ति के) स्रोत है, नीचे स्रोत है, मध्य में स्रोत (विषयासक्ति के स्थान है, जो अपनी कर्म-परिणतियों द्वारा जनित) हैं। ये स्रोत कर्मों के आस्रवद्वार कहे गये है, जिनके द्वारा समस्त प्राणियों को आसक्ति पैदा होती है, ऐसा तुम देखो।

(राग-द्वेष-कषाय-विषयावर्तरूप) भावावर्त का निरीक्षण करके आगमविद् (ज्ञानी) पुरुष उससे विरत हो जाए।

१७५ विषयासक्तियो के या आस्रवो के स्रोत को हटा कर निष्क्रमण (मोक्ष-मार्ग मे परिव्रजन) करने वाला यह महान् साधक अकर्म (घातिकर्मों से रहित या ध्यानस्थ) होकर लोक को प्रत्यक्ष जानता, देखता है।

(इस सत्य का) अन्तर्निरीक्षण करने वाला साधक इस लोक मे (अपने दिव्य ज्ञान से) संसार-भ्रमण और उसके कारण की परिज्ञा करके उन (विषय-सुखो) की आकांक्षा नही करता।

विवेचन -'**उड्ढ सोता०**'—इत्यादि सूत्र मे जो तीनो दिशाओ या लोको मे स्रोत बताए है, वे क्या है? वृत्तिकार ने इस पर प्रकाश डाला है—"स्रोत है—कर्मों के आगमन (आस्रव) के द्वार, जो तीनो दिशाओ या लोको मे है। ऊर्ध्वस्रोत है—वैमानिक देवागनाओ या देवलोक के विषय-सुखो की आसक्ति। इसी प्रकार अधोदिशा मे है - भवनपति देवो के विषय-सुखो मे आसक्ति, तिर्यक्लोक मे व्यन्तर देव, मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी विषय-सुखासक्ति। इन स्रोतो से साधक को सदा सावधान रहना चाहिए।"[१] एक दृष्टि से इन स्रोतो को ही आसक्ति (सग) समझना चाहिए। मन की गहराई मे उतरकर इन्हे देखते रहना चाहिए। इन स्रोतो को बन्द कर देने पर ही कर्मबन्धन बन्द होगा। कर्मबन्धन सर्वथा कट जाने पर ही अकर्मस्थिति आती है, जिसे शास्त्रकार ने कहा—"**अकम्मा जाणति, पासति।**"

मुक्तात्म-स्वरूप

१७६. इह आगतिं गतिं परिण्णाय अच्चेति जातिमरणस्स वट्टमग्गं[२] वक्खातरते।
सव्वे सरा नियट्टंति,
तक्का जत्थ ण[३] विज्जति,

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २०७।

२ '**वट्टमग्ग**' का अर्थ चूर्णिकार करते है—वट्टमग्गो पथो वट्टमग्ग ति पथानम्। वट्टमार्ग का अर्थ है—वटमार्ग—रास्ता।

३. इसका अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**वक्खायरतो सुत्ते अत्थे य**'—सूत्र और अर्थ की व्याख्या (जो की गई है) मे रत है।

मती तत्थ ण गाहिया ।
ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेत्तण्णे ।

से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिते, ण हालिद्दे, ण सुक्किले, ण सुब्भिगंधे, ण दुब्भिगंधे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ[1] ण रुहे, ण संगे, ण इत्थी[2], ण पुरिसे, ण अण्णहा ।

परिण्णे, सण्णे ।
उवमा ण विज्जति ।
अरूवी सत्ता ।
अपदस्स पदं णत्थि ।
से ण सद्दे, ण रूवे, ण रसे, ण फासे, [3]इच्चेतावंति त्ति बेमि ।

।। लोगसारो पंचमं अज्झयणं समत्तो ।।

१७६ इस प्रकार वह जीवो की गति-आगति (संसार-भ्रमण) के कारणो का परिज्ञान करके व्याख्यात-रत (मोक्ष-मार्ग मे स्थित) मुनि जन्म-मरण के वृत्त (चक्राकार) मार्ग को पार कर जाता है (अतिक्रमण कर देता है)।

(उस मुक्तात्मा का स्वरूप या अवस्था बताने के लिए) सभी स्वर लौट जाते है—(परमात्मा का स्वरूप शब्दो के द्वारा कहा नही जा सकता), वहाँ कोई तर्क नही है (तर्क द्वारा गम्य नही है)। वहा मति (मनन रूप) भी प्रवेश नही कर पाती, वह (बुद्धि द्वारा ग्राह्य नही है)। वहाँ (मोक्ष मे) वह समस्त कर्ममल से रहित ओजरूप (ज्योतिस्वरूप) शरीर रूप प्रतिष्ठान—आधार से रहित (अशरीरी) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) ही है।

वह (परमात्मा या शुद्ध आत्मा) न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमण्डल है। वह न कृष्ण (काला) है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न शुक्ल (श्वेत) है। न वह सुगन्ध—(युक्त) है और न दुर्गन्ध—(युक्त) है। वह न तिक्त (तीखा) है, न कडवा है, न कसैला है, न खट्टा है

---

१ **'काऊ'** का अर्थ चूर्णिकार करते है—**'काउग्गहणेण लेस्साओ गहिताओ'**—'काऊ' शब्द से यहाँ लेश्या का ग्रहण किया गया है।

२ यहाँ चूर्णि मे पाठान्तर है—**ण इत्थिवेदगो, ण णपुंसगवेदगो ण अण्णहत्ति ।** अर्थात्—वह (परमात्मा) न स्त्रीवेदी है, न नपुंसकवेदी है और न ही अन्य है (यानी पुरुषवेदी है)।

३ **इच्चेतावंति** की चूर्णिसम्मत व्याख्या इस प्रकार है—"इति परिसमत्तीए, एतावंति त्ति तस्स परियाता, एतावंति य परियायविसेसा इति ।"—इति समाप्त अर्थ मे है। इतने ही उसके पर्यायविशेष है। उपनिषद् ने भी **'नेति नेति'** कह कर परमात्मा की परिभाषा के विषय मे मौन अंगीकार कर लिया है।

ग्रौर न मीठा (मधुर) है, वह न कर्कश है, न मृदु (कोमल) है, न गुरु (भारी) है, न लघु (हलका) है, न ठण्डा है, न गर्म है, न चिकना है, ग्रौर न रूखा है। वह (मुक्तात्मा) कायवान् नही है। वह जन्मधर्मा नही (ग्रजन्मा) है, वह सगरहित—(ग्रसग-निर्लेप) है, वह न स्त्री है, न पुरुष है ग्रौर न नपुंसक है।

वह (मुक्तात्मा) परिज्ञ है, सज्ञ (सामान्य रूप से सभी पदार्थ सम्यक् जानता) है। वह सर्वत चैतन्यमय—ज्ञानधन है। (उसका बोध कराने के लिए) कोई उपमा नही है। वह ग्ररूपी (ग्रमूर्त्त) सत्ता है। वह पदातीत (ग्रपद) है, उसका बोध कराने के लिए कोई पद नही है।

वह न शब्द है, न रूप है, न गन्ध है, न रस है ग्रौर न स्पर्श है। बस, इतना ही है।—ऐसा मै कहता हूं।

विवेचन—परमात्मा (मुक्तात्मा) का स्वरूप सूत्र १७६ मे विशदरूप से बताया गया है, परन्तु वहाँ उसे जगत मे पुन लौट ग्राने वाला या ससार की रचना करने वाला (जगत्कर्त्ता) नही बताया गया है। परमात्मा जब समस्त कर्मों से रहित हो जाता है, तो ससार मे लौटकर पुन कर्मबन्धन मे पडने के लिए क्यो ग्राएगा ?[1]

योगदर्शन मे मुक्त-ग्रात्मा (ईश्वर) का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष· ईश्वर ।"

—क्लेश, कर्म, विपाक ग्रौर ग्राशयो (वासनाग्रों) से ग्रछूता जो विशिष्ट पुरुष—(ग्रात्मा) है, वही ईश्वर है।[2]

इसीलिए यहाँ कहा—'**अच्चेति जातिमरणस्स वट्टमग्ग**'—वह जन्म-मरण के वृत्तमार्ग (चक्राकार) मार्ग का ग्रतिक्रमण कर देता है।

।। छठा उद्देशक समाप्त ।।

।। लोकसार पचम अध्ययन समाप्त ।।

---

१ ग्राचा० शीला० टीका पत्राक २०८। २ योगदर्शन १।२४।

विशेष—वैदिक ग्रन्थो म इसी से मिलता-जुलता ब्रह्म या परमात्मा का स्वरूप मिलता है, देखिए—

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथाऽरस नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्ते महत. पर ध्रुव. निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।' —कठोपनिषद् १।३।१५

'यत्तवद्दृश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षुश्श्रोत्र तदपाणिपादम् ।
नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म तदव्यय यद्भूत योनि पश्यन्ति धीरा ।।' —मुण्डकोपनिषद् ६।१।६

'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कदाचन ।" —तैत्तिरीय उपनिषद् २।४।१

ते होवा चैतदवेतदक्षर गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनेऽतेजस्कमप्राणाऽमुखमगात्रमनन्तरमबाह्य न तदश्नाति किचन, न तदश्नाति कश्चन । —बृहदारण्यक ३।८।८।४।५।१४

'धूत' छठा अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र के इस छठे अध्ययन का नाम है—'धूत'।
- 'धूत' शब्द यहाँ विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है प्रकम्पित व शुद्ध। वस्त्रादि पर से धूल आदि झाड़कर उसे निर्मल कर देना द्रव्यधूत कहलाता है। भावधूत वह है, जिससे अष्टविध कर्मो का धूनन (कम्पन, त्याग) होता है।[1]
- अत त्याग या सयम अर्थ मे यहाँ भावधूत शब्द प्रयुक्त है।[2]
- वैसे धूत शब्द का प्रयोग विभिन्न शास्त्रो मे यत्र-तत्र विभिन्न अर्थो मे हुआ है।[3]
- धूत नामक अध्ययन का अर्थ हुआ—जिसमे विभिन्न पहलुओ से स्वजन, सग, उपकरण आदि विभिन्न पदार्थों के त्याग (धूनन) का प्रतिपादन किया गया है, वह अध्ययन।[4]
- धूत अध्ययन का उद्देश्य है—साधक ससारवृक्ष के बीजरूप कर्मो (कर्मबन्धो) के विभिन्न कारणो को जानकर उनका परित्याग करे और कर्मो मे सर्वथा मुक्त (अव-धूत) बने।[5]
- सरल भाषा मे 'धूत का अर्थ है—कर्मरज से रहित निर्मल आत्मा अथवा ससार-वासना का त्यागी—अनगार।

---

१. **'दव्वधुत वत्थादि, भावधुय कम्ममट्ठविह।'**—आचा० निर्युक्ति गा० २५०।

२. **'धूयतेऽष्टप्रकार कर्म येन तद् धूतम् सयमानुष्ठाने।'**

—सूत्रकृत १ श्रु० २ अ० २

३. (क) **'सयमे, मोक्षे'**—सूत्रकृत् १ श्रु० ७ अ०

(ख) अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग ४ पृ० २७५८ मे अपनीत, कम्पित, स्फोटित और क्षिप्त अर्थ मे 'धूत' शब्द के प्रयोग बताये है।

(ग) दशवैकालिक सूत्र ३।१३ मे **'धुयमोह'**—धुतमोह शब्द का प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार अगस्त्य-सिंह ने इसका 'विकीर्ण-मोह' तथा जिनदासगणी ने 'जितमोह' अर्थ किया है।

—दसवेआलिय पृष्ठ ९५

४. **'धूत संगानां त्यजनम्, तत्प्रतिपादकमध्ययन धूतम्।'**—स्था० वृत्ति० स्थान ९

५ आचारांग निर्युक्ति गा० २५१।

- धूत अध्ययन के पांच उद्देशक है । प्रत्येक उद्देशक में भावधूत के विभिन्न पहलुओं क लेकर सूत्रों का चयन-सकलन किया गया है ।
- स्वजन-परित्यागरूप प्रथम उद्देशक में धूत का निरूपण है ।
- द्वितीय उद्देशक में सग-परित्यागरूप धूत का वर्णन है ।
- तीसरे उद्देशक मे उपकरण, शरीर एव अरति के धूनन (त्याग) का प्रतिपादन है ।
- चौथे उद्देशक मे अहता (त्रिविध गौरव) त्याग, एव सयम में पराक्रम-धूत का वर्णन है
- पांचवे उद्देशक मे तितिक्षा, धर्माख्यान एव कषाय-परित्यागरूप धूत का सांगोपां उपदेश है ।[1]
- इस अध्ययन की सूत्र सख्या १७७ से प्रारम्भ होकर सूत्र १९८ पर समाप्त है ।

---

१. आचारागनिर्युक्ति गा० २४९-२५०, आचा० शीला, टीका पृ २१० ।

'धुयं' छट्ठमज्झयणं

पढमो उद्देसओ

धूत छठा अध्ययन प्रथम उद्देशक

सम्यग्ज्ञान का आख्यान

१७७. ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाई[1] से णरे, जस्स इमाओ जातीओ सव्वतो सुपडिलेहिताओ भवंति आघाति से णाणमणेलिस ।

किट्टति तेसिं समुट्ठिताण णिक्खित्तदंडाण पण्णाणमंताण इह मुत्तिमग्गं ।

१७७ इस मर्त्यलोक मे मनुष्यों के बीच मे ज्ञाता (प्रबुद्ध) वह (अतीन्द्रिय ज्ञानी या श्रुतकेवली) पुरुष (ज्ञान का—धार्मिक ज्ञान का) आख्यान करता है ।

जिसे ये जीव-जातियाँ (समग्र ससार) सब प्रकार से भली-भाँति ज्ञात होती है, वही विशिष्ट ज्ञान का सम्यग् आख्यान करता है ।

वह (सम्बुद्ध पुरुष) इस लोक मे उनके लिए मुक्ति-मार्ग का निरूपण (यथार्थ आख्यान) करता है जो (धर्माचरण के लिए) सम्यक उद्यत है, मन, वाणी और काया से जिन्होने दण्डरूप हिंसा का त्याग कर स्वय को सयमित किया है, जो समाहित (एकाग्रचित्त या तप-सयम मे उद्यत) है तथा सम्यग् ज्ञानवान् है ।

विवेचन— प्रथम उद्देशक मे धूतवाद की परिभाषा समझाने से पूर्व सम्यग्ज्ञान एव मोह से आवृत जीवो की विविध दु खो और रोगो से आक्रान्त दशा का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया गया है । तत्पश्चात स्वयस्फूर्त तत्त्वज्ञान के सन्दर्भ मे स्वजन-परित्याग रूप धूत का दिग्दर्शन कराया गया है । '' **आघाई से णरे**' इस पक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने जनधर्म के एक महान् सिद्धान्त की ओर सकेत किया है कि जब भी धर्म का, ज्ञान का, या मोक्ष-मार्ग विषयक तत्त्व-ज्ञान का प्ररूपण किया जाता है, वह ज्ञानी पुरुष के द्वारा ही किया जाता है, वह अपौरुषेय नही होता, न ही बौद्धो की तरह दीवार आदि से धर्मदेशना प्रकट होती है, और न वशेषिको की तरह उलूकभाव से पदार्थो का आविर्भाव होता है । चार घातिकर्मो के क्षय हो जाने पर केवलज्ञान से सम्पन्न होकर मनुष्य-देह से युक्त (भवोपग्राही कर्मो के रहते मनुष्यभाव मे स्थित) तथा स्वय कृतार्थ होने पर भी प्राणियो के हित के लिए धमसभा/समवसरण मे वह नरपुङ्गव धर्म ।ज्ञान का प्रतिपादन करते है ।

अतीन्द्रिय ज्ञानी या श्रुतकेवली भी धर्म या असाधारण ज्ञान का व्याख्यान कर सकते है, जिनके विशिष्ट ज्ञान के प्रकाश मे एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक की प्राणिजातिया सूक्ष्म-

---

१ पाठान्तर है—**अग्घाति, अक्खाति, अग्घाति, अग्घाइ ।**

बादर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक आदि रूपो मे सभी प्रकार के सशय-विपर्यय-अनध्यवसायादि दोषो से रहित होकर स्पष्ट रूप से जानी-समझी होती है।[1]

आघाति से णाणमणेलिस—वह(पूर्वोक्त विशिष्ट ज्ञानी पुरुष)अनीदृश—अनुपम या विशिष्ट ज्ञान का कथन करते है। वृत्तिकार के अनुसार वह अनन्य-सदृश ज्ञान आत्मा का ही ज्ञान होता है, जिसके प्रकाश मे (श्रोता को) जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वो का सम्यक् बोध हो जाता है।

अनुपम ज्ञान का आख्यान किन-किन को?—इस सन्दर्भ मे ज्ञान-श्रवण के पिपासु श्रोता की योग्यता के लिए चार गुणो से सम्पन्न होना आवश्यक है—वह (१) समुत्थित, (२) निक्षिप्त-दण्ड—हिंसापरित्यागी, (३) इन्द्रिय और मन की समाधि से सम्पन्न और (४) प्रज्ञावान हो[2]

समुट्ठियाणं—धर्माचरण के लिए जो सम्यक् प्रकार से उद्यत हो वह समुत्थित कहलाता है। यहाँ वृत्तिकार ने उत्थित के दो प्रकार बताये है[3]—द्रव्य से और भाव से। द्रव्यत. शरीर से उत्थित (धर्म-श्रवण के लिए श्रोता का शरीर से भी जागृत होना आवश्यक है), भावत. ज्ञानादि से उत्थित। भाव से उत्थित व्यक्तियो को ही ज्ञानी धर्म या ज्ञान का उपदेश करते है। देवता और तिर्यचो, जो उत्थित होना चाहते है, उन्हे तथा कुतूहल आदि से भी जो सुनते है, उन्हे भी धर्मोपदेश के द्वारा वे ज्ञान देते है।[4]

किन्तु आगे चलकर वृत्तिकार निक्षिप्तदण्ड आदि सभी गुणो को भाव-समुत्थित का विशेषण बनाते है, जबकि उत्थित का ऊपर बताया गया स्तर तो प्राथमिक श्रेणी का है, इसलिए प्रतीत होता है कि भाव-समुत्थित आत्मा, सच्चे माने मे आगे के तीन विशेषणो से युक्त हो, यह विवक्षित है और वह व्यक्ति साधु-कोटि का ही हो सकता है।

मोहाच्छन्न जीव की करुण-दशा

१७८. एवं पेगे महावीरा विप्परक्कमंति।

पासह एगेऽवसीयमाणे[5] अणत्तपण्णे।

से बेमि—से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छण्णपलासे, उम्मुग्गं[6] से णो लभति। भंजगा इव संनिवेसं नो चयंति।

एवं पेगे अणेगरूवेहिं[7] कुलेहिं जाता

रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति, णिदाणतो ते ण लभंति मोक्खं।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २११। २ आचा० शीला० टीका पत्राक २११।

३ आचा० शीला० टीका पत्राक, २११। ४ आचा० शीला० टीका पत्राक २११।

५ 'एगेऽवसीयमाणे' के बदले पाठान्तर है—'एगे विसीदमाणे' चूर्णिकार अर्थ करते है—विविह सीयति" ते विसीयति—विविध प्रकार से दु खी होते है।

६ 'उम्मुग्ग' के बदले उम्मग्ग पाठ भी है।

७ 'अणेगगोतेसु कुलेसु' पाठान्तर है। एगे ण सव्वे, अणेगगोतेसु मरुगादिसु ४ अहवा उच्चणीएसु—यह अर्थ चूर्णिकार ने किया है। अर्थात्—सभी नही, कुछेक, मरुक आदि अनेक गोत्रो मे, कुलो मे अथवा उच्चनीच कुलो मे—उत्पन्न।

१७८ कुछ (विरले लघुकर्मा) महान् वीर पुरुष इस प्रकार के ज्ञान के आख्यान (उपदेश) को सुनकर (सयम मे) पराक्रम भी करते है।

(किन्तु) उन्हे देखो, जो आत्मप्रज्ञा से शून्य है, इसलिए (सयम मे) विषाद पाते हैं, (उनकी करुणदशा को इस प्रकार समझो)।

मैं कहता हूँ—जैसे एक कछुआ है, उसका चित्त (एक) महाह्रद (—सरोवर) मे लगा हुआ है। वह सरोवर शैवाल और कमल के पत्तो से ढका हुआ है। वह कछुआ उन्मुक्त आकाश को देखने के लिए (कही) छिद्र को भी नही पा रहा है।

जैसे वृक्ष (विविध शीत-ताप-तूफान तथा प्रहारो को सहते हुए भी) अपने स्थान को नही छोडते, वैसे ही कुछ लोग है (जो अनेक सासारिक कष्ट, यातना, दु ख आदि बार-बार पाते हुए भी गृहवास को नही छोडते)।

इसी प्रकार कई (गुरुकर्मा) लोग अनेक (दरिद्र, सम्पन्न, मध्यवित्त आदि) कुलो मे जन्म लेते है, (धर्माचरण के योग्य भी होते है), किन्तु रूपादि विषयो मे आसक्त होकर (अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक दु खो से, उपद्रवो से और भयकर रोगो से आक्रान्त होने पर) करुण विलाप करते है, (लेकिन इस पर भी वे दु खो के आवास-रूप गृहवास को नही छोडते)। ऐसे व्यक्ति दु खो के हेतुभूत कर्मों से मुक्त नही हो पाते।

विवेचन—आत्मज्ञान से शून्य पूर्वग्रह तथ पूर्वाभ्यास से ग्रस्त व्यक्तियो की करुणदशा का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने दो रूपक प्रस्तुत किये है—

(१) **शैवाल**—एक बडा विशाल सरोवर था। वह सघन शैवाल और कमल-पत्रो (जल-वनस्पतियो) से आच्छादित रहता था। उसमे अनेक प्रकार के छोटे-बडे जलचर जीव निवास करते थे। एक दिन सयोगवश उस सघन शैवाल मे एक छोटा-सा छिद्र हो गया। एक कछुआ अपने पारिवारिक जनो से बिछुडा भटकता हुआ उसी छिद्र (विवर) के पास आ पहुँचा। उसने छिद्र से बाहर गर्दन निकाली, आकाश की ओर देखा तो चकित रह गया। नील गगन मे नक्षत्र और ताराओ को चमकते देखकर वह एक विचित्र आनन्द मे मग्न हो उठा। उसने सोचा—"ऐसा अनुपम दृश्य तो मै अपने पारिवारिक जनो को भी दिखाऊँ।" वह उन्हे बुलाने के लिए चल पडा। गहरे जल मे पहुँचकर उसने परिवारी जनो को उस अनुपम दृश्य की बात सुनाई तो पहले तो किसी ने विश्वास नही किया, फिर उसके आग्रहवश सब उस विवर को खोजते हुए चल पडे। किन्तु इतने विशाल सरोवर मे उस लघु छिद्र का कोई पता नही चला, वह विवर उसे पुन प्राप्त नही हुआ।

रूपक का भाव इस प्रकार है—ससार एक महाह्रद है। प्राणी एक कछुआ है। कर्मरूप अज्ञान-शैवाल से यह आवृत्त है। किसी शुभ सयोगवश सम्यक्त्व रूपी छिद्र (विवर) प्राप्त हो गया। सयम-साधना के आकाश मे चमकते शान्ति आदि नक्षत्रो को देखकर उसे आनन्द हुआ। पर परिवार के मोहवश वह उन्हे भी यह बताने के लिए वापस घर जाता है, गृहवासी बनता

है, बस, वहाँ आसक्त होकर भटक जाता है। हाथ से निकला यह अवसर (विवर) पुन· प्राप्त नही होता और मनुष्य खेदखिन्न हो जाता है। सयम आकाश के दर्शन पुन· दुर्लभ हो जाते हैं।

(२) **वृक्ष**—सर्दी, गर्मी, आधी, वर्षा आदि प्राकृतिक आपत्तियो तथा फल-फूल तोडने के इच्छुक लोगो द्वारा पीडा, यातना, प्रहार आदि कष्टो को सहते हुए वृक्ष जैसे अपने स्थान पर स्थित रहता है, वह उस स्थान को छोड नही पाता, वैसे ही गृहवास मे स्थित मनुष्य अनेक प्रकार के दु खो, पीडाओ, १६ महारोगो से आक्रान्त होने पर भी वे मोहमूढ बने हुए दु खालय रूप गृहवास का त्याग नही कर पाते।

प्रथम उदाहरण एक बार सत्य का दर्शन कर पुन· मोहमूढ़ अवसर-भ्रष्ट आत्मा का है, जो पूर्वाध्यास या पूर्व-सस्कारो के कारण सयम-पथ का दर्शन करके भी पुन उससे विचलित हो जाती है।

दूसरा उदाहरण अब तक सत्य-दर्शन से दूर अज्ञानग्रस्त, गृहवास मे आसक्त आत्मा का है।

दोनो ही प्रकार के मोहमूढ पुरुष केवलीप्ररूपित धर्म का, आत्म-कल्याण का अवसर पाने मे वचित रह जाते है और वे ससार के दु खो से त्रस्त होते है।

जैसे वृक्ष दु ख पाकर भी अपना स्थान नही छोड पाता, वैसे ही पूर्व-सस्कार, पूर्वग्रह-मिथ्या-दृष्टि, कुल का अभिमान साम्प्रदायिक अभिनिवेश आदि की पकड के कारण वह ससार मे अनेक प्रकार के कष्ट पाकर भी उसे छोड नही सकता।

आत्म-कृत दु ख

१७९ अह पास तेहिं[1] कुलेहिं आयत्ताए जाया—
गडी अदुवा कोढी रायसी अवमारियं।
काणियं झिमियं[2] चेव कुणितं खुज्जितं तहा ॥१३॥
उदरिं च पास मूइं च सूणियं[3] च गिलासिणिं[4]।
वेवइं पीढसप्पिं च सिलिवयं[5] मधुमेहणिं ॥१४॥

---

१ इसके बदले चूर्णि मे पाठ है—'**तेहिं तेहिं कुलेहिं जाता**'—उन-उन कुलो मे पैदा हुए।

२ इसके बदले '**सिमियं**' पाठ है। चूर्णि मे अर्थ किया है—**सिमिता अलसयवाही**—सिमिता = आलस्य-वाही व्याधि।

३ '**सूणियं**' के बदले किसी-किसी प्रति मे सूणीय, पाठ मिलता है। चूर्णिकार इसका अर्थ करते है—'सूणीया सूणसरीरा'—शरीर का शून्य हो जाना, शून्य रोग है।

४ **गिलासिणि** का अर्थ वृत्तिकार 'भस्मकव्याधि' करते है।

५ '**सिलिवयं**' के बदले चूर्णि मे 'सिलवती' पाठ है। अर्थ किया गया है—'सिलवती पादा सिलीभवति' श्लीपद—हाथीपगा रोग मे पैर सूज कर हाथी की तरह हो जाते है।

सोलस एते रोगा अक्खाया अणुपुव्वसो ।
अह णं फुसंति आतंका फासा[1] य असमंजसा ॥१५॥

१८०. मरणं[2] तेसिं सपेहाए उववाय चयण च णच्चा परियागं च सपेहाए त सुणेह जहा तहा ।

संति पाणा अंधा तमंसि[3] वियाहिता । तामेव[4] सइ असइ अतियच्च उच्चावचे[5] फासे पडिसंवेदेति ।

बुद्धेहिं एयं पवेदितं ।
संति पाणा वासगा रसगा उदए उदयचरा आगासगामिणो ।
पाणा पाणे किलेसति । पास लोए महब्भयं ।
बहुदुक्खा हु जंतवो ।
सत्ता कामेहि माणवा । अबलेण वहं गच्छंति सरीरेण पभगुरेण ।
अट्टे से बहुदुक्खे इति बाले पकुव्वति[6] ।
एते रोगे बहू णच्चा आतुरा परितावए ।
णाल पास । अलं तवेतेहि । एतं पास मुणी ! महब्भय । णातिवादेज्ज कचण ।

१७९ अच्छा तू देख वे (मोह-मूढ मनुष्य) उन (विविध) कुलो मे आत्मत्व (अपने-अपने कृत कर्मों के फलो को भोगने) के लिए निम्नोक्त रोगो के शिकार हो जाते है—(१) गण्डमाला, (२) कोढ, (३) राजयक्ष्मा (तपेदिक), (४) अपस्मार (मृगी या मूर्च्छा), (५) काणत्व (कानापन), (६) जडता (अगोपागो मे शून्यता), (७) कुणित्व (टूँटापन, एक हाथ या पैर छोटा और एक बडा), (८) कुबडापन, (९) उदररोग (जलोदर, अफारा, उदरशूल आदि), (१०) मूकरोग (गूँगापन), (११) शोथरोग-सूजन,

---

१ इसके अतिरिक्त चूर्णिकार ने तीन पाठ माने है—(१) 'फासा असमसिया' (२) फासा असममिता, (३) फासा य असमजसा । क्रमशः अर्थ किये है—(१) **असमतिया** = नाम अप्पत्तपुव्वा, (२) **असमिता** = असमिता णाम विसमा तिव्वमदमज्झा, (३) अहवा फासा य **असमजसा** उप्पदय-पल्लत्था ।" अर्थात् असमत्रिता—अप्राप्तपूर्वस्पर्श, जो स्पर्श अप्रत्याशित रूप मे प्राप्त हुए हो, अपूर्व हो । असमिता का अर्थ है—विषम—तीव्र-मन्द-मध्यम स्पर्श अथवा जो स्पर्श उलट-पलट हो उन्हे असमजस स्पर्श कहते है ।

२ इसके बदले चूर्णि मे पाठ है—'**मरणं (च) तत्थ सपेहाए** ।' अर्थ किया गया है—**मरण तत्थ समिक्खिज्ज, च सद्दा जम्मणं च**—साथ ही उनमे मरण की भी सम्यक् समीक्षा करके, च शब्द से 'जन्म' का भी ग्रहण कर लेना चाहिए ।

३ इसके बदले चूर्णि मे '**तम पविट्ठा**' पाठ है । जिसका अर्थ किया गया है—अन्धकार मे प्रविष्ट ।

४ इसके बदले किसी-किसी प्रति मे '**तामेव सय असइ अतिगच्च०**" सय का अर्थ स्वय है, बाकी के अर्थ समान है ।

५ चूर्णि मे पाठान्तर मिलता है—'**उच्चावते फासे** · **पडिवेदेति**' । अर्थ वही है ।

६ '**पकुव्वति** के बदले **पगब्भति**' पाठ चूर्णि मे है । अर्थ होता है—प्रगल्भ (धृष्टता) करता है ।

(१२) भस्मकरोग, (१३) कम्पनवात, (१४) पीठसर्पी-पगुता, (१५) श्लीपदरोग (हाथीपगा) और १६ मधुमेह, ये सोलह रोग क्रमश. कहे गये हैं।

इसके अनन्तर (शूल आदि मरणान्तक) आतक (दु साध्य रोग) और अप्रत्याशित (दु:खो के) स्पर्श प्राप्त होते है।

१८० उन (रोगो-आतको और अनिष्ट दु खो से पीडित) मनुष्यों की मृत्यु का पर्यालोचन कर, उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) को जानकर तथा कर्मों के विपाक (फल) का भली-भाँति विचार करके उसके यथातथ्य (यथार्थस्वरूप) को सुनो।

(इस ससार में) ऐसे भी प्राणी बताए गये हैं, जो अन्धे होते है और अन्धकार में ही रहते है। वे प्राणी उसी (नाना दु खपूर्ण अवस्था) को एक बार या अनेक बार भोगकर तीव्र और मन्द (ऊँचे-नीचे) स्पर्शों का प्रतिसवेदन करते हैं।

बुद्धो (तीर्थंकरो) ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।

(और भी अनेक प्रकार के) प्राणी होते है, जैसे—वर्षज (वर्षा ऋतु मे उत्पन्न होने वाले मेढक आदि) अथवा वासक (भाषालब्धि-सम्पन्न द्वीन्द्रियादि प्राणी), रसज (रस मे उत्पन्न होने वाले कृमि आदि जन्तु), अथवा रसग (रसज्ञ सज्ञी जीव), उदक रूप-एकेन्द्रिय अप्कायिक जोव या जल मे उत्पन्न होने वाले कृमि या जलचर जीव, आकाशगामी—नभचर पक्षी आदि।

वे प्राणी अन्य प्राणियो को कष्ट देते हैं (प्रहार से लेकर प्राणहरण तक करते है)।

(अत) तू देख, लोक मे महान् भय (दु खो का महाभय) है।

ससार मे (कर्मों के कारण) जीव बहुत ही दु खी है। (बहुत-से) मनुष्य कामभोगो मे आसक्त है। (जिजीविषा मे आसक्त मानव) इस निर्बल (नि सार और स्वत नष्ट होने वाले) शरीर को सुख देने के लिए अन्य प्राणियो के वध की इच्छा करते है (अथवा कर्मोदयवश अनेक बार वध-विनाश को प्राप्त होते हैं)।

वेदना से पीडित वह मनुष्य बहुत दु ख पाता है। इसलिए वह अज्ञानी (वेदना के उपशमन के लिए) प्राणियो को कष्ट देता है (अथवा प्राणियो को क्लेश पहुंचाता हुआ वह धृष्ट (बेदर्द) हो जाता है)।

इन (पूर्वोक्त) अनेक रोगो को उत्पन्न हुए जानकर (उन रोगो की वेदना से) आतुर मनुष्य (चिकित्सा के लिए दूसरे प्राणियो को) परिताप देते है।

तू (विशुद्ध विवेकदृष्टि से) देख। ये (प्राणिघातक-चिकित्साविधियाँ कर्मोदयजनित रोगों का शमन करने मे पर्याप्त) समर्थ नही हैं। (अत जीवो को परिताप देने वाली) इन (पापकर्मजनक चिकित्साविधियो) से तुमको दूर रहना चाहिए।

मुनिवर! तू देख! यह (हिंसामूलक चिकित्सा) महान् भयरूप है। (इसलिए चिकित्सा के निमित्त भी) किसी प्राणी का अतिपात/वध मत कर।

विवेचन—पिछले सूत्रो में बताया है—आसक्ति में फसा हुआ मनुष्य धर्म का आचरण नही कर पाता तथा वह मोह एव वासना मे गृद्ध होकर कर्मों का सचय करता रहता है।

आगमों मे बताये गये कर्म के मुख्यत तीन प्रकार किये जा सकते हैं। (१) क्रियमाण (वर्तमान में किया जा रहा कर्म), (२) सचित (जो कर्म-सचय कर लिया गया है, पर अभी उदय मे नही आया—वह बद्ध), (३) प्रारब्ध (उदय मे आने वाला कर्म या भावी)।

क्रियमाण—वर्तमान मे जो कर्म किया जाता है, वही सचित होता है तथा भविष्य मे प्रारब्ध रूप में उदय मे आता है। कृत-कर्म जब अशुभ रूप मे उदय आता है तब प्राणी उनके विपाक से अत्यन्त दु खो, पीडित व त्रस्त हो उठता है। प्रस्तुत सूत्र मे यही बात बताई है कि ये अपने कृत-कर्म (आयत्ताए अपने ही किये कर्म) इस प्रकार विविध रोगातको के रूप मे उदय आते है। तब अनेक रोगो से पीडित मानव उनके उपचार के लिए अनेक प्राणियो का वध करता-कराता है। उनके रक्त, मास, कलेजे, हड्डी आदि का अपनी शारीरिक-चिकित्सा के लिए वह उपयोग करता है, परन्तु प्राय देखा जाता है कि उन प्राणियो की हिसा करके चिकित्सा कराने पर भी रोग नही जाता, क्योकि रोग का मूल कारण विविध कर्म है, उनका क्षय या निर्जरा हुए बिना रोग मिटेगा कहाँ से ? परन्तु मोहावृत अज्ञानी इस बात को नही समझता। वह प्राणियो को पीडा पहुँचाकर और भी भयकर कर्मबन्ध कर लेता है। इसीलिए मुनि को इस प्रकार की हिसामूलक चिकित्सा के लिए सूत्र १८० मे निषेध किया गया है।[1]

फासा य असमजसा—जिन्हे धुतवाद का तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त नही होता, वे अपने अशुभ कर्मों के फलस्वरूप पूर्वोक्त १६ तथा अन्य अनेक रोगो मे से किसी भी रोग के शिकार होते है, साथ ही असमजस स्पर्शों का भी उन्हे अनुभव होता है। यहाँ चूर्णिकार ने तीन पाठ माने है—(१) **फासा य असमजसा**, (२) **फासा य असमतिया**, (३) **फासा य असमिता**। इन तीनो का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। **असमजस** का अर्थ है—उलट-पलट हो, जिनका परस्पर कोई मेल न बैठता हो, ऐसे दु खस्पर्श। **असमतिया** का अर्थ है—असमंजितस्पर्श यानी जो स्पर्श पहले कभी प्राप्त न हुए हो, ऐसे अप्रत्याशित प्राप्त स्पर्श और **असमित** स्पर्श का अर्थ है—विषम स्पर्श, तीव्र, मन्द या मध्यम दु खस्पर्श। आकस्मिक रूप से होने वाले दु खो का स्पर्श ही अज्ञ-मानव को अधिक पीडा देता है।

सति पाणा अधा—अधे दो प्रकार से होते है—द्रव्यान्ध और भावान्ध। द्रव्यान्ध द्रव्य नेत्रो से हीन होता है और भावान्ध सद्-असद्-विवेकरूप भाव चक्षु से रहित होता है। इसी प्रकार अन्धकार भी दो प्रकार का होता है—द्रव्यान्धकार—जैसे नरक आदि स्थानो में घोर अधेरा रहना है और भावान्धकार—कर्मविपाकजन्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि के रूप मे रहना है।[2] यहाँ पर भावान्ध प्राणी विवक्षित है, जो सम्यग्ज्ञान रूप नेत्र से हीन है तथा मिथ्यात्व रूप अन्धकार मे ही भटकता है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २१२। २ आचा० शीला० टीका पत्राक २१२।

धूतवाद का व्याख्यान

१८१. आयाण भो ! सुस्सूस भो ! धूतवादं[1] पवेदयिस्सामि । इह खलु अत्तत्ताए[2] तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूता अभिसंजाता अभिणिव्वट्टा अभिसंवुड्ढा[3] अभिसंबुद्धा अभिणिक्खंता अणुपुव्वेण महामुणी ।

१८२. तं परक्कमंतं परिदेवमाणा मा णे चयाहि[4] इति ते वदंति ।
छंदोवणीता अज्झोववण्णा अक्कंदकारी जणगा रुदंति ।
अतारिसे मुणी ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढा ।
सरणं तत्थ णो समेति । किह णाम से तत्थ रमति ।
एतं णाणं सया समणुवासेज्जासि त्ति बेमि ।

।। पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ।।

१८१ हे मुने ! समझो, सुनने की इच्छा (रुचि) करो, मैं (अब) धूतवाद का निरूपण करूंगा । (तुम) इस संसार मे आत्मत्व (स्वकृत-कर्म के उदय) से प्रेरित होकर उन-उन कुलो मे शुक्र-शोणित के अभिषेक—अभिसिंचन से माता के गर्भ मे कललरूप हुए, फिर अर्बुद (मांस) और पेशी रूप बने, तदनन्तर अंगोपांग—स्नायु, नस, रोम आदि के क्रम से अभिनिष्पन्न (विकसित) हुए, फिर प्रसव होकर (जन्म लेकर) संवर्द्धित हुए, तत्पश्चात् अभिसम्बुद्ध (सम्बोधि को प्राप्त) हुए, फिर धर्म-श्रवण करके विरक्त होकर अभिनिष्क्रमण किया (प्रव्रजित हुए) इस प्रकार क्रमशः महामुनि बनते हैं ।

१८२ (गृहवास से पराङ्मुख एवं सम्बुद्ध होकर) मोक्षमार्ग—संयम मे पराक्रम करते हुए उस मुनि के माता-पिता आदि करुण-विलाप करते हुए यों कहते है—'तुम हमे मत छोडो, हम तुम्हारे अभिप्राय के अनुसार व्यवहार करेंगे, तुम पर हमे ममत्व—(स्नेह/विश्वास) है । इस प्रकार आक्रन्द करते (चिल्लाते) हुए वे रुदन करते हैं ।'

(वे रुदन करते हुए, स्वजन कहते है—) 'जिसने माता-पिता को छोड दिया

---

१ 'धूतवादं' के बदले चूर्णि में पाठ मिलता है धुयं वायं पवेदइस्सामि धुयं भणितं धुयस्स वादो । धुजति जेण कम्मं तवसा । —जिस तपस्या से कर्मों को धुनन-कम्पित किया जाता है वह है—धूत । धूत का वाद वर्णन = धूतवाद है ।
नागार्जुनीय पाठान्तर यह है—धुतोवायं पवेदइस्सामि—जेण कम्मं धुणति तं उवायं ।'—जिससे कर्म धुने जाएँ—क्षय किये जाएँ, उसे धूत कहते हैं, उसके उपाय को धूतोपाय कहते है ।

२ इसकी व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में देखिये—अत्तभावो अत्तता, ताए तेसु तेसुत्ति उत्तम-अहम-मज्झिमेसु'—आत्मभाव-आत्मता है, उसके द्वारा उन-उन उत्तम-अधम-मध्यम कुलो मे

३ 'अभिसंवुड्ढा' के बदले चूर्णि मे 'अभिसंवुद्धा' पाठ है ।

४ 'चयाहि' के बदले 'जहाहि' क्रियापद मिलता है ।

है, ऐसा व्यक्ति न मुनि हो सकता है और न ही ससार-सागर को पार कर सकता है।'

वह मुनि (पारिवारिक जनो का विलाप—रुदन सुनकर) उनकी शरण में नही जाता, (वह उनकी बात स्वीकार नही करता)। वह तत्त्वज्ञ पुरुष भला कैसे उस (गृहवास) मे रमण कर सकता है ?

मुनि इस (पूर्वोक्त) ज्ञान को सदा (अपनी आत्मा मे) अच्छी तरह बसा ले (स्थापित कर ले)।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—धूतवाद के श्रवण और पर्यालोचन के लिए प्रेरणा—धूतवाद क्यो मानना और सुनना चाहिए ? इसकी भूमिका इन सूत्रो मे शास्त्रकार ने बाँधी है। वास्तव मे सासारिक जीवो को नाना दु ख, कष्ट और रोग आते है, वह उनका प्रतीकार दूसरो को पीडा देकर करता है, किन्तु जब तक उनके मूल का छेदन नही करता, तब तक ये दु ख, रोग और कष्ट नही मिटते। मूल है—कर्म। कर्मों का उच्छेद ही धूत है। कर्मों के उच्छेद का सर्वोत्तम उपाय है—शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों पर से आसक्ति, मोह आदि का त्याग करना। त्याग और तप के बिना कर्म निर्मूल नही हो पाते। इसके लिए सर्वप्रथम गृहासक्ति और स्वजनासक्ति का त्याग करना अनिवार्य है और वह स्व-चिंतन मे ही उद्भूत होगी। तभी वह कर्मों का धूनन (क्षय) करके इन (पूर्वोक्त) दु खो से सर्वथा मुक्त हो सकता है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने बारम्बार साधक को स्वय देखने एव सोचने-विचारने की प्रेरणा दी है—वह स्वय विचार कर मन को आसक्ति के बधन से मुक्त करे।

अह पास तेहि कुलेहि आयत्ताए जाया
मरण ते सि सपेहाए, उववाय चवण स णच्चा, परिपाम च सपेहाए
त सुणेह जहा तहा
पास लोए महब्भय
एए रोगा बहू णच्चा
एय पास मुणी ! महब्भय
आयाण भो सुस्सूस !

ये सभी सूत्र स्व-चितन को प्रेरित करते है। सक्षेप मे यही धूतवाद की भूमिका है। जिसके प्रतिपक्षी अधूतवाद को और तदनुसार चलने के दुष्परिणामो को जान-समझकर तथा भलीभाँति देख-सुनकर साधक उससे निवृत्त हो जाए। अधूतवाद के जाल मे मुक्त होने के लिए अनगार मुनि बनकर धूतवाद के अनुसार मोहमुक्त सयमी जीवन यापन करना अनिवार्य है।[१]

धूतवाद या धूतोपाय—वृत्तिकार ने आठ प्रकार के कर्मों को धुनने-झाड़ने को धूत कहा

१. आचा० शीला० टीका पत्राक २१२-२१३।

है, अथवा ज्ञाति (परिजनो) के परित्याग को भी धूत बताया है। चूर्णि के अनुसार धूत उसे कहते है, जिसने कर्मों को तपस्या से प्रकम्पित/नष्ट कर दिया। धूत का वाद—सिद्धान्त या दर्शन धूतवाद कहलाता है।[1]

नागार्जुनीय सम्मत पाठ है—'**धूतोवाय पवेएति**' अर्थात्—धूतोपाय का प्रतिपादन करते है। धूतोपाय का मतलब है—अष्टविध कर्मों को धूनने—क्षय करने का उपाय।[2]

धूत बनने का दुर्गम एवं दुष्कर क्रम—शास्त्रकार ने '**इह खलु अत्तत्ताए** ' '**अणुपुव्वेण महामुणी**' तक की पंक्ति मे धूत (कर्मक्षय कर्ता) बनने का क्रम इस प्रकार बताया है—इसके ६ सोपान है—(१) अभिसम्भूत, (२) अभिसजात, (३) अभिनिर्वृत्त, (४) अभिसवृद्ध, (५) अभिसम्बुद्ध और (६) अभिनिष्क्रान्त। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

अभिसम्भूत—सर्वप्रथम अपने किये हुए कर्मों के परिणाम (फल) भोगने के लिए स्वकर्मानुसार उस-उस मानव कुल मे सात दिन तक कलल (पिता के शुक्र और माता के रज) के अभिषेक के रूप मे बने रहना, इसे अभिसम्भूत कहते है।

अभिसजात—फिर ७ दिन तक अर्बुद के रूप मे बनना, तब अर्बुद से पेशी बनना और पेशी से घन तक बनना अभिसजात कहलाता है।[3]

अभिनिर्वृत्त—उसके पश्चात् क्रमश अग, प्रत्यग, स्नायु, सिरा, रोम आदि का निष्पन्न होना अभिनिर्वृत्त कहलाता है।

अभिसवृद्ध—इसके पश्चात् माता-पिता के गर्भ से उसका प्रसव (जन्म) होने से लेकर समझदार होने तक सवर्धन होना अभिसवृद्ध कहलाता है।

अभिसम्बुद्ध—इसके अनन्तर धर्मश्रवण करने योग्य अवस्था पाकर पूर्व पुण्य के फलस्वरूप धर्मकथा सुनकर पुण्य-पापादि नौ तत्त्वो को भली-भाँति जानना, गुरु आदि के निमित्त से सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके, ससार के स्वरूप का बोध प्राप्त करना अभिसम्बुद्ध बनना कहलाता है।

अभिनिष्क्रान्त—इसके पश्चात विरक्त होकर घर-परिवार, भूमि-सम्पत्ति आदि सबका परित्याग करके मुनिधर्म पालन के लिए अभिनिष्क्रमण (दीक्षा-ग्रहण) करना अभिनिष्क्रान्त कहलाता है। इतना ही नही, दीक्षा लेने के बाद गुरु के सान्निध्य मे शास्त्रो का गहन अध्ययन, रत्नत्रय की साधना आदि के द्वारा चारित्र के परिणामो मे वृद्धि करना और क्रमश गीतार्थ,

---

१ आचा० शीला० टीका पत्र २१६, '**धूतमष्टप्रकारकर्मधूनन, ज्ञातिपरित्यागो वा तस्य वादो धूतवाद।**' चूर्णि मे—'**धुजत्ति जेण कम्म तवसा त धूय भणित, धुयस्स वावो।**'

२ **अष्टप्रकारकर्म—'धूननोपाय वा प्रवेदयन्ति तीर्थंकरादय.।'** आचा० शीला० टीका २१६।

३. **सप्ताह कलल विद्यात् तत सप्ताहमर्बुदम्।**
अर्बुदाज्जायते पेशी, पेशीतोऽपि घन भवेत्॥ —(उद्धृत) आचा० शीला० टीका पत्राक २१६।

स्थविर, क्षपक, परिहार-विशुद्धि आदि उत्तम अवस्थाओ को प्राप्त करना भी अभिनिष्क्रान्त कोटि मे आता है। कितना दुर्लभ, दुर्गम और दुष्कर क्रम है मुनिधर्म मे प्रव्रजित होने तक का। यही धूत बनने योग्य अवस्था है।[1]

अभिसम्भूत से अभिनिष्क्रान्त तक की धूत बनने की प्रक्रिया को देखते हुए एक तथ्य यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वजन्म के सस्कार, इस जन्म मे माता-पिता आदि के रक्त-सम्बन्ध-जनित सस्कार तथा सामाजिक वातावरण से प्राप्त संस्कार धूत बनने के लिए आवश्यक व उपयोगी होते हैं।

धूतवादी महामुनि की अग्नि-परीक्षा—धूत बनने के दुष्कर क्रम को बताकर उस धूतवादी महामुनि की आन्तरिक अनासक्ति की परीक्षा कब होती है? यह बताते हुए कहा है कि 'स्वजन-परित्यागरूप धूत की प्रक्रिया के बाद उसके मोहाविष्ट स्वजनो की ओर से करुणा-जनक विलाप आदि द्वारा पुन गृहवास मे खीचने के लिए किस-किस प्रकार के उपाय अजमाये जाते हैं? इसे शास्त्रकार स्पष्ट रूप मे सू० १८२ मे चित्रित करते हैं। साथ ही वे स्वजन-परित्यागरूप धूत मे दृढ बने रहने के लिए धूतवादी महामुनि को प्रेरित करते है—'**सरण तत्थ नो समेति, किह णाम से तत्थ रमति?**'

वृत्तिकार इसका भावार्थ लिखते है—जिस (महामुनि) ने ससार-स्वभाव को भलीभाति जान लिया है, वह उस अवसर पर अनुरक्त बन्धु-बान्धवो की शरण-ग्रहण स्वीकार नही करता। जिसने मोह-कपाट तोड दिए है, भला वह समस्त बुराइयो और दु खो के स्थान एव मोक्ष द्वार मे अवरोधक गृहवास मे कैसे आसक्ति कर सकता है?[2]

'**अतारिसे मुणी ओह तरए**' शास्त्रकार स्वजन-परित्याग रूप धूतवाद मे अविचल रहने वाले महामुनि का परीक्षाफल घोषित करते हुए कहते है—वह अनन्यसदृश—(अद्वितीय) मुनि ससार-सागर से उत्तीर्ण हो जाता है। यहाँ '**अतारिसे**' शब्द के दो अर्थ चूर्णिकार ने किए है—(१) जो इस धर्म-सकट को पार कर जाता है, वह ससार-सागर को पार कर जाता है, (२) उस मुनि के जैसा कोई नही है, जो ससार के प्रवाह को पार कर जाता है।[3]

समणुवासेज्जासि'—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनो इस पक्ति की पृथक्-पृथक् व्याख्या करते है। वृत्तिकार के अनुसार अर्थ है—इस (पूर्वोक्त धूतवाद के) ज्ञान को सदा आत्मा मे सम्यक् प्रकार से अनुवासित—स्थापित कर ले—जमा ले। चूर्णिकार के अनुसार

---

१. (क) आचा० शीला० टीका पत्र २१७।

२ आचा० शीला० टीका पत्र २१७।

३. (क) **ससारसागर तारी मुणी भवति । अथवा अतारिसो—ण तारिसो मुणी णत्थि जेण ।**

—आचाराग चूर्णि पृष्ठ ६० सूत्र १८२

(ख) **न तादृशो मुनिर्भवति, न चौघ—ससार तरति ।** —आचा० शीला० टीका पत्र २१७

अर्थ यो है—इस (पूर्वोक्त) ज्ञान को सम्यक् प्रकार से अनुकूल रूप मे आचार्य श्री के सान्निध्य मे रहकर अपने भीतर मे बसा ले, उतार ले।[1]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

सर्वसंग-परित्यागी धूत का स्वरूप

१८३. आतुर लोगमायाए चइत्ता[2] पुव्वसजोग हेच्चा[3] उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्म अहा तहा अहेगे तमच्चाइ[4] कुसीला वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछण विउसिज्ज[5] अणुपुव्वेण अणधियासेमाणा परीसहे दुरहियासए।

कामे ममायमाणस्स इयाणि वा मुहुत्ते वा अपरिमाणाए भेदे।

एव[6] से अतराइएहिं कामेहि आकेवलिएहिं,[7] अवितिण्णा[8] चेते।

१८३ (काम-राग आदि से) आतुर लोक (—माता-पिता आदि सम्बन्धित समस्त प्राणिजगत) को भलीभाँति जानकर, पूर्व सयोग को छोडकर, उपशम को प्राप्त कर,

---

१ वृत्तिकार—'एतत्' (पूर्वोक्त) 'ज्ञान' सदा आत्मनि सम्यगनुवासये. व्यवस्थापये।'

—आचा० शीला० टीका पत्राक २१७

चूर्णिकार—'एत णाण सम्म अणुकूल आयरिय समीवे अणुवसाहि-अणुवसिज्जासि। वही, सू० १८२

२ पाठान्तर चूर्णि मे इस प्रकार है—'जाहित्ता पुव्वमायतण' अर्थ है—पूर्व आयतन को छोडकर।

३ इसका अर्थ चूर्णिकार के शब्दो मे—'इह एच्चा हिच्चा' आदि अक्खरलोवा हिच्चा, इहेति अस्मि प्रवचने। 'हिच्चा' की इस प्रकार स्थिति थी—इह+एच्चा=हिच्चा। आदि के इकार का लोप हो गया। अर्थ—इस प्रवचन-सघ मे (उपशम को) प्राप्त करके।

४ चूर्णि मे पाठान्तर के साथ अर्थ यो दिया गया है—'तमच्चाई अच्चाई णाम अच्चाएमाणा, ज भणित असत्तमता'—अत्यागी कहते है—त्याज्य (पापादि व असयम) को न त्यागने वाले, अथवा जो कहा है, उतना पालन करने मे अशक्त।

५ 'विउसेज्जा, विओसेज्जा, वियोसेज्जा' आदि पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ एक-सा है। चूर्णि मे अर्थ दिया है—विउसज्ज—विविह उसज्जा-विविध उत्सर्ग।

६ 'एव से अतराइएहिं' मे 'एव' शब्द अवधारण अर्थ मे है। अवधारण से ही काम-भोग अन्तराययुक्त होते है।

७ 'आकेवलिएहिं' का चूर्णि मे अर्थ है—''केवल सपुण्ण, ण केवलिया असपुण्णा।'—केवल यानी सम्पूर्ण अकेवल यानी असम्पूर्ण।

८ 'अवितिण्णा' का स्पष्टीकरण चूर्णि मे यो किया गया है—''विविह तिण्णा वितिण्णा, ण वितिण्णा' विणा वेरग्गेण ण तरते, कोति तिण्णपुव्वो तरति वा तरिस्सइ वा? जहा—अल ममतेहि।''—जो विविध प्रकार से तीर्ण नही है, पार नही पाए जाते, वे अवितीर्ण हैं। वैराग्य के बिना ये (पार) होते नही। अत कौन ऐसा है, जो काम-सागर को पार कर चुका है? पार कर रहा है या पार करेगा? कोई नही। इसलिए कहा—ममता मत करो।

ब्रह्मचर्य (चारित्र या गुरुकुल) मे वास करके वसु (सयमी साधु) अथवा अनवसु (सराग साधु या श्रावक) धर्म को यथार्थ रूप मे जानकर भी कुछ कुशील (मलिन चारित्र वाले) व्यक्ति उस धर्म का पालन करने मे समर्थ नही होते।

वे वस्त्र, पात्र, कम्बल एव पाद-प्रोछन को छोडकर उत्तरोत्तर आने वाले दु सह परिषहो को नही सह सकने के कारण (मुनि-धर्म का त्याग कर देते है)।

विविध काम-भोगो को अपनाकर (उन पर) गाढ ममत्व रखने वाले व्यक्ति का तत्काल (प्रव्रज्या-परित्याग के बाद ही) अन्तर्मुहूर्त मे या अपरिमित (किसी भी) समय मे शरीर छूट सकता है—(आत्मा और शरीर का भेद न चाहते हुए भी हो सकता है)।

इस प्रकार वे अनेक विघ्नो और द्वन्द्वो (विरोधो) या अपूर्णताओ से युक्त काम-भोगों से अतृप्त ही रहते है (अथवा उनका पार नही पा सकते, बीच मे ही समाप्त हो जाते हैं)।

विवेचन—इस उद्देशक मे मुख्यतया आत्मा से बाह्य (पर) भावो के सग के त्याग रूप धूत का सभी पहलुओ से प्रतिपादन किया गया है।

'आतुर लोगमायाए'—इस पक्ति मे लोक और आतुर शब्द विचारणीय है। लोक शब्द के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये है—माता-पिता, स्त्री-पुरुष आदि पूर्व-सयोगी स्वजन लोक और प्राणिलोक। इसी प्रकार आतुर शब्द के भी दो अर्थ यहाँ अकित है—स्वजनलोक उस मुनि के वियोग के कारण या उसके बिना व्यवसाय आदि कार्य ठप्प हो जाने मे स्नेह-राग से आतुर होता है और प्राणिलोक इच्छाकाम और मदनकाम से आतुर होता है।[1]

'चइत्ता पुव्वसजोग'—किसी सजीव व निर्जीव वस्तु के साथ सयोग होने मे धीरे-धीरे आसक्ति, स्नेह-राग, काम-राग या ममत्वभाव बढता जाता है, इसलिए प्रव्रज्या-ग्रहण से पूर्व जिन-जिन के साथ ममत्वयुक्त सयोगसम्बन्ध था, उसे छोडकर ही सच्चे अर्थ मे अनगार बन सकता है। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र (१।१) मे कहा गया है—

'सजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो' (सयोग से विशेष प्रकार से मुक्त अनगार और गृहत्यागी भिक्षु के)। चूर्णि मे इसके स्थान पर **'जहित्ता पुव्वमायतण'** पूर्व आयतन को छोडकर, ऐसा पाठ है। आयतन का अर्थ शब्दकोष के अनुसार यहाँ 'कर्मबन्ध का कारण' या 'आश्रय' ये दो ही उचित प्रतीत होते है।[2]

'वसित्ता बभचेरसि' यहाँ प्रसगवश ब्रह्मचर्य का अर्थ गुरुकुलवास या चारित्र ही उपयुक्त लगता है। गुरुकुल (गुरु के सान्निध्य) मे निवास करके या चारित्र मे रमण करके, ये दोनो अर्थ फलित होते है।[3]

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २१७।
(ख) आचाराग चूर्णि आचा० मूल पृष्ठ ६१।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २१७।
(ख) 'पाइयसद्दमहण्णवो' पृष्ठ ११४।

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २१७. (ख) आयारो (मुनि नथमल जी) पृ० २३५।

'वसु वा अणुवसु वा'— ये दोनो पारिभाषिक शब्द दो कोटि के साधको के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वृत्तिकार ने वसु और अनुवसु के दो-दो अर्थ किए। वैसे, वसु द्रव्य (धन) को कहते हैं। यहाँ साधक का धन है—वीतरागत्व, क्योकि उसमे कषाय, राग-द्वेष मोहादि की कालिमा बिलकुल नही रहती। यहाँ वसु का अर्थ वीतराग (द्रव्यभूत) और अनुवसु का अर्थ है सराग। वह वसु (वीतराग) के अनुरूप दिखता है, उसका अनुसरण करता है, किन्तु सराग होता है, इसलिए सयमी साधु अर्थ फलित होता है अथवा वसु का अर्थ महाव्रती साधु और अनुवसु का अर्थ—अणुव्रती श्रावक—ऐसा भी हो सकता है।[1]

'अहेगे तमच्चाइ कुसीला'— शास्त्रकार ने उन साधको के प्रति खेद व्यक्त किया है, जो सभी पदार्थों का सयोग छोडकर, उपशम प्राप्त करके, गुरुकुलवास करके अथवा आत्मा मे विचरण करके धर्म को यथार्थ रूप से जानकर भी मोहोदयवश धर्म-पालन मे अशक्त बन जाते है। धर्म-पालन मे अशक्त होने के कारण ही वे कुशील (कुचारित्री) होते है। चूर्णिकार ने भी **'अच्चाई'** शब्द मानकर उसका अर्थ 'अशक्तिमान' किया है। यद्यपि 'अच्चाई' का सस्कृत रूपान्तर 'अत्यागी' होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस साधक ने बाहर से पदार्थों को छोड दिया, कषायो का उपशम भी किया, ब्रह्मचर्य भी पालन किया, शास्त्र पढकर धर्मज्ञाता भी बन गया, परन्तु अन्दर से यह सब नही हुआ। अन्तर् मे पदार्थों को पाने की ललक है, निमित्त मिलने ही कषाय भडक उठते है, ब्रह्मचर्य भी केवल शारीरिक है या गुरुकुलवास भी औपचारिक है, धर्म के अन्तरग को स्पर्श नही किया, इसलिए बाहर से धूतवादी एव त्यागी प्रतीत होने पर भी अन्तर् से अधूतवादी एव अत्यागी 'अचाई' है।[2]

दशवेकालिकसूत्र मे निर्दिष्ट अत्यागी और त्यागी का लक्षण इसी कथन का समर्थन करता है—'जो साधक वस्त्र, गन्ध, अलकार, स्त्रिया, शय्या, आसन आदि का उपभोग अपने अधीन न होने से नही कर पाता, (मन मे उन पदार्थो को पाने की लालसा बनी हुई है) तो वह त्यागी नही कहलाता। इसके विपरीत जो साधक कमनीय-प्रिय भोग्य पदार्थ स्वाधीन एव उपलब्ध होने या हो सकने पर भी उनकी ओर पीठ कर देता है, (मन मे उन वस्तुओ की कामना नही करता), उन भोगो का हृदय से त्याग कर देता है, वही त्यागी कहलाता है।[3] निष्कर्ष यह है कि बाह्यरूप से धूतवाद को अपनाकर भी सग-परित्याग रूप धूत को नही अपनाया, इसलिए वह सग-अत्यागी ही बना रहा।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २१७।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २१७,

(ख) आचाराग चूर्णि—आचा० मूल पृ० ६१।

३ देखे, दशवैकालिकसूत्र अ० २, गा० २-३—

वत्थगन्धमलकार, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छदा जे न भुंजति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥२॥
जे य कते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥३।

अत्यागी बनने के कारण और परिणाम—सूत्र १८३ के उत्तरार्ध मे उस साधक के सच्चे अर्थ मे त्यागी और धूतवादी न बनने के कारणो का सपरिणाम उल्लेख किया गया है—

'वत्थं पडिग्गहं अवितिण्णा चे ते' वृत्तिकार इसका आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं-करोडो भवो मे दुष्प्राप्य मनुष्य जन्म को पाकर, पूर्व मे उपलब्ध, ससार सागर को पार करने में समर्थ बोधि-नौका को अपनाकर, मोक्ष-तरु के बीज रूप सर्वविरति-चारित्र को अगीकार करके, काम की दुर्निवारता, मन की चचलता, इन्द्रिय-विषयो की लोलुपता और अनेक जन्मो के कुसस्कार-वश वे परिणाम और कार्याकार्य का विचार न करके, अदूरदर्शिता पूर्वक महादु ख रूप सागर को अपनाकर एव वशपरम्परागत साध्वाचार से पतित होकर कई व्यक्ति मुनि-धर्म (धूतवाद) को छोड बैठते हैं। उनमे से कई तो वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरणो को निरपेक्ष होकर छोड देते है और देशविरति अगीकार कर लेते हैं, कुछ केवल सम्यक्त्व का आलम्बन लेते है, कई इससे भी भ्रष्ट हो जाते हैं।[1]

मुनि-धर्म को छोडकर ऐसे अत्यागी बनने के तीन मुख्य कारण यहाँ शास्त्रकार ने बताये है—

(१) **असहिष्णुता**—धीरे-धीरे क्रमश दु सह परीषहो को सहन न करना।

(२) **काम-आसक्ति**—विविध काम-भोगो का उत्कट लालसावश स्वीकार।

(३) **अतृप्ति**—अनेक विघ्नो, विरोधो (द्वन्द्वो) एव अपूर्णताओ से भरे कामो से अतृप्ति। इसके साथ ही इनका परिणाम भी यहाँ बता दिया गया है कि वह दीक्षात्यागी दुर्गति को न्योता दे देता है, प्रव्रज्या त्याग के बाद तत्काल, मुहूर्तभर मे या लम्बी अवधि मे भी शरीर छूट सकता है और भावो मे अतृप्ति बनी रहती है।

निष्कर्ष यह है कि भोग्य पदार्थों और भोगो के सग का परित्याग न कर सकना ही सर्वविरतिचारित्र से भ्रष्ट होने का मुख्य कारण है।[2]

विषय-विरतिरूप उत्तरवाद

१८४. **अहेगे धम्ममादाय आदाणप्पभिति सुप्पणिहिए चरे[3] अप्पलीयमाणे[4] दढे सव्व[5] गेहिं परिण्णाय।**

एस पणते महामुणी अतियच्च सव्वओ सगं 'ण मह अत्थि' त्ति, इति एगो अहमंसि,[6]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २१८। २ आचा० शीला० टीका पत्राक २१८।

३ 'चर' क्रिया, यहाँ उपदेश अर्थ मे है, 'चर इति उवदेसा', **धम्म चर** 'धर्म का आचरण कर'—चूर्णि।

४. 'अप्पलीयमाणे' का अर्थ चूर्णि मे इस प्रकार है—'**अप परिवज्जने लीणो विसय-कसायादि**'—विषय-कषायादि से दूर रहते हुए।

५ '**सव्व गेध परिण्णाय**' का चूर्णि मे अर्थ—'**सव्व निरवसेस गधो गेही**' समस्त ममत्व की गाठ—गृद्धि को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग कर ।

६ किसी प्रति मे '**एगो महमसि**' पाठ है, अर्थ है—तुम एक और महान हो।

जयमाणे, एत्थ विरते अणगारे सव्वतो मुंडे रीयंते जे अचेले परिवुसिते संचिक्खति[1] ओमोयरियाए। से अकुट्ठे व हते व लूसिते वा पलियं पगंथ[2] अदुवा पगथं अतहेहिं सद्दफासेहिं इति सखाए एगतरे अण्णतरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमणा[3]।

१८५. चेच्चा सव्व विसोत्तियं फासे फासे समितदंसणे।
एते भो णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो।
आणाए मामगं धम्मं। एस उत्तरवादे इह माणवाणं वियाहिते।
एत्थोवरते त झोसमाणे[4] आयाणिज्जं परिण्णाय परियाएण विगिचति।

१८४ यहाँ कई लोग (श्रुत-चारित्ररूप) धर्म (मुनि-धर्म) को ग्रहण करके निर्ममत्वभाव से धर्मोपकरणादि से युक्त होकर, अथवा धर्माचरण मे इन्द्रिय और मन को समाहित करके विचरण करते हैं।

वह (माता-पिता आदि लोक मे या काम-भोगो मे) अलिप्त/अनासक्त और (तप, सयम आदि मे) सुदृढ रहकर (धर्माचरण करते हैं)।

समग्र आसक्ति (गृद्धि) को (ज्ञपरिज्ञा मे जानकर और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से) छोडकर वह (धर्म के प्रति) प्रणत—समर्पित महामुनि होता है, (अथवा) वह महामुनि सयम मे या कर्मों को धुनने मे प्रवृत्त होता है।

(फिर वह महामुनि) सर्वथा सग (आसक्ति) का (त्याग) करके (यह भावना करे कि) 'मेरा कोई नही है', इसलिए 'मै अकेला हू।'

वह इस (तीर्थंकर के सघ) मे स्थित, (सावद्य प्रवृत्तियो से) विरत तथा (दशविध समाचारी मे) यतनाशील अनगार सब प्रकार से मुण्डित होकर (सयम पालनार्थ) पैदल विहार करता है, जो अल्पवस्त्र या निर्वस्त्र (जिनकल्पी) है, वह अनियत-

---

१ इसके बदले चूर्णि मे **'सचिक्खमाणे ओमोदरियाए'** पाठ मानकर अर्थ किया गया है—"सम्म चिट्ठमाणे सचिक्खमाणे"—अवमौदर्य (तप) की सम्यक् चेष्टा (प्रयत्न) करता हुआ। अथवा उसमे सम्यक् रूप से स्थिर होकर ।

२ इसके बदले पाठान्तर है—**'अदुवा पकत्थ, अदुवा पकप्प, अदुवा पगथ, पलिय पगथे'**।—अर्थ क्रमश यो है—"पलियं णाम कम्म अदुवेति अहवा अन्नेहि चेव जगार-मगारेहिं भिस कथेमाणो पगथमाणो।" —पलित का अर्थ कर्म है, (यहाँ उस साधक के पूर्व जीवन के करतब, धधे या किसी दुष्कृत्य के अर्थ मे कर्म शब्द है) अथवा दूसरो द्वारा 'तू ऐसा है, तू वैसा है,' इत्यादि रूप से बहुत भद्दी गालियो या अपशब्दो द्वारा निन्दित किया जाता हुआ । अथवा प्रकल्प = आचार-आचरण पर छीटाकशी करते हुए अथवा पूर्वकृत दुष्कर्म को बढा-चढा कर नुक्ताचीनी करते हुए ।

३ इसके बदले **'अहिरीमाणा'** पाठ है, अर्थ होता है—लज्जित न करने वाले। कही-कही **'हारीणा अहारीणा'** पाठ भी मिलता है। अर्थ होता है—हारी = मन हरण करने वाले, अहारी = मन हरण न करने वाले।

४. इसके बदले चूर्णि मे **'तज्झोसमाणे'** पाठ मानकर अर्थ किया गया है—त जहोदिट्ठ झोसेमाणे—उसे उद्देश्य या निर्दिष्ट के अनुसार सेवन-पालन करते हुए ।

वासी रहता है या अन्त-प्रान्तभोजी होता है, वह भी ऊनोदरी तप का सम्यक् प्रकार से अनुशीलन करता है।

(कदाचित्) कोई विरोधी मनुष्य उसे (रोषवश) गाली देता है, (डंडे आदि से) मारता-पीटता है, उसके केश उखाडता या खीचता है (अथवा अग-भग करता है), पहले किये हुए किसी घृणित दुष्कर्म की याद दिलाकर कोई बक-झक करता है (या घृणित व असभ्य शब्द-प्रयोग करके उसकी निन्दा करता है), कोई व्यक्ति तथ्यहीन (मिथ्यारोपात्मक) शब्दो द्वारा (सम्बोधित करता है), हाथ-पर आदि काटने का झूठा दोषारोपण करता है, ऐसी स्थिति मे मुनि सम्यक् चिन्तन द्वारा समभाव से सहन करे। उन एकजातीय (अनुकूल) और भिन्नजातीय (प्रतिकूल) परीषहो को उत्पन्न हुआ जानकर समभाव से सहन करता हुआ सयम मे विचरण करे। (साथ ही वह मुनि) लज्जाकारी (याचना, अचेल आदि) और अलज्जाकारी (शीत, उष्ण आदि) (दोनो प्रकार के परीषहो को सम्यक् प्रकार से सहन करता हुआ विचरण करे)।

१८५ सम्यग्दर्शन-सम्पन्न मुनि सब प्रकार की शकाएं छोडकर दु ख-स्पर्शों को समभाव से सहे।

हे मानवो ! धर्मक्षेत्र मे उन्हे ही नग्न (भावनग्न, निर्ग्रन्थ या निष्किचन) कहा गया है, जो (परीषह-सहिष्णु) मुनिधर्म मे दीक्षित होकर पुन गृहवास मे नही आते।

आज्ञा मे मेरा (तीर्थकर का) धर्म है, यह उत्तर (उत्कृष्ट) वाद/सिद्धान्त इस मनुष्यलोक मे मनुष्यो के लिए प्रतिपादित किया है।

विषय से उपरत साधक ही इस उत्तरवाद का आसेवन (आचरण) करता है।

वह कर्मो का परिज्ञान (विवेक) करके पर्याय (मुनि-जीवन/सयमीजीवन, से उसका क्षय करता है।

विवेचन—धूतवादी महामुनि—जो महामुनि विशुद्ध परिणामो से श्रुत-चारित्ररूप मुनि-धर्म अगीकार करके उसके आचरण मे आजीवन उद्यत रहते है, उनके लक्षण सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(१) धर्मोपकरणो का यत्नापूर्वक निर्ममत्वभाव से उपयोग करने वाला।
(२) परीषह-सहिष्णुता का अभ्यासी।
(३) समस्त प्रमादो का यत्नापूर्वक त्यागी।
(४) काम-भोगो मे या स्वजन-लोक मे अलिप्त/अनासक्त।
(५) तप, संयम तथा धर्माचरण मे दृढ।
(६) समस्त गृद्धि—भोगाकाक्षा का परित्यागी।
(७) संयम या धूतवाद के प्रति प्रणत/समर्पित।
(८) एकत्वभाव के द्वारा कामासक्ति या सग का सर्वथा त्यागी।
(९) द्रव्य एव भाव से सर्वप्रकार से मुण्डित।

(१०) संयमपालन के लिए अचेलक (जिनकल्पी) या अल्पचेलक (स्थविरकल्पी) साधना को स्वीकारने वाला।

(११) अनियत—अप्रतिबद्धविहारी।

(१२) अन्त-प्रान्तभोजी, अवमौदर्य तप सम्पन्न।

(१३) अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों का सम्यक् प्रकार से सहन करने वाला।[1]

अप्पलीयमाणे—इसका अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—'जो विषय-कषायादि से दूर रहता है।' लीन का अर्थ है—मग्न या तन्मय, इसलिए अलीन का अर्थ होगा अमग्न या अतन्मय। वृत्तिकार ने अप्रलीयमान का अर्थ किया है—'काम-भोगों में या माता-पिता आदि स्वजन-लोक में अनासक्त।[2]

'सव्वं गेहिं परिण्णाय'—इस पंक्ति का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—'समस्त गृद्धि-भोगाकांक्षा को दुःखरूप (ज्ञपरिज्ञा से) जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका परित्याग करे। चूर्णिकार 'गिद्धि' के स्थान पर 'गन्थ' शब्द मानकर इसी प्रकार अर्थ करते हैं।[3]

'अतियच्च सव्वओ संगं—यह वाक्य सर्वसंग-परित्यागरूप धूत का प्राण है। संग का अर्थ है—आसक्ति या ममत्वयुक्त सम्बन्ध। इसका सर्वथा अतिक्रमण करने का मतलब है इससे सर्वथा ऊपर उठना। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव किसी भी प्रकार का प्रतिबन्धात्मक सम्बन्ध संग को उत्तेजित कर सकता है। इसलिए सजीव (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि पूर्व सम्बन्धियों) और निर्जीव (सांसारिक भोगों आदि) पदार्थों के प्रति आसक्ति का सर्वथा त्याग करना धूतवादी महामुनि के लिए अनिवार्य है। किस भावना का आलम्बन लेकर संग-परित्याग किया जाय? इसके लिए शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—**'ण मह अत्थि'** मेरा कोई नहीं है, मैं (आत्मा) अकेला हूँ, इस प्रकार से एकत्वभावना का अनुप्रेक्षण करे।[4] आवश्यकसूत्र में संस्तार पौरुषी के सन्दर्भ में मुनि के लिए प्रसन्नचित्त और दैन्यरहित मन से इस प्रकार की एकत्व-भावना का अनुचिन्तन करना आवश्यक बताया गया है—

'एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।''[5]

—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और उपलक्षण से सम्यक्-चारित्र से युक्त एकमात्र शाश्वत आत्मा ही मेरा है। आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ बाह्य हैं, वे संयोगमात्र से मिले हैं।

'सव्वतो मुंडे'—केवल सिर मुँडा लेने से ही कोई मुण्डित या श्रमण नहीं कहला सकता, मनोजनित कषायों और इन्द्रियों को भी मूँडना (वश में करना) आवश्यक है। इसीलिए यहाँ

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९।

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९।
(ख) आचारांग चूर्णि आचा० मूलपाठ पृ० ६१ टिप्पण। (मुनि जम्बूविजयजी)

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९।
(ख) आचारांग चूर्णि आचा० मूलपाठ पृष्ठ ६१ टिप्पण

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९। ५. तुलना करें—नियमसार १०२। आतुर प्र० २६

'सर्वत मुण्ड' होना बताया है। स्थानागसूत्र मे क्रोधादि चार कषायो, पाच इन्द्रियो एव सिर से मुण्डित होने (विकारों को दूर करने) वाले को सर्वथा मुण्ड कहा गया है।[1]

वध, आक्रोश आदि परीषहो के समय धूतवादी मुनि का चिन्तन— वृत्तिकार ने स्थानागसूत्र का उद्धरण देकर पाच प्रकार से चिन्तन करके परीषह सहन करने की प्रेरणा दी है—

(१) यह पुरुष किसी यक्ष (भूत-प्रेत) आदि से ग्रस्त है।

(२) यह व्यक्ति पागल है।

(३) इसका चित्त दर्प से युक्त है।

(४) मेरे ही किसी जन्म मे किये हुए कर्म उदय मे आए है, तभी तो यह पुरुष मुझ पर आक्रोश करता है, बाधता है, हैरान करता है, पीटता है, सताप देता है।

(५) ये कष्ट समभाव मे सहन किये जाने पर एकान्तत कर्मों की निर्जरा (क्षय) होगी।[2]

'**तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमणा**'—इस पक्ति का भावार्थ स्पष्ट है। परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहन करता हुआ मुनि सयम मे विचरण करे। इससे पूर्व परीषह के दो प्रकार बताए गए हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। जिनके लिए '**एगतरे-अण्णतरे**' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। इस पक्ति मे भी पुन परीषह के दो प्रकार प्रस्तुत किए गए है—'**हिरी**' और '**अहिरीमणा**'। '**ह्री**' का अर्थ लज्जा है। जिन परीषहो से लज्जा का अनुभव हो, जैसे याचना, अचेल आदि वे '**ह्रीजनक**' परीषह कहलाते है तथा शीत, उष्ण आदि जो परीषह अलज्जाकारी है, उन्हें '**अह्रीमना**' परीषह कहते है। वृत्तिकार ने '**हारीणा**', '**अहारीणा**' इन दो पाठान्तरो को मानकर इनके अर्थ क्रमश यो किये है—

सत्कार, पुरस्कार आदि जो परीषह साधु के 'हारी' यानी मन को आह्लादित करने वाले है, वे 'हारी' परीषह तथा जो परीषह प्रतिकूल होने के कारण मन के लिए अनाकर्षक—अनिष्टकर हैं, वे 'अहारी' परीषह कहलाते है। धूतवादी मुनि को इन चारो प्रकार के परीषहो को समभावपूर्वक सहना चाहिए।[3]

'**चेच्चा सव्व विसोत्तिय**'—समस्त विस्रोतसिका का त्याग करके। '**विसोत्तिया**' शब्द प्रतिकूलगति, विमार्गगमन, मन का विमार्ग मे गमन, अपध्यान, दुष्टचिन्तन और शका—इन अर्थों मे व्यवहृत होता है।[4] यहाँ '**विसोत्तिय**' शब्द के प्रसगवश शका, दुष्टचिन्तन, अपध्यान या मन का विमार्गगमन—ये अर्थ हो सकते है। अर्थात् परीषह या उपसर्ग के आ

---

१ स्थानागसूत्र स्था० ५ उ० ३ सू० ४४३।

२. **पचहिं ठाणेहिं छउमत्थे उप्पन्ने परिसहोवसग्गे सम्म सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ तजहा—**

(१) जक्खाइट्ठे अय पुरिसे, (२) उम्मत्ते अय पुरिसे, (३) दित्तचित्ते अय पुरिसे, (४) मम च ण पुव्वभव वेयणीज्जाणि कम्माणि उदिण्णाणि भवंति, जन्न एस पुरिसे आउसइ बधइ, तिप्पइ, पिट्टइ, परितावेइ, (५) मम चण सम्म सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स एगतसो कम्मणिज्जरा हवइ। —स्था० स्थान ५ उ० १ सू० ७३

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक २१९। ४. 'पाइअसद्दमहण्णवो' पृष्ठ ७०७।

पड़ने पर मन मे जो आर्त्त-रौद्र-ध्यान आ जाते हैं, या विरोधी के प्रति दुश्चिन्तन होने लगता है, अथवा मन चचल और क्षुब्ध होकर असयम मे भागने लगता है, अथवा मन में कुशका पैदा हो जाती है कि ये जो परीषह और उपसर्ग के कष्ट मैं सह रहा हूँ, इसका शुभ फल मिलेगा या नही ?" इत्यादि समस्त विस्रोतसिकाओं को धूतवादी सम्यग्दर्शी मुनि त्याग दे।[1]

'अणागमणधम्मिणो'—जो साधक पचमहाव्रत और सर्वविरति चारित्र (सयम) की प्रतिज्ञा का भार जीवन के अन्त तक वहन करते हैं, परीषहो और उपसर्गों के समय हार खाकर पुन· गृहस्थलोक या स्वजनलोक—(गृह-ससार) की ओर नहीं लौटते, न ही किसी प्रकार की कामासक्ति को लेकर लौटना चाहते हैं, वे—'अणागमणधम्मी' कहलाते हैं। यहाँ शास्त्रकार उनके लिए कहते है—"एए भो णगिणावुत्ता, जे लोग सि अणागमणधम्मिणो।' अर्थात्—इन्ही परीषहसहिष्णु निष्किचन निर्ग्रन्थो को 'णग्नक' कहा गया है, जो लोक मे अनागमन-धर्मी है।[2]

'आणाए मामगं धम्म' का प्रचलित अर्थ है—'मेरा धर्म मेरी आज्ञा मे है।' परन्तु 'आज्ञा' शब्द को यहाँ तृतीयान्त मानकर वृत्तिकार इस वाक्य के दो अर्थ करते हैं—

(१) जिससे सर्वतोमुखी ज्ञापन किया जाये—बताया जाये, उसे आज्ञा कहते हैं, आज्ञा से (शास्त्रानुसार या शास्त्रोक्त आदेशानुसार) मेरे धर्म का सम्यक् अनुपालन करे। अथवा

(२) धर्माचरणनिष्ठ साधक कहता है—'एकमात्र धर्म ही मेरा है, अन्य सब पराया है, इसलिए मै आज्ञा से—तीर्थंकरोपदेश से उसका सम्यक् पालन करूंगा।[3]

'एस उत्तरवादे ' का तात्पर्य है—समस्त परीषहो और उपसर्गों के आने पर समभाव से सहना, मुनिधर्म से विचलित होकर पुन· स्वजनो के प्रति आसक्तिवश गृहवास मे न लौटना, काम-भोगो मे जरा भी आसक्त न होना, तप, सयम और तितिक्षा मे दृढ रहना, यह उत्तरवाद है। यही मानवो के लिए उत्कृष्ट—धूतवाद कहा है। इसमे लीन होकर इस वाद का यथा-निर्दिष्ट सेवन—पालन करता हुआ आदानीय-अष्ट-विधकर्म को, मूल उत्तर प्रकृतियो आदि सहित सागोपाग जानकर मुनि-पर्याय (श्रमण-धर्म) मे स्थिर होकर उस कर्म-समुदाय को आत्मा से पृथक् करे—उसका क्षय करे। यह शास्त्रकार का आशय है।[4]

एकचर्या-निरूपण

१८६. इह एगसिं एगचरिया होति। तत्थियतराइतरेहिं[5] कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेधावी परिव्वए सुब्भि अदुवा दुब्भि। अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति। ते फासे पुट्ठो धीरो अधियासेज्जासि त्ति बेमि।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२०। २ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२०।

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२०। ४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२०।

५. 'तत्थ इयरातरेहिं' पाठ मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—"इतराइतरं-इतरेतर कमो गहितो ण उड्डड्डयाहिं"—अन्यान्य या भिन्न-भिन्न कुलो से" ··· 'यहाँ इतरेतर शब्द से भिन्न-भिन्न कर्म या क्रम का ग्रहण किया गया है। यहाँ कर्म का अर्थ व्यवसाय या धधा है। विभिन्न धधो वाले परिवारो से · ·। अथवा भिक्षाटन के समय क्रमश भिन्न-भिन्न कुलो से" ··· बिना क्रम के अट-सट नही।

१८६. इस (निर्ग्रन्थ संघ) में कुछ लघुकर्मी साधुओं द्वारा एकाकी चर्या (एकल-विहार-प्रतिमा की साधना) स्वीकृत की जाती है।

उस (एकाकी-विहार-प्रतिमा) मे वह एकल-विहारी साधु विभिन्न कुलो से शुद्ध-एषणा और सर्वेषणा (आहारादि की निर्दोष भिक्षा) मे सयम का पालन करता है।

वह मेधावी (ग्राम आदि मे) परिव्रजन (विचरण) करे।

सुगन्ध से युक्त या दुर्गन्ध से युक्त (जैसा भी आहार मिले, उसे समभाव से ग्रहण या सेवन करे) अथवा एकाकी विहार साधना से भयकर शब्दो को सुनकर या भयकर रूपो को देखकर भयभीत न हो।

हिंस्र प्राणी तुम्हारे प्राणो को क्लेश (कष्ट) पहुंचाएँ, (उससे विचलित न हो)।

उन स्पर्शों (परीषहजनित-दुःखो) का स्पर्श होने पर धीर मुनि उन्हे सहन करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पूर्व सूत्रो मे धूतवाद का सम्यक् निरूपण कर उसे **'उत्तरवाद'**—श्रेष्ठ आदर्श सिद्धान्त के रूप मे प्रस्थापित किया है। धूतवादी का जीवन कठोर साधना का मूर्तिमत रूप है, अनासक्ति की चरम परिणति है। यह प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है।

'सुद्धेसणाए सव्वेसणाए'—ये दो शब्द धूतवादी मुनि के आहार-सम्बन्धी सभी एषणाओ से सम्बन्धित है। एषणा शब्द यहाँ तृष्णा, इच्छा, प्राप्ति या लाभ अर्थ मे नही है, अपितु साधु की एक समिति (सम्यक्प्रवृत्ति) है, जिसके माध्यम से वह निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है। अत **'एषणा'** शब्द यहाँ निर्दोष आहारादि (भिक्षा) की खोज करना, निर्दोष भिक्षा या उसका ग्रहण करना, निर्दोष भिक्षा का अन्वेषण-गवेषण करना, इन अर्थों मे प्रयुक्त है। एषणा के मुख्यत तीन प्रकार है—(१) गवेषणैषणा, (२) ग्रहणैषणा, (३) ग्रासैषणा या परिभोगैषणा। गवेषणैषणा के ३२ दोष है—१६ उद्गम के हैं, १६ उत्पादना के है। ग्रहणैषणा के १० दोष हैं और ग्रासैषणा के ५ दोष है। इन ४७ दोषो से बचकर आहार, धर्मोपकरण, शय्या आदि वस्तुओ का अन्वेषण, ग्रहण और उपभोग (सेवन) करना शुद्ध एषणा कहलाती है। आहारादि के अन्वेषण से लेकर सेवन करने तक मुनि की समस्त एषणाएँ शुद्ध होनी चाहिए, यही इस पक्ति का आशय है।[1]

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २२०, (ख) उत्तरा० अ० २४ गा० ११-१२,
(ग) पिण्डनिर्युक्ति गा० ९२-९३, गा० ४०८
पिण्डनिर्युक्ति मे औद्देशिक आदि १६ उद्गम-गवेषणा के दोषो का तथा १६ उत्पादना-गवेषणा के दोषो (धाइ-दुई-निमित्ते आदि) का वर्णन है। शकित आदि १० ग्रहणैषणा (एषणा) के दोष है तथा सयोजना अप्रमाण आदि ५ दोष ग्रासैषणा के है; कुल मिलाकर एषणा के ये ४७ दोष हैं। उद्गम दोषो का वर्णन स्थानाग (९।६२) उत्पादना दोषो का निशीथ (१२) दशवैकालिक (५) तथा सयोजना दोषो का वर्णन भगवती (७।१) आदि स्थानो पर भी मिलता है। विस्तार के लिए देखे इसी सूत्र मे पिंडैषणा अध्ययन सूत्र ३२४ का विवेचन।

एकचर्या और भयंकर परीषह-उपसर्ग—धूतवादी मुनि कर्मों को शीघ्र क्षय करने हेतु एकल विहार प्रतिमा अंगीकार करता है। यह साधना सामान्य मुनियों की साधना से कुछ विशिष्टतर होती है। एकचर्या की साधना में मुनि की सभी एषणाएँ शुद्ध हों, इसके अतिरिक्त मनोज्ञ—अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्राप्त होने पर राग और द्वेष न करे। एकाकी साधु को रात्रि में जन-शून्य स्थान या श्मशान आदि में कदाचित् भूत-प्रेतों, राक्षसों के भयंकर रूप दिखाई दें या शब्द सुनाई दें या कोई हिंस्र या भयंकर प्राणी प्राणों को क्लेश पहुँचाएँ, उस समय मुनि को उन कष्टों का स्पर्श होने पर तनिक भी क्षुब्ध न होकर धैर्य से समभावपूर्वक सहना चाहिए; तभी उसके पूर्व संचित कर्मों का धूनन-क्षय हो सकेगा।[1]

॥ बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

उपकरण-लाघव

१८७. एतं[2] खु मुणी आदाणं सदा सुअक्खातधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता[3]।

जे अचेले परिवुसिते तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवति—परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि[4], परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि।

---

१ आचा० शीला टीका पत्रांक २२०।

२ चूर्णिमान्य पाठान्तर इस प्रकार है—'**एस मुणी आदाणं**' अर्थ—"एसं त्ति जं भणितं 'ते फा० पुट्ठो अहियासए' एस तव तित्थगराओ आणा। एसा ते जा भाणिता वक्खमाणा य, मुणी भगवं सिस्सामंतणं वा, आणप्पत इति आणा, जं भणितं उवदेसो।"—यहाँ 'एस' से तात्पर्य है—जो (अभी-अभी) कहा गया था, कि उन स्पर्शों के आ पड़ने पर मुनि समभाव से सहन करे या आगे कहा जाएगा, यह तुम्हारे लिए तीर्थंकरों की आज्ञा है—आज्ञापन है—उपदेश है। मुणी शब्द मुनि के लिए सम्बोधन का प्रयोग है कि 'हे मुनि भगवान्!' अथवा शिष्य के लिए सम्बोधन है—"हे मुने!" 'आताणं आयाणं णाणातियं' (अथवा) आदान का अर्थ है—(तीर्थंकरों की ओर से) ज्ञानादिरूप आदान—विशेष सर्वतोमुखी दान है।

३ चूर्णिकार ने '**विधूतकप्पो णिज्झोसतित्ता**' पाठ मानकर अर्थ किया है—"णियत णिच्छितं वा झोसइत्ता, अहवा जुसी प्रीतिसेवणयो णियत णिच्छित्तं वा झोसतिता, जं भणितं णिसेवतिता फासइत्ता पालयित्ता।"—नियत या निश्चित रूप से मुनि आदान को (उपकरणादि को) कम करके आदान = कर्म को सूखा दे—हटा दे। अथवा जुष धातु प्रीति और सेवन के अर्थ में भी है। नियत किये हुए या निश्चित किये हुए संकल्प या जो कहा है—उस वचन का मुनि सेवन—पालन या स्पर्श करे।

४ चूर्णि में 'अवकरिसणं वोक्कसणं, णियमणं णियमिसामि उवरिं पाउरणं'। इस प्रकार अर्थ किया गया है।—अपकर्षण (कम करने) को व्युत्कर्षण कहते हैं। ऊपर ओढ़ने के वस्त्र को पहनूँगा। इससे मालूम होता है—चूर्णि में '**वोक्कसिस्सामि णियसिस्सामि पाउणिस्सामि**' पाठ अधिक है।

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीतफासा फुसंति तेउफासा फुसंति, दंस-मसगफासा फुसंति, एगतरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अधियासेति अचेले लाघवं[1] आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागए भवति। जहेतं भगवता पवेदितं। तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो[2] सव्वत्ताए सम्मत्तमेव[3] समभिजाणिया।

एवं तेसिं महावीराणं चिरराइं[4] पुव्वाइं वासाइं रीयमाणाणं दवियाणं पास अधियासियं।

१८८, आगतपण्णाणाणं[5] किसा बाहा भवंति पयणुए य मंससोणिए। विस्सेणिं कट्टु परिण्णाय[6] एस तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि।

१८७ सतत सु-आख्यात (सम्यक् प्रकार से कथित) धर्म वाला विधूतकल्पी (आचार का सम्यक् पालन करने वाला) वह मुनि आदान (मर्यादा से अधिक वस्त्रादि) का त्याग कर देता है।

जो भिक्षु अचेलक रहता है, इस भिक्षु को ऐसी चिन्ता (विकल्प) उत्पन्न नही होती कि मेरा वस्त्र सब तरह से जीर्ण हो गया है, इसलिए मैं वस्त्र की याचना करूँगा, फटे वस्त्र को सीने के लिए धागे (डोरे) की याचना करूँगा, फिर सूई की याचना करूँगा, फिर उस वस्त्र को सांधूँगा, उसे सीऊंगा, छाटा है, इसलिए दूसरा टुकड़ा जोडकर बडा बनाऊँगा; बड़ा है, इसलिए फाड़कर छोटा बनाऊँगा, फिर उसे पहनूँगा और शरीर को ढकूँगा।

अथवा अचेलत्व-साधना मे पराक्रम करते हुए निर्वस्त्र मुनि को बार-बार तिनकों (घास के तृणो) का स्पर्श, सर्दी और गर्मी का स्पर्श तथा डास और मच्छरो का स्पर्श पीडित करता है।

---

१. चूर्णि मे इसके बदले पाठ है—'**लाघवियं आगमेमाणे**' इसका अर्थ नागार्जुनसम्मत अधिक पाठ मानकर किया गया है—''एवं खुल से उवगरणलाघवियं तवं कम्मक्खयकरणं करेइ,''—इस प्रकार वह मुनि उपकरण लाघविक (उपकरण-अवमौदर्य) कर्मक्षयकारक तप करता है।

२. चूर्णि मे नागार्जुन सम्मत अधिक पाठ दिया गया है—'**सव्वं सव्वं चेव (सव्वत्थेव ?) सव्वकाल पि सव्वेहि** '—सबको सर्वथा सर्वकाल मे, सर्वात्मना जानकर।

३ '**सम्मत्तमेव समभिजाणित्ता**' पाठ मानकर चूर्णि मे अर्थ किया है—पसत्थो भावो सम्मत्त · सम्म अभि-जाणित्ता—समभिजाणित्ता, अहवा समभावो सम्मत्तमिति। सम्मत्त समभिजाणमाणे 'आराधओ भवति', इति वक्कसेस।'—'सम्मत्त' प्रशस्तभाव का नाम है। प्रशस्तभावपूर्वक सम्यक् प्रकार से जान अथवा सम्मत्त का अर्थ समभाव है। 'समभाव को सम्यक् जानता हुआ', आराधक होता है (वाक्यशेष)।

४ '**चिरराय**' पाठान्तर मानकर चूर्णि ने अर्थ किया है—'**चिरराइ ज भणित जावज्जीवाए**'।

५ चूर्णि मे इसका अर्थ इस प्रकार है—**आगत उवलद्ध जिस णाण पण्णाणं एवं तेसिं महावीराणं आगतपण्णाणाणं** जिन्हे अत्यन्त ज्ञान (प्रज्ञान) आगत—उपलब्ध हो गया है, उन आगतप्रज्ञान महावीरो की।

६. '**परिण्णाय**' का भावार्थ चूर्णि मे इस प्रकार है—'**एगाए जाणितुं बितियाए पच्चक्खाएत्ता** एक (ज्ञ) परिज्ञा से जानकर, दूसरी (प्रत्याख्यानपरिज्ञा) से प्रत्याख्यान—त्याग करके'"

अचेलक मुनि उनमे से एक या दूसरे, नाना प्रकार के स्पर्शों (परीषहों) को (समभाव से) सहन करे।

अपने आपको लाघवयुक्त (द्रव्य और भाव से हलका) जानता हुआ वह अचेलक एव तितिक्षु भिक्षु) तप (उपकरण-ऊनोदरी एव कायक्लेश तप) से सम्पन्न होता है।

भगवान ने जिस रूप मे अचेलत्व का प्रतिपादन किया है उसे उसी रूप में जान-समझकर, सब प्रकार से सर्वात्मना सम्यक्त्व/सत्व जाने अथवा समत्व का सेवन करे।

जीवन के पूर्व भाग मे प्रव्रजित होकर चिरकाल तक (जीवनपर्यन्त) संयम में विचरण करने वाले, चारित्र-सम्पन्न तथा सयम में प्रगति करने वाले महान् वीर साधुओ ने जो (परीषहादि) सहन किये है, उसे तू देख।

१८८. प्रज्ञावान् मुनियो की भुजाएँ कृश (दुर्बल) होती हैं, (तपस्या से तथा परीषह सहन से) उनके शरीर मे रक्त-मास बहुत कम हो जाते हैं।

ससार-वृद्धि की राग-द्वेष-कषायरूप श्रेणी—सतति को (समत्व की) प्रज्ञा से जानकर (क्षमा, सहिष्णुता आदि से) छिन्न भिन्न करके वह मुनि (ससार-समुद्र से) तीर्ण, मुक्त एव विरत कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पिछले उद्देशक मे कर्म-धूनन के सदर्भ मे स्नेह-त्याग तथा सहिष्णुता का निर्देश किया गया था, सहिष्णुता की साधना के लिए ज्ञानपूर्वक देह-दमन, इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है। वस्त्र आदि उपकरणो की अल्पता भी अनिवार्य है। इसलिए तप, सयम, परीषह सहन आदि से उसे शरीर और कषाय को कृश करके लाघव—अल्पीकरण का अभ्यास करना चाहिए। धूतवाद के सदर्भ मे देह-धूनन करने का उत्तम मार्ग इस उद्देशक में बताया गया है।

'एव खु मुणी आदाणं'—यह वाक्य बहुत ही गम्भीर है। इसमे से अनेक अर्थ फलित होते है। वृत्तिकार ने 'आदान' शब्द के दो अर्थ सूचित किये हैं—जो आदान—ग्रहण किया जाए, उसे आदान कहते हैं, कर्म। अथवा जिसके द्वारा कर्म का ग्रहण (आदान) किया जाए, वह कर्मों का उपदान आदान है। वह आदान है, धर्मोपकरण के अतिरिक्त आगे की पक्तियो में कहे जाने वाले वस्त्रादि। इस (पूर्वोक्त) कर्म को मुनि क्षय करके अथवा (आगे कहे जाने वाले धर्मोपरण से अतिरिक्त वस्त्रादि का मुनि परित्याग करे।[1]

चूर्णिकार के मतानुसार यहाँ **'एस मुणी आदाणं'** पाठ है। 'मुणी' शब्द को उन्होने सम्बोधन का रूप माना है। 'एस' शब्द के उन्होने दो अर्थ फलित किये हैं—(१) यह जो अभी-अभी कहा गया था—परीषहादि-जनित नाना दु खो का स्पर्श होने पर उन्हे समभाव से सहन करे। (२) जो आगे कहा जायगा, हे मुनि! तुम्हारे लिए तीर्थंकरो की आज्ञा-आज्ञापन या उपदेश है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १८०।

आदान शब्द का एक अर्थ ज्ञानादि भी है, जो तीर्थंकरो की ओर से विशेष रूप से सर्वतोमुखी दान है।

तात्पर्य यह है कि आदान का अर्थ, आज्ञा, उपदेश या सर्वतोमुखी ज्ञानादि का दान करने पर सारे वाक्य अर्थ होगा—हे मुने! विधूत के आचार मे तथा सु-आख्यात धर्म मे सदा तीर्थंकरो की यह (पूर्वोक्त या वक्ष्यमाण) आज्ञा, उपदेश या दान है, जिसे तुम्हे भलिभाँति पालन-सेवन करना चाहिए। आदान का अर्थ कर्म या वस्त्रादि उपकरण करने पर अर्थ होगा—स्वाख्यात धर्मा और विधूतकल्प मुनि इस (पूर्वोक्त या वक्ष्यमाण) कर्म या कर्मों के उपादन रूप वस्त्रादि का सदा क्षय या परित्याग करे।[1]

णिज्झोसइत्ता के भी विभिन्न अर्थ फलित होते हैं। नियत या निश्चित (कर्म या पूर्वोक्त स्वजन, उपकरण आदि का) त्याग करके। जुष् धातु प्रीति पूर्वक सेवन अर्थ मे प्रयुक्त होता है, वहाँ **णिज्झोसइत्ता** का अर्थ होगा—जो कुछ पहले (परिषहादि सहन, स्वजनत्याग आदि के सम्बन्ध मे) कहा गया है, उस नियत या निश्चित उपदेश या वचन का मुनि सेवन—पालन या स्पर्शन करे।[2]

'**जेअचेले परिवुसिते**'—इस पंक्ति मे '**अचेले**' शब्द का अर्थ विचारणीय है। **अचेल के** दो अर्थ मुख्यतया होते है—अवस्त्र और अल्पवस्त्र।[3] नञ् समास दोनो प्रकार का होता—निषेधार्थक और अल्पार्थक। निषेधार्थक अचेल शब्द जगल मे निर्वस्त्र रहकर साधना करने वाले जिनकल्पी मुनि का विशेषण है और अल्पार्थक अचेल शब्द स्थविरकल्पी मुनि के लिए प्रयुक्त होता है, जो सघ मे रहकर साधना करते है। दोनो प्रकार के मुनियो को साधक अवस्था मे कुछ धर्मोपकरण रखने पडते हैं। यह बात दूसरी है कि उपकरणो की सख्या मे अन्तर होता है। जगलो मे निर्वस्त्र रहकर साधना करने वाले जिनकल्पी मुनियो के लिए शास्त्र मे मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण ही विहित है। इन इन उपकरणो मे भी कमी की जा सकती है। अल्पतम उपककणो से काम चलाना कर्म-निर्जराजनक अवमोदर्य (ऊनोदरी) तप है। किन्तु दोनो कोटि के मुनियो को वस्त्रादि उपकरण रखते हुए भी उनके सम्बन्ध मे विशेष चिन्ता, आसक्ति या उनके वियोग मे आर्तध्यान या उद्विग्नता नही होनी चाहिए।[4] कदाचित् वस्त्र फट जाए या समय पर शुद्ध—ऐषणिक वस्त्र न मिले, तो भी उसके लिए विशेष चिन्ता या आर्तध्यान-रौद्रध्यान नही होना चाहिए। अगर आर्तरौद्रध्यान होगा या चिन्ता होगी तो उसकी विधूत-साधना खण्डित हो जायेगी। कर्मधूत की साधना तभी होगी, जब एक ओर स्वेच्छा से व अत्यन्त अल्प वस्त्रादि उपकरण रखने का सकल्प करेगा, दूसरी ओर से अल्प वस्त्रादि होते हुए भी आने वाले परीषहो (रति-अरति, शीत, तृण स्पर्श, दशमशक आदि)

---

१. आचाराग चूर्णि आचा० मूल पाठ टिप्पण पृ० ६३।

२. आचाराग चूर्णि आचा० मूल पाठ टिप्पण पृ० ६३।

३ जैसे अज्ञ का अर्थ अल्पज्ञ होता है न कि ज्ञान-शून्य, वैसे ही यहाँ '**अचेल**' का अर्थ अल्पचेल (अल्प वस्त्र वाला) भी होता है।—आचा० शीला० टीका पत्राक २२१।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२१।

को समभावपूर्वक सहेगा, मन मे किसी प्रकार की उद्विग्नता, क्षोभ, चचलता या अपध्यान नही आने देगा। अचेल मुनि को किस-किस प्रकार की चिन्ता, उद्विग्नता या अपध्यानमग्नता नही होनी चाहिए ? इस सम्बन्ध मे विविध विकल्प **परिजुण्णे मे वत्थे'** से लेकर '**दस मसगफासा फुसंति'** तक की पक्तियों मे प्रस्तुत किये है। '**परिवुसिते'** शब्द से दोनो कोटि के मुनियो का हर हालत मे सदैव सयम मे रहना सूचित किया गया है। यही इस सूत्र का आशय है।[1]

लाघव आगममणो'—मुनि परिषहो और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से अविचल होकर क्यो सहन करे ? इसमे उसे क्या लाभ है ? इसी शका के समाधान के रूप मे शास्त्रकार उपर्युक्त पक्ति प्रस्तुत करते है ? लाघव का अर्थ यहाँ लघुता या हीनता नही है, अपितु लघु (भार मे हलका) का भाव 'लाघव' यहाँ विवक्षित है। वह दो प्रकार से होता है—द्रव्य से और भाव से। द्रव्य के उपकरण-लाघव और भाव से कर्मलाघव। इन दोनो प्रकार से लाघव समझ कर मुनि परिषहो तथा उपसर्गो को सहन करे। इस सम्बन्ध मे नागार्जुन-सम्मत जो पाठ है, उसके अनुसार अर्थ होता है—'इस प्रकार उपकरण-लाघव से कर्मक्षयजनक तप हो जाता है।' साथ ही परिषह-सहन के समय तृणादि-स्पर्श या शीत-उष्ण, दश-मशक आदि स्पर्शों को सहने से कायक्लेश रूप तप होता है।[2]

तमेव समभिजाणिया—यह पक्ति लाघवधूत का हृदय है। जिस प्रकार से भगवान महावीर ने पूर्व मे जो कुछ आदेश-उपदेश (उपकरण-लाघव, आहार-लाघव आदि के सम्बन्ध मे) दिया है, उसे उसी प्रकार से सम्यक् रूप मे जानकर—कैसे जानकर ? **सर्वतः सर्वात्मना—** वृत्तिकार ने इसका स्पष्टीकरण किया है—सर्वत यानी द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव से। **द्रव्यत** — आहार, उपकरण आदि के विषय मे, **क्षेत्रत**—ग्राम, नगर आदि मे, **कालत** —दिन, रात, दुर्भिक्ष आदि समय मे सर्वात्मना, **भावत** —मन मे कृत्रिमता, कपट, वचकता आदि छोडकर।[3]

सम्मत्त[4]—सम्यक्त्व के अर्थ है—प्रशस्त, शोभन, एक या सगत तत्त्व। इस प्रकार के सम्यक्त्व को सम्यक् प्रकार से, निकट से जाने। अथवा समत्त का समत्व रूप हो तो, तब वाक्यार्थ होगा- इस प्रकार के समत्व-समभाव को सर्वत सर्वात्मना प्रशस्त भावपूर्वक जानता हुआ या जानकर (आराधक होता है)। आचारागचूर्णि मे ये दोनो अर्थ किये गये हैं।[5] तात्पर्य यह है कि उपकरण-लाघव आदि मे भी समभाव रहे, दूसरे साधको के पास अपने से न्यूनाधिक उपकरणादि देखकर उनके प्रति घृणा, द्वेष, तेजोद्वेष, प्रतिस्पर्धा, रागभाव, अवज्ञा आदि मन मे न आवे, यही समत्व को सम्यक् जानना है। इसी शास्त्र मे बताया गया है—जो साधक

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २२१।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २२२।
(ख) आचारागचूर्णि मे नागार्जुन-सम्मत पाठ और व्याख्या।

३. आचा० शीला० टीका पत्राक २२२।

४ आचारांगवृत्ति मे सम्यक्त्व के पर्यायवाची शब्द विषयक श्लोक—

"प्रशस्त. शोभनश्चैव, एकः सगत एव च।
इत्यंतेरुपसृष्टस्तु भावः सम्यक्त्वमुच्यते ॥"

५. देखिये, आचाराग मूलपाठ के पादटिप्पण मे पृ० ६४।

तीन वस्त्र-युक्त, दो वस्त्र-युक्त, एक वस्त्र-युक्त या वस्त्ररहित रहता है, वह परस्पर एक दूसरे की अवज्ञा, निन्दा, घृणा न करे, क्योकि ये सभी जिनाज्ञा मे है।[1] वस्त्रादि के सम्बन्ध मे समान आचार नही होता, उसका कारण साधको का अपना-अपना सहनन, धृति, सहनशक्ति आदि है, इसलिए साधक अपने से विभिन्न आचार वाले साधु को देखकर उसकी अवज्ञा न करे, न ही अपने को हीन माने। सभी साधक यथाविधि कर्मक्षय करने के लिए सयम मे उद्यत है, ये सभी जिनाज्ञा मे है, इस प्रकार जानना ही सम्यक् अभिज्ञात करना है।

अथवा उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सम्भव है—उसी लाघव को सर्वत (द्रव्यादि से) सर्वात्मना (नामादि निक्षेपो से) निकट से प्राप्त (आचरित) करके सम्यक्त्व को ही सम्यक् प्रकार से जान ले—अर्थात् तीर्थकरो एव गणधरो के द्वारा प्रदत्त उपदेश से उसका सम्यक् आचरण करे।

'एव तेसिं अधियासिय'—इस पक्ति के पीछे आशय यह है कि यह लाघव या परीषह-सहन आदि धुतवाद का उपदेश अव्यवहार्य या अशक्य अनुष्ठान नही है। यह बात साधको के दिल मे जमाने के लिए इस पक्ति मे बताया गया है कि इस प्रकार अचेलत्वपूर्वक लाघव मे रहकर विविध परीषह जिन्होने कई पूर्व (वर्षों) तक (अपनी दीक्षा से लेकर जीवन पर्यन्त) सहे है तथा सयम मे दृढ रहे है, उन महान् वीर मुनिवरो (भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक के मुक्तिगमन योग्य मुनिवरो) को देख।[2]

'किसा बाहा भवति'- इस वाक्य के वृत्तिकार ने दो अर्थ किए है—(१) तपस्या तथा परीषह-सहन से उन प्रज्ञा-प्राप्त (स्थितप्रज्ञ) मुनियो की बाहे कृश—दुर्बल हो जाती है, (२) उनकी बाधाएँ—पीडाएँ कृश—कम हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कर्म-क्षय के लिए उद्यत प्रज्ञावान मुनि के लिए तप या परीषह-सहन केवल शरीर को ही पीडा दे सकते है, उनके मन को वे पीडा नही दे सकते।[3]

'विस्सेणि कट्टु' का तात्पर्य वृत्तिकार ने यह बताया है कि ससार-श्रेणी—ससार मे अवतरित करने वाली राग-द्वेष-कषाय सतति (शृ खला) है, उसे क्षमा आदि से विश्रेणित करके—तोडकर।[4]

'परिण्णाय' का अर्थ है—समत्व भावना से जान कर। जैसे भगवान् महावीर के धर्म

---

१ **जोऽवि दुवत्थतिवत्थो एगेण अचेलगो व सथरइ।**
ण हु ते हीलति पर, सव्वेऽवि य ते जिणाणाए ॥१॥
जे खलु विसरिसकप्पा सघयणधिइआदि कारण पप्प।
णऽव मन्नइ, ण य हीण अप्पाण मन्नई तेहि ॥२॥
सव्वेऽवि जिणाणाए जहाविहि कम्म-खणण-अट्ठाए।
विहरति उज्जया खलु, सम्म अभिजाणई एव ॥३॥

—आचा० शीला० टीका पत्राक २२२।

२ आचा० शीला० टीका पत्राक २२२। ३ आचा० शीला० टीका पत्राक २२२।

४ आचा० शीला० टीका पत्राक २२३।

शासन मे कोई जिनकल्पी (अवस्त्र) होना है, कोई एक वस्त्रधारी, कोई द्विवस्त्रधारी और कोई त्रिवस्त्रधारी, कोई स्थविरकल्पी मासिक उपवास (मासक्षपण) करता है, कोई अर्द्धमासिक तप, इस प्रकार न्यूनाधिक तपश्चर्याशील और कोई प्रतिदिन भोजी भी होते है। वे सब तीर्थंकर के वचनानुसार सयम पालन करते हैं इनकी परस्पर निन्दा या अवज्ञा न करना ही समत्व भावना है, जो ऐसा करता है वही समत्वदर्शी है।[1]

असंदीन-द्वीप तुल्य धर्म

१८९. विरयं भिक्खुं रीयंतं चिररातोसियं अरती तत्थ किं विधारए? संधेमाणे समुट्ठिते।

जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए। ते अणवकंखमाणा[2] अणतिवातेमाणा दइता[3] मेधाविणो पंडिता।

एवं तेसिं भगवतो अणुट्ठाणे जहा से दियापोते। एवं ते सिस्सा दिया य रातो य अणुपुव्वेण वायित त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

१८९ चिरकाल से मुनिधर्म मे प्रव्रजित (स्थित), विरत और (उत्तरोत्तर) सयम मे गतिशील भिक्षु को क्या अरति (सयम मे उद्विग्नता) धर दबा सकती है?

(प्रतिक्षण आत्मा के साथ धर्म का) सधान करने वाले तथा (धर्माचरण मे) सम्यक् प्रकार से उत्थित मुनि को (अरति अभिभूत नही कर सकती)।

जेसे असदीन (जल मे नही डूबा हुआ) द्वीप (जलपोत-यात्रियो के लिए) आश्वासन-स्थान होता है, वैसे ही आर्य (तीर्थंकर) द्वारा उपदिष्ट धर्म (ससार—समुद्र पार करने वालो के लिए आश्वासन-स्थान) होता है।

मुनि (भोगो की) आकाक्षा तथा (प्राणियो का) प्राण-वियोग न करने के कारण लोकप्रिय (धार्मिक जगत् मे आदरणीय), मेधावी और पण्डित (पापो से दूर रहने वाले) कहे जाते है।

जिस प्रकार पक्षी के बच्चे का (पख आने तक उनके माता-पिता द्वारा) पालन किया जाता है, उसी प्रकार (भगवान् महावीर के) धर्म मे जो अभी तक अनुत्थित हैं (जिनकी बुद्धि अभी तक धर्म मे सस्कारबद्ध नही हुई है), उन शिष्यो का

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २२३।

२ 'ते अणवकखमाणा' के बदले 'ते अवयमाणा' पाठ मानकर चूर्णि मे अर्थ किया गया है—'अवदमाणा मुम वात'=मृषावाद न बोलते हुए'।

३. इसके बदले चूर्णि मे अर्थ सहित पाठ है—चत्तोवगरणसरीरा दियत्ता, अहवा साहुवग्गस्स सन्निवग्गस्स वा चियत्ता ज भणित सम्मता।—दियत्ता का अर्थ है—जिन्होने उपकरण और शरीर (ममत्व) का त्याग कर दिया है। अथवा दयिता पाठ मानकर अर्थ—साधुवर्ग के या सज्ञी जीवो के या श्रावक वर्ग के प्रिय होते हैं, जो कुछ कहते हैं, उसमे वे (साधु, श्रावक) सम्मत हो जाते है।

वे—(महाभाग आचार्य) क्रमश. वाचना आदि के द्वारा दिन-रात पालन—सवर्द्धन करते है। ऐसा—मैं कहता हूँ।

विवेचन—दीर्घ काल तक परीषह एव सकट रहने के कारण कभी-कभी ज्ञानी और वैरागी श्रमण का चित्त भी चचल हो सकता है, उसे सयम मे अरति हो सकती है। इसकी सम्भावना तथा उसका निराकरण-बोध प्रस्तुत सूत्र मे है।

अरती तत्थ किं विधारए ?—इस वाक्य के वृत्तिकार ने दो फलितार्थ दिए है—(१) जो साधक विषयो को त्याग कर मोक्ष के लिए चिरकाल से चल रहा है, बहुत वर्षों से सयम-पालन कर रहा है, क्या उसे भी अरति स्खलित कर सकती है ? हाँ, अवश्य कर सकती है, क्योंकि इन्द्रियाँ दुर्बल होने पर भी दुर्दमनीय होती है, मोह की शक्ति अचिन्त्य है, कर्म-परिणति क्या-क्या नही कर देती ? सम्यग्ज्ञान मे स्थित पुरुष को भी सघन, चीकने, भारी एव वज्र-सारमय कर्म अवश्य ही पथ या उत्पथ पर ले जाते है। अत ऐसे भुलावे मे न रहे कि 'मैं वर्षों से सयम-पालन कर रहा हूँ, चिरदीक्षित हूँ, अरति (सयम मे उद्विग्नता) मेरा क्या करेगी ? क्या बिगाड देगी ?, इस पद का दूसरा अर्थ है, (२) वाह ! क्या ऐसे पुराने मजे हुए परिपक्व साधक को भी अरति धर दबाएगी ? नही धर दबा सकती।[1] प्रथम अर्थ अरति के प्रति सावधान रहने की सूचना देता है, जबकि दूसरा अर्थ अरति की तुच्छता बताता है।

'दीवे असंदीणे'—वृत्तिकार **'दीव'** शब्द के **'द्वीप'** और **'दीप'** दोनो रूप मानकर व्याख्या करते है। द्वीप नदी-समुद्र आदि के यात्रियो को आश्रय देता है और दीप अन्धकाराच्छन्न पथ के ऊबड-खाबड स्थानो से बचने तथा दिशा बताने के लिए प्रकाश देता है। दोनो ही दो-दो प्रकार के होते है—(१) सदीन और (२) असदीन। **'सदीन द्वीप'** वह है—जो कभी पानी मे डूबा रहता है, कभी नही और **'संदीन दीप'** वह है जिसका प्रकाश बुझ जाता है।

'असंदीन द्वीप' वह है, जो कभी पानी मे नही डूबता, इसी प्रकार **'असंदीन दीप'** वह है जो कभी बुझता नही, जैसे सूर्य, चन्द्र आदि का प्रकाश। अध्यात्म क्षेत्र मे सम्यक्त्वरूप भाव द्वीप या ज्ञानरूप दीप भी धर्म रूपी जहाज मे बैठकर ससार-समुद्र पार करने वाले मोक्ष-यात्रियो को आश्वासनदायक एव प्रकाशदायक होता है।[2]—प्रतिपाती सम्यक्त्व सदीन भाव-द्वीप है, जैसे औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और अप्रतिपाती (क्षायिक) सम्यक्त्व असदीन भाव-द्वीप है। इसी तरह सदीन भाव दीप श्रुत ज्ञान है और असदीन भाव-दीप केवल-ज्ञान या आत्म-ज्ञान है। आर्योपदिष्ट धर्म के क्षेत्र मे असदीन भावद्वीप क्षायिक सम्यक्त्व है और असदीन भावदीप आत्म-ज्ञान या केवलज्ञान है। अथवा विशिष्ट साधुपरक व्याख्या करने पर—भावद्वीप या भावदीप विशिष्ट असदीन साधु होता है, जो ससार-समुद्र मे डूबते हुए यात्रियो या धर्म-जिज्ञासुओ को चारो ओर कर्मास्रव रूपी जल से सुरक्षित धर्मद्वीप की शरण मे लाता है। अथवा सम्यग्ज्ञान से उत्थित परीषहोपसर्गों से अक्षोभ्य साधु असदीन दीप है, जो मोक्षयात्रियो को शास्त्रज्ञान का प्रकाश देता रहता है।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २२४। २ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२४।

अथवा धर्माचरण के लिए सम्यक् उद्यत साधु अरति से बाधित नहीं होता, इस सन्दर्भ मे उस धर्म के सम्बन्ध मे प्रश्न उठने पर यह पक्ति दी गयी कि असदीन द्वीप की तरह वह आर्य-प्रदेशित धर्म भी अनेक प्राणियो के लिए सदैव शरणदायक एव आश्वासन हेतु होने से असदीन है। आर्य-प्रदेशित (तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट) धर्म कष, ताप, छेद के द्वारा सोने की तरह परीक्षित है, या कुतर्कों द्वारा अकाट्य एव अक्षोभ्य है, इसलिए यह धर्म असदीन है।[1]

'जहा से दियापोते'—यहाँ पक्षी के बच्चे से नवदीक्षित साधु को भागवत-धर्म में दीक्षित-प्रशिक्षित करने के व्यवहार की तुलना की गई है। जैसे मादा पक्षी अपने बच्चे को अण्डे मे स्थित होने से लेकर पख आकर स्वतत्र रूप से उडने योग्य नहीं होता, तब तक उसे पालती-पोसती है, इसी प्रकार महाभाग आचार्य भी नवदीक्षित साधु को दीक्षा देने से लेकर समाचारी का शिक्षण-प्रशिक्षण तथा शास्त्र-अध्यापन आदि व्यवहारो मे क्रमश: गीतार्थ (परिपक्व) होने तक उसका पालन-पोषण-सवर्द्धन करते है। इस प्रकार भगवान् के धर्म मे अनुस्थित शिष्यो का ससार-समुद्र पार करने मे समर्थ बना देना परमोपकारक आचार्य अपना कर्त्तव्य समझते है।[2]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

गौरवत्यागी

१९०. एवं ते सिस्सा दिया य रातो य अणुपुव्वेण वायिता तेहि महावीरेहिं पण्णाणमंतेहिं तेसंतिए पण्णाणमुवलब्भ हेच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति। वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं णो त्ति मण्णमाणा आघायं[3] तु सोच्चा णिसम्म 'समणुण्णा जीविस्सामो' एगे णिक्खम्म,

ते असंभवंता विडज्झमाणा कामेसु गिद्धा अज्झोववण्णा

समाहिमाघातमझोसयंता सत्थारमेव फरुसं वदंति।

१९१. सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा। असीला अणुवयमाणस्स बितिया मंदस्स बालया।

णियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, णाणभट्ठा दंसणलूसिणो।

णममाणा वेगे जीवितं विप्परिणामेंति।

पुट्ठा वेगे णियट्टंति जीवितस्सेव कारणा।

णिक्खंतं पि तेसिं दुण्णिक्खंतं भवति। बालवयणिज्जा हु ते णरा पुणो[4] पुणो जातिं

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२४।   २ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२४।

३. 'अक्खातं सोच्चा णिसम्मा य' यह पाठान्तर स्वीकार करके चूर्णिकार ने अर्थ दिया है—"अक्खाता गणधरेहिं थेरेहिं वा, तेसिं सोच्चा णिसम्मा य।" गणधरो या स्थविरो के द्वारा कहे हुए प्रवचनो को सुनकर और विचार करके।

४ 'पुणो पुणो गब्भं पगप्पेति' पाठ इसके बदले चूर्णिकार ने माना है। अर्थ होता है—पुन. पुन माता के गर्भ मे आता है।

पकप्पेंति । अधे संभवंता विद्दायमाणा, अहमंसीति विउक्कसे । उदासीणे फरुसं वदंति, पलियं पगंथे अदुवा[1] पगंथे अतहेहिं । तं मेधावी जाणेज्जा धम्मं ।

१९० इस प्रकार वे शिष्य दिन और रात मे (स्वाध्याय-काल मे) उन महावीर और प्रज्ञानवान (गुरुओ) द्वारा (पक्षियो के बच्चो के प्रशिक्षण-सवर्द्धन क्रम की तरह) क्रमश प्रशिक्षित/सवर्द्धित किये जाते हैं ।

उन (आचार्यादि) से विशुद्ध ज्ञान पाकर (बहुश्रुत बनने पर) उपशमभाव को छोडकर (ज्ञान प्राप्ति मे गर्वित होकर) कुछ शिष्य कठोरता अपनाते है । अर्थात्—गुरुजनो का अनादर करने लगते है ।

वे ब्रह्मचर्य मे निवास करके भी उस (आचार्यादि की) आज्ञा को 'यह (तीर्थंकर की आज्ञा) नही है', ऐसा मानते हुए (गुरुजनो के वचनो की अवहेलना कर देते हैं) ।

कुछ व्यक्ति (आचार्यादि द्वारा) कथित (आशातना आदि के दुष्परिणामो) को सुन-समझकर 'हम (आचार्यादि मे) सम्मत या उत्कृष्ट सयमी जीवन जीएँगे' इस प्रकार के सकल्प से प्रव्रजित होकर वे (मोहोदयवश) अपने सकल्प के प्रति सुस्थिर नही रहते । वे विविध प्रकार (ईर्ष्यादि) से जलते रहते है, काम-भोगो मे गृद्ध या (ऋद्धि, रस, और सुख की सवृद्धि मे) रचे-पचे रहकर (तीर्थंकरो द्वारा) प्ररूपित समाधि (सयम) को नही अपनाते, शास्ता (आचार्यादि) को भी वे कठोर वचन कह देते हैं ।

१९१ शीलवान, उपशान्त एव प्रज्ञापूर्वक सयम-पालन मे पराक्रम करने वाले मुनियो को वे अशीलवान् कहकर बदनाम करते हैं ।

यह उन मन्दबुद्धि लोगो की दूसरी मूढता (अज्ञानता) है ।

कुछ सयम से निवृत्त हुए (या वेश परित्याग कर देने वाले) लोग (आचार-सम्पन्न मुनियो के) आचार-विचार का बखान करते है, (किन्तु) जो ज्ञान से भ्रष्ट हो गए, वे सम्यग्दर्शन के विध्वसक होकर (स्वय चारित्र-भ्रष्ट हो जाते है, तथा दूसरो को भी शकाग्रस्त करके सन्मार्ग से भ्रष्ट कर देते है) ।

कई साधक (आचार्यादि के प्रति या तीर्थंकरोक्त श्रुतज्ञान के प्रति) नत—(समर्पित) होते हुए भी (मोहोदयवश) सयमी जीवन को बिगाड देते है ।

कुछ साधक (परीषहो से) स्पृष्ट (आक्रान्त) होने पर केवल (सुखपूर्वक) जीवन

---

१. 'पगथे' पद की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की १—"अदुवत्ति अहवा कत्थ श्लाघायां, कत्थण ति वड्ढण ति वा मद्दण ति वा एगट्ठा, ण पडिसेधणे, पगथ अभणतो चेव मुहमक्कडियाहि वा त हीलेति ।"—अथवा कत्थ धातु श्लाघा (आत्मप्रशसा) अर्थ मे है, अत कत्थन = वर्द्धन—चढा-चढा कर कहना, अथवा मर्दन करना—बात को बार-बार पिष्टपेषण करना । कत्थण, वड्ढण, मद्दण, ये एकार्थक है । न' निषेध अर्थ मे हैं । अकत्थन न करके कई लोग मुह मचकोडना आदि मुख चेष्टाएँ करते हुए उसकी हीलना (निन्दा) करते है । इससे प्रतीत होता है—चूर्णिकार ने 'पगथे' के बदले 'अपगथे' शब्द स्वीकार किया है ।

जीने के निमित्त से (संयम और संयमीवेश से) निवृत्त हो जाते हैं—सयम छोड़ बैठते है।

उन (सयम को छोड देने वालो) का गृहवास से निष्क्रमण भी दुर्निष्क्रमण हो जाता है, क्योंकि साधारण (अज्ञ) जनो द्वारा भी वे निन्दनीय हो जाते है तथा (ऋद्धि, रस और विषय-सुखो मे आसक्त होने से) वे पुन. पुनः जन्म धारण करत है।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे वे नीचे स्तर के होने हुए भी अपने आपको ही विद्वान् मानकर 'मैं ही सर्वाधिक विद्वान् हूँ', इस प्रकार से डीग मारते हैं। जो उनसे उदासीन (मध्यस्थ) रहते है, उन्हे वे कठोर वचन बोलते है। वे (उन मध्यस्थ मुनियो के पूर्व-आचरित-गृहवास के समय किए हुए) कर्म को लेकर बकवास (निन्द्य वचन) करते है, अथवा असत्य आरोप लगाकर उन्हे बदनाम करते है, (अथवा उनकी अगविकलता या मुखचेष्टा आदि को लेकर उन्हे अपशब्द कहते है)। बुद्धिमान् मुनि (इन सबको अज्ञ एव धर्म-शून्य जन की चेष्टा समझकर) अपने धर्म (श्रुतचारित्र रूप मुनि धर्म) को भलीभाँति जाने-पहचाने

विवेचन—इस उद्देशक मे ऋद्धिगर्व, रसगर्व और साता (सुख) गर्व को लेकर साधक-जीवन के उतार-चढावो का विभिन्न पहलुओ से विश्लेषण करके इन तीन गर्वों (गौरवो) का परित्याग कर विशुद्ध सयम मे पराक्रम करने की प्रेरणा दी गयी है।

'पण्णाणमुवलब्भ · '—इस पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने गर्व होने का रहस्य खोल दिया है। मुनिधर्म जैसी पवित्र उच्च सयम-साधना मे प्रव्रजित होकर तथा वर्षों तक पराक्रमी ज्ञानी गुरुजनो द्वारा अहर्निश वात्सल्यपूर्वक क्रमश प्रशिक्षित-सवर्द्धित किये जाने पर भी कुछ शिष्यो को ज्ञान का गर्व हो जाता है। बहुश्रुत हो जाने के मद मे उन्मत्त होकर वे गुरु-जनो द्वारा किए गए समस्त उपकारो को भूल जाते हैं, उनके प्रति विनय, नम्रता, आदर-सत्कार, बहुमान, भक्तिभाव आदि को ताक मे रख देते है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से उनके अज्ञान मिथ्यात्व एव क्रोधादि का उपशम होने के बदले प्रबल मोहोदयवश वह उपशमभाव को सर्वथा छोडकर उपकारी गुरुजनो के प्रति कठोरता धारण कर लेते है। उन्हे अज्ञानी, कुदृष्टि-सम्पन्न, एव चारित्रभ्रष्ट बताने लगते है।

प्रस्तुत सूत्र मे ऋद्धिगौरव के अन्तर्गत ज्ञान-ऋद्धि का गर्व कितना भयकर होता है, यह बताया गया है। ज्ञान-गर्वस्फीत साधक गुरुजनो के साथ वितण्डावाद मे उतर जाता है। जैसे—किसी आचार्य ने अपने शिष्य को किन्ही शब्दो का रहस्य बताया, इस शिष्य ने प्रतिवाद किया—आप नही जानते। इन शब्दो का यह अर्थ नही होता, जो आपने बताया है। अथवा उसके सहपाठी किसी साधक के द्वारा यह कहने पर कि 'हमारे आचार्य ऐसा बताते है', वह (अविनीत एव गर्वस्फीत) तपाक से उत्तर देता है—"अरे! वह बुद्धि-विकल है, उसकी वाणी भी कुण्ठित है, वह क्या जानता है? तू भी उसके द्वारा तोते की तरह पढाया हुआ है, तेरे पास न कोई तर्क-वितर्क है, न युक्ति है।' इस प्रकार

कुछ अक्षरों को दुराग्रहपूर्वक पकड़कर वह ज्ञानलव-दुर्विदग्ध व्यक्ति महान् उपशम के कारण-भूत ज्ञान को भी विपरीत रूप देकर अपनी उद्धतता प्रकट करता हुआ कठोर वचन बोलता है।[1]

'आण त णोत्ति मण्णमाणा'—कुछ साधक ज्ञान-समृद्धि के गर्व के अतिरिक्त साता (सुख) के काल्पनिक गौरव की तरंगों में बहकर गुरुजनों के सान्निध्य में वर्षों रहकर भी उनके द्वारा अनुशासित किए जाने पर तपाक से उनकी आज्ञा को ठुकरा देते हैं और कह बैठते हैं—'शायद यह तीर्थंकर की आज्ञा नहीं है।' **'णो'** शब्द यहाँ आंशिक निषेध के अर्थ में प्रयुक्त है। इसलिए 'शायद' शब्द वाक्य के आदि में लगाया गया है। अथवा साता-गौरव की कल्पना में बहकर साधक अपवाद सूत्रों का आश्रय लेकर चल पड़ता है, जब आचार्य उन्हें उत्सर्ग सूत्रानुसार चलने के लिए प्रेरित करते हैं तो वे कह देते हैं—'यह तीर्थंकर की आज्ञा नहीं है।' वस्तुतः ऐसे साधक शारीरिक सुख की तलाश में अपवाद मार्ग का आश्रय लेते हैं।[2]

'समणुण्णा जीविस्सामो'—गुरुजनों द्वारा अविनय-आशातना और चारित्रभ्रष्टता के दुष्परिणाम बताये जाने पर वे चुपचाप सुन-समझ लेते हैं, लेकिन उस पर आचरण करने की अपेक्षा वे गुरुजनों के समक्ष केवल संकल्प भर कर लेते हैं कि 'हम उत्कृष्ट संयमी जीवन जीएँगे।' आशय यह है कि वे आश्वासन देते हैं कि 'हम आपके मनोज्ञ-मनोऽनुकूल होकर जीएँगे।' यह एक अर्थ है। दूसरा वैकल्पिक अर्थ यह भी है—'हम समनोज्ञ-लोकसम्मत होकर जीएँगे।' जनता में प्रतिष्ठा पाना और अपना प्रभाव लोगों पर डालना यह यहाँ 'लोकसम्मत' होने का अर्थ है। इसके लिए मंत्र, यंत्र, तंत्र, ज्योतिष, व्याकरण, अंगस्फुरण आदि शास्त्रों का अध्ययन करके लोक-प्रतिष्ठित होकर जीना ही वे अपने साधु-जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं। गुरुजनों द्वारा कही बातों को कानों से सुनकर, जरा-सा सोचकर रह जाते हैं।[3]

गौरव-दोषों से ग्रस्त साधक[4]—जो साधक ऋद्धि-गौरव, रस-(पंचेन्द्रिय-विषय-रस) गौरव और साता-गौरव, इन तीनों गौरव दोषों के शिकार बन जाते हैं, वे निम्नोक्त दुर्गुणों से घिर जाते हैं—

(१) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग पर चलने के संकल्प के प्रति वे सच्चे नहीं रहते।
(२) शब्दादि काम-भोगों में अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं।
(३) तीनों गौरवों को पाने के लिए अहर्निश लालायित रहते हैं।

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २२६ के अनुसार।
(ख) **"अन्यैः स्वेच्छारचितान् अर्थ-विशेषान् श्रमेण विज्ञाय।**
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यंगानि दर्पेण॥"
(उद्धृत)—आचा० शीला० टीका पत्रांक २२६।

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२६।

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७ के आधार पर।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७।

(४) तीर्थंकरो द्वारा कथित समाधि (इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण) का सेवन-आचरण नही करते।

(५) ईर्ष्या, द्वेष, कषाय आदि से जलते रहते हैं।

(६) शास्ता (आचार्यादि) द्वारा शास्त्रवचन प्रस्तुत करके अनुशासित किये जाने पर कठोर वचन बोलते है।

चूर्णिकार '**कामेहिं गिद्धा अज्झोववण्णा**' का अर्थ करते है— शब्दादि कामो में गृद्ध—आसक्त एव अधिकाधिक ग्रस्त।

'**सत्थारमेव फरुसं वदंति**'—इस पंक्ति के दो अर्थ वृत्तिकार ने सूचित किये है—

(१) आचार्यादि द्वारा शास्त्राभिप्रायपूर्वक प्रेरित किए जाने पर भी उस शास्ता को ही कठोर बोलने लगते हैं—'आप इस विषय मे कुछ नही जानते। मैं जितना सूत्रों का अर्थ, शब्द-शास्त्र, गणित या निमित्त (ज्योतिष) जानता हूँ, उस प्रकार से उतना दूसरा कौन जानता है?' इस प्रकार आचार्यादि शास्ता की अवज्ञा करता हुआ वह तीखे शब्द कह डालता है।

(२) अथवा शास्ता का अर्थ शासनाधीश तीर्थंकर आदि भी होता है। अत: यह अर्थ भी सम्भव है कि शास्ता अर्थात् तीर्थंकर आदि के लिए भी कठोर शब्द कह देते हैं। शास्त्र के अर्थ करने मे या आचरण मे कही भूल हो जाने पर आचार्यादि द्वारा प्रेरित किये जाने पर वे कह देते है—तीर्थंकर इससे अधिक क्या कहेगे? वे हमारा गला काटने से बढकर क्या कहेगे? इस प्रकार शास्त्रकारो के सम्बन्ध मे भी वे मिथ्या बकवास कर देते है।[1]

दोहरी मूर्खता—तीन प्रकार के गौरव के चक्कर मे पडे हुए ऐसे साधक पहली मूर्खता तो यह करते है कि भगवद्-उपदिष्ट विनय आदि या क्षमा, मार्दव आदि मुनिधर्म के उन्नत पथ को छोडकर सुविधावादी बन जाते है, अपनी सुख-सुविधा, मिथ्या प्रतिष्ठा एव अल्पज्ञता के आधार पर आसान रास्ते पर चलने लगते है, जब कोई गुरुजन रोक-ठोक करते हैं, तो कठोर शब्दो मे उनका प्रतिवाद करते है। फिर दूसरी मूर्खता यह करते हैं कि जो शीलवान् उपशान्त और सम्यक् प्रज्ञापूर्वक सयम मे पराक्रम कर रहे है, उन पर कुशीलवान् होने का दोषारोपण करते हैं। अथवा उनके पीछे लोगो के समक्ष 'कुशील' कह कर उनकी निन्दा करते है।

इस पद का अन्य नय से यह अर्थ भी होता है—स्वयं चारित्र से भ्रष्ट हो गया, यह एक मूर्खता है, दूसरी मूर्खता है—उत्कृष्ट सयमपालको की निन्दा या बदनामी करना।

तीसरे नय से यह अर्थ भी हो सकता है—किसी ने ऐसे साधकों के समक्ष कहा कि 'ये बडे शीलवान हैं, उपशान्त है, तब उसकी बात का खण्डन करते हुए कहना कि इतने सारे उपकरण रखने वाले इन लोगो में कहाँ शीलवत्ता है या उपशान्तता है? यह उस निन्दक एवं हीनाचारी की दूसरी मूर्खता है।[2]

'**नियट्टमाणा०**'—कुछ साधक सातागौरव-वश सुख-सुविधावादी बन कर मुनिधर्म के

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७। २. आचा० शीला० टीका० पत्रांक २२७।

मौलिक सयम-पथ से या सयमी वेष से भी निवृत्त हो जाते है, फिर भी वे विनय को नही छोडते, न ही किसी साधु पर दोषारोपण करते है, न कठोर बोलते है, अर्थात् वे गर्वस्फीत होकर दोहरी मूर्खता नही करते। वे अपने आचार मे दम्भ, दिखावा नही करते, न ही झूठा बहाना बनाकर अपवाद का सेवन करते हैं, किन्तु सरल एव स्पष्ट हृदय मे कहते है—'मुनि धर्म का मौलिक आचार तो ऐसा है, किन्तु हम उतना पालन करने मे असमर्थ है।' वे यो नही कहते कि 'हम जैसा पालन करते है, वैसा ही साध्वाचार है। इस समय दु:षम-काल के प्रभाव से बल, वीर्य आदि के ह्रास के कारण मध्यम मार्ग (मध्यम आचरण) ही श्रेयस्कर है, उत्कृष्ट आचरण का अवसर नही है। जैसे सारथी घोडो को लगाम न तो अधिक खीचता है और न ही ढीली छोडता है, ऐसा करने से घोडे ठीक चलते है, इसी प्रकार का (मुनियो का आचार रूप) योग सर्वत्र प्रशस्त होता है।'[1]

'णाणब्भट्ठा दसणलूसिणो'—ज्ञानभ्रष्ट और सम्यग्दर्शन के विध्वसक इन दोनो प्रकार के लक्षणो से युक्त साधक बहुत खतरनाक होते है। वे स्वय तो चारित्र से भ्रष्ट होते ही है, अन्य साधको को भी अपने दूषण का चेप लगाते है, उन्हे भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट करके सन्मार्ग से विचलित कर देते है।[2] उनसे सावधान रहने की सूचना यहाँ दी गयी है।

'णममाणा०'—कुछ साधक ऐसे होते है, जो गुरुजनो, तीर्थंकरो तथा उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति विनीत होते है, हर समय वे दबकर, झुककर, नमकर चलते हैं, कई बार वे अपने दोषो को छिपाने या अपराधो के प्रगट हो जाने पर प्रायश्चित्त या दण्ड अधिक न दे दे, इस अभिप्राय से गुरुजनो तथा अन्य साधुओ की प्रशसा, चापलूसी एव वन्दना करते रहते है। पर यह सब होता है—गौरव त्रिपुटी के चक्कर मे पडकर कर्मोदयवश सयमी जीवन को बिगाड लेने के कारण। इसलिए उनकी नमन आदि क्रियाएँ केवल द्रव्य से होती है, भाव से नही।

'पुट्ठा वेगे णियट्ट ति'—कुछ साधक इन्ही तीन गौरवो मे प्रतिबद्ध होते है, असयमी जीवन—सुख-सुविधापूर्ण जिन्दगी—के कारण से। किन्तु ज्यो ही परीषहो का आगमन होता है, त्यो ही वे कायर बनकर सयम से भाग खडे होते है, सयमी वेश भी छोड बैठते है।

'अधे संभवता विद्दायमाणा'—कुछ साधक सयम के स्थानो से नीचे गिर जाते है, अथवा अविद्या के कारण अध पतन के पथ पर विद्यमान होते है, स्वय अल्पज्ञानयुक्त होते हुए भी 'हम विद्वान् है, इस प्रकार से अपनी मिथ्या श्लाघा (प्रशसा) करते रहते है। तात्पर्य यह है कि थोडा-बहुत जानता हुआ भी ऐसा साधक गर्वोन्नत होकर अपनी डीग हाकता रहता है कि 'मै बहुश्रुत हूँ, आचार्य को जितना शास्त्रज्ञान है, उतना तो मैने अल्प समय मे ही पढ लिया

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२७।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २२८।

(ख) "जो अत्थ होइ भग्गो, ओवासं सो पर अविदंतो।
गतु तत्थऽचयतो इम पहाण घोसेति॥"

था। इतना ही नहीं, वह जो साधक उसकी अभिमान भरी बात सुनकर मध्यस्थ या मौन बने रहते है, उसकी हाँ मे हाँ नही मिलाते, अथवा बहुश्रुत होने के कारण जो राग-द्वेष और अशान्ति से दूर रहते है, उन्हे भी वे कठोर शब्द बोलते है। उनमे से किसी के द्वारा किसी गलती के विषय मे जरा-सा इशारा करने पर वह भडक उठता है—पहले अपने कृत्य-अकृत्य को जान लो, तब दूसरो को उपदेश देना।[1]

'पलिय पगथे अदुवा पगथे अतहेहि'—गर्वस्फीत साधक उद्धत होकर कठोर शब्द ही नही बोलता, वह अन्य दो उपाय भी उन सुविहित मध्यस्थ साधको को दबाने या लोगो की दृष्टि मे गिराने के लिए अपनाता है—(१) उस साधु के पूर्वाश्रम के किसी कर्म (धधे या दुश्चरण) को लेकर कहना—तू तो वही लडकहारा है न? अथवा तू वही चोर है न? (२) अथवा उसकी किसी अग-विकलता को लेकर मुँह मचकोडना आदि व्यर्थ चेष्टाएं करते हुए अवज्ञा करना।[2]

चूर्णिकार ने इनके अतिरिक्त एक और अर्थ की कल्पना की है—कत्थन, वर्द्धन और मर्दन—ये तीनो एकार्थक है। अतथ्य—(मिथ्या) शब्दो से आत्मश्लाघा करना या छोटी-सी बात को बढाकर कहना या बार-बार एक ही बात को कहते रहना।[3]

बाल का निकृष्टाचरण

१९२ **अधम्मट्ठी तुम सि णाम बाले आरभट्ठी अणुवयमाणे, हणमाणे, घातमाणे, हणतो यावि समणुजाणमाणे। घोरे धम्मे उदीरिते। उवेहति ण अणाणाए। एस विसण्णे वितद्दे[4] वियाहिते त्ति बेमि।**

१९३. किमणेण भो जणेण करिस्सामि त्ति मण्णमाणा एवं पेगे वदित्ता मातरं पितरं हेच्चा णातओ य परिग्गह वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिसा सुव्वता दता[5]। पस्स दीणे उप्पइए पडिवतमाणे। वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति।

१९४. अहमेगेसि सिलोए पावए भवति—से समणविब्भंते।[6] समणविब्भंते।

पासहेगे समण्णागतेहि असमण्णागए णममाणेहि अणममाणे विरतेहि अविरते दवितेहि अदविते।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २२८।   २ आचा० शीला० टीका पत्राक २२८।

३ आचाराग चूर्णि मूल पाठ सूत्र १९१ का टिप्पण।

४ 'वितद्दे' के बदले पाठान्तर मिलते है—'वितड्डे, विनडे' निरर्थक विवाद वितडा कहलाता है। वितडा करने वाले को वितड कहते है। वितड्ड शब्द का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—विविह तड्डो वितड्डो।''—विविध प्रकार के तर्द (हिसा के प्रकार) वितड्ड है।

५ इसके बदले नागार्जुनसम्मत पाठान्तर इस प्रकार है—'समणा भविस्सामो अणगारा अकिचणा अपुत्ता अपसू अविहिसगा सुव्वता दता परदत्तभोइणो पाव कम्म णो करिस्सामो समुट्ठाए।''—हम मुनि-धर्म के लिए समुत्थित होकर अनगार, अकिचन, अपुत्र, अप्रसू, (मातृविहीन) अविहिसक, सुव्रत, दान्त, परदत्त-भोजी श्रमण बनेगे, पापकर्म नही करेगे।''

६ चूर्णि मे इसके बदले '**समणवितते समणवितते**' पाठ स्वीकार करके अर्थ किया है—'विविह ततो वितती, समणत्तणेण विविह ततो ज भणित उपप्पवततिं'—अर्थात्—विविध तत या तत्र (प्रपच) वितत है। जिसके श्रमणत्व मे विविध तत्र (प्रपच) है, वह श्रमणवितत या श्रमण-वितत्र है।

१९५. अभिसमेच्चा पंडिते मेहावी णिट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सदा परिक्कमेज्जासि त्ति बेमि ।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

१९२ (धर्म से पतित होने वाले अहंकारी साधक को आचार्यादि इस प्रकार अनुशासित करते है—) तू अधर्मार्थी है, बाल—(अज्ञ) है, आरम्भार्थी है, (आरम्भ-कर्त्ताओ का) अनुमोदक है, (तू इस प्रकार कहता है—) प्राणियो का हनन करो—(अथवा तू स्वय प्राणिघात करता है), दूसरो से प्राणिवध कराता है और प्राणियो का वध करने वाले का भी अच्छी तरह अनुमोदन करता है। (भगवान् ने) घोर (संवर-निर्जरारूप दुष्कर—) धर्म का प्रतिपादन किया है, तू आज्ञा का अतिक्रमण कर उसकी उपेक्षा कर रहा है।

वह (अधर्मार्थी तथा धर्म की उपेक्षा करने वाला) विषण्ण (काम-भोगो की कीचड मे लिप्त) और वितर्द (हिंसक) कहा गया है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१९३ ओ (आत्मन्!) इस स्वार्थी स्वजन का (या मनोज्ञ भोजनादि का) मैं क्या करूंगा? यह मानते और कहते हुए (भी) कुछ लाग माता, पिता, ज्ञातिजन और परिग्रह को छोडकर वीर वृत्ति से मुनि धर्म मे सम्यक् प्रकार से उत्थित/प्रव्रजित होते है, अहिंसक, सुव्रती और दान्त बन जाते हैं।

(हे शिष्य! पराक्रम की दृष्टि से) दीन और (पहले सिंह की भाँति प्रव्रजित होकर अब) पतित बनकर गिरते हुए साधको को तू देख! वे विषयो से पीडित कायर जन (व्रतो के) विध्वसक हो जाते है।

१९४. उनमे से कुछ साधको की श्लाघारूप कीर्ति पाप रूप हो जाती है, (बदनामी का रूप धारण कर लेती है)—"यह श्रमण विभ्रान्त (श्रमण धर्म से भटक गया) है, यह श्रमण विभ्रान्त है।"

(यह भी) देख! सयम से भ्रष्ट होने वाले कई मुनि उत्कृष्ट आचार वालो के बीच शिथिलाचारी, (सयम के प्रति) नत/समर्पित मुनियो के बीच (सयम के प्रति) असमर्पित (सावद्य प्रवृत्ति-परायण), विरत मुनियो के बीच अविरत तथा (चारित्र-सम्पन्न) साधुओ के बीच (चारित्रहीन) होते है।

१९५ (इस प्रकार सयम-भ्रष्ट साधको तथा संयम-भ्रष्टता के परिणामो को) निकट से भली-भाँति जानकर पण्डित, मेधावी, निष्ठितार्थ (कृतार्थ) वीर मुनि सदा आगम (—मे विहित साधनापथ) के अनुसार (सयम मे) पराक्रम करे।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—पिछले सूत्रो मे श्रुत आदि के मद से उन्मत्त श्रमण की मानसिक एव वाचिक हीन वृत्तियो का निदर्शन कराया गया है। सूत्रकार ने बडी मनोवैज्ञानिक पकड से उसके

चिन्तन और कथन की अपवृत्तियों का स्पष्टीकरण किया है। अब इन अगले चार सूत्रों में उसकी अनियन्त्रित कायिक चेष्टाओं का वर्णन कर गौरव-त्याग की व्याख्या है।

'अणुवयमाणे'—यह उस अविनीत, गर्वस्फीत और गौरवत्रय से ग्रस्त उच्छृंखल साधक का विशेषण है। इसका अर्थ वृत्तिकार ने यों किया है—(गुरु आदि उसे शिक्षा देते हैं—) तू गौरवत्रय से अनुबद्ध होकर पचन-पाचनादि क्रियाओं में प्रवृत्त है और उनमें जो गृहस्थ प्रवृत्त है, उनके समक्ष तू कहता है—'इसमें क्या दोष है? शरीर रहित होकर कोई भी धर्म नहीं पाल सकता। इसलिए धर्म के आधारभूत शरीर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए।' ऐसा अधर्मयुक्त कथन करने वाला आचारहीन साधक है।[1]

'वितद्दं'—'वितर्द' शब्द के वृत्तिकार ने दो अर्थ किए हैं[2]—(१) विविध प्रकार से हिंसक, (२) संयम-घातक शत्रु या संयम के प्रतिकूल। चूर्णिकार ने इसके दो रूप प्रस्तुत किए हैं—वितड्ड और वितड। जो विविध प्रकार से हिंसक हो वह वितड्ड और जो वितडावादी हो वह वितड।

'उप्पइए पडिवतमाणे'—इस पद में उन साधकों की दशा का चित्रण है, जो पहले तो वीर वृत्ति से स्वजन, ज्ञातिजन, परिग्रह आदि को छोड कर विरक्त भाव दिखाते हुए प्रव्रजित होते हैं, एक बार तो वे अहिंसक, दान्त और सुव्रती बन कर लोगों को अत्यन्त प्रभावित कर देते है, परन्तु बाद में जब उनकी प्रसिद्धि और प्रशंसा अधिक होने लगती है, पूजा-प्रतिष्ठा बढ जाती है, उन्हें सुख-सुविधाएँ भी अधिक मिलने लगती हैं, खान-पान भी स्वादिष्ट, गरिष्ठ मिलता है, चारों ओर मानव-मेदिनी का जमघट और ठाट-बाट लगा रहता है, तब वे इन्द्रिय-सुखों की ओर झुक जाते हैं, उनका शरीर भी सुकुमार बन जाता है, तब वे संयम में पराक्रम की अपेक्षा से दीन-हीन और तीनों गौरवों के दास बन जाते हैं। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'उठकर पुनः गिरते हुए साधकों को तू देख।[3]

'समणविब्भते'—यह उस साधक के लिए कहा गया है, जो श्रमण होकर आरम्भार्थी, इन्द्रिय-विषय—कषायों से पीडित, कायर एवं व्रत-विध्वंसक हो गए हैं। यह श्रमण होकर विविध प्रकार से भ्रान्त हो गया—भटक गया है श्रमणधर्म से। चूर्णिकार ने पाठ स्वीकार किया है—**'समणवितते'**। उसका अर्थ फलित होता है—जिसके श्रमणत्व में विविध तत या तंत्र (प्रपंच) हैं, उसे श्रमण-वितन्त या श्रमण-वितंत्र कहते हैं।[4]

'दवितेहिं'—द्रविक वह है, जिसके पास द्रव्य हो। द्रव्य का अर्थ धन होना है, साधु के

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २२८।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २२८।

(ख) आचारांग चूर्णि—आचा० मूल पाठ सूत्र १९२ की टिप्पणी।

३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २२९ के आधार पर।

४ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २३०।

(ख) आचारांग चूर्णि आचा० मूल पाठ टिप्पणी १९४।

पास ज्ञानादि रत्नत्रय रूप धन होता है, अथवा द्रव्य का अर्थ भव्य है—मुक्तिगमन योग्य है।[1] 'द्रविक' का अर्थ दयालु भी होता है।

'णिट्ठियट्ठे'—का अर्थ निष्ठितार्थ—कृतार्थ होता है। जो आत्मतृप्त हो, वही कृतार्थ हो सकता है। आत्मतृप्त वही हो सकता है, जिसकी विषय-सुखों की पिपासा सर्वथा बुझ गयी हो। इसीलिए वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—**'विषयसुख-निष्पिपास निष्ठितार्थ।'**[2]

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक में गौरव-त्याग की इन विविध प्रेरणाओं पर साधक को दत्तचित्त होकर भौतिक पिपासाओं से मुक्त होने की शिक्षा दी गयी है।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पञ्चम उद्देसओ

पंचम उद्देशक

तितिक्षु-धूत का धर्म कथन

१९६. से गिहेसु गिहंतरेसु वा गामेसु[3] वा गामंतरेसु वा णगरेसु वा णगरंतरेसु वा जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा संतेगतिया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति। ते फासे पुट्ठो धीरो अधियासए ओए समितदंसणे।

दयं लोगस्स[3] जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे विभए किट्टे वेदवी।

से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संतिं विरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं, अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा।

१९७. अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसादेज्जा णो परं आसादेज्जा णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसादेज्जा।

१. आचारांग चूर्णि आचा० मूल पाठ टिप्पणी सूत्र १९४।

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक २३०।

३. इसके बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर और उसका अर्थ देखिए—"गामंतरं तु गामतो गामाण वा अंतरं गामंतरं पधो उप्पहो वा। एवं **नगरेसु वा नगरंतरेसु वा जाव रायहाणीसु वा रायहाणिअंतरेसु वा।** एत्थ सण्णिगामो कायव्वो अत्यंतो, तं जहा—गामस्स य नगरस्स य अंतरे, एवं गामस्स खेडस्स य अंतरे, जाव गामस्स रायहाणीए य, एवं एक्केक्कं छड्डेंतेण जाव अपच्छिमे रायहाणीए य। एवं एक्केक्क तेसु जहुद्दिट्ठेसु ठाणेसु **जणवयंतरेसु वा**" इस विवेचन के अनुसार चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'गामंतरेसु वा खेडेसु वा खेडंतरेसु वा कब्बडेसु वा कब्बडंतरेसु वा मडंबेसु वा मडंबंतरेसु वा दोणमुहेसु वा दोणमुहंतरेसु वा पट्टणेसु वा पट्टणंतरेसु वा आगरेसु वा आगरंतरेसु वा आसमेसु वा आसमंतरेसु वा सबाहेसु वा संबाहंतरेसु वा रायहाणीसु वा रायहाणिअंतरेसु वा (जणवएसु वा) जणवयंतरेसु वा'** अर्थात्—ग्राम और नगर के बीच में ग्राम और खेड के बीच में यावत् ग्राम और राजधानी तक। इसी प्रकार उन यथोद्दिष्ट स्थानों में से एक-एक बीच में डालना चाहिए—जणवयंतरेसु वा तक। तब पाठ इस प्रकार होगा जो कि ऊपर बताया गया है। चूर्णिसम्मत पाठ यही प्रतीत होता है।

से अणासादए अणासादमाणे वज्झमाणाणं[1] पाणाणं भूताणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवति सरणं महामुणी।

एवं से उट्ठिते ठितप्पा अणिहे अचले चले अबहिलेस्से परिव्वए।

संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिणिव्वुडे।

१९८. तम्हा संगं ति पासहा। गंथेहिं गढिता णरा विसण्णा कामक्कंता[2]। तम्हा लूहातो णो परिवित्तसेज्जा। जस्सिमे आरंभा सव्वतो सव्वत्ताए सुपरिण्णाता भवंति जस्सिमे लूसिणो णो परिवित्तसंति, से वंता कोधं च माणं च मायं च लोभं च। एस तिउट्टे वियाहिते त्ति बेमि।

कायस्स वियाघाए[3] एस संगामसीसे वियाहिए। से हु पारगमे मुणी।

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीते कंखेज्ज कालं जाव सरीरभेदो त्ति बेमि।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

१९६ वह (धुत/श्रमण) घरों में, गृहान्तरों मे (घरो के आस-पास), ग्रामों में, ग्रामान्तरो (ग्रामो के बीच) मे नगरो मे, नगरान्तरो (नगरों के अन्तराल) मे, जनपदो में या जनपदान्तरो (जनपदो के बीच) मे (आहारादि के लिए विचरण करते हुए अथवा कायोत्सर्ग मे स्थित मुनि को देखकर) कुछ विद्वेषी जन हिंसक—(उपद्रवी) हो जाते है, (वे अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग देते है)। अथवा (सर्दी, गर्मी, डास, मच्छर आदि परिषहो के) स्पर्श (कष्ट) प्राप्त होते है। उनसे स्पृष्ट होने पर धीर मुनि उन सबको (समभाव से) सहन करे।

राग और द्वेष से रहित (निष्पक्ष) सम्यग्दर्शी (या समितदर्शी) एवं आगमज्ञ मुनि लोक (=प्राणिजगत्) पर दया/अनुकम्पा भावपूर्वक पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण सभी दिशाओ और विदिशाओं मे (स्थित) जीवलोक को धर्म का आख्यान (उपदेश) करे। उसका विभेद करके, धर्माचरण के सुफल का प्रतिपादन करे।

वह मुनि सद्ज्ञान सुनने के इच्छुक व्यक्तियो के बीच, फिर वे चाहे (धर्माचरण के लिए) उत्थित (उद्यत) हो या अनुत्थित (अनुद्यत), शान्ति विरति, उपशम, निर्वाण शौच (निर्लोभता), आर्जव (सरलता), मार्दव (कोमलता), लाघव (अपरिग्रह) एव अहिंसा का प्रतिपादन करे।

वह भिक्षु समस्त प्राणियो, सभी भूतो सभी जीवो और समस्त सत्त्वो का हित-

---

१ '**वज्झमाणाण**' के बदले चूर्णि मे **बुज्झमाणाण पाणाण**' पाठ स्वीकृत है, जिसका अर्थ है—जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व बोध पाए हुए है। अथवा बहिज्जमाणाण वा ससारसमुद्देण' अर्थात्—ससार समुद्र का अन्त (पार) करके बाहर होने वाले।

२ इसके बदले '**काम-अक्कता**' '**कामधिप्पिता**' पाठ भी मिलते है। अर्थ क्रमश यो हैं—काम से आक्रान्त या कामग्रस्त या कामगृहीत।

३ '**वियावाए**' के बदले पाठान्तर है—विवाघाए विघाघाओ विओघाए विओवाते विउवाते आदि हैं। क्रमश. अर्थ यो है—विशेष रूप से व्याघात, व्याघात, (विनाश), व्यापात (विशेष रूप से पात)।

चिन्तन करके (या उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति के अनुरूप विचार करके) धर्म का व्याख्यान करे।

१९७ भिक्षु विवेकपूर्वक धर्म का व्याख्यान करता हुआ अपने आपको बाधा (आशातना) न पहुँचाए, न दूसरे को बाधा पहुँचाए और न ही अन्य प्राणों, भूतों, जीवों और सत्वों को बाधा पहुँचाए।

किसी भी प्राणी को बाधा न पहुँचाने वाला तथा जिससे प्राण, भूत, जीव और सत्व का वध हो, (ऐसा धर्म-व्याख्यान न देने वाला) तथा आहारादि की प्राप्ति के निमित्त भी (धर्मोपदेश न करने वाला) वह महामुनि ससार-प्रवाह में डूबते हुए प्राणो, भूतों, जीवो और सत्वो के लिए असदीन द्वीप की तरह शरण होता है।

इस प्रकार वह (सयम मे) उत्थित, स्थितात्मा (आत्मभाव मे स्थित), अस्नेह, अनासक्त, अविचल (परिषहो और उपसर्गों आदि से अप्रकम्पित), चल (विहारचर्या करने वाला), अध्यवसाय (लेश्या) को सयम से बाहर न ले जाने वाला मुनि (अप्रतिबद्ध) होकर परिव्रजन (विहार) करे।

वह सम्यग्दृष्टिमान् मुनि पवित्र उत्तम धर्म को सम्यक्रूप मे जानकर (कषायो और विषयो) को सर्वथा उपशान्त करे।

१९८. इसके (विषय-कषायो को शान्त करने के) लिए तुम आसक्ति (आसक्ति के विपाक) को देखो।

ग्रन्थो (परिग्रह) मे गृद्ध और उनमे निमग्न बने हुए मनुष्य कामो से आक्रान्त होते हैं।

इसलिए मुनि नि.संग रूप संयम (संयम के कष्टों) से उद्विग्न-खेदखिन्न न हो।

जिन सगरूप आरम्भो से (विषय-निमग्न) हिंसक वृत्ति वाले मनुष्य उद्विग्न नही होते, ज्ञानी मुनि उन सब आरम्भो को सब प्रकार से, सर्वात्मना त्याग देते हैं। वे ही मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करने वाले होते है।

ऐसा मुनि त्रोटक (ससार-शृखला को तोडने वाला) कहलाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

शरीर के व्यापात को (मृत्यु के समय की पीडा को) ही सग्रामशीर्ष (युद्ध का अग्रिम मोर्चा) कहा गया है। (जो मुनि उसमे हार नही खाता), वही (ससार का) पारगामी होता है।

(परिषहों और उपसर्गों से अथवा किसी के द्वारा घातक प्रहार से) आहत होने पर भी मुनि उद्विग्न नही होता, बल्कि लकडी के पाटिये—फलक की भाँति (स्थिर या कृश) रहता है। मृत्युकाल निकट आने पर (विधिवत् सलेखना से शरीर और कषाय को कृश बनाकर समाधिमरण स्वीकार करके मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए) जब तक शरीर का (आत्मा से) भेद (वियोग) न हो, तब तक वह मरणकाल (आयुष्य क्षय) की प्रतीक्षा करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस उद्देशक मे परिषहो और उपसर्गों को समभाव से सहने और विवेक तथा समभाव पूर्वक सबको उनकी भूमिका के अनुरूप धर्मोपदेश देने की प्रेरणा दी गयी है।

'लूसणा भवति'—**'लूषक'** शब्द हिंसक, उत्पीडक, विनाशक, क्रूर हत्यारा, हैरान करने वाला, दूषित करने वाला,[1] आज्ञा न मानने वाला, विराधक आदि अर्थों मे आचाराग और सूत्रकृताग में यत्र-तत्र प्रयुक्त हुआ है। यहाँ प्रसगवश लूषक के क्रूर, निर्दय, उत्पीडक, हिंसक या हैरान करने वाला—ये अर्थ हो सकते हैं। पादविहारी साधुओं को भी ऐसे लूषक जगलो, छोटे से गावो, जनशून्य स्थानो या कभी-कभी घरो में भी मिल जाते हैं। शास्त्रकार ने स्वय ऐसे कई स्थानो का नाम निर्देश किया है।

निष्कर्ष यह है कि किसी भी स्थान मे साधु को ऐसे उपद्रवी तत्त्व मिल सकते हैं और वे साधु को तरह-तरह से हैरान-परेशान कर सकते हैं। वे उपद्रवी या हिंसक तत्त्व मनुष्य ही हो, ऐसी बात नही है, देवता भी हो सकते हैं, तिर्यंच भी हो सकते हैं। साधु प्राय विचरणशील होता है, वह अकारण एक जगह स्थिर होकर नही रहता। इस दृष्टि से वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण किया है कि साधु उच्च-नीच-मध्यम कुलों (गृहो) मे भिक्षा आदि के लिए जा रहा हो, या विभिन्न ग्रामो आदि मे हो, या बीच मे मार्ग मे विहार कर रहा हो, अथवा कही गुफा या जनशून्य स्थान मे कायोत्सर्ग या अन्य किसी स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि साधना मे सलग्न हो, उस समय सयोगवश कोई मनुष्य, तिर्यच या देव द्वेष-वैर-वश या कुतूहल, परीक्षा, भय, स्वरक्षण आदि की दृष्टि से उपद्रवी हो जाता है। निर्मल, सरल, निष्कलक, निर्दोष मुनि पर अकारण ही कोई उपसर्ग करने लगता है या फिर अनुकूल या प्रतिकूल परीषहो का स्पर्श हो जाता है। उस समय धूतवादी (कर्मक्षयार्थी) मुनि को शान्ति, समाधि और सयम-निष्ठा भग न करते हुए समभावपूर्वक उन्हे सहना चाहिए, क्योकि शान्ति आदि दशविध मुनिधर्म मे सुस्थिर रहने वाला मुनि ही दूसरो को धर्मोपदेश द्वारा सन्मार्ग बता सकता है।[2]

'ओए समितदसणे'—ये दोनो विशेषण मुनि के है। इनका अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—ओज का अर्थ है—एकल, राग-द्वेष रहित होने से अकेला। समित-दर्शन पद के तीन अर्थ किए गये हैं—(१) जिसका दर्शन समित—सम्यक् हो गया हो, वह सम्यग्दृष्टि, (२) जिसका दर्शन (दृष्टि, ज्ञान या अध्यवसाय) शमित—उपशान्त हो गया हो, वह शमितदर्शन और (३) जिसकी दृष्टि समता को प्राप्त कर चुकी है, वह समित-दर्शन—समदृष्टि।[3] इन दोनो विशेषणो से युक्त मुनि ही उपसर्ग/परीषह को समभावपूर्वक सह सकता है।

'ओए' का सस्कृत रूपान्तर 'ओत.' करने पर ऐसा अर्थ भी सम्भव है—अपने आत्मा मे ओत-प्रोत, जिसे शरीर आदि पर-भाव से कोई वास्ता न हो। ऐसा साधक ही उपसर्गों और परीषहो को सह सकता है।

---

१. पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ७२८।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३१ के आधार पर।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३२।

धर्मव्याख्यान क्यों, किसको और कैसे ?—सूत्र १९६ के उत्तरार्ध में तीनो शंकाओं का समाधान किया गया है। वृत्तिकार ने उसे स्पष्ट करते हुए कहा है—**द्रव्यतः**—प्राणिलोक पर दया व अनुकम्पा बुद्धिपूर्वक, **क्षेत्रतः**—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर—इन चार दिशाओ और विदिशाओ के विभाग का भलीभांति निरीक्षण करके धर्मोपदेश दे, **कालत**—यावज्जीवन और **भावतः**—समभावी निष्पक्ष—राग-द्वेष रहित होकर।

चूँकि सभी प्राणियो को दु.ख अप्रिय है, सुख प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं– इस बात को आत्मौपम्यदृष्टि से सदा तौलकर जो स्वय के लिए प्रतिकूल है, उसे दूसरो के लिए न करे, इस आत्मधर्म को समझकर कहे। किन्तु विभाग करके कहे। यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से भेद करके आक्षेपणी आदि कथाविशेषो से या प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रिभोजन-विरति आदि के रूप मे धर्म का—पृथक्करण करे तथा यह भी भलीभाँति देखे कि यह पुरुष कौन है ? किस देवताविशेष को नमस्कार करता है ? अर्थात् किस धर्म का अनुयायी है, आग्रही है या अनाग्रही है ? इस प्रकार का विचार करे। तदनन्तर वह आगमवेत्ता साधक व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, धर्माचरण आदि का फल बताए—धर्मोपदेश करे।

धर्म-श्रोता कैसा हो ? इस सम्बन्ध मे शास्त्र के पाठानुसार वृत्तिकार स्पष्टीकरण करते है—वह आगमवेत्ता स्व-पर-सिद्धान्त का ज्ञाता मुनि यह देखे कि जो भाव से उत्थित पूर्ण सयम पालन के लिए उद्यत हैं, उन्हे अथवा सदैव उत्थित स्वशिष्यो को समझाने के लिए अथवा अनुत्थित—श्रावको आदि को, धर्म-श्रवण के जिज्ञासुओ को अथवा गुरु आदि की पर्युपासना करने वाले उपासको को ससार-सागर पार करने के लिए धर्म का व्याख्यान करे।[1]

धर्म के किस-किस रूप का व्याख्यान करे ? इसके लिए शास्त्रकार ने बताया है—'**सति अणतिवत्तियं** ।'

'**अणतिवत्तिय**'—शब्द के चूर्णिकार ने दो अर्थ किए है[2]—(१) जिस धर्मकथा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अतिव्रजन-अतिक्रमण न हो, वैसी अनतिव्राजिक धर्मकथा कहे, अथवा जिस कथा से अतिपात (हिंसा) न हो, वैसी अनतिपातिक धर्मकथा कहे। वृत्तिकार ने इसका दूसरा ही अर्थ किया है—'आगमो मे जो वस्तु जिस रूप मे कही है, उस यथार्थ वस्तुस्वरूप का अतिक्रमण/अतिपात न करके धर्मकथा कहे।'

धर्मकथा किसके लिए न करे ?—शास्त्रकार ने धर्माख्यान के साथ पाँच निषेध भी बताए है—(१) अपने आपको बाधा पहुँचती हो तो, (२) दूसरे को बाधा पहुँचती हो तो, (३) प्राण, भूत, जीव, सत्व को बाधा पहुँचती हो तो, (४) किसी जीव की हिंसा होती हो तो, (५) आहारादि की प्राप्ति के लिए।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २३२

२. "**अणतिवत्तिय णाणादीणि जहा ण अतिवयति तहा कहेति । अहवा अतिपतण अतिपातो ण अतिवातेति अणतिवातियं ।**" —आचारांग चूर्णि पृष्ठ ६७

आत्माशातना—पराशातना—आत्मा की आशातना का वृत्तिकार ने अर्थ किया है—अपने सम्यग्दर्शन आदि के आचरण मे बाधा पहुँचाना आत्माशातना है। श्रोता की आशातना—अवज्ञा या बदनामी करना पराशातना है।[1]

धर्म व्याख्यानकर्ता की योग्यताएं—शास्त्रकार ने धर्माख्यानकर्ता की सात योग्यताएँ बतायी हैं—(१) निष्पक्षता, (२) सम्यग्दर्शन, (३) सर्वभूतदया, (४) पृथक्-पृथक् विश्लेषण करने की क्षमता, (५) आगमों का ज्ञान, (६) चिंतन करने की क्षमता और (७) आशातना-परित्याग।

नागार्जुनीय वाचना में जो पाठ अधिक है[2]—जिसके अनुसार निम्नोक्त गुणो से युक्त मुनि धर्माख्यान करने में समर्थ होता है—(१) जो बहुश्रुत हो, (२) आगम-ज्ञान में प्रबुद्ध हो, (३) उदाहरण एव हेतु-अनुमान मे कुशल हो, (४) धर्मकथा की लब्धि से सम्पन्न हो, (५) क्षेत्र, काल और पुरुष के परिचय मे आने पर यह—पुरुष कौन है ? किस दर्शन (मत) को मानता है, इस प्रकार की परीक्षा करने में कुशल हो। इन गुणो से सुसम्पन्न साधक ही धर्माख्यान कर सकता है।

सूत्रकृतांगसूत्र मे धर्माख्यानकर्ता की आध्यात्मिक क्षमताओ का प्रतिपादन किया गया है, यथा—(१) मन, वचन, काया से जिसका आत्मा गुप्त हो, (२) सदा दान्त हो, (३) समार-स्रोत जिसने तोड दिए हो, (४) जो आस्रव-रहित हो, वही शुद्ध, परिपूर्ण और अद्वितीय धर्म का व्याख्यान करता है।[3]

'लूहातो'—का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—सग या आसक्ति रहित—लूखा—रूक्ष अर्थात्—सयम।[4]

'सगामसीसे'—शरीर का विनाश-काल (मरण)—वस्तुत साधक के लिए सग्राम का अग्रिम मोर्चा है। मृत्यु का भय संसार मे सबसे बडा भय है। इस भय पर विजय पाने वाला, सब प्रकार के भयो को जीत लेता है। इसलिए मृत्यु निकट आने पर या मारणान्तिक वेदना होने पर शात, अविचल रहना—मृत्यु के मोर्चे को जीतना है। इस मोर्चे पर जो हार खा जाता है, वह प्राय. सारे सयमी जीवन की उपलब्धियो को खो देता है। उस समय शरीर के प्रति सर्वथा निरपेक्ष और निर्भय होना जरूरी है, अन्यथा की-कराई सारी साधना चौपट हो जाती है। शरीर के प्रति मोह-ममत्व या आसक्ति से बचने के लिए पहले से ही कषाय और शरीर की संलेखना (कृशीकरण) करनी होती है। इसके लिए दोनो तरफ से छीले हुए फलक की उपमा देकर बताया है—जैसे काष्ठ को दोनों ओर से छीलकर उसका पाटिया—फलक बनाया जाता है, वैसे ही साधक शरीर और कषाय से कृश—दुबला हो जाता है। ऐसे साधक को **'फलगावतट्ठी'** दी उपमा दी गयी है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३२।

२. **"जे खलु भिक्खू बहुस्सुतो बब्भागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहियलद्धिसपण्णे खित्त काल पुरिसं समासज्ज के अय पुरिसं कं वा दरिसण अभिसपण्णे एव गुणजाईए पभू धम्मस्स आघवित्तए।"**
—आचारांग चूर्णि पृ० ६७

३. सूत्रकृतांग श्रु० १ अ० ११ गाथा २४।

४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २३३।

'कालोवणीते' शब्द से शास्त्रकार ने यह व्यक्त किया है कि काल (आयुष्य-क्षय/की प्रतीक्षा की जानी चाहिए)।

चूर्णिकार ने **'कालोवणीते'** शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है — कालोपनीत शब्द से यह ध्वनित होता है कि काल (मृत्यु) प्राप्त न हो तो मरण का उद्यम नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे आचार्य नागार्जुन का अभिमत साक्षी है—(साधक विचार करता है —) "यदि मैं आयुष्य क्षय न होने की स्थिति मे मृत्यु प्राप्त कर जाऊँगा तो सुपरिणाम का लोप, अकीर्ति और दुर्गतिगमन हो जाएगा।"[1]

इसलिए शास्त्रकार कहते है— **'कखेज्ज काल जाव सरीरभेदो'** —जब तक शरीर छुटे नही तब तक काल (मृत्यु) की प्रतीक्षा करे।[2]

'कालोपणीते' का आशय वृत्तिकार प्रगट करते हैं — मृत्युकाल ने परवश कर दिया, इसलिये १२ वर्ष तक सलेखना द्वारा अपने आपको कृश करके पर्वत की गुफा आदि स्थण्डिल भूमि मे पादपोपगमन, इगित-मरण या भक्तपरिज्ञा, इनमे से किसी एक द्वारा अनशन-स्थित होकर मरण (आयुष्य क्षय) तक यानी आत्मा से शरीर पृथक् होने तक, आकाक्षा—प्रतीक्षा करे।

'अवि हम्ममाणे'— यह समाधि-मरण के साधक का विशेषण है। इसके द्वारा सूचित किया गया है कि साधक को अन्तिम समय मे परीषहो और उपसर्गों से घबराना नही चाहिए, पराजित न होना चाहिए। बल्कि इनसे आहत होने पर फलकवत् सुस्थिर रहना चाहिए। अन्यथा समाधि-मरण का अवसर खोकर वह बालमरण को प्राप्त हो जाएगा।[3]

'से हु पारगमे मुणी' — जो मुनि मृत्यु के समय मोहमूढ नही होता, परीषहो और उपसर्गों को समभाव से सहता है, वह अवश्य ही पारगामी, ससार या कर्म का अत पाने वाला हो जाता है। अथवा जो सयम भार उठाया था, उसे पार पहुँचाने वाला होता है।[4]

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

॥ 'धूत' षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. **"कालग्गहणा 'कालोवणीतो' गहणाद्दा ण अपत्तो काले मरणस्स उज्जमियव्वं। एत्थ णागज्जुणा सक्खिणो—'जति खलु अह अपुण्णे आउसे उ काल करिस्सामि तो—परिण्णालोवे अकित्ती दुग्गति-गमण च भविस्सर।' सो एव कालोवणीतो।"** —आचाराग चूर्णि पृ० ६८

२. आचा० शीला० टीका पत्र २३४।

३. आचा० शीला० टीका पत्र २३४।

४ आचा० शीला० टीका पत्र २३४।

'महापरिज्ञा' सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र के सातवें अध्ययन का नाम 'महापरिज्ञा' है, जो वर्तमान में अनुपलब्ध (विच्छिन्न) है।[1]
- 'महापरिज्ञा' का अर्थ है महान्—विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोह जनित दोषों को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करना।
- तात्पर्य यह है कि साधक मोह उत्पन्न होने के कारणों एवं आकांक्षाओं, कामनाओं, विषय-भोगों की लालसाओं आदि से बँधने वाले मोहकर्म के दुष्परिणामों को जानकर उनका क्षय करने के लिए महाव्रत, समिति, गुप्ति, परीषह-उपसर्ग सहनरूप तितिक्षा, विषय-कषाय-विजय, बाह्य-आभ्यन्तर तप, संयम, स्वाध्याय एवं आत्मालोचन आदि को स्वीकार करे, यही महापरिज्ञा है।
- इस पर लिखी हुई आचारांगनिर्युक्ति छिन्न-भिन्न रूप में आज उपलब्ध है। उसके अनुशीलन से पता चलता है कि निर्युक्तिकार के समय में यह अध्ययन उपलब्ध रहा होगा। निर्युक्तिकार ने 'महापरिन्ना' शब्द के 'महा' और 'परिन्ना' इन दो पदों का निरूपण करने के साथ-साथ 'परिन्ना' के प्रकारों का भी वर्णन किया है एवं अन्तिम गाथा में बताया है कि साधक को देवांगना, नरांगना आदि के मोहजनित परीषहों तथा उपसर्गों को सहन करके मन, वचन, काया से उनका त्याग करना चाहिए। इस परित्याग का नाम महापरिज्ञा है।
- सात उद्देशकों से युक्त इस अध्ययन में निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु के अनुसार मोहजन्य परीषहों या उपसर्गों का वर्णन था।[2] वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'संयमादि गुणों से युक्त साधक की साधना में कदाचित् मोहजन्य परीषह या उपसर्ग विघ्नरूप में आ पड़े तो उन्हें समभावपूर्वक (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) सहना चाहिए।[3]

---

१ यह मत आचारांगनिर्युक्ति, चूर्णि एवं वृत्ति के अनुसार है। स्थानांग तथा समवायांग सूत्र के अनुसार 'महापरिण्णा' नवम अध्ययन है। नंदिसूत्र की हारिभद्रीय वृत्ति के अनुसार यह अष्टम अध्ययन था। देखें आचारांग मुनि जम्बूविजय जी की प्रस्तावना, पृष्ठ २८।

२ 'मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा'—आचा० निर्युक्ति गा० ३४

३ सप्तमेऽयम् संयमादिगुणयुक्तस्य कदाचिन्मोहसमुत्थाः परीषहा उपसर्गा वा प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्याः। —आचा० शीला० टीका पत्रांक २५९

❋ सभी साधकों की दृढता, धृति, मति, विरक्ति, कष्ट-सहनक्षमता, सहनन, प्रज्ञा, एक सरीखी नही होती, इसलिए निर्बल मन आदि से युक्त साधक सयम से सर्वथा भ्रष्ट न हो जाए, क्योंकि सयम मे स्थिर रहेगा तो आत्म-शुद्धि करके दृढ हो जाएगा, इस दृष्टि से सभव है, इस अध्ययन मे कुछ मत्र, तत्र, यत्र विद्या आदि के प्रयोग[1] साधक को सयम में स्थिर रखने के लिए दिए गए हो, परन्तु आगे चलकर इनका दुरुपयोग होता देखकर इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया हो[2] और सम्भव है एक दिन इस अध्ययन को आचाराग से सर्वथा पृथक् कर दिया गया हो।

❋ वृत्तिकार इस अध्ययन को विच्छिन्न बताते हैं।[3] जो भी हो, यह अध्ययन आज हमारे समक्ष अनुपलब्ध है।

❋

---

१. जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ।
वंदामि अज्जवइर अपच्छिमो जो सुयधराण ।।७६९।। —आवश्यक निर्युक्ति

इस गाथा से प्रतीत होता है, आर्यवज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से कई विद्याएँ उद्धृत की थी। प्रभावकचरित वज्रप्रबन्ध (१४८) मे भी कहा है—वज्रस्वामी ने आचाराग के महापरिज्ञाध्ययन से 'आकाशगामिनी' विद्या उद्धृत की।

२ सपत्ते महापरिण्णा ण पढिज्जइ असमणुण्णाया—आचा० चूर्णि।

३. सप्तमं महापरिज्ञाध्ययन, तच्च सम्प्रति व्यवच्छिन्नम् —आचा० शीला० टीका पत्राक २५९।

'विमोक्ष' अष्टम अध्ययन

प्राथमिक

- आचाराग सूत्र के अष्टम अध्ययन का नाम 'विमोक्ष' है।
- अध्ययन के मध्य और अन्त मे 'विमोह' शब्द का उल्लेख मिलता है, इसलिए इस अध्ययन के 'विमोक्ष' और 'विमोह' ये दो नाम प्रतीत होते हैं। यह भी सम्भव है कि 'विमोह' का ही 'विमोक्ष' यह सस्कृत स्वरूप स्वीकार कर लिया गया हो।[1]
- 'विमोक्ष' का अर्थ परित्याग करना—अलग हो जाना है और विमोह का अर्थ—मोह रहित हो जाना। तात्त्विक दृष्टि से अर्थ मे विशेष अन्तर नही है।
- बेडी आदि किसी बन्धन रूप द्रव्य से छूट जाना—'द्रव्य-विमोक्ष' है और आत्मा को बन्धन मे डालने वाले कषायो अथवा आत्मा के साथ लगे कर्मों के बन्धन रूप सयोग से मुक्त हो जाना 'भाव-विमोक्ष' है।[2]
- यहाँ भाव-विमोक्ष का प्रतिपादन है। वह मुख्यतया दो प्रकार का है—देश-विमोक्ष और सर्व-विमोक्ष। अविरतसम्यग्दृष्टि का अनन्तानुबन्धी (चार) कषायो के क्षयोपशम से, देशविरतो का अनन्तानुबन्धी एव अप्रत्याख्यानी (आठ) कषायो के क्षयोपशम से, सर्वविरत साधुओ का अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी (इन १२) कषायो के क्षयोपशम से तथा क्षपकश्रेणी मे जिसका कषाय क्षीण हुआ है, उनका उतना 'देश-विमोक्ष'—कहलाता है। सर्वथा विमुक्त सिद्धो का 'सर्वविमोक्ष' होता है।[3]
- 'भाव-विमोक्ष' का एक अन्य नय से यह भी अर्थ होता है कि पूर्वबद्ध या अनादिबन्धन-बद्ध जीव का कर्म से सर्वथा अभाव रूप विवेक (पृथक्करण) भावविमोक्ष है। ऐसा भाव-विमोक्ष जिसका होता है, उसे भक्तपरिज्ञा, इगितमरण और पादपोपगमन, इन तीन समाधिमरणो मे से किसी एक मरण को अवश्य स्वीकार करना होता है। ये मरण

---

१ (क) अध्ययन के मध्य मे, 'इच्चेय विमोहाययण' तथा 'अणुपुव्वेण विमोहाइ' एव अध्ययन के अन्त मे 'विमोहन्नयर हिय' इन वाक्यो मे स्पष्ट रूप से 'विमोह' का उल्लेख है। निर्युक्ति एव वृत्ति मे 'विमोक्ष' नाम स्वीकृत है। चूर्णि मे अध्ययन की समाप्ति पर 'विमोक्षायतन' नाम अकित है।
(ख) आचा० शीला० टीका पत्राक २५९, २७९, २९५।

२ आचाराग निर्युक्ति गा० २५९, २६०। आचा० शीला० टीका पत्राक २६०।

३ आचा० निर्युक्ति गा० २६०, आचा० शीला० टीका पत्रांक २६०।

भी भाव-विमोक्ष के कारण होने से भावविमोक्ष है।[1] उनके अभ्यास के लिए साधक के द्वारा विविध बाह्याभ्यन्तर तपो द्वारा शरीर और कषाय की सलेखना करना, उन्हे कृश करना भी भाव-विमोक्ष है।

- विमोक्ष अध्ययन के ८ उद्देशक हैं। जिनमें पूर्वोक्त भाव-विमोक्ष के परिप्रेक्ष्य मे विविध पहलुओ से विमोक्ष का निरूपण है।
- प्रथम उद्देशक में असमनोज्ञ-विमोक्ष का, द्वितीय उद्देशक में अकल्पनीय-विमोक्ष का तथा तृतीय उद्देशक मे इन्द्रिय-विषयो से विमोक्ष का वर्णन है। चतुर्थ उद्देशक से अष्टम उद्देशक तक एक या दूसरे प्रकार से उपकरण और शरीर के परित्यागरूप विमोक्ष का प्रतिपादन है। जैसे कि चतुर्थ मे वैहानस और गृद्धपृष्ठ नामक मरण का, पचम में ग्लानता एव भक्तपरिज्ञा का, छठे मे एकत्वभावना और इंगितमरण का, सप्तम में भिक्षु प्रतिमाओ तथा पादपोपगमन का एव अष्टम उद्देशक मे द्वादश वर्षीय सलेखना-क्रम एव भक्त-परिज्ञा, इगितमरण एव पादपोपगमन के स्वरूप का प्रतिपादन है।[2]
- यह अध्ययन सूत्र १९९ से प्रारम्भ होकर सूत्र २५३ पर समाप्त होता है।

---

१. आचा० निर्युक्ति गा० २६१, २६२, आचा० शीला० टीका पत्रांक २६१।

२. आचा० निर्युक्ति गा० २५३, २५४, २५५, २५६, २५७। आचा० शीला० टीका पत्रांक २५९।

'विमोक्खो' अट्ठमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

विमोक्ष : अष्टम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

असमनोज्ञ-विमोक्ष

१९९ से[1] बेमि —समणुण्णस्स वा असमणुण्णस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पादपुंछणं वा णो पाएज्जा, णो णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

धुवं चेतं जाणेज्जा असणं वा जाव पादपुंछणं वा, लभिय णो लभिय, भुंजिय णो भुंजिय, पंथं[2] वियत्ता विओकम्म, विभत्तं धम्मं झोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पाएज्ज वा, णिमंतेज्ज वा कुज्जा वेयावडियं। परं अणाढायमाणे त्ति बेमि।

१९९ मैं कहता हूँ—समनोज्ञ (दर्शन और वेष मे सम, किन्तु आचार से असमान) या असमनोज्ञ (दर्शन, वेष और आचार-तीनो से असमान) साधक को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कबल या पादप्रोछन आदरपूर्वक न दे, न देने के लिए निमन्त्रित करे और न उनका वैयावृत्य (सेवा) करे।

(असमनोज्ञ भिक्षु कदाचित् मुनि से कहे—(मुनिवर!) तुम इस बात को

---

१. **से बेमि, समणुण्णस्स०** पाठ (सू० १९९) मे **णो पाएज्जा, णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं, परं आढायमाणे त्तिबेमि'** के बदले चूर्णि मे **'पाएज्जा' वा णिमन्तेज्ज वा कुज्जा वा वेयावडियं परं आढायमाणा'** पाठ मिलता है। इसका अर्थ इस प्रकार है "अत्यधिक आदरपूर्वक दे, देने के लिए निमन्त्रित करे या उनका वैयावृत्य (सेवा) करे।"

२ **पंथं वियत्ता वि ओकम्म,** आदि पाठ के बदले चूर्णि के पाठ मे मिलता है—"**वत्त पंथ (?) विभत्तं धम्म झोसेमाणा समेमाणा प (च) लेमाणा इति पादिज्ज वा णिमतेज्ज वा कुज्जा वेयावडियं वा आढाजमाण। परं अणाढायमाणे।** अर्थात्—तुम्हारा मार्ग सीधा है, हमसे भिन्न धर्म का पालन करते हुए भी (तुमको यहाँ अवश्य आना है) यह (बात) वह उपाश्रय मे आकर कहता हो, या रास्ते मे चलते कहता हो, अथवा उपाश्रय मे आकर या मार्ग मे चलते हुए वह परम आदर देता हुआ अशनादि देता हो, उनके लिए निमन्त्रित करता हो या वैयावृत्य करता हो तो मुनि उसकी बात का बिलकुल आदर न देता हुआ चुप रहे।

इसका विशेष अर्थ चूर्णि मे इस प्रकार है — "वत्त वियत्त अणुपथे सो अम्ह विहारावसहो वा। थोवं उव्वतियव्व कतिधिप्पदाणि। अथवा वत्तो पहो णिराबातो ण तिणादिणा छण्णो।" अर्थात् — मार्ग थोडा-सा मुडकर है। मार्ग पर ही हमारा विहार या आवसथ है। थोडा-सा कुछ कदम मुडना पड़ता है। अथवा रास्ता आवृत्त है निवृत्त नही है, घास आदि से आच्छादित है।

निश्चित समझ लो—(हमारे मठ या आश्रम मे प्रतिदिन)अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोछन (मिलता है)। तुम्हे ये प्राप्त हुए हो या न हुए हो तुमने भोजन कर लिया हो या न किया हो, मार्ग सीधा हो या टेढा हो, हमसे भिन्न धर्म का पालन (आचरण) करते हुए भी तुम्हे (यहाँ अवश्य आना है)। (यह बात) वह (उपाश्रय मे – धर्म-स्थान मे) आकर कहता हो या (रास्ते मे) चलते हुए कहता हो, अथवा उपाश्रय मे आकर या मार्ग मे चलते हुए वह अशन-पान आदि देता हो, उनके लिये निमंत्रित (मनुहार) करता हो, या (किसी प्रकार का)वैयावृत्य करता हो, तो मुनि उसकी बात का बिल्कुल अनादर (उपेक्षा)करता हुआ(चुप रहे)।

— ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन — समनोज्ञ-असमनोज्ञ— ये दोनो शब्द श्रमण भगवान् महावीर के धर्मशासन के साधु-साध्वियो के लिए साधनाकाल मे दूसरे के साथ सम्बन्ध रखने व न रखने मे विधि-निषेध के लिये प्रयुक्त है। समनोज्ञ उसे कहते है— जिसका अनुमोदन दर्शन से, वेष से और समाचारी से किया जा सके और असमनोज्ञ उसे कहते है — जिसका अनुमोदन दृष्टि से, वेष से और समाचारी से न किया जा सके। एक जैनश्रमण के लिए दूसरा जैनश्रमण समनोज्ञ होता है, जबकि अन्य धर्म-सम्प्रदायानुयायी साधु असमनोज्ञ। समनोज्ञ के भी मुख्यतया चार विकल्प होते हैं[1]।

(१) जिनके दर्शन (श्रद्धा-प्ररूपणा) मे थोडा-सा अन्तर हो, वेष मे जरा-सा अन्तर हो, समाचारी मे भी कई बातो मे अन्तर हो।

(२) जिनके दर्शन और वेश मे अन्तर न हो, परन्तु समाचारी मे अन्तर हो।

(३) जिनके दर्शन, वेष और समाचारी, तीनो मे कोई अन्तर न हो किन्तु आहारादि साभोगिक व्यवहार न हो, और

(४)जिनके दर्शन, वेष और समाचारी तीनो मे कोई अन्तर न हो तथा जिनके साथ आहारादि साभोगिक व्यवहार भी हो।

इन चारो विकल्पो मे पूर्ण समनोज्ञ तो चौथे विकल्प वाला होता है। प्राय सम आचार वाले के साथ साभोगिक व्यवहार सम्बन्ध रखा जाता है, जिसका आचार सम न हो, उसके साथ नही। वृत्तिकार मे '**समणुण्ण**' शब्द का सस्कृत रूपान्तर '**समनोज्ञ**' करके उसका अर्थ किया है—जो दर्शन से और वेष से सम हो, किन्तु भोजनादि व्यवहार से नही।[2] साधर्मिक (समान धर्मा) तो मुनि भी हो सकते है, गृहस्थ भी। यहाँ—मुनि साधर्मिक ही विवक्षित है। मुनि अपने

---

१ समनोज्ञ या समनुज्ञ के निम्नोक्त अर्थ शास्त्रो मे किए गये हैं—(१) एक समाचारी-प्रतिबद्ध (औपपातिक, आचाराग, व्यवहार) (२) साभोगिक (निशीथ चू० ५ उ० ०।३।३), (३) चारित्रवर्ति सविग्ने (आचा० १, ८।२ उ०), (४) अनुमोदनकर्ता (आचा० १।१।१।५), (५) अनुमोदित (आचा० वृ० पाइअसद्द०)

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक २६४।

साधर्मिक समनोज्ञ को ही आहारादि ले-दे सकता है, किन्तु एक आचार होने पर भी जो शिथिल आचार वाले पार्श्वस्थ, कुशील, अपच्छद, अपसन्न आदि हो, उन्हे मुनि आदरपूर्वक आहारादि नही ले-दे सकता। निशीथसूत्र मे इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है।[1] असमनोज्ञ के लिए शास्त्रो में 'अन्यतीर्थिक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। '**णो पाएज्जा**' आदि तीन निषेधात्मक वाक्यो में प्रयुक्त 'णो' शब्द सर्वथा निषेध अर्थ मे है। कदाचित् ऐसा समनोज्ञ या असमनोज्ञ साधु अत्यन्त रुग्ण, असहाय, अशक्त, ग्लान या सकटग्रस्त या एकाकी आदि हो तो आपवादिक रूप से ऐसे साधु को भी आहारादि दिया-लिया जा सकता है, उसे निमन्त्रित भी किया जा सकता है और उसकी सेवा भी की जा सकती है। वास्तव मे तो ससर्ग-जनित भी दोष से बचने के लिए ही ऐसा निषेध किया गया है। मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भावना को हृदय से निकाल देने के लिए नही। वस्तुत: यह निषेध भिन्न समनोज्ञ या असमनोज्ञ के साथ राग, द्वेष ईर्ष्या, घृणा, विरोध, वैर, भेदभाव आदि बढाने के लिए नही किया गया है, यह तो सिर्फ अपनी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निष्ठा मे शैथिल्य आने से बचाने के उद्देश्य से है। आगे चलकर तो समाधिमरण की साधना मे अपने समनोज्ञ साधर्मिक मुनि से भी सेवा लेने का निषेध किया गया है, वह भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे दृढता के लिए है।[2] इसी सूत्र १९९ की पक्ति मे '**पर आढायमाणे**' पद दिया गया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि अत्यन्त आदर के साथ नही, किन्तु कम आदर के साथ अर्थात् आपवादिक स्थिति मे समनोज्ञ साधु को आहारादि दिया जा सकता है। इसमे ससर्ग या सम्पर्क बढाने को दृष्टि का निषेध होते हुए, वात्सल्य एव सेवा-भावना का अवकाश सूचित होता है। शास्त्र मे विपरीत (मिथ्या) दृष्टि के साथ सस्तव, अतिपरिचय, प्रशसा तथा प्रतिष्ठा-प्रदान को रत्नत्रय साधना दूषित करने का कारण बताया गया है।[3] अत. 'पर आदर' शब्द सम्पर्क-निषेध का वाचक समझना चाहिए।

'**धुव चेत जाणेज्जा**' आदि पाठ सूत्र का उत्तरार्ध है। पूर्वार्ध मे आहारादि देने का निषेध करके इसमे असमनोज्ञ साधुओ से आहारादि लेने का निषेध किया है, यह सर्वथा निषेध है। तथाकथित असमनोज्ञ--अन्यतीर्थिक भिक्षुओ की ओर से किस-किस प्रकार से साधु को प्रलोभन, आदरभाव, विश्वास आदि से बहकाया, फुसलाया और फंसाया जाता है, यह इस सूत्रपाठ मे बताया गया है। अपरिपक्व साधक बहक जाता है, फिसल जाता है। इसलिए शास्त्रकार ने पहले ही मोर्चे पर उनकी बात का आदर न करने, उपेक्षा-सेवन करने का निर्देश किया है।[4]

असमनोज्ञ आचार-विचार-विमोक्ष

२०० इहमेगेसिं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति। ते इह आरंभट्ठी अणुवयमाणा—

---

१ निशीथ अध्ययन २।४४, तथा निशीथ अध्ययन १५।७६-७७।

२. आचाराग पूज्य आचार्य श्री आत्माराम जी म० कृत टीका अ० ८, उ० १ के विवेचन पर से पृष्ठ ५४१।

३. (क) तत्त्वार्थसूत्र प० सुखलाल जी कृत विवेचन अ० ७, सू० १८ पृ० १८४।
(ख) आवश्यकसूत्र का सम्यक्त्व सूत्र। (ग) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६५।

४. आचा० शीला० टीका पत्राक २६५।

हण[1] पाणे घातमाणा, हणतो यावि समणुजाणमाणा, अदुवा अदिन्नमाइयति, अदुवा वायाओ विउंजंति, तं जहा—अत्थि लोए, णत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, सादिए लोए, अणादिए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडे ति वा दुकडे ति वा कल्लाणे ति वा पावए ति वा साधू ति वा असाधू ति वा सिद्धी ति वा असिद्धी ति वा निरए ति वा अनिरए ति वा। जमिणं विप्पडिवण्णा मामगं धम्मं पण्णवेमाणा। एत्थ वि जाणह अकस्मात्।

२०० इस मनुष्य लोक मे कई साधकों को आचार-गोचर (शास्त्र-विहित आचरण) सुपरिचित नही होता। वे इस साधु-जीवन मे (पचन-पाचन आदि सावद्य क्रियाओ द्वारा) आरम्भ के अर्थी हो जाते हैं, आरम्भ करने वाले (अन्यमतीय भिक्षुओं) के वचनो का अनुमोदन करने लगते हैं। वे स्वय प्राणिवध करते है, दूसरो से प्राणिवध कराते है और प्राणिवध करने वाले का अनुमोदन करते है। अथवा वे अदत्त (बिना दिए हुए पर-द्रव्य) का ग्रहण करते है।

अथवा वे विविध प्रकार के (एकान्त व निरपेक्ष) वचनो का प्रयोग (या परस्पर विमगत अथवा विरुद्ध एकान्तवादो का प्ररूपण) करते है। जैसे कि—(कई कहते है—) लोक है, (दूसरे कहते है—) लोक नही है। (एक कहते है-) लोक ध्रुव है[2], (दूसरे कहते है-) लोक अध्रुव है।[3] (कुछ लोग कहते है—) लोक सादि है, (कुछ मतवादी कहते है—) लोक अनादि है। (कई कहते है—) लोक सान्त है, (दूसरे कहते है—) लोक अनन्त है। (कुछ दार्शनिक कहते है—) सुकृत है, (कुछ कहते है—) दुष्कृत है। (कुछ विचारक कहते है—) कल्याण है, (कुछ कहते है—) पाप है। (कुछ कहते —हैं) साधु (अच्छा) है, (कुछ कहते है—) असाधु (बुरा) है। (कई वादी कहते है—) सिद्धि (मुक्ति) है, (कई कहते है—) सिद्धि (मुक्ति) नही है। (कई दार्शनिक कहते हैं—) नरक है, (कई कहते है—)नरक नही है।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध वादो को मानते हुए (नाना प्रकार के आग्रहो को स्वीकार किए हुए जो ये मतवादी) अपने-अपने धर्म का प्ररूपण करते है, इनके (पूर्वोक्त प्ररूपण) मे कोई भी हेतु नही है, (ये समस्त वाद ऐकान्तिक एव हेतु शून्य है), ऐसा जानो।

विवेचन—असमनोज्ञ की पहिचान—असमनोज्ञ साधुओ की पहिचान के भिन्न वेष के अलावा दो और आधार इस सूत्र मे बताए है—

(१) मोक्षार्थ अहिंसादि के आचार मे विषमता एव शिथिलता

(२) एकान्तवाद के सन्दर्भ मे एकान्त एव विरुद्ध दृष्टि-परक श्रद्धा-प्ररूपणा।

---

१ 'हण पाणे घातमाणा' के बदले चूर्णि मे पाठान्तर है—'हणपाणघातमाणा। अर्थ किया है—'सय हणति एगिंदियाती, घातमाणा रधावेमाणा—अर्थात्—स्वय एकेन्द्रियादि प्राणियो का हनन करते हैं तथा प्राणियो का मांस पकवाते है,—इस प्रकार प्राणिघात करवाते है।

२ लोक कूटस्थ नित्य है (शाश्वतवाद)। ३. लोक क्षण-क्षण परिवर्तनशील है (परिवर्तनवाद)।

प्रस्तुत सूत्र के पूर्वार्द्ध मे तथाकथित साधुओ के अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य आदि आचार मे विषमता और शिथिलता बताई है, जबकि उत्तरार्ध मे असमनोज्ञ साधुओ की एकान्त एव विरुद्ध श्रद्धा-प्ररूपणा की झाकी दी गयी है।[1]

एकान्त एव विरुद्ध श्रद्धा-प्ररूपणा के विषय—असमनोज्ञ साधुओ की एकान्त श्रद्धा-प्ररूपण (वाद) के ५ विषय यहाँ बताए गए है—(१) लोक-परलोक, (२) सुकृत-दुष्कृत, (३) पुण्य-पाप, (४) साधु-असाधु और (५) सिद्धि-असिद्धि (मोक्ष और बध)।[2] इन सब विषयो मे असमनोज्ञो द्वारा एकान्तवाद का आश्रय लेने से वह यथार्थ और सुविहित साधु के लिए उपादेय नही होता। वृत्तिकार ने विभिन्न वादियो द्वारा प्ररूपित एकान्तवाद पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।[3]

मतिमान-माहन प्रवेदित धर्म

२०१. एवं तेसिं णो सुअक्खाते णो सुपण्णत्ते धम्मे भवति। से जहेतं भगवया पवेदितं आसुपण्णेण जाणया पासया। अदुवा गुत्ती वइगोयरस्स त्ति बेमि।

२०२. सव्वत्थ सम्मतं पावं। तमेव उवातिकम्म एस महं विवेगे वियाहिते। गामे अदुवा रण्णे? णेव गामे णेव रण्णे, धम्ममायाणह पवेदितं माहणेण मतिमया। जामा तिण्णि उदाहिआ जेसु इमे आरिया[4] संबुज्झमाणा समुट्ठिता, जे णिव्वुता[5] पावेहिं कम्मेहिं अणिदाणा ते वियाहिता।

२०१ इस प्रकार उन (हेतु-रहित एकान्तवादियो) का धर्म न सु-आख्यात (युक्ति-सगत) होता है और न ही सुप्ररूपित।

जिस प्रकार से आशुप्रज्ञ (सर्वज्ञ-सर्वदर्शी) भगवान् महावीर ने इस (अनेकान्त रूप सम्यक्‌वाद) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह (मुनि) उसी प्रकार से प्ररूपण-सम्यग्वाद का निरूपण करे, अथवा वाणी विषयक गुप्ति से (मौन साध कर) रहे। ऐसा मै कहता हूँ।

२०२ (वह मुनि उन मतवादियो से कहे—) (आप सबके दर्शनो मे आरम्भ) पाप (कृत-कारित-अनुमोदित रूप से) सर्वत्र सम्मत (निषिद्ध नही) है, (किन्तु मेरे दर्शन मे यह सम्मत नही है)। मै उसी (पाप/पापाचरण) का निकट से अतिक्रमण करके (स्थित हूँ) यह मेरा विवेक (असमनुज्ञवाद-विमोक्ष) कहा गया है।

धर्म ग्राम मे होता है, अथवा अरण्य मे? वह न तो गाँव मे होता है, न अरण्य मे, उसी (जीवादितत्त्व-परिज्ञान एव सम्यग् आचरण) को धर्म जानो, जो मतिमान् (सर्वपदार्थ-परिज्ञानमान्) महामाहन भगवान् ने प्रवेदित किया (बतलाया) है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र २६५। २ आचा० शीला० टीका पत्र २६५।

३ आचा० शीला० टीका पत्र २६५, २६६ २६७।

४ **आरिया** के बदले चूर्णि मे पाठान्तर है—'**आयरिया**', अर्थ होता है— **आचार्य**।

५. '**णिव्वुता**' के बदले 'चूर्णि मे पाठ है—**णिव्वुडा**, जिसका अर्थ होता है—निवृत—शान्त।

(उस धर्म के) तीन याम १. प्राणातिपात-विरमण २ मृषावाद-विरमण, ३. अदत्तादान विरमण रूप तीन महाव्रत या तीन वयोविशेष (अथवा सम्यक्दर्शनादि तीन रत्न) कहे गए है, उन (तीनो यामो) मे ये आर्य सम्बोधि पाकर उस त्रियाम रूप धर्म का आचरण करने के लिए सम्यक् प्रकार से (मुनि दीक्षा हेतु) उत्थित होते है, जो (क्रोधादि को दूर करके) शान्त हो गए है, वे (पापकर्मो के) निदान (मूल कारण भूत राग-द्वेष के बन्धन) से विमुक्त कहे गए है।

विवेचन—असमनोज्ञ साधुओ के एकान्तवाद के चक्कर मे अनेकान्तवादी एवं शास्त्रज्ञ सुविहित साधु इसलिए न फसे कि उनका धर्म (दर्शन) न तो सम्यक्रूप से युक्ति, हेतु, तर्क आदि द्वारा कथित ही है और न ही सम्यक् प्रकार से प्ररूपित है।[1]

भगवान् महावीर ने अनेकान्तरूप सम्यग्वाद का प्रतिपादन किया है। जो अन्यदर्शनी एकान्तवादी साधक सरल हो, जिज्ञासु हो, तत्त्व समझना चाहता हो, उसे शान्ति, धैर्य और युक्ति से समझाए, जिससे असत्य एवं मिथ्यात्व से विमोक्ष हो। यदि असमनोज्ञ साधु जिज्ञासु व सरल न हो, वक्र हो, वितण्डावादी हो,[2] वचन-युद्ध करने पर उतारू हो अथवा द्वेष और ईर्ष्यावश लोगो मे जैन साधुओ को बदनाम करना हो, वाद-विवाद और झगडा करने के लिए उद्यत हो तो[3] शास्त्रकार स्वय कहते है—'**अदुवा गुत्ती वयोगोयरस्स**' अर्थात्—ऐसी स्थिति मे मुनि वाणी-विषयक गुप्ति रखे। इस वाक्य के दो अर्थ फलित होते है—

(१) वह मुनि अपनी (सत्यमयी) वाणी की सुरक्षा करे यानी भाषासमितिपूर्वक वस्तु का यथार्थरूप कहे,

(२) वाग्गुप्ति करे—बिलकुल मौन रखे।[4]

सूत्र २०२ के उत्तरार्ध मे धर्म के विषय मे विवाद और मूढता से विमुक्ति की चर्चा की गयी है। उस युग में कुछ लोग एकान्ततः ऐसा मानते और कहते थे—गाव, नगर आदि जन-समूह में रहकर ही साधु-धर्म की साधना हो सकती है। अरण्य मे एकान्त मे रहकर साधु को परीषह सहने का अवसर ही कम आएगा, आएगा तो वह विचलित हो जाएगा। एकान्त मे ही तो पाप पनपता है। इसके विपरीत कुछ साधक यह कहते थे कि अरण्यवास मे ही साधु-धर्म की सम्यक् साधना की जा सकती है, अरण्य मे वनवासी बनकर कद-मूल-फलादि खाकर ही तपस्या की जा सकती है, बस्ती मे रहने से मोह पैदा होता है, इन दोनो एकान्तवादो का प्रतिवाद करते हुए शास्त्रकार कहते हैं।

'**णेव गामे, णेव रण्णे**'—धर्म न तो ग्राम मे रहने से होता है, न अरण्य मे आरण्यक बन कर रहने से। धर्म का आधार ग्राम-अरण्यादि नही है, उसका आधार आत्मा है, आत्मा के

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। २. कहा भी है—'**राग-दोसकरो वादो**'।
३. आचाराग; आचार्य आत्मारामजी म० पृ० ५५१।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८।

गुण—सम्यग्दर्शन-दर्शन-चारित्र मे धर्म है, जिसने जीव, अजीव आदि का परिज्ञान हो, तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा हो और यथोक्त मोक्षमार्ग का आचरण हो।[1]

वास्तव में आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। पूज्यपाद देवनन्दी ने इसी बात का समर्थन किया है—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चल ॥[2]

—अनात्मदर्शी साधक गाँव या अरण्य मे रहता है, किन्तु आत्मदर्शी साधक का वास्तविक निवास निश्चल विशुद्ध आत्मा मे रहता है।

'जामा तिण्णि उदाहिआ'—यह पद महत्त्वपूर्ण है। वृत्तिकार ने याम के तीन अर्थ किए हैं-

(१) तीन याम—महाव्रत विशेष,

(२) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, ये तीन याम।

(३) मुनि धर्म-योग्य तीन अवस्थाएँ—पहली आठ वर्ष से तीस वर्ष तक, दूसरी ३१ से ६० तक और तीसरी—उसमे आगे की। ये तीन अवस्थाएं 'त्रियाम' है।[3] स्थानांग सूत्र में इन्हें प्रथम, मध्यम और अन्तिम नाम से कहा गया है।[4]

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह ये तीन महाव्रत तीन याम है, इन्हें पातंजल योगदर्शन में 'यम' कहा है।[5] भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में चार महाव्रतो को 'चातुर्याम' कहा जाता था। यहाँ अचौर्य महाव्रत को सत्य मे तथा ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह महाव्रत मे समाविष्ट कर लिया है।[6]

मनुस्मृति और महाभारत आदि ग्रन्थो मे एक प्रहर को याम कहते हैं, जो दिन का और रात्रि का चतुर्थ भाग होता है। दिन और रात्रि के कुल आठ याम होते है।

संसार-भ्रमणादि का जिनसे उपरम होता है, उन ज्ञानादि रत्नत्रय को भी त्रियाम कहा गया है।[7] **'अणियाणा'** शब्द का यहाँ अर्थ है—निदान-रहित। कर्मबन्ध का निदान—आदि कारण राग-द्वेष है। उनसे वे (उपशान्त मुनि) मुक्त हो जाते है।

दण्डसमारंभ-विमोक्ष

२०३. उड्ढ अध तिरियं दिसासु सव्वतो सव्वावंति च णं पाडियक्कं[8] जीवेहिं कम्मसमारंभे ण।

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। (ख) 'ण मुणी रण्णवासेण;—उत्तरा० २५।३१।

२ समाधिशतक ७३।

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। ४ स्थानांग स्था० ३।

५. आचार्य समन्तभद्र ने अल्पकालिक व्रत को नियम और आजीवन पालने योग्य अहिंसादि को यम कहा है—**नियम: परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते।**

६. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। ७ आचा० शीला० टीका पत्रांक २५८।

८. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६८। (ख) **'निदानस्त्वादि कारणम्'**—अमरकोष।

९ **'पाडिएक्क'** के बदले पाठ मिलते हैं—**पडिएक्क, पाडेक्क, परिक्क**। चूर्णिकार ने **'पाडियक्कं'** पाठ मानकर उसकी व्याख्या यो की है—'पत्तेयं पत्तेयं समस्तकायेसु दंड आरभते इति

तं परिण्णाय मेहावी णेव[1] सयं एतेहिं काएहिं दंडं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं एतेहिं काएहिं दंडं समारभावेज्जा, णेवण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारभंते वि समणुजाणेज्जा।

जे चऽण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारभंति तेसिं पि वयं लज्जामो।

तं परिण्णाय मेहावी तं वा दंडं अण्णं वा दंडं णो दंडभी दंडं समारभेज्जासि त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

२०३ ऊँची, नीची एवं तिरछी, सब दिशाओं (और विदिशाओं) में सब प्रकार से एकेन्द्रियादि जीवों में से प्रत्येक को लेकर (उपमर्दनरूप) कर्म-समारम्भ किया जाता है। मेधावी साधक उस (कर्मसमारम्भ) का परिज्ञान (विवेक) करके, स्वयं इन षट्जीवनिकायों के प्रति दण्ड समारम्भ न करे, न दूसरों से इन जीवनिकायों के प्रति दण्ड समारम्भ करवाए और न ही जीवनिकायों के प्रति दण्डसमारम्भ करने वालों का अनुमोदन करे। जो अन्य दूसरे (भिक्षु) इन जीवनिकायों के प्रति दण्डसमारम्भ करते हैं, उनके (उस जघन्य) कार्य से भी हम लज्जित होते हैं।

(दण्ड महान् अनर्थकारक है)—इसे दण्डभीरु मेधावी मुनि परिज्ञात करके उस (पूर्वोक्त जीव-हिंसा रूप) दण्ड का अथवा मृषावाद आदि किसी अन्य दण्ड का दण्ड-समारम्भ न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—शब्द-कोष के अनुसार 'दण्ड' शब्द निम्नोक्त अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) लकडी आदि का डंडा (२) निग्रह या सजा करना, (३) अपराधी को अपराध के अनुसार शारीरिक या आर्थिक दण्ड देना, (४) दमन करना, (५) मन वचन-काया का अशुभ व्यापार, (६) जीवहिंसा तथा प्राणियों का उपमर्दन आदि।[2] यहाँ 'दण्ड' शब्द प्राणियों को पीडा देने, उपमर्दन करने तथा मन, वचन और काया का दुष्प्रयोग करने के अर्थ में प्रयुक्त है।

दण्ड के प्रकार—प्रस्तुत प्रसंग में दण्ड तीन प्रकार के बताए हैं—(१) मनोदण्ड, (२)

पाडियक्कं डंडं आरभंति। जतोऽयमुवदेसो तं परिण्णाय मेहावी।' अर्थात्—षट्कायों में प्रत्येक—प्रत्येक काय के प्रति दण्ड आरम्भ-समारम्भ करता है, उसे ही शास्त्र में कहा है—**पाडियक्कं डंडं आरभंति**। क्योंकि यह उपदेशात्मक सूत्र पंक्तियाँ हैं, इसीलिए आगे कहा है—तं परिण्णाय।

१ इसके बदले चूर्णि में पाठान्तर है—**णेव सयं छज्जीवकायेसु डंडं समारभेज्जा, णो वि अण्णे एतेसु कायेसु डंडं समारभाविज्जा, जाव समणुजाणिज्जा।** अर्थात्—स्वयं षड्जीवनिकायों के प्रति दण्ड-समारम्भ न करे, न ही दूसरों से इन्हीं जीवकायों के प्रति दण्डसमारम्भ करावे, और न ही दण्ड-समारम्भ करने वाले का अनुमोदन करे।

२. (क) पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ४५१,

(ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २६९।

(ग) अभिधानराजेन्द्रकोष भा० ४ पृ० २४२० पर देखें—

दण्ड्यते व्यापाद्यते प्राणिनो येन स दण्डः—आचा० १ श्रु० २ अ०।

दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायलक्षणेहिंसामात्रे, भूतोपमर्दे—धर्मसार।

दण्डयति पीडामुत्पादयतीति दण्डः दुःखविशेषे—सूत्र कृ० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

वचनदण्ड, (३) कायदण्ड। मनोदण्ड के तीन विकल्प हैं—(१) रागात्मक मन, (२) द्वेषात्मक मन और (३) मोहयुक्त मन।

(१) झूठ बोलना, (२) वचन से कह कर किसी के ज्ञान का घात करना, (३) चुगली करना, (४) कठोर वचन कहना, (५) स्व-प्रशंसा और पर-निन्दा करना, (६) संताप पैदा करने वाला वचन कहना तथा (७) हिंसाकारी वाणी का प्रयोग करना—ये वचनदण्ड के सात प्रकार है।

(१) प्राणिवध करना, (२) चोरी करना, (३) मैथुन सेवन करना, (४) परिग्रह रखना, (५) आरम्भ करना, (६) ताडन करना, (७) उग्र आवेशपूर्वक डराना-धमकाना; कायदण्ड के ये सात प्रकार है।[1]

दण्ड-समारम्भ का अर्थ यहाँ दण्ड-प्रयोग है। चूँकि मुनि के लिए तीन करण (१ कृत, २ कारित और ३ अनुमोदन) तथा तीन योग (१ मन, २ वचन और ३ काय के व्यापार से हिंसादि दण्ड का त्याग करना अनिवार्य है। इसलिए यहाँ कहा गया है — मुनि पहले सभी दिशा-विदिशाओ मे सर्वत्र, सब प्रकार से, षट्कायिक जीवो मे से प्रत्येक के प्रति होने वाले दण्ड-प्रयोग को, विविध हेतुओ से तथा विविध शस्त्रो से उनकी हिंसा की जाती है, इसे भली-भाँति जान ले, तत्पश्चात् तीन करण, तीन योग से उन सभी दण्ड-प्रयोगो का परित्याग कर दे। निर्ग्रन्थ श्रमण दण्डसमारम्भ से स्वय डरे व लज्जित हो, दण्ड-समारम्भकर्ता साधुओ पर साधु होने के नाते लज्जित होना चाहिए, जीवहिंसा तथा इसी प्रकार अन्य असत्य, चोरी आदि समस्त दण्ड-समारम्भो को महान अनर्थकर जानकर साधु स्वय दण्डभीरु—अर्थात् हिंसा से भय खाने वाला होता है, अत उसको उन दण्डो से मुक्त होना चाहिए।[2]

प्रस्तुत सूत्र मे दण्ड-समारम्भक अन्य भिक्षुओ से लज्जित होने की बात कहकर बौद्ध, वैदिक आदि साधुओ की परम्परा की ओर अगुलि-निर्देश किया गया है। वैदिक ऋषियो मे पचन-पाचनादि के द्वारा दण्ड-समारम्भ होता था। बौद्ध-परम्परा मे भिक्षु स्वय भोजन नही पकाते थे, दूसरो से पकवाते थे, या जो भिक्षु-सघ को भोजन के लिए आमत्रित करता था, उसके यहाँ से अपने लिए बना भोजन ले लेते थे, विहार आदि बनवाते थे। वे सघ के निमित्त होने वाली हिंसा मे दोष नही मानते थे।[3]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) चारित्रसार ९९।५।

(ख) "पडिक्कमामि तीहि दंडेहिं—मणदंडेणं, वयदंडेणं, कायदंडेणं—आवश्यक सूत्र।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक २६९।

३. आयारो (मुनि नथमल जी) पृ० ३१२।

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अकल्पनीय विमोक्ष

२०४. से भिक्खू परक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा णिसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा सुसाणंसि[1] वा सुण्णागारंसि वा रुक्खमूलंसि वा गिरिगुहंसि वा कुंभाराययणंसि वा हुरत्था वा, कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावती बूया—आउसंतो समणा ! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेमि[2] आवसहं वा समुस्सिणामि, से भुंजह वसह आउसंतो समणा ! ।

तं भिक्खू[3] गाहावतिं समणसं सवयसं पडियाइक्खे- आउसंतो गाहावती ! णो खलु ते वयणं आढामि, णो[4] खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं ४ समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेसि आवसहं वा समुस्सिणासि । से विरतो आउसो गाहावती ! एतस्स अकरणयाए ।

२०५ से भिक्खू परक्कमेज्ज वा जाव[5] हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावती आतगताए पेहाए असणं वा[6] ४ वत्थं वा[7] ४ पाणाइं ४ समारब्भ जाव[8] आहट्टु चेतेति आवसहं वा समुस्सिणाति तं भिक्खुं परिघासेतुं । तं च भिक्खू जाणेज्जा सह-

---

१ चूर्णि मे '**सुसाणंसि**' का अर्थ इस प्रकार किया है—'सुसाणस्स पासेट्ठाति' अब्भासे वा सुण्णघरं वा ठितओ होज्ज, रुक्खमूले वा, जम्मि रुक्खमूलो णिसीहे भणितो, गिरिगुहाए वा'—इसका अर्थ विवेचन मे दिया है ।

२ '**चेतेमि**' पद के बदले कही '**करेमि**' पद मिलता है, उसके सम्बन्ध मे चूर्णिकार का मत—**केयि भणंति करेमि' तं तु ण युज्जति, जेण तं आहियमेव, आहियस्स करणं ण विज्जति'**, अर्थात्—कई 'करेमि' पाठ कहते है, वह उचित नही लगता, क्योकि दाता ने जब सामने लाकर पदार्थ रख दिया, तब उस आहित (सामने रखे हुए) का 'करना' सगत नही होता ।

३ इसकी व्याख्या चूर्णिकार करते है—एवं णिमंतितो सो साहू तो वि पडिसेहेयव्व, कहं ? वच्चइ—'**तं भिक्खू गाहावतिं समणं सवयसं पडियाइक्खेज्जा ।**' तमिति तं दातारं ।" अर्थात्—इस प्रकार निमन्त्रित किये जाने पर उस साधु को (उक्त दाता को) निषेध कर देना चाहिए, कैसे ? कहते है—उस दाता गृहस्थ को वह भिक्षु सम्मानपूर्वक, सुवचनपूर्वक मना कर देना चाहिए ।

४ चूर्णि मे पाठान्तर है—'**णो खलु मे एवं वयणं पडिसुणेमि, कतरं ? जं ममं भणसि—**आउसंतो समणा ! अहं खलु तुब्भं अट्ठाते असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, जाव आवसहं समुस्सिणामि ।" अर्थात् तुम्हारी यह बात मैं स्वीकार नही करता, कौन सी ? जो तुमने मुझे कहा था—"आयुष्मन् श्रमण ! मैं तुम्हारे लिए अशनादि यावत् आवसथ (उपाश्रय) निर्माण करूँगा ।"

५ यहाँ '**जाव**' शब्द से पूरा पाठ २०४ सूत्र के अनुसार ग्रहण करना चाहिए ।

६ यहाँ का पूरा पाठ २०४ सूत्रानुसार ग्रहण करे ।

७ यहाँ का पूरा पाठ २०४ सूत्रानुसार ग्रहण करे ।

८ यहाँ का पूरा पाठ २०४ सूत्रानुसार ग्रहण करे ।

सम्मुतियाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा सोच्चा—अयं खलु गाहावती मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं ४ [1]समारब्भ चेतेति आवसहं वा समुस्सिणाति। तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि।

२०६. भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च[2] गथा फुसंति, से हंता हणह खणह छिंदह[3] दहह पचह आलुंपह विलुंपह सहसक्कारेह विप्परामुसह[4]। ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए। अदुवा आयारगोयरमाइक्खे तक्कियाणमणेलिसं। अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहाए[5] आयगुत्ते। बुद्धेहि एयं पवेदितं।

२०४ (सावद्यकार्यों से निवृत्त) वह भिक्षु (भिक्षादि किसी कार्य के लिए) कही जा रहा हो, श्मशान मे, सूने मकान में, पर्वत की गुफा में, वृक्ष के नीचे, कुम्भार-शाला मे या गाँव के बाहर कही खडा हो, बैठा हो या लेटा हुआ हो अथवा कही भी विहार कर रहा हो, उस समय कोई गृहपति उस भिक्षु के पास आकर कहे—"आयुष्मन् श्रमण! मैं आपके लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पाद-प्रोछन प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो का समारम्भ (उपमर्दन) करके आपके उद्देश्य से बना रहा हूँ या (आपके लिए) खरीद कर, उधार लेकर, किसी से छीनकर, दूसरे की वस्तु को उसकी बिना अनुमति के लाकर, या घर से लाकर आपको देता हूँ अथवा आपके लिए उपाश्रय (आवसथ) बनवा देता हूँ। हे आयुष्मन् श्रमण! आप उस (अशन आदि) का उपभोग करे और (उस उपाश्रय मे) रहे।"

भिक्षु उस सुमनस् (भद्रहृदय) एव सुवयस (भद्र वचन वाले) गृहपति को निषेध के स्वर से कहे—आयुष्मन् गृहपति! मै तुम्हारे इस वचन को आदर नही देता, न ही तुम्हारे वचन को स्वीकार करता हूँ, जो तुम प्राणो, भूतो, जीवो और सत्वो का समारम्भ करके मेरे लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल

---

१ यहाँ तीनो जगह का पाठ २०४ सूत्रानुसार ग्रहण करे।

२ **'आहच्च गथा फुसंति'** की चूर्णिकार द्वारा कृत व्याख्या—"आहच्च णाम कताइ गथा यदुक्तं भवति बधा, फुसंति जे भणितं पावेति।" अर्थात् आहच्च यानी कदाचित् ग्रन्थ अर्थात् बध, स्पर्श करते है—प्राप्त करते है।

३ चूर्णि मे **'सहसक्कारेह'** का अर्थ किया गया है—**'सीसं से छिंदह'** इसका सिर काट डालो, जब कि शीलाकवृत्ति मे अर्थ किया गया है—'शीघ्र मौत के घाट उतार दो।

४ चूर्णि मे इसके बदले **'विप्परामसह'** पद मानकर अर्थ किया है—'विवह परामसह, यदुक्तं भवति 'मुसह'—अर्थात् विविध प्रकार से इसे सताओ या लूट लो।

५ इसकी व्याख्या चूर्णिकार ने यो की है—**पडिलेहा**=पेक्खित्ता, **आयगुत्ते** तिहिं गुत्तीहिं। अध उत्तरे वि दिज्जमाणे कुप्पति ण वा स त उत्तरसमत्थो भवति, ताहे अदुगुत्तीए, गोवण गुत्ती, वयोगोयरस्स'—अर्थात्—प्रतिलेखन करके देखकर, आत्मगुप्त—तीनो गुप्तियो से गुप्त। उत्तर दिये जाने पर यदि वह कुपित होता है, अथवा वह (मुनि) उत्तर देने मे समर्थ नही है, तब कहा—अगुत्तीए। अथवा वचन विषयक गोपन करे—मौन रहे।

या पादप्रोंछन बना रहे हो, या मेरे ही उद्देश्य से उसे खरीदकर, उधार लेकर, दूसरो से छीनकर, दूसरे की वस्तु उसकी अनुमति के बिना लाकर अथवा अपने घर से यहाँ लाकर मुझे देना चाहते हो, मेरे लिए उपाश्रय बनवाना चाहते हो। हे आयुष्मन् गृहस्थ ! मैं (इस प्रकार के सावद्य कार्य से सर्वथा) विरत हो चुका हूं। यह (तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत बात मेरे लिए) अकरणीय होने से, (मैं स्वीकार नही कर सकता)।

२०५ वह भिक्षु (कही किसी कार्यवश) जा रहा है, श्मशान, शून्यगृह, गुफा या वृक्ष के नीचे या कुम्भार की शाला मे खडा, बैठा या लेटा हुआ है, अथवा कही भी विचरण कर रहा है, उस समय उस भिक्षु के पास आकर कोई गृहपति अपने आत्मगत भावो को प्रकट किये बिना (मै साधु को अवश्य ही दान दूंगा, इस अभिप्राय को मन मे सजोए हुए) प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो के समारम्भपूर्वक अशन, पान आदि बनवाता है, साधु के उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लाकर, दूसरो से छीनकर, दूसरे के अधिकार की वस्तु उनकी बिना अनुमति के लाकर, अथवा घर से लाकर देना चाहता है या उपाश्रय का निर्माण या जीर्णोद्धार कराता है, वह (यह सब) उस भिक्षु के उपभोग के या निवास के लिए (करता है)।

(साधु के लिए किए गए) उस (आरम्भ) को वह भिक्षु अपनी सद्बुद्धि से, दूसरो (अतिशयज्ञानियो) के उपदेश से या तीर्थंकरो की वाणी से अथवा अन्य किसी उसके परिजनादि से सुनकर यह जान जाए कि यह गृहपति मेरे लिए प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो के समारम्भ से अशनादि या वस्त्रादि बनवाकर या मेरे निमित्त मोल लेकर, उधार लेकर, दूसरो से छीनकर, दूसरे की वस्तु उसके स्वामी से अनुमति प्राप्त किए बिना लाकर अथवा अपने धन से उपाश्रय बनवा रहा है, भिक्षु उसकी सम्यक् प्रकार से पर्यालोचना (छान बीन) करके आगम मे कथित आदेश से या पूरी तरह से जानकर उस गृहस्थ को साफ-साफ बता दे कि ये सब पदार्थ मेरे लिए सेवन करने योग्य नही है, (इसलिए मै इन्हे स्वीकार नही कर सकता)। इस प्रकार मै कहता हूँ।

२०६ भिक्षु से पूछकर (सम्मति लेकर) या बिना पूछे ही (मैं अवश्य दे दूंगा, इस अभिप्राय से) किसी गृहस्थ द्वारा (अन्धभक्तिवश) बहुत धन खर्च करके बनाये हुए ये (आहारादि पदार्थ) भिक्षु के समक्ष भेंट के रूप मे लाकर रख देने पर (जब मुनि उन्हे स्वीकार नही करता), तब वह उसे परिताप देता है, वह सम्पन्न गृहस्थ क्रोधावेश मे आकर स्वय उस भिक्षु को मारता है, अथवा अपने नौकरो को आदेश देता है कि इस (—व्यर्थ ही मेरा धन व्यय कराने वाले साधु) को डडे आदि से पीटो, घायल कर दो, इसके हाथ-पैर आदि अग काट डालो, इसे जला दो, इसका मास पकाओ, इसके वस्त्रादि छीन लो या इसे नखो से नोच डालो, इसका सब कुछ लूट लो, इसके साथ जबर्दस्ती करो अथवा जल्दी ही इसे मार डालो, इसे अनेक प्रकार से पीडित

करो।" उन सब दु खरूप स्पर्शो (कष्टो) के आ पडने पर धीर (अक्षुब्ध) रहकर मुनि उन्हे (समभाव से) सहन करे।

अथवा वह आत्मगुप्त (आत्मरक्षक) मुनि अपने आचार-गोचर (पिण्ड-विशुद्धि आदि आचार) की क्रमश. सम्यक् प्रेक्षा करके (पहले अशनादि बनाने वाले पुरुष के सम्बन्ध मे भलीभाँति ऊहापोह करके (यदि वह मध्यस्थ या प्रकृतिभद्र लगे तो) उसके समक्ष अपना अनुपम आचार-गोचर (साध्वाचार) कहे—बताए। अगर वह व्यक्ति दुराग्रही और प्रतिकूल हो, या स्वय मे उसे समझाने की शक्ति न हो तो वचन का सगोपन (मौन) करके रहे। बुद्धो—तीर्थंकरो ने इसका प्रतिपादन किया।

विवेचन—इस उद्देशक मे साधु के लिए अनाचरणीय या अपनी कल्पमर्यादा के अनुसार कुछ अकरणीय बातो से विमुक्त होने का विभिन्न पहलुओ मे निर्देश किया है।

से भिक्खू परक्कमेज्ज वा—यहाँ वृत्तिकार ने विमोक्ष के योग्य भिक्षु की विशेषताएँ बताई है—जिसने यावज्जीवन सामायिक की प्रतिज्ञा ली है, पचमहाव्रतों का भार ग्रहण किया है, समस्त सावद्य कार्यों का त्याग किया है, और जो भिक्षाजीवी है, वह भिक्षा के लिए या अन्य किसी आवश्यक कार्य मे परिक्रमण—विचरण कर रहा है। यहाँ परिक्रमण का सामान्यतया अर्थ गमनागमन करना होता है।[1]

सुसाणसि—प्रस्तुत सूत्र-पक्ति मे श्मशान मे लेटना, करवट बदलना या शयन करना प्रतिमाधारक या जिनकल्पी मुनि के लिए ही कल्पनीय है, स्थविरकल्पी के लिए तो श्मशान मे ठहरना, सोना आदि कल्पनीय नही है, क्योकि वहाँ किसी प्रकार के प्रमाद या स्खलन से व्यन्तर आदि देवो के उपद्रव की सम्भावना बनी रहती है तथा प्राणिमात्र के प्रति आत्म-भावना होने पर भी जिनकल्पी के लिए सामान्य स्थिति मे श्मशान मे निवास करने की आज्ञा नही है। प्रतिमाधारी मुनि के लिए यह नियम है कि जहाँ सूर्य अस्त हो जाए, वही उसे ठहर जाना चाहिए। अत जिनकल्पी प्रतिमाधारक की अपेक्षा से ही श्मशान-निवास का उल्लेख प्रतीत होता है।[2] इसीलिए चूर्णि मे व्याख्या की गई है- श्मशान के पास खडा होता है, शून्यगृह के निकट या वृक्ष के नीचे अथवा पर्वतीय गुफा मे ठहरता है।[3]

वर्तमान मे सामान्यतया स्थविरकल्पी गच्छवासी साधु बस्ती मे किसी न किसी उपाश्रय या मकान मे ठहरता है। हाँ, विहार कर रहा हो, उस समय कई बार उसे स्थान न मिलने या सूर्यास्त हो जाने के कारण शून्यगृह मे, वृक्ष के नीचे या जगल मे किसी स्थान मे ठहरना होता है। प्राचीनकाल मे तो गाँव के बाहर किसी बगीचे आदि मे ठहरने का आम रिवाज था। साधु कही भी ठहरा हो, वह भिक्षा के लिए स्वय गृहस्थो के घरो मे जाता है और

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २७०। २ आचा० शीला० टीका पत्राक २७०।

३ चूर्णि मे व्याख्या मिलती है—'**सुसाणस्स पासे ट्ठाति अब्भासे वा सुण्णघरे वा ठितओ होज्ज, रुक्ख-मूले वा, आरिसो रुक्खमूलो णिसीहे भणितो, गिरि गुहाए वा।**'

आचा० चूर्णि, आचा० मूलपाठ पृ ७२।

चन

र तथा ह

आहारादि आवश्यक पदार्थ अपनी कल्पमर्यादा के अनुसार प्राप्त होने पर ही लेता है। कोई गृहस्थ भक्तिवश या किसी लौकिक स्वार्थवश उसके लिए बनवाकर, खरीदकर, किसी से छीनकर, चुराकर या अपने घर से सामने लाकर दे तो उस वस्तु का ग्रहण करना उसकी आचार-मर्यादा के विपरीत है। वह ऐसी वस्तु को ग्रहण नही कर सकता, जिसमे उसके निमित्त हिंसादि आरम्भ हुआ हो।

अगर ऐसी विवशता की परिस्थिति आ जाए और कोई भावुक गृहस्थ उपर्युक्त प्रकार से उसे आहारादि लाकर देने का अति आग्रह करने लगे तो उसे उस भावुकहृदय हितैषी भक्त को धर्म से, प्रेम से, शान्ति से वैसा आहारादि न देने के लिए समझा देना चाहिए, साथ ही अपनी कल्पमर्यादाएँ भी उसे समझाना चाहिए। यह अकल्पनीय विमोक्ष की विधि है।[1]

अकल्पनीय स्थितियां और विमोक्ष के उपाय—सूत्र २०४ से लेकर २०६ तक मे शास्त्रकार ने भिक्षु के समक्ष आने वाली तीन अकल्पनीय परिस्थितियाँ और साथ ही उनसे मुक्त होने या उन परिस्थितियो मे अकरणीय-अनाचरणीय कार्यों से अलग रहने या छुटकारा पाने के उपाय भी बताए है—

(१) भिक्षु को किसी प्रकार के सकट मे पडा या कठोर कष्ट पाता देखकर किसी भावुक भक्त द्वारा उसके समक्ष आहारादि बनवा देने, मोल लाने, छीनकर तथा अन्य किसी भी प्रकार से सम्मुख लाकर देने तथा उपाश्रय बनवा देने का प्रस्ताव।

(२) भिक्षु को कहे-सुने बिना अपने मन से ही भक्तिवश आहारादि बनवाकर या उपर्युक्त प्रकारो मे से किसी भी प्रकार से लाकर देने लगना तथा उपाश्रय बनवाने लगना और

(३) उन आहारादि तथा उपाश्रय को आरम्भ-समारम्भ जनित एवं अकल्पनीय जानकर भिक्षु जब उन्हे किसी स्थिति मे अपनाने से साफ इन्कार कर देता है तो उस दाता की ओर क्रुद्ध होकर उस भिक्षु को तरह-तरह से यातनाएँ दिया जाना।

प्रथम अकल्पनीय ग्रहण की स्थिति से विमुक्त होने के उपाय—प्रेम से अस्वीकार करे और 'कल्पमर्यादा' समझाए। दूसरी स्थिति से विमुक्त होने का उपाय—किसी तरह से जानकर उस आहारादि को ग्रहण एव सेवन करना अस्वीकार करे और तीसरी स्थिति आ पडने पर साधु धैर्य और शान्ति से समभावपूर्वक उस परीषह या उपसर्ग को सहन करे। इस प्रकार गृहस्थ को अनुकूल देखे तो साधु के अनुपम आचार के विषय मे बताये, प्रतिकूल हो तो मौन रहे। इस प्रकार अकल्पनीय-विमोक्ष की सुन्दर झाकी शास्त्रकार ने प्रस्तुत की है।[2]

एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि साधु के द्वारा उक्त अकल्पनीय पदार्थों को अस्वीकार करने या उस भावुकहृदय गृहस्थ को समझाने का तरीका भी शान्ति, धैर्य एव प्रेम-पूर्ण होना चाहिए। वह दाता गृहस्थ को द्वेषी, वैरी या विद्रोही न समझे, किन्तु भद्रमनस्क और

1. आचाराग आचार्य श्री आत्माराम जी म० कृत टीका के आधार पर पृ० ५५९।
2. आचाराग टीका पत्राक २७०-२७१-२७२ के आधार पर।

सवयस्क या सवयस्क (मित्र) समझ कर कहे। इसका एक अर्थ यह भी है कि भिक्षु उस गृहस्थ को सम्मान सहित, सुवचनपूर्वक निषेध करे।[1]

समनोज्ञ-असमनोज्ञ आहार-दान विधि-निषेध

२०७. से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं वा[2] ४ वत्थं वा[3] ४ णो पाएज्जा णो णिमंतेज्जा णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

२०८. धम्ममायाणह पवेदितं माहणेण मतिमता— समणुण्णे समणुण्णस्स असणं[4] वा ४ वत्थं वा[5] ४ पाएज्जा णिमंतेज्जा कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

२०७. वह समनोज्ञ मुनि असमनोज्ञ साधु को अशन-पान आदि तथा वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ अत्यन्त आदरपूर्वक न दे, न उन्हे देने के लिए निमन्त्रित करे और न ही उनका वैयावृत्य करे। —ऐसा मै कहता हूँ।

२०८ मतिमान् (केवलज्ञानी) महामाहन श्री वर्द्धमान स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म (आचारधर्म) को भली-भाँति समझ लो—कि समनोज्ञ साधु समनोज्ञ साधु को आदरपूर्वक अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन आदि दे, उन्हे देने के लिए मनुहार करे, उनका वैयावृत्य करे। —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—कहाँ निषेध, कहाँ विधान?—सूत्र २०६ तक अकल्पनीय आहारादि लेने का निषेध किया गया है। २०७ सूत्र मे असमनोज्ञ को समनोज्ञ साधु द्वारा आहारादि देने, उनके लिए निमन्त्रित करने और उनकी सेवा करने का निषेध किया है, जबकि २०८ मे समनोज्ञ साधुओं को समनोज्ञ साधु द्वारा उपर्युक्त वस्तुएँ देने का विधान है।[6]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तईओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

गृहवास-विमोक्ष

२०९. मज्झिमेणं वयसा वि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिता सोच्चा वयं मेधावी[7] पंडियाण णिसामिया। समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते।

१. आचा० टीका पत्रांक २७१, (ख) आचा० चूर्णि, मूल पाठ के टिप्पण।

२-३ यहाँ दोनो जगह शेष पाठ १९९ सूत्रानुसार पढे।

४-५. यहाँ दोनो जगह शेष पाठ १९९ सूत्रानुसार पढे।   ६. आचा० शीला० टीका० पत्रांक २७३।

७ 'मेरा धावति मेहावी, मेहावीण वयणं मेहाविवयण, वा मेहावी मोक्खा तित्थगरवयण " पडिएहिं गणहरेहिं ता सुत्तीकयं सोच्चा 'णिसम्म' हियए करित्ता'—चूर्णिकारकृत इस व्याख्या का अर्थ है—जो मर्यादा मे चलता है वह मेधावी है, मेधावियों के वचन मेधाविवचन अथवा मेधावी तीर्थंकर वचन सुनकर तथा पण्डितो—गणधरो द्वारा सूत्ररूप मे निबद्ध वचन सुनकर तथा हृदयगम करके

ते अणवकंखमाणा, अणतिवातेमाणा, अपरिग्गहमाणा, णो परिग्गहावंति सव्वावंति च णं लोगंसि, णिहाय दंड पाणेहिं पाव कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगथे वियाहिते ।

ओए जुइमस्स खेतण्णे उववाय चयण च णच्चा ।

२०९. कुछ व्यक्ति मध्यम वय मे भी सबोधि प्राप्त करके मुनिधर्म मे दीक्षित होने के लिए उद्यत होते हैं ।

तीर्थंकर तथा श्रुतज्ञानी आदि पण्डितो के (हिताहित-विवेक-प्रेरित) वचन सुनकर, (हृदय मे धारण करके) मेधावी (मर्यादा मे स्थित) साधक (समता का आश्रय ले, क्योकि) आर्यों (तीर्थकरो) ने समता मे धर्म कहा है, अथवा तीर्थंकरो ने समभाव से (माध्यस्थ्य भाव से श्रुत चारित्र रूप) धर्म कहा है ।

वे काम-भोगो की आकाक्षा न रखने वाले, प्राणियो के प्राणो का अतिपात और परिग्रह न रखते हुए (निर्ग्रन्थ मुनि) समग्र लोक मे अपरिग्रहवान् होते हैं ।

जो प्राणियो के लिए (परितापकर) दण्ड का त्याग करके (हिंसादि) पाप कर्म नही करता, उसे ही महान् अग्रन्थ (ग्रन्थविमुक्त निर्ग्रन्थ) कहा गया है ।

ओज (अद्वितीय) अर्थात् राग-द्वेष रहित द्युतिमान् (सयम या मोक्ष) का क्षेत्रज्ञ (ज्ञाता), उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) को जानकर (शरीर की क्षण-भगुरता का चिन्तन करे) ।

विवेचन—मुनि-दीक्षा ग्रहण की उत्तम अवस्था—मनुष्य की तीन अवस्थाएँ मानी जाती है—बाल्य, युवा और वृद्धत्व । यो तो प्रथम और अन्तिम अवस्था मे भी दीक्षा ली जा सकती है, परन्तु मध्यम अवस्था मुनि-दीक्षा के लिए सर्वसामान्य मानी जाती है, क्योंकि इस वय में बुद्धि परिपक्व हो जाती है, भुक्तभोगी मनुष्य का भोग सम्बन्धी आकर्षण कम हो जाता है, अत. उसका वैराग्य-रग पक्का हो जाता है । साथ ही वह स्वस्थ एव सशक्त होने के कारण परीषहो और उपसर्गों का सहन, सयम के कष्ट, तपस्या की कठोरता आदि धर्मों का पालन भी सुखपूर्वक कर सकता है । उसका शास्त्रीय ज्ञान भी अनुभव से समृद्ध हो जाता है । इसलिए मुनि-धर्म के आचरण के लिए मध्यम अवस्था प्राय प्रमुख मानी जाने से प्रस्तुत सूत्र मे उसका उल्लेख किया गया है । गणधर भी प्राय. मध्यमवय मे दीक्षित होते थे । भगवान महावीर भी प्रथमवय को पार करके दीक्षित हुए थे । बाल्यावस्था एव वृद्धावस्था मुनिधर्म के निर्विघ्न आचरण के लिए इतनी उपयुक्त नही होती ।[1]

सबुज्झमाणा—सम्बोधि प्राप्त करना मुनि-दीक्षा के पूर्व अनिवार्य है । सम्बोधि पाए बिना मुनिधर्म मे दीक्षित होना खतरे से खाली नही है ।

साधक को तीन प्रकार से सम्बोधि प्राप्त होती है—स्वयसम्बुद्ध हो, प्रत्येक बुद्ध हो अथवा बुद्ध-बोधित हो । प्रस्तुत सूत्र मे बुद्ध-बुद्धबोधित (किसी प्रबुद्ध से बोध पाये हुए) साधक की अपेक्षा से कथन है ।[2]

सोच्चावय मेधावी पडियाण निसामिया—इस पक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने कुछ भिन्न किया

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २७४ । २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २७४ ।

है—पंडितों—गणधरो के द्वारा सूत्ररूप मे निबद्ध मेधावियों—तीर्थंकरो के, वचन सुनकर तथा हृदय मे धारण करके । मध्यमवय मे प्रव्रजजित होते हैं ।[1]

'ते अणवकंखमाणा' का तात्पर्य है — "वे जो गृहवास से मुनिधर्म में दीक्षित हुए है और मोक्ष की ओर जिन्होने प्रस्थान किया है, काम-भोगों की आकाक्षा नही रखते ।"

अणतिवातेमाणा अपरिग्गहमाणा— ये दो शब्द प्राणातिपात-विरमण तथा परिग्रह-विरमण महाव्रत के द्योतक है। आदि और अन्त के महाव्रत का ग्रहण करने से मध्य के मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण और मैथुन-विरमण महाव्रतो का ग्रहण हो जाता है। ऐसे महाव्रती अपने शरीर के प्रति भी ममत्वरहित होते हैं। इन्हे ही तीर्थंकर गणधर आदि द्वारा महानिर्ग्रन्थ कहा गया है।

अगंथे— जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थो से विमुक्त हो गया है, वह अग्रन्थ है। अग्रन्थ या निर्ग्रन्थ का एक ही आशय है।

उववाय-चयण— उपपात (जन्म) और च्यवन(मरण) ये दोनो शब्द सामान्यत: देवताओ के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होते है। इससे यह तात्पर्य हो सकता है कि दिव्य शरीरधारी देवताओ का शरीर भी जन्म-मरण के कारण नाशमान है, तो फिर मनुष्यो के रक्त, मास, मज्जा आदि अशुचि पदथो से बने शरीर की क्या विसात है ? इसी दृष्टि से चिन्तन करने पर इन पदो से शरीर की क्षण-भगुरता का निदर्शन भी किया गया है कि 'शरीर' जन्म और मृत्यु के चक्र के बीच चल रहा है, यह क्षणभगुर है, यह चिन्तन कर आहार आदि के प्रति अनासक्ति रखे ।[2]

अकारण-आहार-विमोक्ष

२१० आहारोवचया देहा परीसहपभगुरा। पासहेगे सव्विदिएहिं परिगिलायमाणेहिं। ओए दय दयति जे संणिधाणसत्थस्स खेत्तण्णे, से भिक्खू कालण्णे बालण्णे मातण्णे खणण्णे विणयण्णे समयण्ण परिग्गह अममायमाणे कालेणुट्ठाले अपडिण्णे दुहतो छेत्ता णियाति।

२१०. शरीर आहार से उपचित (सपुष्ट) होते है, परीषहो के आघात से भग्न हो जाते हैं, किन्तु तुम देखो, आहार के अभाव मे कई एक साधक क्षुधा से पीडित होकर सभी इन्द्रियो (की शक्ति) से ग्लान (क्षीण) हो जाते है। राग-द्वेष से रहित भिक्षु (क्षुधा-पिपासा आदि परीषहो के उत्पन्न होने पर भी) दया का पालन करता है।

जो भिक्षु सन्निधान—(आहारादि के सचय) के शस्त्र (सयमघातक प्रवृत्ति) का मर्मज्ञ है; (वह हिंसादि दोषयुक्त आहार का ग्रहण नही करता) । वह भिक्षु कालज्ञ, बलज्ञ, मात्रज्ञ, क्षणज्ञ (अवसरज्ञाता), विनयज्ञ (भिक्षाचरी) के आचार का

---

१. आचा० शीला० टीका पत्राक २७४।
२. आचाराग चूर्णि—मूलपाठ टिप्पण पृ ४७।

मर्मज्ञ), समयज्ञ (सिद्धान्त का ज्ञाता) होता है। वह परिग्रह पर ममत्व न करने वाला, उचित समय पर अनुष्ठान (कार्य) करने वाला, किसी प्रकार की मिथ्या आग्रह-युक्त प्रतिज्ञा से रहित एव राग और द्वेष के बन्धनो को दोनो ओर से छेदन करके निश्चिन्त होकर नियमित रूप से सयमी जीवन यापन करता है।

विवेचन—सब्बिदिएहि परिगिलायमाणेहि—इस सूत्र मे आहार करने का कारण स्पष्ट कर दिया गया है कि आहार करने से शरीर पुष्ट होता है, किन्तु शरीर को पुष्ट और सशक्त रखने के उद्देश्य है—सयमपालन करना और परीषहादि सहन करना। किन्तु जो कायर, क्लीब और भोगाकांक्षी होते है, शरीर से सम्पुष्ट और सशक्त होते हुए भी जो मन के दुर्बल होते है, उनके शरीर परीषहो के आ पडते ही वृक्ष की डाली की तरह कट कर टूट पडते है। सारा देह टूट जाता है, परीषहो के थपेडो से इतना ही नही, उनकी सभी इन्द्रियाँ मुर्झा जाती है। जैसे क्षुधा से पीडित होने पर आखो के आगे अधेरा छा जाता है, कानो से सुनना और नाक से सूँघना भी कम हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि आहार केवल शरीर को पुष्ट करने के लिए ही नही, अपितु कर्ममुक्ति के लिए है, अतएव शास्त्रोक्त ६ कारण से इसे आहार देना आवश्यक है। ऐसी स्थिति मे एक निष्कर्ष स्पष्टत प्रतिफलित होता है कि साधक को कारणवश आहार ग्रहण करना चाहिए और अकारण आहार से विमुक्त भी हो जाना चाहिए।[1] उत्तराध्ययन सूत्र मे साधु को ६ कारणो से आहार करने का विधान है—

छण्ह अन्नयराए कारणम्मि समुट्ठिए।

वेयण-वेयावच्चे इरियट्ठाए सजमट्ठाए।

तह पाणवत्तियाए छट्ठ पुण धम्मचिन्ताए॥

—साधु को इन छ कारणो मे से किसी कारण के समुपस्थित होने पर आहार करना चाहिए—

(१) क्षुधावेदनीय को शान्त करने के लिए।
(२) साधुओ की सेवा करने के लिए।
(३) ईर्यासमिति-पालन के लिए।
(४) सयम-पालन के लिए।
(५) प्राणो की रक्षा के लिए। और
(६) स्वाध्याय, धर्मध्यान आदि करने के लिए।[2]

इन कारणो के सिवाय केवल बल-वीर्यादि बढाने के लिए आहार करना अकारण-दोष है। उत्तराध्ययन सूत्र मे ६ कारणो मे से किसी एक के समुपस्थित होने पर आहार-त्याग का भी विधान है—

---

१ आचा० शीला० पत्रांक २७४। २ (क) उत्तराध्ययन सूत्र अ० २६ गा० ३१-३३
(ख) धर्मसंग्रह अधि० ३ श्लो०—६३ टीका (ग) पिण्डनिर्युक्ति ग्रासैषणाधिकार गा० ६३५।

आयके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउ सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥

(१) रोगादि आतंक होने पर, (२) उपसर्ग आने पर, परीषहादि की तितिक्षा के लिए, (३) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, (४) प्राणिदया के लिए, (५) तप के लिए तथा (६) शरीर-त्याग के लिए आहार-त्याग करना चाहिए ।[1]

इसीलिए **'ओए दय दयति'** इस वाक्य द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि क्षुधा-पिपासादि परीषहों से प्रताडित होने पर भी राग-द्वेष रहित साधु प्राणिदया का पालन करता है, वह दोष-युक्त या अकारण आहार ग्रहण नही करता [2]।

'सण्णिधाणसत्थस्स खेयण्णे'—इस सूत्र पक्ति मे 'सन्निधानशस्त्र' शब्द के वृत्तिकार ने दो अर्थ किये है—

(१) जो नारकादि गतियो को अच्छी तरह धारण करा देता है, वह सन्निधान—कर्म है । उसके स्वरूप का निरूपक शास्त्र सन्निधानशास्त्र है, अथवा

(२) सन्निधान यानी कर्म, उसका शस्त्र (विघातक) है—सयम, अर्थात् सन्निधान-शस्त्र का मतलब हुआ कर्म का विघातक सयमरूपी शस्त्र । उस सन्निधानशास्त्र या सन्निधान-शस्त्र का खेदज्ञ अर्थात् उसमे निपुण, यही अर्थ चूर्णिकार ने भी किया है । परन्तु सन्निधान का अर्थ यहा 'आहार योग्य पदार्थो की सन्निधि यानी संचय या सग्रह'' अधिक उपयुक्त लगता है। लोकविजय के पाँचवें उद्देशक मे इसके सम्बन्ध मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है । उसके सन्दर्भ मे सन्निधान का यही अर्थ सगत लगता है । अकारण-आहार-विमोक्ष के प्रकरण मे आहार योग्य पदार्थों का सग्रह करने के सम्बन्ध मे कहना प्रासगिक भी है । अत. इसका स्पष्ट अर्थ हुआ—भिक्षु आहारादि के सग्रहरूपशस्त्र (अनिष्टकारक बल) का क्षेत्रज्ञ—अन्तरग मर्म का ज्ञाता होता है । भिक्षु भिक्षाजीवी होता है । आहारादि का सग्रह करना उसकी भिक्षाजीविता पर कलक है ।[3]

कालज्ञ आदि सभी विशेषण भिक्षाजीवी तथा अकारण आहार-विमोक्ष के साधक की योग्यता प्रदर्शित करने के लिए है । लोकविजय अध्ययन के पचम उद्देशक (सूत्र ८८) मे भी इसी प्रकार का सूत्र है, और वहाँ कालज्ञ आदि शब्दो की व्याख्या भी की है ।[4] यह सूत्र भिक्षा-जीवी साधु की विशेषताओ का निरूपण करता है ।

'णियाति'—का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—'जो सयमानुष्ठान मे निश्चय से प्रयाण करता है ।' इसका तात्पर्य है—सयम मे निश्चिन्त होकर जीवन-यापन करता है ।[5]

---

१. उत्तराध्ययन अ० २६ गा० ३५ । २. आचा० शीला० टीका पत्राक २७५ ।

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २७५ ।
(ख) आयारो (मुनि नथमल जी) के आधार पर पृ० ९३, ३१३ ।
(ग) दशवैकालिक सूत्र मे अ० ३ मे 'सन्निही' नामक अनाचीर्ण बताया गया है तथा **'सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, अणुमाय पि सजए'**—(अ० ८, गा० २८) मे सन्निधि-सग्रह का निषेध किया है ।

४. देखें सूत्र ८८ का विवेचन पृष्ठ ६१ । ५. आचा० शीला० टीका पत्राक २७५ ।

अग्नि-सेवन-विमोक्ष

२११. तं भिक्खुं सीतफासपरिवेवमाणगात उवसंकमित्तु गाहावती बूया—आउसंतो समणा ! णो खलु ते गामधम्मा उब्बाहंति ? आउसंतो[1] गाहावती ! णो खलु मम गामधम्मा उब्बाहंति । सीतफास[2] णो खलु अहं संचाएमि अहियासेत्तए । णो खलु मे कप्पति अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अण्णेसिं वा वयणाओ ।

२१२. सिया[3] एवं वदतस्स[4] परो अगणिकायं उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता कायं आयावेज्जा वा पयावेज्जा वा । तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि ।

।। तइओ उद्देसओ समत्तो ।।

२११ शीत-स्पर्श से कांपते हुए शरीरवाले उस भिक्षु के पास आकर कोई गृहपति कहे—आयुष्मान् श्रमण ! क्या तुम्हे ग्रामधर्म (इन्द्रिय-विषय) तो पीडित नही कर रहे है ? (इस पर मुनि कहता है) आयुष्मान् गृहपति ! मुझे ग्रामधर्म पीडित नही कर रहे है, किन्तु मेरा शरीर दुर्बल होने के कारण मै शीत-स्पर्श को सहन करने मे समर्थ नही हूँ (इसलिए मेरा शरीर शीत से प्रकम्पित हो रहा है) ।

('तुम अग्नि क्यो नही जला लेते ?' इस प्रकार गृहपति के द्वारा कहे जाने पर मुनि कहता है—) अग्निकाय को उज्ज्वलित करना, प्रज्वलित करना, उससे शरीर को थोडा-सा भी तपाना या दूसरो को कहकर अग्नि प्रज्वलित करवाना अकल्पनीय है ।

२१२ (कदाचित् वह गृहस्थ) इस प्रकार बोलने पर अग्निकाय को उज्ज्वलित-प्रज्वलित करके साधु के शरीर को थोडा तपाए या विशेष रूप से तपाए ।

---

१ चूर्णि मे इस प्रकार का पाठान्तर है—**बेति—'हे आउस अप्प खलु मम गामधम्मा उब्बाहंति'**—इसका अर्थ किया गया है—"अप्पति अभावे भवति थोवे य, एत्थ अभावे ।'—अर्थात् मुनि कहता है—हे आयुष्मन् ! निश्चय ही मुझे ग्रामधर्म बाधित नही करता ।' 'अप्प' शब्द अभाव अर्थ मे और थोडे अर्थ मे प्रयुक्त होता है । यहाँ अभाव अर्थ मे प्रयुक्त है ।

२ यहा भी चूर्णि मे पाठान्तर है—"**सीयफासं च हं णो सहामि अहियासित्तए**—अर्थात्—मै शीतस्पर्श को सहन नही कर सकता ।

३ **'सिया एव'** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**सिया**—कयाचि, **एवमवधारणे**' सिया का अर्थ कदाचित् तथा एव यहाँ अवधारण—निश्चय अर्थ मे है ।

४ चूर्णि के अनुसार यहाँ पाठान्तर इस प्रकार है—"**से एवं वयतस्स परो पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता वा तस्स आतावेति वा पतावेति वा । तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि ।**' कदाचित् इस प्रकार कहते हुए (सुनकर) कोई पर (गृहस्थ) प्राण, भूत जीव और सत्त्वो का उपमर्दन रूप आरम्भ करके उस भिक्षु के उद्देश्य से खरीदी हुई, उधार ली हुई, छीनी हुई, दूसरे की चीज को उसकी अनुमति के बिना ली हुई वस्तु को अग्निकाय जलाकर, विशेष प्रज्वलित करके, उस भिक्षु के शरीर को थोडा या अधिक तपाए, तब वह भिक्षु उसे देखकर, आगम से उसके दोष जानकर उक्त गृहस्थ को बतादे कि मेरे लिए इसे सेवन करना उचित नही है । ऐसा मैं कहता हूं ।

उस अवसर पर अग्निकाय के आरम्भ को भिक्षु अपनी बुद्धि से विचारकर आगम के द्वारा भलीभाँति जानकर उस गृहस्थ से कहे कि अग्नि का सेवन मेरे लिए असेवनीय है, (अत मैं इसका सेवन नहीं कर सकता) ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—ग्रामधर्म का आशंका और समाधान—सूत्र २११ में किसी भावुक गृहस्थ की आशंका और समाधान का प्रतिपादन है । कोई भिक्षाजीवी युवक साधु भिक्षाटन कर रहा है, उस समय शरीर पर पूरे वस्त्र न होने के कारण शीत से थर-थर कांपते देख, उसके निकट आकर ऐश्वर्य की गर्मी से युक्त, तरुण नारियों से परिवृत, शीत-स्पर्श का अनुभवी, सुगन्धित पदार्थों से शरीर को सुगन्धित बनाए हुए कोई भावुक गृहस्थ पूछने लगे कि 'आप कांपते क्यों है ? क्या आपको ग्राम-धर्म उत्पीडित कर रहा है ?' इस प्रकार की शका प्रस्तुत किए जाने पर साधु उसका अभिप्राय जान लेता है कि इस गृहपति को अपनी गलत समझ के कारण—कामिनियो के अवलोकन की मिथ्या शका पैदा हो गयी है । अत मुझे इस शका का निवारण करना चाहिए । इस अभिप्राय से साधु उसका समाधान करता है—**'सीतफासं णो खलु अहियासेत्तए'** मैं सर्दी नहीं सहन कर पा रहा हूँ ।

अपनी कल्पमर्यादा का ज्ञाता साधु अग्निकाय-सेवन को अनाचरणीय बताता है । इस पर कोई भावुक भक्त अग्नि जलाकर साधु के शरीर को उससे तपाने लगे तो साधु उससे सद्भावपूर्वक स्पष्टतया अग्नि के सेवन का निषेध कर दे ।[1]

।। तृतीय उद्देशक समाप्त ।।

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

उपधि-विमोक्ष

२१३. जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायचउत्थेहिं तस्स णं णो एवं भवति—चउत्थं वत्थं जाइस्सामि ।[2]

२१४. से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं[3] वत्थाइं धारेज्जा,[4] णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउंचमाणे गामंतरेसु, ओमचेलिए । एतं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ।

अह पुण एवं जाणेज्जा 'उवातिक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे', अहापरिजुण्णाइं

---

१ आचा० शीला० टीका पत्र २७४-२७३ ।

२. **'वत्थं धारिस्सामि'** पाठान्तर चूर्णि मे है । अर्थ है—वस्त्र धारण करूँगा ।

३ इसके बदले **अहापग्गहियाइं** पाठ है, अर्थ है—यथाप्रगृहीत—जैसा गृहस्थ से लिया है ।

४ इसका अर्थ चूर्णि मे इस प्रकार है—"**णो धोएज्ज रएज्ज** त्ति वसाय धातुकद्दमादीहिं, **धोतरत्तं णाम** जं धोवितु पुणो रयति ।"—प्रासुक जल से भी न धोए, न काषायिक धातु, कर्दम आदि के रंग के रंगे, न ही धोए हुए वस्त्र को पुन रंगे ।"

वत्थाइं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेत्ता अदुआ संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले। लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेतं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए सम्मत्तमेव[1] समभिजाणिया।[2]

२१३ जो भिक्षु तीन वस्त्र और चौथा (एक) पात्र रखने की मर्यादा मे स्थित है, उसके मन मे ऐसा अध्यवसाय नही होता कि "मैं चौथे वस्त्र की याचना करूँगा।"

२१४ वह यथा-एषणीय (अपनी समाचारी-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय) वस्त्रों की याचना करे और यथापरिगृहीत (जैसे भी वस्त्र मिले है या लिए है, उन) वस्त्रो को धारण करे।

वह उन वस्त्रो को न तो धोए और न रगे, न धोए-रगे हुए वस्त्रों को धारण करे। दूसरे ग्रामो मे जाते समय वह उन वस्त्रो को बिना छिपाए हुए चले। वह (अभिग्रहधारी) मुनि (परिणाम और मूल्य की दृष्टि से) स्वल्प और अतिसाधारण वस्त्र रखे। वस्त्रधारी मुनि की यही सामग्री (धर्मोपकरणसमूह) है।

जब भिक्षु यह जान ले कि 'हेमन्त ऋतु' बीत गयी है, 'ग्रीष्म ऋतु' आ गयी है, तब वह जिन-जिन वस्त्रो को जीर्ण समझे, उनका परित्याग कर दे। उन यथा-परिजीर्ण वस्त्रो का परित्याग करके या तो (उस क्षेत्र मे शीत अधिक पडता हो तो) एक अन्तर (सूती) वस्त्र और उत्तर (ऊनी) वस्त्र साथ मे रखे, अथवा वह एकशाटक (एक ही चादर-पछेडी वस्त्र) वाला होकर रहे। अथवा वह (रजोहरण और मुख-वस्त्रिका के सिवाय सब वस्त्रों को छोडकर) अचेलक (निर्वस्त्र) हो जाए।

(इस प्रकार) लाघवता (अल्प उपधि) को लाता या उसका चिन्तन करता हुआ वह (मुनि वस्त्र-परित्याग करे) उस वस्त्रपरित्यागी मुनि के (सहज मे ही) तप (उपकरण—ऊनोदरी और कायक्लेश) सध जाता है।

भगवान ने जिस प्रकार से इस (उपधि-विमोक्ष) का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे गहराई-पूर्वक जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) (उसमे निहित) समत्व को सम्यक् प्रकार से जाने व कार्यान्वित करे।

विवेचन—विमोक्ष (मुक्ति) की साधना मे लीन श्रमण को सयम-रक्षा के लिए वस्त्र-पात्र आदि उपधि भी रखनी पडती है। शास्त्र मे उसकी अनुमति है। किन्तु अनुमति के साथ यह भी विवेक-निर्देश किया है कि वह अपनी आवश्यकता को कम करता जाय और उपधि-सयम बढाता रहे, उपधि की अल्पता 'लाघव-धर्म' की साधना है। इस दिशा मे भिक्षु स्वतः ही विविध प्रकार के सकल्प व प्रतिज्ञा लेकर उपधि आदि की कमी करता रहता है। प्रस्तुत

---

१. किसी प्रति मे '**समत्त**' शब्द है। उसका अर्थ होता है—समत्व।

२ किसी प्रति मे '**समभिजाणिया**' के बदले '**समभिजाणिज्जा**' शब्द मिलता है, उसका अर्थ है—सम्यक रूप से जाने और आचरण करे।

सूत्र मे इसी विषय पर प्रकाश डाला है। वृत्ति-सयम के साथ पदार्थ-त्याग का भी निर्देश किया है।

प्रस्तुत दोनो सूत्र वस्त्र-पात्रादि रूप बाह्य उपधि और राग, द्वेष, मोह एव आसक्ति आदि आभ्यन्तर उपधि से विमोक्ष की साधना की दृष्टि से प्रतिमाधारी या (जिनकल्पिक) श्रमण के विषय मे प्रतिपादित हैं। जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र (पात्रनिर्योगयुक्त), इतनी उपधि रखने की अर्थात् इस उपधि के सिवाय अन्य उपधि न रखने की प्रतिज्ञा लेता है, वह 'कल्पत्रय प्रतिमा-प्रतिपन्न' कहलाता है। उसका कल्पत्रय औघ-औपधिक होता है, औपग्राहिक नही। शिशिर आदि शीत ऋतु मे दो सूती (क्षौमिक) वस्त्र तथा तीसरा ऊन का वस्त्र—यों कल्पत्रय स्वीकार करता है। जिस मुनि ने ऐसी कल्पत्रय की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि शीतादि का परीषह उत्पन्न होने पर भी चौथे वस्त्र को स्वीकार करने की इच्छा नही करे। यदि उसके पास अपनी ग्रहण की हुयी प्रतिज्ञा (कल्प) से कम वस्त्र हैं, तो वह दूसरा वस्त्र ले सकता है।

पात्र-निर्योग—टीकाकार ने पात्र के सन्दर्भ मे सात प्रकार के पात्र-निर्योग का उल्लेख किया है और पात्र ग्रहण करने के साथ-साथ पात्र से सम्बन्धित सामान भी उसी के अन्तर्गत माना गया है। जैसे १, पात्र २. पात्रबन्धन, ३ पात्र-स्थापन, ४ पात्र-केसरी (प्रमार्जनिक) ५ पटल, ६ रजस्त्राण और ७. पात्र साफ करने का वस्त्र—गोच्छक, ये सातो मिलकर पात्र-निर्योग कहलाते है। ये सात उपकरण तथा तीन पात्र तथा रजोहरण और मुखवस्त्रिका, यो १२ उपकरण जिनकल्प की भूमिका पर स्थित एव प्रतिमाधारक मुनि के होते हैं। यह उपधि-विमोक्ष की एक साधना है।[1]

उपधि-विमोक्ष का उद्देश्य—इसका उद्देश्य यह है कि साधु आवश्यक उपधि से अतिरिक्त उपधि का सग्रह करेगा तो उसके मन मे ममत्वभाव जगेगा, उसका अधिकाश समय उसे सभालने, धोने, सीने आदि मे ही लग जाएगा, स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए नही बचेगा।[2]

यथाप्राप्त वस्त्रधारण—इस प्रकार के उपधि-विमोक्ष की प्रतिज्ञा के साथ शास्त्रकार एक अनाग्रहवृत्ति का भी सूचन करते है। वह है—जैसे भी जिस रूप मे एषणीय-कल्पनीय वस्त्र मिले उसे वह उसी रूप मे धारण करे, वस्त्र के प्रति किसी विशेष प्रकार का आग्रह सकल्प-विकल्प पूर्ण बुद्धि न रखे। वह उन्हे न तो फाडकर छोटा करे, न उनमे टुकडा जोडकर बडा करे, न उसे धोए और न रगे। यह विधान भी जिनकल्पी विशिष्ट प्रतिमासम्पन्न मुनि के लिए है। वह भी इसलिए कि वह साधु वस्त्रो को सस्कारित एव बढ़िया करने मे लग जाएगा तो उसमे मोह जागृत होगा, और विमोक्ष साधना मे मोह से उसे सर्वथा मुक्त होना है। स्थविर-कल्पी मुनियो के लिए कुछ कारणो से वस्त्र धोने का विधान है, किन्तु वह भी विभूषा एव

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २७७।

पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ।
पडलाइं रयत्ताणं च गोच्छओ पायणिज्जोगो॥

२ आचाराग (आ० श्री आत्माराम जी महाराज कृत टीका) पृ० ५७८।

सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं। शृंगार और साज-सज्जा की भावना से वस्त्र ग्रहण करने, पहनने धोने, आदि की आज्ञा किसी भी प्रकार के साधक को नहीं है, और रगने का तो सर्वथा निषेध है ही।[1]

ओमचेले—'अवम' का अर्थ अल्प या साधारण होता है। 'अवम' शब्द यहाँ सख्या, परिमाण (नाप) और मूल्य—तीनों दृष्टियों से अल्पता या साधारणता का द्योतक है। सख्या में अल्पता का तो मूलपाठ में उल्लेख है ही, नाप और मूल्य में भी अल्पता या न्यूनता का ध्यान रखना आवश्यक है। कम से कम मूल्य के, साधारण से और थोड़े से वस्त्र से निर्वाह करने वाला भिक्षु 'अवमचेलक' कहलाता है।[2]

'अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा—यह सूत्र प्रतिमाधारी उपधि-विमोक्ष साधक की उपधि विमोक्ष की साधना का अभ्यास करने की दृष्टि से इगित है। वह अपने शरीर को जितना कस सके कसे, जितना कम से कम वस्त्र से रह सकता है, रहने का अभ्यास करे। इसीलिए कहा गया है कि ज्यों ही ग्रीष्म ऋतु आ जाए, साधक तीन वस्त्रों में से एक वस्त्र, जो अत्यन्त जीर्ण हो, उसका विसर्जन कर दे। रहे दो वस्त्र, उनमें से भी कर सकता हो तो एक वस्त्र कम कर दे, सिर्फ एक वस्त्र में रहे, और यदि इसमें भी आगे हिम्मत कर सके तो बिलकुल वस्त्ररहित हो जाए। इसके साधक को तपस्या का लाभ तो है ही, वस्त्र सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त होने, लघुभूत (हलके-फुलके) होने का महालाभ भी मिलेगा।

शास्त्र मे बताया गया है कि पाँच कारणों से अचेलक प्रशस्त होता है। जैसे कि—

(१) उसकी प्रतिलेखना अल्प होती है।

(२) उसका लाघव प्रशस्त होता है।

(३) उसका रूप (वेश) विश्वास योग्य होता है।

(४) उसका तप जिनेन्द्र द्वारा अनुज्ञात होता है।

(५) उसे विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है।[3]

सम्मत्तमेव समभिजाणिया—वृत्तिकार ने 'सम्मत्त' शब्द के दो अर्थ किये है—(१) सम्यक्त्व और समत्व। जहाँ 'सम्यक्त्व' अर्थ होगा, वहाँ इस वाक्य का अर्थ होगा—भगवत्कथित इस उपधि-विमोक्ष के सम्यक्त्व (सत्यता या सचाई) को भली-भाँति जानकर आचरण मे लाए। जहाँ 'समत्व' अर्थ मानने पर इस वाक्य का अर्थ होगा—भगवदुक्त उपधि-विमोक्ष को सब प्रकार से सर्वात्मना जानकर सचेलक-अचेलक दोनो अवस्थाओं मे समभाव का आचरण करे।[4]

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २७७,
(ख) आचारांग (आत्मारामजी महाराज कृत टीका पृ० ५७८ पर से।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २७७।

३ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २७७-२७८।
(ख) स्थानांग, स्था० ५, उ० ३ सू० २०१।

४ आचा० शीला० टीका पत्रांक २७८।

रीर-विमोक्ष : वैहानसादिमरण

२१५. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'पुट्ठो खलु अहमंसि, नालमहमंसि सीतफासं अहियासेत्तए', से वसुमं सव्वसमण्णागतपण्णाणेणं अप्पाणेण केइ अकरणयाए आउट्टे।

तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए। तत्थावि तस्स कालपरियाए। से वि तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेतं विमोहायतणं हियं सुहं खमं[1] णिस्सेसं[2] आणुगामिय त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

२१५. जिस भिक्षु को यह प्रतीत हो कि मैं (शीतादि परीषहो या स्त्री आदि के उपसर्गों से) आक्रान्त हो गया हूँ, और मै इस अनुकूल (शीत) परीषहो को सहन करने मे समर्थ नही हूँ, (वैसी स्थिति में) कोई-कोई सयम का धनी (वसुमान्) भिक्षु स्वय को प्राप्त सम्पूर्ण प्रज्ञान एव अन्त करण (स्व-विवेक) से उस स्त्री आदि उपसर्ग के वश न होकर उसका सेवन न करने के लिए हट (—दूर हो) जाता है।

उस तपस्वी भिक्षु के लिए वही श्रेयस्कर है, (जो एक ब्रह्मचर्यनिष्ठ सयमी भिक्षु को स्त्री आदि का उपसर्ग उपस्थित होने पर करना चाहिए) ऐसी स्थिति मे उसे वैहानस (गले मे फासी लगाने की क्रिया, विषभक्षण, झपापात आदि से) मरण स्वीकार करना—श्रेयस्कर है।

ऐसा करने मे भी उसका वह (—मरण) काल-पर्याय-मरण (काल-मृत्यु) है।

वह भिक्षु भी उस मृत्यु से अन्तक्रियाकर्ता (सम्पूर्ण कर्मों का क्षयकर्ता भी हो सकता है।

इस प्रकार यह मरण प्राण-मोह से मुक्त भिक्षुओ का आयतन (आश्रय), हितकर, सुखकर, कालोपयुक्त या कर्मक्षय-समर्थ, नि श्रेयस्कर, परकोक मे साथ चलने वाला होता है। ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—आपवादिक-मरण द्वारा शरीर-विमोक्ष—वैसे तो शरीर धर्म-पालन में अक्षम, असमर्थ एव जीर्ण-शीर्ण, अशक्त हो जाए तो उस भिक्षु के द्वारा सल्लेखना द्वारा—समाधिमरण (भक्तपरिज्ञा, इगितमरण एव पादपोपगमन) स्वीकार करके शरीर-विमोक्ष करने का औत्सर्गिक विधान है, किन्तु इसकी प्रक्रिया तो काफी लम्बी अवधि की है। कोई आकस्मिक कारण उपस्थित हो जाए और उसके लिए तात्कालिक शरीर-विमोक्ष का निर्णय लेना हो तो वह क्या करे ? इस आपवादिक स्थिति के लिए शास्त्रकारो ने वैहानस जैसे मरण की सम्मति दी है, और उसे भगवद् आज्ञानुमत एव कल्याणकर माना है।

धर्म-संकटापन्न आपवादिक स्थिति—शास्त्रकार तो सिर्फ सूत्र रूप मे उसका सकेत भर

---

१. 'खम' के बदले 'खेम' शब्द किसी प्रति मे मिलता है। क्षेम का अर्थ कुशल रूप है।

२ 'णिस्सेसं' के बदले 'निस्सेसिम' पाठान्तर है—'निःश्रेयसकर्ता।'

करते हैं, वृत्तिकार ने उस स्थिति का स्पष्टीकरण किया है—कोई भिक्षु गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए गया। वहाँ कोई काम-पीडिता, पुत्राकांक्षिणी, पूर्वाश्रम (गृहस्थ-जीवन) की पत्नी या कोई व्यक्ति उसे एक कमरे मे उक्त स्त्री के साथ बन्द कर दे या उसे वह स्त्री रतिदान के लिए बहुत अनुनय विनय करे वह स्त्री या उसके पारिवारिकजन उसे भावभक्ति से, प्रलोभन से, काम-सुख के लिए विचलित करना चाहे, यहाँ तक कि उसे इसके लिए विवश कर दे, अथवा वह स्वय ही वातादि जनित काम-पीडा या स्त्री आदि के उपसर्ग को सहन करने मे असमर्थ हो, ऐसी स्थिति मे उस साधु के लिए झटपट निर्णय करना होता है, जरा-सा भी विलम्ब उसके लिए अहितकर या अनुचित हो सकता है। उस धर्मसकटापन्न स्थिति मे साधु उस स्त्री के समक्ष श्वास बन्द कर मृतकवत् हो जाए, अवसर पाकर गले से झूठ-मूठ फासी लगाने का प्रयत्न करे, यदि इस पर उसका छुटकारा हो जाए तो ठीक, अन्यथा फिर वह गले मे फासी लगाकर, जीभ खीचकर मकान से कूदकर, झपापात करके या विष-भक्षण आदि करके किसी भी प्रकार से शरीर-त्याग कर दे, किन्तु स्त्री-सहवास आदि उपसर्ग या स्त्री-परिषह के वश न हो, किसी भी मूल्य पर मैथुन-सेवन आदि स्वीकार न करे।

२२ परीषहो मे स्त्री और सत्कार, ये दो शीत-परीषह है, शेष बीस परीषह उष्ण है।[1] —प्रस्तुत सूत्र मे शीतस्पर्श, स्त्री-परीषह या काम-भोग अर्थ मे ही अधिक सगत प्रतीत होता है। अत यहाँ बताया गया है कि दीर्घकाल तक शीतस्पर्शादि सहन न कर सकने वाला भिक्षु सुदर्शन सेठ की तरह अपने प्राणो का परित्याग-कर दे।

शास्त्रकार यही बात कहते है—'**तवस्सिणो हु त सेय जमेगे विहमाइए**'—अर्थात् उस तपस्वी के लिए बहुत समय तक अनेक प्रकार के अन्यान्य उपाय अजमाए जाने पर भी उस स्त्री आदि के चगुल से छूटना दुष्कर मालूम हो, तो उस तपस्वी के लिए यही एकमात्र श्रेयस्कर है कि वह वैहानस आदि उपायो मे से किसी एक का अपना कर प्राणत्याग कर दे।

तत्थावि तस्स कालपरियाए—यहाँ शका हो सकती है कि वहानस आदि मरण तो बाल-मरण कहा गया है, वर्तमान युग की भाषा मे इसे आत्म-हत्या कहा जाता है, वह तो साधक के लिए वहान् अहितकारी है, क्योकि उससे तो अनन्तकाल तक नरक आदि गतियो मे परि-भ्रमण करना पडता है।" इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते है—'**तत्थावि** ' ऐसे अवसर पर इस प्रकार वहानस या गृद्धपृष्ठ आदि मरण द्वारा शरीर-विमोक्ष करने पर भी वह काल-मृत्यु होती है। जैसे काल-पर्यायमरण गुणकारी होता है, वैसे ही ऐसे अवसर पर वैहानसादि मरण भी गुणकारी होता है।

जैनधर्म अनेकान्तवादी है। यह सापेक्ष दृष्टि से किसी भी बात के गुणावगुण पर विचार करता है। ब्रह्मचर्य साधना (मैथुन-त्याग) के सिवाय एकान्तरूप से किसी भी बात का विधि या निषेध नही है, अपितु जिस बात का निषेध किया जाता है, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से उसका स्वीकार भी किया जा सकता है। कालज्ञ साधु के लिए उत्सर्ग भी कभी दोषकारक

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २७९।

और अपवाद भी गुणकारक हो जाता है। इसलिए कहा—'से वि तत्थ वियंतिकारए—तात्पर्य यह है कि क्रमश भक्त परिज्ञा अनशन आदि करने वाला ही नही, वैहानसादि मरण को अपनाने वाले भिक्षु के लिए वेहानसादि मरण भी औत्सर्गिक बन जाता है। क्योंकि इस मरण के द्वारा भी भिक्षु आराधक होकर सिद्ध-मुक्त हुए है, होगे। यही कारण है कि शास्त्रकार इस आपवादिक मरण को भी प्रशसनीय बताते हुए कहते हैं—'इच्चेत विमोहायतण'...।'[1] यह उसके विमोह (वैराग्य का) केन्द्र, आश्रय है।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

पंचमो उद्देसओ

पचम उद्देशक

द्विवस्त्रधारी श्रमण का समाचार

२१६. जे भिक्खू दोहि वत्थेहि परिवुसिते पायततिएहिं तस्स णं णो एवं भवति—ततियं वत्थ जाइस्सामि।

२१७. से अहेसणिज्जाइ वत्थाइं जाएज्जा जाव[2] एय खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गिय।

अह पुण एव जाणेज्जा 'उवातिक्कते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे', अहापरिजुण्णाइं वत्थाइ परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णाइ वत्थाइ परिट्ठवेत्ता अदुवा एगसाडे, अदुआ अचेले लाघविय आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेय भगवता पवेदितं। तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वयाए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२१६ जो भिक्षु जो वस्त्र और तीसरे (एक) पात्र रखने की प्रतिज्ञा मे स्थित है, उसके मन मे यह विकल्प नही उठता कि मै तीसरे वस्त्र की याचना करूँ।

२१७. (अगर दो वस्त्रो से कम हो तो) वह अपनी कल्पमर्यादानुसार ग्रहणीय वस्त्रो की याचना करे। इससे आगे वस्त्र-विमोक्ष के सम्बन्ध मै पूर्व उद्देशक मे—"उस वस्त्रधारी भिक्षु की यही सामग्री है, तक वर्णित पाठ के अनुसार पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

यदि भिक्षु यह जाने कि हेमन्त ऋतु व्यतीत हो गयी है, ग्रीष्म ऋतु आ गयी है, तब वह जैसे-जैसे वस्त्र जीर्ण हो गए हो, उनका परित्याग कर दे। (इस प्रकार) यथा परिजीर्ण वस्त्रो का परित्याग करके या तो वह एक शाटक (आच्छादन पट—चादर) मे रहे, या वह अचेल (वस्त्र-रहित) हो जाए। (इस प्रकार) वह लाघवता का सर्वतोमुखी विचार करता हुआ (क्रमश वस्त्र-विमोक्ष प्राप्त करे)।

(इस प्रकार वस्त्र-विमोक्ष या अल्पवस्त्र से) मुनि को (उपकरण-अवमौदर्य एव कायक्लेश) तप सहज ही प्राप्त हो जाता है।

---

१. निर्युक्ति गाथा गा २५२

२ यहाँ 'जाव' शब्द के अन्तर्गत समग्र पाठ २१४ सूत्रानुसार समझे।

भगवान् ने इस (वस्त्रविमोक्ष के तत्त्व) को जिस रूप मे प्रतिपादित किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से—सर्वात्मना (उसमे निहित) समत्व को सम्यक् प्रकार से जाने व क्रियान्वित करे।

विवेचन—उपधि-विमोक्ष का द्वितीय कल्प—प्रस्तुत सूत्रो मे उपधि-विमोक्ष के द्वितीय कल्प का विधान है। प्रथम कल्प का अधिकारी जिनकल्पिक के अतिरिक्त स्थविरकल्पी भिक्षु भी हो सकता था, किंतु इस द्वितीय कल्प का अधिकारी नियमत जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिक, यथालन्दिक एव प्रतिमा-प्रतिपन्न भिक्षुओ मे से कोई एक हो सकता है।[1]

यह भी उपधि-विमोक्ष की द्विकल्प साधना है। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने वाले भिक्षु के लिए यह भी उचित है कि वह अन्त तक अपनी कृत प्रतिज्ञा पर दृढ रहे, उससे विचलित न हो।

द्विवस्त्र-कल्प मे स्थित भिक्षु के लिए बताया गया है कि वह दो वस्त्रो मे से एक वस्त्र सूती रखे, दूसरा ऊनी रखे। ऊनी वस्त्र का उपयोग अत्यन्त शीत ऋतु मे ही करे।

ग्लान-अवस्था मे आहार-विमोक्ष

२१८. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—पुट्ठो[2] अबलो अहमंसि, णालमहमंसि गिहतर-संकमण भिक्खायरियं गमणाए[3] से[4] सेव वदतस्स परो अभिहड असण वा ४ आहट्टु दल-एज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसंतो गाहावती! णो खलु मे कप्पति अभिहड[5] असण वा ४ भोत्तए वा पातए वा अण्णे वा एतप्पगारे।

२१८. जिस भिक्षु को ऐसा प्रतीत होने लगे कि मै (वातादि रोगो से) ग्रस्त

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८०।

२ चूर्णि मे पाठान्तर है—'**पुट्ठो य मसि अबलो अहमसि गिहतर भिक्खायरिआए गमणा**' अर्थात्—(एक तो) मैं वातादि रोगो से आक्रान्त हूँ, (फिर) शरीर से इतना दुर्बल—अशक्त हू कि भिक्षाचर्या के लिए घर-घर जा नही सकता।

३ किसी प्रति मे ऐसा पाठान्तर मिलता है—'**तं भिक्खु केइ गाहावती उवसकमित्तु बूया—आउसतो समणा! अह ण तव अट्ठाय असण वा ४ अभिहड दलामि। से पुव्वामेव जाणेज्जा आउसतो गाहावई! ज ण तुम मम अट्ठाए असण वा ४ अभिहड चेतेसि, णो य खलु मे कप्पइ एयप्पगार असण वा ४ भोत्तए वा पायए वा, अन्ने वा तहप्पगारे**' अर्थात्—कोई गृहपति उस भिक्षु के पास आकर कहे—आयुष्मन् श्रमण! मै आपके लिए अशनादि आहार सामने लाकर देता हू। वह पहले ही यह जान ले, (और कहे—) आयुष्मान् गृहपति! जो तुम मेरे लिए आहार आदि आकर देना चाहते हो, ऐसे या अन्य दोष से युक्त अशनादि आहार खाना या पीना मेरे लिए कल्पनीय नही है।

४ चूर्णि मे इसके बदले पाठान्तर है—**सिया से य वदतस्स वि परो असण वा ४ आहट्टु दलइज्जा**—अर्थ इस प्रकार है—**परो ज भणित त दुक्ख अकहेंतस्स परो अणुकम्पापरिणतो** आहट्ट आणित्ता दलएज्जा-**दद्यात्**। अर्थात्—कदाचित् ऐसा कहने पर दूसरा कोई (जो कहा हुआ, दुःख दूसरे को न कहने वाला अनुकम्पायुक्त गृहस्थ) अशनादि लाकर दे।

५ **अभिहड** के अभिहृते या अभ्याहृत दोनो रूप समानार्थक है।

होने से दुर्बल हो गया हू । अत मैं भिक्षाटन के लिए एक घर से दूसरे घर जाने मे समर्थ नहीं हूँ । उसे इस प्रकार कहते हुए (सुनकर) कोई गृहस्थ अपने घर से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर देने लगे । (ऐसी स्थिति मे) वह भिक्षु पहले ही गहराई से विचारे (और कहे)—'आयुष्मान् गृहपति ! यह अभ्याहृत—(घर से सामने लाया हुआ) अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मेरे लिए सेवनीय नहीं है, इसी प्रकार दूसरे (दोषो से दूषित आहारादि भी मेरे लिए ग्रहणीय नही है) ।

विवेचन—ग्लान द्वारा अभिहृत आहार-निषेध— सू० २१८ में ग्लान भिक्षु को भिक्षाटन करने की असमर्थता की स्थिति मे कोई भावुक भक्त उपाश्रय मे या रास्ते मे लाकर आहारादि देने लगे, उस समय भिक्षु द्वारा किए जाने वाले निषेध का वर्णन है । **पुट्ठो अबलो अहमंसि** – का तात्पर्य है—वात, पित्त, कफ आदि रोगो से आक्रान्त हो जाने के कारण शरीर से मैं दुर्बल हो गया हूँ । शरीर की दुर्बलता का मन पर भी प्रभाव पडता है । इसलिए ऐसा अशक्त भिक्षु सोचने लगता है—मै अब भिक्षा के लिए घर-घर घूमने मे असमर्थ हो गया हूँ ।[1]

दुर्बल होने पर भी अभिहृतदोष युक्त आहार-पानी न ले—इसी सूत्र के उत्तरार्ध का तात्पर्य यह है कि ऐसे भिक्षु को दुर्बल जान कर या सुनकर कोई भावुक हृदय गृहस्थादि अनुकम्पा और भक्ति से प्रेरित होकर उसके लिए भोजन बनाकर उपाश्रयादि मे लाकर देने लगे तो वह पहले सोच ले कि ऐसा सदोष आरम्भजनित आहार लेना मेरे लिए कल्पनीय नही है । तत्पश्चात् वह उस भावुक गृहस्थ को अपने आचार-विचार समझाकर उस दोष से या अन्य किसी भी दोष से युक्त आहार को लेने या खाने-पीने से इन्कार कर दे ।[2]

शका समाधान—जो भिक्षु स्वयं भिक्षा के लिए जा नही सकता, गृहस्थादि द्वारा लाया हुआ ले नही सकता, ऐसी स्थिति मे वह शरीर को आहार-पानी कैसे पहुँचाएगा ? इस शका का समाधान अगले सूत्र मे किया गया है । मालूम होता है—ऐसा साधु प्राय एकलविहारी होता है ।

वैयावृत्य-प्रकल्प

२१९. जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे[3] (१) अहं च खलु पडिण्णत्तो अपडिण्णत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साधम्मिएहिं[4] कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि, (२) अहं चावि खलु अपडिण्णत्तो[5] पडिण्णत्तस्स[6] अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंख[7] साधम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए ।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २८० । २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८० ।

३ 'कप्पे' पाठान्तर है, अर्थ चूर्णि मे यो है— कप्पो समाचारीमज्जाता (समाचारी-मर्यादा का नाम कल्प है) ।

४ इसके बदले चूर्णि मे पाठान्तर है—'साहम्मियवेयावडियं कीरमाणं सातिज्जिस्सामि' अर्थात्—साधर्मिक (साधु) द्वारा की जाती हुई सेवा का ग्रहण करूँगा ।

५. 'अपडिण्णत्त' शब्द का अर्थ चूर्णि मे यो है—अपडिण्णत्तो णाम णाह साहमियवेयावच्चे केणयि अब्भत्थेयव्वो इति अपडिण्णत्तो । अर्थात्—अप्रतिज्ञप्त उसे कहते है, जो किसी भी साधर्मिक से वैयावृत्य की अपेक्षा—अभ्यर्थना नही करता ।

(३) आहट्टु परिण्णं आणक्खेस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि (४) आहट्टु परिण्णं आणक्खेस्सामि आहडं च नो सातिज्जिस्सामि (५) आहट्टु परिण्णं नो आणक्खेस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि (६) आहट्टु परिण्णं णो आणक्खेस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि। [लाघवियं[1] आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति] जहेतं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

एवं से अहाकिट्टितमेव धम्मं समभिजाणमाणे सते विरते सुसमाहितलेस्से। तत्थावि तस्स कालपरियाए। से तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेतं विमोहायतणं हितं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

२१९ जिस भिक्षु का यह प्रकल्प (आचार-मर्यादा) होता है कि मैं ग्लान हूँ, मेरे साधर्मिक साधु अग्लान हैं, उन्होंने मुझे सेवा करने का वचन दिया है, यद्यपि मैंने अपनी सेवा के लिए उनसे निवेदन नहीं किया है, तथापि निर्जरा की अभिकांक्षा (उद्देश्य) से साधर्मिकों द्वारा की जाने वाली सेवा मैं रुचिपूर्वक स्वीकार करूँगा। (१)

(अथवा) मेरा साधर्मिक भिक्षु ग्लान है, मैं अग्लान हूँ, उसने अपनी सेवा के लिए मुझे अनुरोध नहीं किया है, (पर) मैंने उसकी सेवा के लिए उसे वचन दिया है। अतः निर्जरा के उद्देश्य से तथा परस्पर उपकार करने की दृष्टि से उस साधर्मी की मैं सेवा करूँगा। जिस भिक्षु का ऐसा प्रकल्प हो, वह उसका पालन करता हुआ भले ही प्राण त्याग कर दे, (किन्तु प्रतिज्ञा भंग न करे)। (२)

कोई भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा लेता है कि मैं अपने ग्लान साधर्मिक भिक्षु के लिए आहारादि लाऊँगा, तथा उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन भी करूँगा। (३)

(अथवा) कोई भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा लेता है कि मैं अपने ग्लान साधर्मिक भिक्षु के लिए आहारादि लाऊँगा, लेकिन उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन नहीं करूँगा। (४)

(अथवा) कोई भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा लेता है कि मैं साधर्मिकों के लिए आहारादि नहीं लाऊँगा किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ सेवन करूँगा (५)

(अथवा) कोई भिक्षु प्रतिज्ञा करता है कि न तो मैं साधर्मिकों के लिए आहारादि लाऊँगा और न ही मैं उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन करूँगा। (६)

(यों उक्त छह प्रकार की प्रतिज्ञाओं में से किसी प्रतिज्ञा को ग्रहण करने के

---

६ इसका अर्थ चूर्णि में यह है—'**पडिण्णत्तस्स अहं तव इच्छाकारेण वेयावडियं करेमि मा गिलायसि।**' अर्थात्—मैं प्रतिज्ञा लिये हुए तुम्हारी सेवा तुम्हारी इच्छा होगी, तो करूँगा, ग्लान मत हो।

७. '**अभिकंख**' का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—'**वेयावच्चगुणे अभिकंखित्ता वेयावडियं करिस्सामि**' वैयावृत्य का गुण प्राप्त करने की इच्छा से वैयावृत्य करूँगा।

१. (क) '**लाघविय आगममाणे**' का अर्थ चूर्णि में यों है—"लाघवितं—लघुता। लाघवितं दव्वे भावे य। तं आगममाणे-इच्छमाणे।" (ख) कोष्ठकान्तर्गत पाठ चूर्णि व वृत्ति में है। अन्य प्रतियों में नहीं मिलता।

बाद अत्यन्त ग्लान होने पर या संकट आने पर) भी प्रतिज्ञा भंग न करे, भले ही वह जीवन का उत्सर्ग कर दे।

(लाघव का सब तरह से चिन्तन करता हुआ (आहारादि क्रमशः विमोक्ष करे।) आहार-विमोक्ष साधक को अनायास ही तप का लाभ प्राप्त हो जाता है। भगवान् ने जिस रूप मे इस (आहार-विमोक्ष) का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे निकट से जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना (इसमे निहित) समत्व या सम्यक्त्व का सेवन करे।)

इस प्रकार वह भिक्षु तीर्थंकरो द्वारा जिस रूप मे धर्म प्ररूपित हुआ है, उसी रूप मे सम्यक्रूप से जानता और आचरण करता हुआ, शान्त विरत और अपने अन्तःकरण की प्रशस्त वृत्तियो (लेश्याओ) मे अपनी आत्मा को सुसमाहित करने वाला होता है।

(ग्लान भिक्षु भी ली हुई प्रतिज्ञा का भग न करते हुए यदि भक्त-प्रत्याख्यान आदि के द्वारा शरीर-परित्याग करता है तो) उसकी वह मृत्यु काल-मृत्यु है। समाधि-मरण होने पर भिक्षु अन्तक्रिया (सम्पूर्ण कर्मक्षय) करने वाला भी हो सकता है।

इस प्रकार यह (सब प्रकार का विमोक्ष) शरीरादि मोह से विमुक्त भिक्षुओ का आयतन—आश्रयरूप है, हितकर है, सुखकर है, सक्षम (क्षमारूप या कालोचित) है, निःश्रेयस्कर है, और परलोक मे भी साथ चलने वाला है।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—भिक्षु की ग्लानता के कारण और कर्तव्य—ग्लान होने का अर्थ है—शरीर का अशक्त, दुर्बल, रोगाक्रान्त एव जीर्ण-शीर्ण हो जाना। ग्लान होने के मुख्य कारण चूर्णिकार ने इस प्रकार बताए है—

(१) अपर्याप्त या अपोषक भोजन।
(२) अपर्याप्त वस्त्र।
(३) निर्वस्त्रता।
(४) कई पहरो तक उकडू आसन से बैठना।
(५) उग्र एव दीर्घ तपस्या।[1]

शरीर जब रुग्ण या अस्वस्थ (ग्लान) हो जाए, हड्डियो का ढांचा मात्र रह जाए, उठते-बैठते समय पीडा हो शरीर मे रक्त और मास अत्यन्त कम हो जाए, स्वय कार्य करने की, धर्मक्रिया करने की शक्ति भी क्षीण हो जाए, तब उस भिक्षु को समाधिमरण की, सल्लेखना की तैयारी प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

छह प्रकार की प्रतिज्ञाए—इस सूत्र मे परिहारविशुद्धिक या यथालन्दिकभिक्षु द्वारा ग्रहण की जाने वाली छह प्रतिज्ञाओ का निरूपण है। इन्हे शास्त्रीय भाषा मे प्रकल्प (पगप्पे)

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २८१, 	(ख) आचाराग चूर्णि।

कहा है। प्रकल्प का अर्थ है—विशिष्ट आचार-मर्यादाओ का संकल्प या प्रतिज्ञा। यहाँ ६ प्रकल्पो का वर्णन है—

(१) मैं ग्लान हूँ, साधर्मिक भिक्षु अग्लान है, स्वेच्छा से उन्होने मुझे सेवा का वचन दिया है, अतः वे सेवा करेंगे तो मैं सहर्ष स्वीकार करूंगा।

(२) मेरा साधर्मिक भिक्षु ग्लान है, मैं अग्लान हूं, उसके द्वारा न कहने पर भी मैंने उसे सेवा का वचन दिया है, अत. निर्जरादि की दृष्टि से मैं उसकी सेवा करूंगा।

(३) साधर्मिको के लिए आहारादि लाऊँगा, और उनके द्वारा लाए हुए आहारादि का सेवन भी करूंगा।

(४) साधर्मिको के लिए आहारादि लाऊँगा, किन्तु उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन नहीं करूंगा।

(५) साधर्मिको के लिए आहारादि नहीं लाऊँगा, किन्तु उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन करूंगा।[1]

(६) मैं न तो साधर्मिको के लिए आहारादि लाऊँगा और न उनके द्वारा लाये हुए आहारादि का सेवन करूंगा।

सहयोग भी अदीनभाव से—ऐसा दृढप्रतिज्ञ साधक अपनी प्रतिज्ञानुसार यदि अपने साधर्मिक भिक्षुओ का सहयोग लेना भी है तो अदीनभाव से, उनकी स्वेच्छा से ही। न तो वह किसी पर दबाव डालता है, न दीनस्वर से गिड़गिडाता है। वह अस्वस्थ दशा मे भी अपने साधर्मिको को सेवा के लिए नहीं कहता। वह कर्मनिर्जरा समझ कर करने पर ही उसकी सेवा को स्वीकार करता है। स्वय भी सेवा करता है, बशर्ते कि वैसी प्रतिज्ञा ली हो।[2]

प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे—इन छह प्रकार की प्रतिज्ञाओ मे से परिहारविशुद्धिक या यथालन्दिक भिक्षु अपनी शक्ति, रुचि और योग्यता देखकर चाहे जिस प्रतिज्ञा को अंगीकार करे, चाहे वह उत्तरोत्तर क्रमश. सभी प्रतिज्ञाओ को स्वीकार करे, लेकिन वह जिस प्रकार की प्रतिज्ञा ग्रहण करे, जीवन के अन्त तक उस पर दृढ रहे। चाहे उसका जंघाबल क्षीण हो जाए, वह स्वय अशक्त, जीर्ण, रुग्ण या अत्यन्त ग्लान हो जाये, लेकिन स्वीकृत प्रतिज्ञा भंग न करे, उस पर अटल रहे। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए मृत्यु भी निकट दिखाई देने लगे या मारणान्तिक उपसर्ग या कष्ट आये तो वह भिक्षु भक्त-प्रत्याख्यान (या भक्तपरिज्ञा) नामक अनशन (सल्लेखनापूर्वक) करके समाधिमरण का सहर्ष आलिंगन करे किन्तु किसी भी दशा मे प्रतिज्ञा न तोड़।[3]

इन प्रकल्पों के स्वीकार करने से लाभ—साधक के जीवन मे इन प्रकल्पो से आत्मबल

१ आचा० शीला० टीका पत्र २८१।

(क) आचा० शीला० टीका पत्रांक २८२।

(ख) आचारांग (आ० श्री आत्मारामजी महाराज कृत टीका) पृष्ठ ५९१।

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक २८२।

बढता है। स्वावलम्बन का अभ्यास बढता है, आत्मविश्वास की मात्रा में वृद्धि होती है, बडे से बडे परीषह, उपसर्ग, सकट एव कष्ट से हसते-हसते खेलने का आनन्द आता है। ये प्रतिज्ञाएँ भक्तपरिज्ञा अनशन की तैयारी के लिए बहुत ही उपयोगी और सहायक है। ऐसा साधक आगे चलकर मृत्यु का भी सहर्ष वरण कर लेता है। उसकी वह मृत्यु भी कायर की मृत्यु नही प्रतिज्ञा-वीर की सी मृत्यु होती है। वह भी धर्म-पालन के लिए होती है। इसीलिए शास्त्रकार इस मृत्यु को सलेखनाकर्ता के काल-पर्याय के समान मानते है। इतना ही नही, इस मृत्यु को वे कर्म या ससार का सर्वथा अन्त करने वाली, मुक्ति-प्राप्ति मे साधक मानते है।[1]

भक्त-परिज्ञा-अनशन—भक्त-परिज्ञा-अनशन का दूसरा नाम 'भक्तप्रत्याख्यान' भी है। इसके द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने वाले भिक्षु के लिए शास्त्रो मे विधि इस प्रकार बताई है कि वह जघन्य (कम से कम) ६ मास, मध्यम ४ वर्ष, उत्कृष्ट १२ वर्ष तक कषाय और शरीर की सलेखना एव तप करे। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आचरण से कर्म-निर्जरा करे और आत्म-विकास के सर्वोच्च शिखर को प्राप्त करे।[2]

॥ पचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

एकवस्त्रधारी श्रमण का समाचार

२२०. **जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिते पायबितिएण तस्स णो एवं भवति—बितियं वत्थं जाइस्सामि।**

२२१. **से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा, अहापरिग्गहितं वत्थं धारेज्जा जाव[3] गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुण्णं वत्थं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णं[4] वत्थं परिट्ठवेत्ता अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं[5] आगममाणे जाव[6] सम्मत्तमेव समभिजाणिया।**

२२० जो भिक्षु एक वस्त्र और दूसरा (एक) पात्र रखने की प्रतिज्ञा स्वीकार

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २८२।

२ (क) आचाराग (आ० श्री आत्मारामजी म० कृत टीका) पृष्ठ ५९२।
(ख) सलेखना के विषय मे विस्तारपूर्वक जानने के इच्छुक देखे—'संलेखना : एक श्रेष्ठ मृत्युकला' (लेखक मालवकेशरी श्री सौभाग्यमल जी म०) प्रवर्तक पूज्य अम्बालालजी म० अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ४०४।

३. जाव शब्द के अन्तर्गत यहाँ २१४ सूत्रानुसार सारा पाठ समझ लेना चाहिए।

४ किसी-किसी प्रति मे इसके बदले पाठान्तर है—'अहापरिजुण्णं वत्थं परिट्ठवेत्ता अचेले' अर्थात्—यथा परिजीर्ण वस्त्र का परित्याग करके अचेल हो जाए।

५. 'लाघवियं' के बदले किसी-किसी प्रति मे 'लाघवं' शब्द मिलता है।

६. यहाँ 'जाव' शब्द के अन्तर्गत १७७ सूत्रानुसार सारा पाठ समझ लेना चाहिए।

कर चुका है, उसके मन मे ऐसा अध्यवसाय नही होता कि मै दूसरे वस्त्र की याचना करूँगा।

२२१ (यदि उसका वस्त्र अत्यन्त फट गया हो तो) वह यथा—एषणीय (अपनी कल्पमर्यादानुसार ग्रहणीय) वस्त्र की याचना करे। यहाँ से लेकर आगे 'ग्रीष्म ऋतु आ गई है', तक का वर्णन [चतुर्थ उद्देशक के सूत्र २१८ की तरह] समझ लेना चाहिए।

भिक्षु यह जान जाए कि अब ग्रीष्म ऋतु आ गयी है, तब वह यथापरिजीर्ण वस्त्रो का परित्याग करे। यथापरिजीर्ण वस्त्रो का परित्याग करके वह (या तो) एक शाटक (आच्छादन पट) मे ही रहे, (अथवा) वह अचेल (वस्त्ररहित) हो जाए।

वह लाघवता का सब तरह से विचार करता हुआ (वस्त्र का परित्याग करे)।

वस्त्र-विमोक्ष करने वाले मुनि को सहज ही तप (उपकरण-अवमौदर्य एव कायक्लेश) प्राप्त हो जाता है।

भगवान ने जिस प्रकार से उस (वस्त्र-विमोक्ष) का निरूपण किया है, उसे उसी रूप मे निकट से जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना (उसमे निहित) सम्यक्त्व या समत्व को भलीभाँति जानकर आचरण मे लाए।

विवेचन—सूत्र २२० एव २२१ मे **उपधि-विमोक्ष के तृतीयकल्प** का निरूपण किया गया है। पिछले द्वितीय कल्प मे दो वस्त्रो को रखने का विधान था, इसमें भिक्षु एक वस्त्र रखने की प्रतिज्ञा करता है। ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला मुनि सिर्फ एक वस्त्र मे रहता है। शेष वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

उपधि-विमोक्ष के सन्दर्भ मे वस्त्र-विमोक्ष का उत्तरोत्तर दृढतर अभ्यास करना ही इस प्रतिज्ञा का उद्देश्य है। आत्मा के पूर्ण विकास के लिए ऐसी प्रतिज्ञा सोपान रूप है। वस्त्र-पात्रादि उपधि की आवश्यकता शीत आदि से शरीर की सुरक्षा के लिए है, अगर साधक शीतादि परीषहो को सहने मे सक्षम हो जाता है तो उसे वस्त्रादि रखने की आवश्यकता नही रहती। उपधि जितनी कम होगी, उतना ही आत्मचिन्तन बढेगा, जीवन मे लाघव भाव का अनुभव करेगा, तप की भी सहज ही उपलब्धि होगी।[1]

पर-सहाय-विमोक्ष : एकत्व अनुप्रेक्षा के रूप मे

२२२. जस्स ण भिक्खुस्स एव भवति—एगो अहमसि, ण मे अत्थि कोइ, ण याहमवि कस्सइ। एव से एगागिणमेव[2] अप्पाणं समभिजाणेज्जा लाघविय आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेण भगवता पवेदित तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

---

१ आचाराग (आ० श्री आत्माराम जी म० कृत टीका) पृ० ५९४।

२ इसके बदले **'एगाणियमेव अप्पाण'** पाठ भी है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—'एगाणिय अबितिय एगमेव अप्पाण'—अद्वितीय अकेले ही आत्मा को ।

२२२ जिस भिक्षु के मन मे ऐसा अध्यवसाय हो जाए कि 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नही है, और न मैं किसी का हूँ', वह अपनी आत्मा को एकाकी ही समझे। (इस प्रकार) लाघव का सर्वतोमुखी विचार करता हुआ (वह सहाय-विमोक्ष करे) ऐसा करने से) उसे (एकत्व-अनुप्रेक्षा का) तप सहज मे प्राप्त हो जाता है।

भगवान् ने इसका (सहाय-विमोक्ष के सन्दर्भ मे—एकत्वानुप्रेक्षा के तत्त्व का) जिस रूप मे प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (इसमे निहित) सम्यक्त्व (सत्य) या समत्व को सम्यक् प्रकार से जानकर क्रियान्वित करे।

विवेचन - पर सहाय विमोक्ष भी आत्मा के पूर्ण विकास एव पूर्ण स्वातन्त्र्य के लिए आवश्यक है। आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता भी तभी सिद्ध हो सकती है, जब वह उपकरण, आहार, शरीर, सघ तथा सहायक आदि से भी निरपेक्ष होकर एकमात्र आत्मावलम्बी बनकर जीवन-यापन करे। समाधि-मरण की तैयारी के लिए सहायक-विमोक्ष भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २९) मे इससे सम्बन्धित वर्णित अप्रतिबद्धता, सभोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, आहार-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान एव सहाय-प्रत्याख्यान आदि आवश्यक विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव मननीय है।[1]

सहाय-विमोक्ष से आध्यात्मिक लाभ—उत्तराध्ययन सूत्र मे सहाय-प्रत्याख्यान से लाभ बताते हुए कहा है—"सहाय-प्रत्याख्यान से जीवात्मा एकीभाव को प्राप्त करता है, एकीभाव से ओत-प्रोत साधक एकत्व भावना करता हुआ बहुत कम बोलता है, उसके झझट बहुत कम हो जाते है, कलह भी अल्प हो जाते है, कषाय भी कम हो जाते है, तू-तू, मै-मैं भी समाप्त-प्राय हो जाती है, उसके जीवन मे सयम और सवर प्रचुर मात्रा मे आ जाते हैं, वह आत्म-समाहित हो जाता है।"[2]

सहाय-विमोक्ष साधक की भी यही स्थिति होती है, जिसका शास्त्रकार ने निरूपण किया है—"**एगे अहमंसि एगागिणमेव अप्पाण समभिजाणिज्जा।**" इसका तात्पर्य यह है कि उस सहाय-विमोक्षक भिक्षु को यह अनुभव हो जाता है कि मै अकेला हूँ, ससार-परिभ्रमण करते हुए मेरा पारमार्थिक उपकारकर्ता आत्मा के सिवाय कोई दूसरा नही है और न ही मैं किसी दूसरे का दु ख-निवारण करने मे (निश्चयदृष्टि से) समर्थ हूँ, इसलिए मै किसी अन्य का नही हूँ। सभी प्राणी स्वकृत-कर्मों का फल भोगते है। इस प्रकार वह भिक्षु अन्तरात्मा को सम्यक् प्रकार से एकाकी समझे। नरकादि दु खो से रक्षा करने वाला शरणभूत आत्मा के

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९, बोल ३०, ३४, ३५, ३८, ३९, ४० देखिये।

२. '**सहायपच्चक्खाणेण जीवे एगीभाव जणयइ। एगीभावभूए य ण जीवे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमतुमे, संजमबहुले, सवरबहुले समाहिए यावि भवइ।**'

—उत्तरा० अ० २९, बोल ३९

सिवाय और कोई नही है। ऐसा समझकर रोगादि परीषहो के समय दूसरे की शरण से निरपेक्ष रहकर समभाव से सहन करे।[1]

स्वाद-परित्याग-प्रकल्प

२२३. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा ४[2] आहारेमाणे णो वामातो हणुयातो दाहिणं हणुयं संचारेज्जा[3] आसाएमाणे[4], दाहिणातो वा हणुयातो वामं हणुयं णो संचारेज्जा आसाएमाणे। से अणासादमाणे लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति। जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२२३ वह भिक्षु या भिक्षुणी अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य का आहार करते समय (ग्रास का) आस्वाद लेते हुए बाँए जबडे से दाहिने जबडे मे न ले जाए, (इसी प्रकार) आस्वाद लेते हुए दाहिने जबडे से बाँए जबडे मे न ले जाए।

वह अनास्वाद वृत्ति से (पदार्थों का स्वाद न लेते हुए) (इस स्वाद-विमोक्ष मे) लाघव का समग्र चिन्तन करते हुए (आहार करे)।

(स्वाद-विमोक्ष से) वह (अवमौदर्य, वृत्तिसक्षेप एव कायक्लेश) तप का सहज लाभ प्राप्त कर लेता है।

भगवान् ने जिस रूप मे स्वाद-विमोक्ष का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना (उसमे निहित) सम्यक्त्व या समत्व को जाने और सम्यक् रूप से परिपालन करे।

विवेचन—आहार मे अस्वादवृत्ति—भिक्षु शरीर से धर्माचरण एव तप-सयम की आराधना के लिए आहार करता है, शरीर को पुष्ट करने, उसे सुकुमार, विलासी एव स्वादलोलुप बनाने की उसकी दृष्टि नही होती। क्योंकि उसे तो शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों पर से आसक्ति या मोह का सर्वथा परित्याग करना है। यदि वह शरीर निर्वाह के लिए यथोचित आहार मे स्वाद लेने लगेगा तो मोह पुन उसे अपनी ओर खीच लेगा।[5]

इसी स्वाद-विमोक्ष का तत्त्व शास्त्रकार ने इस सूत्र द्वारा समझाया है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे भी बताया गया है कि जिह्वा को वश मे करने वाला अनासक्त

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २८३।

२ यहाँ 'वा ४' के अन्तर्गत १९९ सूत्रानुसार समग्र पाठ समझ ले।

३ चूर्णि मे **'संचारेज्जा'** के बदले **'साहरेज्जा'** पाठ है। तात्पर्य वही है।

४. यहाँ **'आसाएमाणे'** के बदले **'आढायमाणे'** और आगे **'अणाढायमाणे'** पाठ चूर्णिकार ने माना है, अर्थ किया है—आढा णाम आयरो अमणुण्णे वा अणाढायमाणे त दुग्गध वा णो वामातो दाहिण हणुय साहरेज्जा **अणाढायमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ णो वाम हणुय साहरेज्जा।**"—भावार्थ यह है कि वह मनोज्ञ वस्तु हो तो आदर—रुचिपूर्वक और अमनोज्ञ दुर्गन्धयुक्त वस्तु हो तो अनादर—अरुचिपूर्वक बाँए जबडे से दाहिने जबडे मे या दाहिने जबडे से बाँए जबडे मे न ले जाए।

५ आचाराग (पू० आ० आत्माराम जी म० कृत टीका) पृ० ५९७।

मुनि सरस आहार मे या स्वाद मे लोलुप और गृद्ध न हो। महामुनि स्वाद के लिए नही, अपितु सयमी जीवन-यापन करने के लिए भोजन करे।[1]

'गच्छाचारपइन्ना' मे भी बताया है कि जैसे पहिये को बराबर गति मे रखने के लिए तेल दिया जाता है, उसी प्रकार शरीर को सयम यात्रा के योग्य रखने के लिए आहार करना चाहिए, किन्तु स्वाद के लिए, रूप के लिए, वर्ण (यश) के लिए या बल (दर्प) के लिए नही।[2]

इसी अध्ययन मे पहले के सूत्रो मे आहार से सम्बद्ध गवेषणैषणा के ३२ और ग्रहणैषणा के १० यो ४२ दोषो से रहित निर्दोष आहार लेने का निर्देश किया गया था। अब इस सूत्र मे शास्त्रकार ने 'परिभोगैषणा' के पाँच दोषो—(अगार, धूम आदि) से बचकर आहार करने का सकेत किया है। अंगार आदि ५ दोषो के कारण तो राग-द्वेष-मोह आदि ही हैं। इन्हे मिटाए बिना स्वाद-विमोक्ष सिद्ध नही हो सकता।[3]

इसीलिए चूर्णि मान्य पाठान्तर मे स्पष्ट कर दिया गया है कि मनोज्ञ ग्रास को आदर-रुचिपूर्वक और अमनोज्ञ अरुचिकर को अनादर-अरुचिपूर्वक मुँह मे इधर-उधर न चलाए। इस प्रकार निगल जाए कि उस पदार्थ के स्वाद की अनुभूति मुँह के जिस भाग मे कौर रखा है, उसी भाग को हो, दूसरे को नही। मूल मे तो आहार के साथ राग-द्वेष, मोहादि का परित्याग करना ही अभीष्ट है।[4]

संलेखना एवं इंगितमरण

२२४. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'से गिलामि च खलु अहं इमंसि समए इमं सरीरगं अणपुव्वेण[5] परिवहित्तए' से आणुपुव्वेण आहारं संवट्टेज्जा, आणुपुव्वेण आहारं संवट्टेत्ता कसाए पतणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू[6] अभिणिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा णगरं वा खेडं वा कब्बडं वा मडंबं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा सण्णिवेसं वा णिगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाएत्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंग-

---

१ अलोलो न रसे गिद्धो, जिब्भादंतो अमुच्छिओ।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥ — उत्तरा० अ० ३५ गा० १७।

२. तपि रूवरसत्थ, न य वण्णत्थ न चेव दप्पत्थं।
संजमभरवहणत्थं अक्खोवगं व वहणत्थं ॥ —गच्छाचारपइन्ना गा० ५८।

३ आचाराग वृत्ति पत्रांक २८३। ४ आचाराग चूर्णि, आचा० मूल पाठ टिप्पण सूत्र २२३।

५. इसके बदले चूर्णिकार ने 'से अणुपुव्वीए आहारं संवट्टित्ता' पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—गिलाणो आणुपुव्वीए 'आहार सम्म संवट्टेइ, यदुक्त भवति सखिवति, आणुपुव्वीते संवट्टिता।" अर्थात्—वह ग्लान भिक्षु क्रमशः आहार को सम्यक्रूप से कम करता जाता है, क्रमशः आहार को कम करके।

६ इसके बदले चूर्णि मे 'अभिणिव्वुडप्पा' पाठ है, अर्थ होता है—शान्तात्मा।

पणग-दगमट्टिय-मक्कडासंताणए पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तणाइं संथरेज्जा, तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए इत्तिरिय[1] कुज्जा।

तं सच्चं सच्चवादी ओए तिण्णे छिण्णकहंकहे आतीतट्ठे अणातीते चिच्चाण भेउरं कायं संविधुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्सभणयाए भेरवमणुचिण्णे। तत्थावि तस्स कालपरियाए। से वि तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेतं विमोहायतणं हितं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं ति बेमि॥

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

२२४ जिस भिक्षु के मन में ऐसा अध्यवसाय हो जाता है कि सचमुच मैं इस समय (साधुजीवन की आवश्यक क्रियाएँ करने के लिए) इस (अत्यन्त जीर्ण एवं अशक्त) शरीर को वहन करने में क्रमश ग्लान (असमर्थ) हो रहा हूं, (ऐसी स्थिति में) वह भिक्षु क्रमश (तप के द्वारा) आहार का संवर्तन (संक्षेप) करे और क्रमश आहार का संक्षेप करके वह कषायों को कृश (स्वल्प) करे। कषायों को स्वल्प करके समाधियुक्त लेश्या (अन्त करण की वृत्ति) वाला तथा फलक की तरह शरीर और कषाय दोनों ओर से कृश बना हुआ वह भिक्षु समाधिमरण के लिए उत्थित होकर शरीर के सन्ताप को शान्त कर ले।

(वह संलेखना करने वाला भिक्षु शरीर में चलने की शक्ति हो, तभी) क्रमश. ग्राम में, नगर में, खेडे में, कर्बट में, मडब में, पट्टन में, द्रोणमुख में, आकर में, आश्रम में, सन्निवेश में, निगम में, या राजधानी में (किसी भी वस्ती में) प्रवेश करके घास (सूखा तृण-पलाल) की याचना करे। घास की याचना करके (प्राप्त होने पर) उसे लेकर (ग्राम आदि के बाहर) एकान्त में चला जाए। वहाँ एकान्त स्थान में जाकर जहाँ कीडे आदि के अडे, जीव-जन्तु, बीज, हरियाली (हरीघास), ओस, उदक, चींटियों के बिल (कीडीनगरा), फफूँदी, काई, पानी का दलदल या मकडी के जाले न हो, वैसे स्थान का बार-बार प्रतिलेखन (निरीक्षण) करके, उसका बार-बार प्रमार्जन (सफाई) करके, घास का संथारा (संस्तारक-बिछौना) करे। घास का बिछौना बिछाकर उस पर स्थित हो, उस समय इत्वरिक अनशन ग्रहण कर ले।

वह (इत्वरिक-इंगित-मरणार्थ ग्रहण किया जाने वाला अनशन) सत्य है। वह सत्यवादी (प्रतिज्ञा में पूर्णत स्थित रहने वाला), राग-द्वेष रहित, संसार-सागर को पार करने वाला, 'इंगितमरण की प्रतिज्ञा निभेगी या नही?' इस प्रकार के लोगों के कहकहे (शंकाकुल-कथन) से मुक्त या किसी भी रागात्मक कथा—कथन से दूर जीवादि पदार्थों का सांगोपांग ज्ञाता अथवा सब बातों (प्रयोजनों) से अतीत, संसार

१. 'इत्तिरिय' का अर्थ चूर्णि में किया गया है—'इत्तिरियं णाम अप्पकालियं' इत्वरिक अर्थात् अल्पकालिक।

पारगामी अथवा परिस्थितियो से अप्रभावित, (अनशन स्थित मुनि इंगितमरण की साधना को अंगीकार करता है) ।

वह भिक्षु प्रतिक्षण विनाशशील शरीर को छोडकर नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके ('शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं') इस (सर्वज्ञ प्ररूपित भेदविज्ञान) मे पूर्ण विश्वास के साथ इस घोर (भैरव) अनशन का (शास्त्र-विधि के अनुसार) अनुपालन करे।

तब ऐसा (रोगादि आतंक के कारण इंगितमरण स्वीकार—) करने पर भी उसकी वह काल-मृत्यु (सहज मरण) होती है। उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया (पूर्णतः कर्म-क्षय) करने वाला भी हो सकता है।

इस प्रकार यह (इंगितमरण के रूप मे शरीर-विमोक्ष) मोहमुक्त भिक्षुओ का आयतन (आश्रय) हितकर, सुखकर, क्षमारूप या कालोपयुक्त, निःश्रेयस्कर और भवान्तर मे साथ चलने वाला होता है। —ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—शरीर-विमोक्ष के हेतु इंगितमरण साधना—इस अध्ययन के चौथे उद्देशक मे विहायोमरण पांचवे मे भक्तप्रत्याख्यान और छठे मे इंगितमरण का विधान शरीर-विमोक्ष के सन्दर्भ मे किया गया है। इसकी पूर्व तैयारी के रूप मे शास्त्रकार ने उपधि-विमोक्ष, वस्त्र-विमोक्ष, आहार-विमोक्ष, स्वाद-विमोक्ष, सहाय-विमोक्ष आदि विविध पहलुओ से शरीरविमोक्ष का अभ्यास करने का निर्देश किया है। इस सूत्र (२२४) के पूर्वार्ध मे संलेखना का विधि-विधान बताया है।

संलेखना कब और कैसे ?—संलेखना का अवसर कब आता है ? इस सम्बन्ध मे वृत्तिकार सूत्रपाठानुसार स्पष्टीकरण करते है—

(१) रूखा-सूखा नीरस आहार लेने से, या तपस्या मे शरीर अत्यन्त ग्लान हो गया हो।
(२) रोग से पीडित हो गया हो।
(३) आवश्यक क्रिया करने मे अत्यन्त अक्षम हो गया हो।
(४) उठने-बैठने, करवट बदलने आदि नित्यक्रियाएं करने मे भी अशक्त हो गया हो।

इस प्रकार शरीर अत्यन्त ग्लान हो जाए तभी भिक्षु को त्रिविध समाधिमरण मे से अपनी योग्यता, क्षमता और शक्ति के अनुसार किसी एक का चयन करके उसकी तैयारी के लिए सर्वप्रथम संलेखना करनी चाहिए।[1]

संलेखना के मुख्य अंग—इसके तीन अंग बताए है—

(१) आहार का क्रमशः संक्षेप।
(२) कषायो का अल्पीकरण एवं उपशमन और
(३) शरीर को समाधिस्थ, शान्त एवं स्थिर रखने का अभ्यास।

साधक इसी क्रम का अनुसरण करता है।[2]

---

१ आचा० शीला० पत्रांक २८४। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक २८४।

सलेखना विधि—यद्यपि सलेखना की उत्कृष्ट अवधि १२ वर्ष की होती है। परन्तु यहाँ वह विवक्षित नही है। क्योंकि ग्लान की शारीरिक स्थिति उतने समय तक टिके रहने की नही होती। इसलिए संलेखना-साधक को अपनी शारीरिक स्थिति को देखते हुए तदनुरूप योग्यतानुसार समय निर्धारित करके क्रमश बेला, तेला, चौला, पचौला, उपवास, आयबिल आदि क्रम से द्रव्य-सलेखना हेतु आहार मे क्रमशः कमी (सक्षेप) करते जाना चाहिए। साथ ही भाव-सलेखना के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायो को अत्यन्त शात एव अल्प करना चाहिए। इसके साथ ही शरीर, मन, वचन की प्रवृत्तियो को स्थिर एव आत्मा मे एकाग्र करना चाहिए। इसमे साधक को काष्ठफलक की तरह शरीर और कषाय—दोनो ओर से कृश बन जाना चाहिए।

'उट्ठाय भिक्खू '—इसका तात्पर्य यह है—समाधिमरण के लिए उत्थित होकर । शास्त्रीय भाषा मे उत्थान तीन प्रकार का प्रतीत होता है—

(१) मुनि दीक्षा के लिए उद्यत होना—सयम मे उत्थान,

(२) ग्रामानुग्राम उग्र व अप्रतिबद्ध विहार करना—अभ्युद्यतविहार का उत्थान तथा

(३) ग्लान होने पर सलेखना करके समाधिमरण के लिए उद्यत होना—समाधिमरण का उत्थान।[1]

यहाँ तृतीय उत्थान विवक्षित है।

इगितमरण का स्वरूप और अधिकारी—पादपोपगमन की अपेक्षा से इगितमरण मे सचार (चलन) की छूट है। इसे 'इगितमरण' इसलिए कहा जाता है कि इसमे सचार का क्षेत्र (प्रदेश) इगित-नियत कर लिया जाता है, इस मरण का आराधक उतने ही प्रदेश मे सचरण कर सकता है। इसे इत्वरिक अनशन भी कहते हैं। यहाँ 'इत्वर' शब्द थोडे काल के अर्थ मे प्रयुक्त नही है और न ही इत्वर **'सागार-प्रत्याख्यान'**[2] के अर्थ मे यहाँ अभीष्ट है, अपितु थोडे-से निश्चित प्रदेश मे यावज्जीवन सचरण करने के अर्थ मे है। जिनकल्पिक आदि के लिए जब अन्य काल मे भी सागार-प्रत्याख्यान करना असम्भव है, तब फिर यावत्कथिक भक्त-प्रत्याख्यान का अवसर कैसे हो सकता है? रोगातुर श्रावक इत्वर-अनशन करता है, वह इस प्रकार से कि 'अगर मै इस रोग से पाँच-छह दिनो मे मुक्त हो जाऊँ तो आहार कर लूँगा, अन्यथा नही।[3] चूर्णिकार ने 'इत्वरिक' का अर्थ अल्पकालिक किया है, वह विचारणीय है।

---

१ आयारो (मुनि नथमलजी कृत विवेचन) पृ० ३१५।

२ **'सागार-प्रत्याख्यान'**—आगार या विशेष काल तक के लिए त्याग तो श्रावक करता है। सामान्य साधु भी कर सकता है, पर जिनकल्पी श्रमण सागारप्रत्याख्यान नही करता।

३ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक २८५-२८६।

(ख) देखिए इगितमरण का स्वरूप दो गाथाओं मे—

पच्चक्खइ आहार चउव्विह णियमओ गुरुसमीवे।
इगियदेसम्मि तहा चिट्ठपि हु णियमओ कुणइ ॥१॥

इगित-मरणग्रहण की विधि—सलेखना से आहार और कषाय को कृश करता हुआ साधक शरीर मे जब थोड़ी-सी शक्ति रहे तभी निकटवर्ती ग्राम आदि से सूखा घास लेकर ग्राम आदि से बाहर किसी एकान्त निरवद्य, जीव-जन्तुरहित शुद्ध स्थान मे पहुचे। स्थान को पहले भलीभाँति देखे, उसका भलीभाँति प्रमार्जन करे, फिर वहाँ उस घास को बिछा ले लघुनीति-बडीनीति के लिए स्थडिलभूमि की भी देखभाल कर ले। फिर उस घास के सस्तारक (बिछौने) पर पूर्वाभिमुख होकर बैठे, दोनो करतलो से ललाट को स्पर्श करके वह सिद्धो को नमस्कार करे, फिर पचपरमेष्ठो को नमस्कार करके 'नमोत्थण' का पाठ दो बार पढे और तभी इत्वरिक—इगितमरण रूप अनशन का सकल्प करे। अर्थात्—धृति—सहनन आदि बलो से युक्त तथा करवट बदलना आदि क्रियाएँ स्वय करने मे समर्थ साधक जीवनपर्यन्त के लिए नियमत चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) गुरु या दीक्षाज्येष्ठ साधु के सान्निध्य मे करे, साथ ही 'इगित'—मन मे निर्धारित क्षेत्र मे सचरण करने का नियम भी कर ले। तत्पश्चात् शाति, समता और समाधिपूर्वक इसकी आराधना मे तल्लीन रहे।[1]

इगित-मरण का माहात्म्य—शास्त्रकार ने इसे सत्य कहा है तथा इसे स्वीकार करने वाला सत्यवादी (अपनी प्रतिज्ञा के प्रति अन्त तक सच्चा व वफादार), राग-द्वेषरहित, दृढ निश्चयी, सासारिक प्रपचो से रहित, परीषह-उपसर्गो से अनाकुल, इस अनशन पर दृढ विश्वास होने से भयकर उपसर्गों के आ पडने पर भी अनुद्विग्न कृतकृत्य एव ससारसागर से पारगामी होता है और एक दिन इस समाधिमरण के द्वारा अपने जीवन को सार्थक करके चरमलक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सचमुच समभाव और धैर्यपूर्वक इगितमरण की साधना से अपना शरीर तो विमोक्ष होता ही है, साथ ही अनेक मुमुक्षुओ एव विमोक्ष-साधको के लिए वह प्रेरणादायक बन जाता है।[2]

'**अणातीते**' के अर्थ मे टीकाकार व चूर्णिकार के अर्थ कुछ भिन्न है। चूर्णि मे दो अर्थ इस प्रकार किये है—

(१) जो जीवादि पदार्थों, ज्ञानादि पच आचारो का ग्रहण कर लिया है, वह उनसे अतीत नही है, तथा

(२) जिसने महाव्रत भारवहन का अतीत—अतिक्रमण नही किया है, वह अनातीत है अर्थात् महाव्रत का भार जैसा लिया था, वैसा ही निभाने वाला है। समाधिमरण का साधक ऐसा ही होता है।[3]

उव्वत्तइ परिअत्तइ काइगमाईऽवि अप्पणा कुणइ।

सव्वमिह अप्पणच्चिअण अन्नजोगेण धिति बलिओ ॥२॥ — आचा० शीला० टीका पत्राक २८६

अर्थ—नियमपूर्वक गुरु के समीप चारो आहार का त्याग करता है और मर्यादित स्थान मे नियमित चेष्टा करता है। करवट बदलना, उठना या कायिक गमन (लघुनीति-बडीनीति) आदि भी स्वय करता है। धैर्य, बल युक्त मुनि सब कार्य अपने आप करे, दूसरो की सहायता न लेवे।

१. आचा० शीला० टीका पत्राक २८५-२८६। २ आचा० शीला० टीका पत्राक २८६।

३ 'अणातीते' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'आतीतं णाम गहितं, अहवा जीवादि णाणादी वा पच, ण अतीतो अहारोविययारवाही'।—आचाराग चूर्णि मूल पाठ टिप्पणी पृष्ठ ८१

'छिण्णकहकहे'—इस शब्द के वृत्तिकार ने दो अर्थ किए हैं—

(१) किसी भी प्रकार से होने वाली राग-द्वेषात्मक कथाएँ (बातें) जिसने सर्वथा बन्द कर दी है, अथवा

(२) 'मैं कैसे इस इंगितमरण की प्रतिज्ञा को निभा पाऊंगा।' इस प्रकार की शंकाग्रस्त कथा ही जिसने समाप्त कर दी है।

एक अर्थ यह भी सम्भव है—इंगितमरण साधक को देखकर लोगों की ओर से तरह-तरह की शंकाएँ उठायी जाएँ, ताने कसे जाएँ या कहकहे गूंजे, उपहास किया जाय, तो भी वह विचलित या व्याकुल नहीं होता। ऐसा साधक 'छिन्नकथंकथ' होता है।[1]

'आतीतट्ठे'—इस शब्द के विभिन्न नयों से वृत्तिकार ने चार अर्थ बताए हैं—

(१) जिसने जीवादि पदार्थ सब प्रकार से ज्ञात कर लिए हैं, वह आतीतार्थ।

(२) जिसने पदार्थों को आदत्त-गृहीत कर लिया है, वह आदत्तार्थ।

(३) जो अनादि-अनन्त संसार में गमन से अतीत हो चुका है।

(४) संसार को जिसने आदत्त-ग्रहण नहीं किया—अर्थात् जो अब निश्चय ही संसार-सागर का पारगामी हो चुका है।[2]

चूर्णिकार ने प्रथम अर्थ को स्वीकार किया है।

भेरवमणुचिण्णे या भेरवमणुविण्णे—दोनों ही पाठ मिलते हैं। **'भेरवमणुचिण्णे'** पाठ मानने पर भैरव शब्द इंगितमरण का विशेषण बन जाता है, अर्थ हो जाता है—जो घोर अनुष्ठान है, कायरों द्वारा जिसका अध्यवसाय भी दुष्कर है, ऐसे भैरव इंगितमरण को अनुचीर्ण—आचरित कर दिखाने वाला। चूर्णिकार ने दूसरा पाठ मानकर अर्थ किया है—जो भयोत्पादक परीषहों और उपसर्गों से तथा डांस, मच्छर, सिंह, व्याघ्र आदि से एवं राक्षस, पिशाच आदि से उद्विग्न नहीं होता, वह भैरवों से अनुद्विग्न है।[3]

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ

सप्तम उद्देशक

अचेल-कल्प

२२५- **जे भिक्खू अचेले परिवुसिते तस्स णं एवं भवति- चाएमि अहं तण-फासं अहियासेत्तए,**

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक २८६।

३ **'भेरवमणुचिण्णे'** के स्थान पर चूर्णि में **'भेरवमणुविण्णे'** पाठ मिलता है जिसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—**भयं करोतीति भेरवं भेरवेहिं परीसहोवसग्गेहिं अणुव्विज्जमाणो अणुविण्णो, दसमसग-सीह-वग्घातिएहिं य रक्ख-पिसायादिहिं य।** —आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृष्ठ ८१

सेत्तए, सीतफासं अहियासेत्तए, तेउफासं अहियासेत्तए,[1] दंस-मसगफासं अहियासेत्तए, एगतरे अण्णतरे विरूवरूवे फासे अहियासेत्तए, हिरिपडिच्छादण च ह णो सचाएमि अहियासेत्तए। एव से कप्पति कडिबधण धारित्तए।

२२६. अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेल तणफासा फुसंति, सीतफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दस-मसगफासा फुसति, एगतरे अण्णतरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति।

जहेत भगवया पवेदितं तमेव अभिसमेच्च सव्वतो सव्वयाए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२२५ जो (अभिग्रहधारी) भिक्षु अचेल-कल्प मे स्थित है, उस भिक्षु का ऐसा अभिप्राय हो कि मै घास के तीखे स्पर्श को सहन कर सकता हूँ, सर्दी का स्पर्श सह सकता हूँ, गर्मी का स्पर्श सहन कर सकता हूँ, डास और मच्छरो के काटने को सह सकता हूँ, एक जाति के या भिन्न-भिन्न जाति के, नाना प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शों को सहन करने मे समर्थ हूँ, किन्तु मै लज्जा निवारणार्थ (गुप्तागो के—) प्रतिच्छादन-वस्त्र को छोडने मे समर्थ नही हूँ। ऐसी स्थिति मे वह भिक्षु कटिबन्धन (कमर पर बाधने का वस्त्र) धारण कर सकता है।

२२६ अथवा उस (अचेलकल्प) मे ही पराक्रम करते हुए लज्जाजयी अचेल भिक्षु को बार-बार घास का तीखा स्पर्श चुभता है, शीत का स्पर्श होता है, गर्मी का स्पर्श होता है, डास और मच्छर काटते हैं, फिर भी वह अचेल (अवस्था मे रहकर) उन एकजातीय या भिन्न-भिन्न जातीय नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन करे।

लाघव का सर्वांगीण चिन्तन करता हुआ (वह अचेल रहे)।

अचेल मुनि को (उपकरण-अवमौदर्य एव काय-क्लेश) तप का सहज लाभ मिल जाता है।

अत जैसे भगवान ने अचेलत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे जान कर, सब प्रकार से, सर्वात्मना (उसमे निहित) सम्यक्त्व (सत्य) या समत्व को भली-भाँति जानकर आचरण मे लाए।

विवेचन — उपधि-विमोक्ष का चतुर्थकल्प — इन दो सूत्रो मे (२२५-२२६) मे प्रतिपादित है। इसका नाम अचेलकल्प है। इस कल्प मे साधक वस्त्र का सर्वथा त्याग कर देता है। इस कल्प को स्वीकार करने वाले साधक का अन्त करण धृति, सहनन, मनोबल, वैराग्य-भावना आदि के रग मे इतना रगा होता है और आगमो मे वर्णित नारको एव तिर्यञ्चो को प्राप्त होने वाली असह्य वेदना की ज्ञानबल से अनुभूति हो जाने मे घास, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि तीव्र स्पर्शों या अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्शो को सहने मे जरा-सा भी कष्ट नही वेदता। किन्तु कदाचित् ऐसे उच्च साधक मे एक विकल्प हो सकता है, जिसकी ओर शास्त्रकार ने इगित

---

१ **'अहियासेत्तए'** के बदले चूर्णि मे पाठ है—'**ण सो अह अवाउडो**' अर्थात्—मैं अपावृत (नगा) होने मे समर्थ नही हूँ। मैं लज्जित हो जाता हूँ।

किया है। वह है—लज्जा जीतने की असमर्थता। इसलिए शास्त्रकार ने उसके लिए कटिबन्धन (चोलपट) धारण करने की छूट दी है। किन्तु साथ ही ऐसी कठोर शर्त भी रखी है कि अचेल अवस्था में रहते हुए—शीतादि को या अनुकूल किसी भी स्पर्श से होने वाली पीडा को उसे समभावपूर्वक सहन करना है। उपधि-विमोक्ष का यह सबसे बड़ा कल्प है। शरीर के प्रति आसक्ति को दूर करने मे यह बहुत ही सहायक है।[1]

अभिग्रह एवं वैयावृत्य-प्रकल्प

२२७. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु[2] दलयिस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि [१], जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलयिस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि [२] जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु असणं वा[3] ४ आहट्टु णो दलयिस्सामि[4] आहडं च सातिज्जिस्सामि [३], जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च अण्णेसिं खलु भिक्खूणं असणं वा[5] ४ आहट्टु णो दलयिस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि[6] [४], [जस्स[7] णं भिक्खुस्स एवं भवति—] अहं[8] च खलु तेण अहातिरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण अस-

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्र २८७। (ख) भगवद्गीता मे भी बताया है—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'

—शीतोष्ण आदि संस्पर्श से होने वाले भोग दुःख की उत्पत्ति के कारण ही है।

२. इसके बदले चूर्णिमान्य पाठ और उसका अर्थ इस प्रकार है — "आहट्टु परिण्णं दाहामि (ण) पुण गिलायमाणो विमरि (स) कप्पियस्सावि गिण्हिस्सामो(मि) असणादि बितियो। अर्थात्— प्रतिज्ञानुसार आहार लाकर दूँगा, किन्तु ग्लान होने पर भी असमानकल्प वाले मुनि के द्वारा लाया हुआ अशनादि आहार ग्रहण नही करूँगा 'यह द्वितीय कल्प है।

३ **'वा'**शब्द से यहाँ का सारा पाठ १९९ सूत्रानुसार समझना चाहिए।

४ **'दलयिस्सामि'** के बदले किसी-किसी प्रति मे **'दासामि'** पाठ है, अर्थ एक-सा है।

५ यहाँ भी **'वा'** शब्द से सारा पाठ १९९ सूत्रानुसार समझना चाहिए।

६ यहाँ चूर्णि मे इतना पाठ अधिक है—**'चउत्थे उभयपडिसेहो'** चौथे सकल्प मे दूसरे भिक्षुओ से अशनादि देने-लेने दोनों का प्रतिषेध है।

७ (क) कोष्टकान्तर्गत पाठ शीलांक वृत्ति मे नही है।

(ख) चूर्णि के अनुसार यहाँ अधिक पाठ मालूम होता है—"चत्तारि पडिमा अभिग्गहविसेसा वुत्ता, इदाणि पचमो, सो पुण तेसिं चेव तिण्हं आदिल्लाण पडिमाविसेसाण विसेसो।'—चार प्रतिमाएँ अभिग्रहविशेष कहे गए है, अब पाचवाँ अभिग्रह (बता रहे है) वह भी उन्ही प्रारम्भ की तीन प्रतिमाविशेषो से विशिष्ट है।

८ यहाँ चूर्णि मे पाठान्तर इस प्रकार है—"अहं च खलु अन्नेसिं साहम्मियाण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहितेण अहातिरित्तेण असणेण वा ४ अगिलाए अभिकंख वेयावडिय करिस्सामि, अहं वा वि खलु तेण अहातिरित्तेण अभिकख साहम्मिएण अगिलायतएण वेयावडिय कीरमाण सातिज्जिस्सामि।"—मै भी अग्लान होकर अपनी कल्पमर्यादानुसार एषणीय, जैसा भी गृहस्थ के यहाँ से लाया गया है तथा आवश्यकता से अधिक अशनादि आहार से निर्जरा के उद्देश्य से अन्य साधर्मिको की सेवा करूँगा,

णेण वा[1] ४ अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए[2] अहं वा वि तेण अहातिरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेण वा ४ अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि [५] लाघवियं आगममाणे जाव[3] सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

२२७. जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा (सकल्प) होती है कि मै दूसरे भिक्षुओ को अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर दूँगा और उनके द्वारा लाये हुए (आहार) का सेवन करूँगा। (१)

अथवा जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर दूँगा, लेकिन उनके द्वारा लाये हुए (आहारादि) का सेवन नहीं करूँगा। (२)

अथवा जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं दूसरे भिक्षुओ को अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर नहीं दूंगा, लेकिन उनके द्वारा लाए हुए (आहारादि) का सेवन करूँगा। (३)

अथवा जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं दूसरे भिक्षुओ को अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर नहीं दूँगा और न ही उनके द्वारा लाए हुए (आहारादि) का सेवन करूँगा। (४)

(अथवा जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि) मै अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्पमर्यादानुसार एषणीय एवं ग्रहणीय तथा अपने लिए यथोपलब्ध लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मे से निर्जरा के उद्देश्य से, परस्पर उपकार करने की दृष्टि से साधर्मिक मुनियो की सेवा करूँगा, (अथवा) मैं भी उन साधर्मिक मुनियों द्वारा अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्पमर्यादानुसार एषणीय-ग्रहणीय तथा स्वयं के लिए यथोपलब्ध लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मे से निर्जरा के उद्देश्य से उनके द्वारा की जाने वाली सेवा को रुचिपूर्वक स्वीकार करूँगा। (५)

वह लाघव का सर्वांगीण विचार करता हुआ (सेवा का सकल्प करे)।

(इस प्रकार सेवा का सकल्प करने वाले) उस भिक्षु को (वैयावृत्य और काय-क्लेश) तप का लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

भगवान् ने जिस प्रकार से इस (सेवा के कल्प) का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे जान-समझ कर सब प्रकार से सर्वात्मना (उसमे निहित) सम्यक्त्व या समत्व को भलीभाँति जान कर आचरण मे लाए।

तथा मैं भी अपनी साधर्मिकों द्वारा आवश्यकता से अधिक लाए आहार मे निर्जरा के उद्देश्य से की जाने वाली सेवा ग्रहण करूँगा।

१ यहाँ 'वा' शब्द से सारा पाठ १९९ सूत्रानुसार समझना चाहिए।

२ 'करणाय' के बदले 'करणाए' तथा करणायते पाठ मिलता है। अर्थ होता है—उपकार करने के लिए।

३ यहाँ 'जाव' शब्द से समग्र पाठ १८७ सूत्र नुसार समझना चाहिए।

विवेचन—परस्पर वैयावृत्य कर्म-विमोक्ष में सहायक—प्रस्तुत सूत्र मे आहार के परस्पर लेन-देन के सम्बन्ध मे जो चार भगो का उल्लेख है, वह पचम उद्देशक मे भी है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ अग्लान साधु ग्लान की सेवा करने का और ग्लान साधु अग्लान साधुओ से सेवा लेने का सकल्प करता है, उसी सदर्भ मे आहार के लेन-देन की चतुर्भंगी बताई गई है। परन्तु यहाँ निर्जरा के उद्देश्य से तथा परस्पर उपकार की दृष्टि से आहारादि सेवा के आदान-प्रदान का विशेष उल्लेख पाचवे भग मे किया।

वैयावृत्य करना, कराना और वैयावृत्य करने वाले साधु की प्रशसा करना, ये तीनों सकल्प कर्म-निर्जरा, इच्छा-निरोध एव परस्पर उपकार की दृष्टि मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस तरह मन, वचन, काया से सेवा करने, कराने एव अनुमोदन करने वाले साधक के मन मे अपूर्व आनन्द एव स्फूर्ति की अनुभूति होती है तथा उत्साह की लहर दौड जाती है। उससे कर्मों की निर्जरा होती है, केवल शारीरिक सेवा ही नही, समाधिमरण या सलेखना की साधना के समय स्वाध्याय, जप, वैचारिक पाथेय, उत्साह-सवर्द्धन आदि के द्वारा परस्पर सहयोग एव उपकार की भावना भी कर्म-विमोक्ष मे बहुत सहायक है। सेवा भावना से साधक की साधना तेजस्वी और अन्तर्मुखी बनती है।[1]

परस्पर वैयावृत्य के छह प्रकल्प—इस (२२७) सूत्र मे साधक के द्वारा अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार की जाने वाली ६ प्रतिज्ञाओ का उल्लेख है—

(१) स्वय दूसरे साधुओ को आहार लाकर दूँगा, उनके द्वारा लाया हुआ लूँगा।

(२) दूसरो को लाकर दूँगा उनके द्वारा लाया हुआ नही लूँगा।

(३) स्वय दूसरो को लाकर न दूँगा, उनके द्वारा लाया हुआ लूँगा।

(४) न स्वय दूसरो को लाकर दूँगा, न ही उनके द्वारा लाया हुआ लूँगा।

(५) आवश्यकता से अधिक कल्पानुसार यथाप्राप्त आहार मे से निर्जरा एव परस्पर उपकार की दृष्टि से साधर्मिको की सेवा करूँगा।

(६) उन साधर्मिको से भी इसी दृष्टि से सेवा लूँगा।[2]

इन्हे चूर्णिकार ने प्रतिमा तथा अभिग्रह विशेष बताया है।

सलेखना-पादपोपगमन अनशन

२२८. जस्स ण भिक्खुस्स एव भवति 'से गिलामि च खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरग अणुपुव्वेण परिवहित्तए से अणुपुव्वेण आहारं संवट्टेज्जा, अणुपुव्वेणं आहारं सवट्टेत्ता कसाए पतणुए किच्चा समाहियच्चे[3] फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे

---

१ आचारा (पू० आ० श्री आत्मारामजी म० कृत टीका) पृ० ६१०।

२ आचा० शीला० टीका पत्राक २८८।

३ इसके बदले किसी प्रति मे '**समाहडच्चे**' पाठ मिलता है। **अर्थ होता है—जिसने अर्चा—सताप को** समेट लिया है।

अणुपविसित्ता गामं वा जाव[1] रायहाणिं वा तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाएत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा एगंतमवक्कमेत्ता अप्पंडे[2] जाव तणाइं संथरेज्जा[3], [तणाइं संथरेत्ता] एत्थ वि समए कायं च जोगं च इरियं च पच्चक्खाएज्जा।[4]

तं सच्चं सच्चवादी ओए तिण्णे छिण्णकहंकहे आतीतट्ठे[5] अणातीते चेच्चाण भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्सभणताए भेरवमणुचिण्णे। तत्थावि तस्स कालपरियाए। से तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेतं विमोहायतणं हितं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं ति बेमि।

॥ सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥

२२८ (**शरीर विमोक्ष : संलेखना सहित प्रायोपगमन अनशन के रूप में**)—जिस भिक्षु के मन में यह अध्यवसाय होता है कि मैं वास्तव में इस समय (आवश्यकक्रिया करने के लिए) इस (अत्यन्त जीर्ण एवं अशक्त) शरीर को क्रमशः वहन करने में ग्लान (असमर्थ) हो रहा हूँ। वह भिक्षु क्रमशः आहार का संक्षेप करे। आहार को क्रमशः घटाता हुआ कषायों को भी कृश करे।

यों करता हुआ समाधिपूर्ण लेश्या- (अन्तःकरण की वृत्ति) वाला तथा फलक की तरह शरीर और कषाय, दोनों ओर से कृश बना हुआ वह भिक्षु समाधि-मरण के लिए उत्थित होकर शरीर के सन्ताप को शान्त कर ले।

इस प्रकार संलेखना करने वाला वह भिक्षु (शरीर में थोड़ी-सी शक्ति रहते ही) ग्राम, नगर, खेड़ा, कर्बट, मडंब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर (खान), आश्रम, सन्निवेश (मुहल्ला या एक जाति के लोगों की बस्ती), निगम या राजधानी में प्रवेश करके (सर्वप्रथम) घास की याचना करे। जो घास प्राप्त हुआ हो, उसे लेकर ग्राम आदि के बाहर एकान्त में चला जाए। वहाँ जाकर जहाँ कीड़ों के अंडे, जीव-जन्तु, बीज, हरित, ओस, काई, उदक, चींटियों के बिल, फफूंदी, गीली मिट्टी या दल-दल या मकड़ी के जाले न हों, ऐसे स्थान को बार-बार प्रतिलेखन (निरीक्षण) कर फिर उसका कई बार प्रमार्जन (सफाई) करके घास का बिछौना करे। घास का बिछौना बिछाकर इसी समय शरीर, शरीर की प्रवृत्ति और गमनागमन आदि ईर्या का प्रत्याख्यान (त्याग) करे (इस प्रकार प्रायोपगमन अनशन करके शरीर विमोक्ष करे)।

यह (प्रायोपगमन अनशन) सत्य है। इसे सत्यवादी (प्रतिज्ञा पर अन्त तक

१-२ 'जाव' शब्द के अन्तर्गत २२४ सूत्रानुसार यथायोग्य पाठ समझ लेना चाहिए।

३ इसके बदले चूर्णि में पाठान्तर है—'**संथारगं संथरेइ संथारगं संथरेत्ता ।**' अर्थात् संस्तारक (बिछौना) बिछा लेता है, संस्तारक बिछा कर ।

४. '**पच्चक्खाएज्जा**' के बदले '**पच्चक्खाएज्ज**' शब्द मानकर चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या की है— "**पाओवगमणं भणितं समे विसमे वा पादवो विव जहं पडिओ। णागज्जुणा तु कट्ठमिव अचेट्ठे।**"

५. '**आतीतट्ठे**' के बदले **आइयट्ठे, अतीट्ठे** पाठ मिलते हैं, अर्थ प्रायः समान हैं।

दृढ रहने वाला) वीतराग, संसार-पारगामी, अनशन को अन्त तक निभायेगा या नहीं ? इस प्रकार की शंका से मुक्त, सर्वथा कृतार्थ, जीवादि पदार्थों का सांगोपांग ज्ञाता, अथवा समस्त प्रयोजनों (बातों) से अतीत (परे), परिस्थितियों से अप्रभावित (अनशन-स्थित मुनि प्रायोपगमन—अनशन को स्वीकार करता है)।

वह भिक्षु प्रतिक्षण विनाशशील शरीर को छोड कर, नाना प्रकार के उपसर्गों और परीषहों पर विजय प्राप्त करके ('शरीर और आत्मा पृथक-पृथक है') इस (सर्वज्ञप्ररूपित भेद-विज्ञान) में पूर्ण विश्वास के साथ इस घोर अनशन का (शास्त्रीय विधि के अनुसार) अनुपालना करे।

ऐसा (रोगादि आतंक के कारण प्रायोपगमन स्वीकार) करने पर भी उसकी यह काल-मृत्यु (स्वाभाविक मृत्यु) होती है। उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया (समस्त कर्मक्षय) करने वाला भी हो सकता है।

इस प्रकार यह (प्रायोपगमन के रूप में किया गया शरीर-विमोक्ष) मोहमुक्त भिक्षुओं का आयतन (आश्रय) हितकर, सुखकर, क्षमारूप तथा समयोचित, निःश्रेयस्कर और जन्मान्तर में भी साथ चलने वाला है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रायोपगमन अनशन : स्वरूप, विधि और माहात्म्य—प्रस्तुत सूत्र में समाधिमरण के तीसरे अनशन का वर्णन है। इसके दो नाम मिलते हैं—प्रायोपगमन और पादपोपगमन।

प्रायोपगमन का लक्षण है—जहाँ और जिस रूप में इसके साधक ने अपना अंग रख दिया है, वहाँ और उसी रूप में वह आयु की समाप्ति तक निश्चल पड़ा रहता है,[1] अंग को बिलकुल हिलाता-डुलाता नहीं। 'स्व' और 'पर' दोनों के प्रतीकार से—सेवा-शुश्रूषा से रहित मरण का नाम ही प्रायोपगमन-मरण है।[2]

पादपोपगमन मरण का लक्षण है—जिस प्रकार पादप—वृक्ष सम या विषम अवस्था में निश्चेष्ट पडा रहता है, उसी प्रकार सम या विषम, जिस स्थिति में स्थित हो पड जाता है, अपना अंग रखता है, उसी स्थिति में आजीवन निश्चल-निश्चेष्ट पडा रहता है। पादपोपगमन अनशन का साधक दूसरे से सेवा नहीं लेता और न ही दूसरों की सेवा करता है। दोनों का लक्षण मिलता-जुलता है।[3]

इसकी और सब विधि तो इंगित-मरण की तरह है, लेकिन इंगित-मरण में पूर्व नियत क्षेत्र में हाथ-पैर आदि अवयवों का संचालन किया जाता है, जबकि पादपोपगमन में एक ही नियत स्थान पर भिक्षु निश्चेष्ट पडा रहता है।[4]

---

१ भगवती आराधना मू० २०६३ से २०७१।

२ प्रायोपगमनमरण की विशेष व्याख्या के लिए देखिए—जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष भाग ४, पृष्ठ ३९०-३९१।

३ भगवती सूत्र श० २५, उ० ७ की टीका।

४ पादपोपगमन की विशेष व्याख्या के लिए देखिये—अभिधानराजेन्द्र कोष भा० ५, पृष्ठ ८१९।

पादपोपगमन मे विशेषतया तीन बातो का प्रत्याख्यान (त्याग) अनिवार्य होता है—
(१) शरीर,
(२) शरीरगत योग— आकुञ्चन, प्रसारण, उन्मेष आदि काय व्यापार और
(३) ईर्या— वाणीगत सूक्ष्म तथा अप्रशस्त हलन-चलन।[1]
इसका माहात्म्य भी इंगितमरण की तरह बताया गया है।
शरीर-विमोक्ष मे प्रायोपगमन प्रबल सहायक है।

॥ सातवा उद्देशक समाप्त ॥

अट्ठमो उद्देसओ

अष्टम उद्देशक

आनुपूर्वी-अनशन

२२९. अणुपुव्वेण विमोहाइं जाइं[2] धीरा समासज्ज।
वसुमतो[3] मतिमतो सव्वं णच्चा अणेलिस ॥१६॥

२२९. जो (भक्तप्रत्याख्यान, इंगितमरण एव प्रायोपगमन, ये तीन) विमोह या विमोक्ष क्रमश (समाधिमरण के रूप मे बताए गए) है, धैर्यवान् सयम का धनी (वसुमान्) एव हेयोपादेय-परिज्ञाता (मतिमान्) भिक्षु उनको प्राप्त करके (उनके सम्बन्ध मे) सब कुछ जानकर (उनमे से) एक अद्वितीय (समाधिमरण को अपनाए)।

विवेचन—अनशन का आन्तरिक विधि विधान पूर्व उद्देशको मे जिन तीन समाधिमरण रूप अनशनो का निरूपण किया गया है, उन्ही के विशेष आन्तरिक विधि-विधानो के सम्बन्ध मे आठवे उद्देशक मे क्रमश वर्णन किया है।[6]

'अणुपुव्वेण विमोहाइ'—इस पंक्ति के द्वारा शास्त्रकार ने दो प्रकार के अनशनो की ओर इंगित कर दिया है, वे है—(१) सविचार और (२) अविचार।[4] इन्हे ही दूसरे शब्दो मे

---

१. आचा० शीला० टीका पत्राक २८९।

२ इसके बदले पाठान्तर है—**जाणि वीरा समासज्ज**—जिन्हे वीर प्राप्त करके

३. **'वसुमतो'** के पहले चूणिकार ने **'वुसीमतो'** पाठ मानकर अर्थ किया है— सजमो वुसी, सो जत्थ अत्थि, जत्थ वा विज्जति सो वुसिमा, वुसिम च वुसिमतो। अर्थात्—वुसी(वृषि) सयम को कहते है, जहाँ वृषि है या जिसमे वृषि सयम है, वह वृषिमान् कहलाता है, उसके बहुवचन का रूप है—वुसीमतो।

४. आचा० शीला० टीका पत्राक २८९।

५. **विचरण नानागमन विचार विचारेण सह वर्तते इति सविचारम्**—विचरण —नाना प्रकार के सचरण से युक्त जो अनशन किया जाता है, वह सविचार अनशन होता है, यह अनागाढ, सहसा अनुपस्थित और चिरकालभावी मरण भी कहलाता है। इसके विपरीत अनशन (समाधिमरण) अविचार कहलाता है। —भगवती आराधना वि० ६४/१९२/६

क्रमप्राप्त और आकस्मिक अथवा सपरिक्रम—(सपराक्रम) और अपरिक्रम (अपराक्रम) अथवा[1] अव्याघात और सव्याघात कहा गया है।

सविचार अनशन—तब किया जाता है, जब तक जघाबल क्षीण न हो (अर्थात्—शरीर समर्थ हो) जब काल-परिपाक से आयु क्रमश क्षीण होती जा रही हो, जिसमे विधिवत् क्रमश. द्वादश वर्षीय सलेखना[2] की जाती हो। इसका क्रम इस प्रकार है—[3] प्रव्रज्याग्रहण, गुरु के समीप रहकर सूत्रार्थ-ग्रहण शिक्षा, उसके साथ ही आसेवना-शिक्षा द्वारा सक्रिय अनुभव, दूसरो को सूत्रार्थ का अध्यापन, फिर गुरु से अनुज्ञा प्राप्त करके तीन अनशनो मे से किसी एक का चुनाव और (१) आहार, (२) उपधि, (३) शरीर—इन तीनो से विमुक्त होने का प्रतिदिन अभ्यास करना, अन्त मे सबसे क्षमा-याचना, आलोचना-प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धीकरण करके समाधिपूर्वक शरीर-विसर्जन करना। इसी को आनुपूर्वी अनशन (अर्थात्—अनशन की अनुक्रमिक साधना) भी कहते है। इसमे दुर्भिक्ष, बुढापा, दु साध्य मृत्युदायक रोग और शरीर-बल की क्रमश क्षीणता आदि कारण भी होते है।[4]

आकस्मिक अनशन—सहसा उपसर्ग उपस्थित होने पर या अकस्मात् जघाबल आदि क्षीण हो जाने पर,[4] शरीर शून्य या बेहोश हो जाने पर, हठात् बीमारी का प्राणान्तक आक्रमण हो जाने पर तथा स्वय मे उठने-बैठने आदि की बिलकुल शक्ति न होने पर किया जाता है।

पूर्व उद्देशको मे आकस्मिक अनशनो का वर्णन था, इस उद्देशक मे क्रमप्राप्त अनशन का वर्णन है। इसे आनुपूर्वी अनशन, अव्याघात, सपराक्रम और सविचार अनशन भी कहा जाता है।

समाधिमरण के लिए चार बातें आवश्यक—(१) सयम, (२) ज्ञान, (३) धैर्य और (४) निर्मोहभाव, इन चारो का सकेत इस गाथा मे दिया गया है।[5]

'विमोहाइ समासज्ज सत्व णच्चा अरोलिस'—इस गाथा मे वैहानसमरण सहित चार मरणो को विमोह कहा गया है। क्योकि इन सब मे शरीरादि के प्रति मोह सर्वथा छोडना होता है। इन्ही को 'विमोक्ष' कहा गया है। इस गाथा का तात्पर्य यह है कि इन सब विमोहो को, बाह्य-आभ्यन्तर, क्रमप्राप्त—आकस्मिक, सविचार-अविचार आदि को सभी प्रकार से भलीभाँति जानकर, इनके विधि-विधानो, कृत्यो-अकृत्यो को समझकर अपनी धृति, सहनन, बलाबल आदि का नाप-तौल करके सयम के धनी, धीर और हेयोपादेय विवेक-बुद्धि से ओत-

---

१ **जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।**
सवियारमवीयारा, कायचेट्ठ पई भवे ॥१२॥
अहवा सपडिकम्मा अपरिक्कम्मा य आहिया।
नीहारि मनीहारी आहारच्छेओ दोसु वि ॥१३॥ — अभिधान रा० कोष भा० १ पृ० ३०३-३०४

२. सागारधर्मामृत ८/९-१०   ३ आचा० शीला० टीका पत्राक २८९।

४ **उपसर्गे, दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे ॥**
धर्माय तनुविमोचनमाहु सलेखनामार्या ॥ — रत्नकरण्डक श्रावकाचार १२२।

५ अभिधान राजेन्द्र कोष भा १ पृ० ३०३।   आचा० शीला० टीका पत्राक २८९।

प्रोत भिक्षु को अपने लिए इनमे से यथायोग्य एक ही समाधिमरण का चुनाव करके समाधिपूर्वक उसका अनुपालन करना चाहिए।[1]

भक्तप्रत्याख्यान अनशन तथा सलेखना विधि

२३०. दुविहं[2] पि विदित्ता ण बुद्धा धम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीए सखाए आरभाए तिउट्टति[3] ॥१७॥

२३१. कसाए पयणुए किच्चा अप्पाहारो तितिक्खए[4]।
अह भिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव[5] अतिय ॥१८॥

२३२. जीविय णाभिकखेज्जा मरण णो वि पत्थए।
दुहतो वि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तहा ॥१९॥

२३३. मज्झत्थो णिज्जरापेही समाहिमणुपालए।
अंतो बहिं वियोसज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥२०॥

२३४ ज किचुवक्कम जाणे आउखेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अतरद्धाए खिप्प सिक्खेज्ज पडिते ॥२१॥

२३५. गामे अदुवा रण्णे थडिल पडिलेहिया।
अप्पपाण तु विण्णाय तणाइ सथरे मुणी ॥२२॥

२३६ अणाहारो तुवट्टेज्जा पुट्ठो तत्थ हियासए।
णातिवेल उवचरे माणुस्सेहि वि पुट्ठव ॥२३॥

२३७. ससप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।
भुंजते मससोणिय ण छणे ण पमज्जए ॥२४॥

२३८. पाणा देह विहिंसंति ठाणातो ण वि उब्भमे।
आसवेहि विवित्तेहि तिप्पमाणोऽधियासए ॥२५॥

२३९. गथेहि विवित्तेहि आयुकालस्स पारए।
पग्गहीततरगं चेतं दवियस्स वियाणतो ॥२६॥

२३० वे धर्म के पारगामी प्रबुद्ध भिक्षु दोनो प्रकार मे (शरीर उपकरण आदि बाह्य पदार्थों तथा रागादि आन्तरिक विकारों की) हेयता का अनुभव करके

---

१ आचा०शीला०टीका पत्रांक २८*।

२ इसके बदले चूर्णि मे पाठान्तर मिलता है — 'दुविहं पि विगिचित्ता बुद्धा'—प्रबुद्ध साधक दोनों प्रकार से विशिष्ट रूप से विश्लेषण करके।

३ इसके बदले चूर्णिकार मान्य पाठान्तर है—'कम्मुणा य तिउट्टति' अन्य भी पाठान्तर है—कम्मुणाओ तिउट्टति, अर्थात्—कर्म से अलग हो जाता है—सम्बन्ध टूट जाता है।

४ 'तितिक्खए' के बदले चूर्णि मे 'तिउटटति' पाठ है। अर्थ होता है—कर्मों को तोडता है।

५. इसके बदले चूर्णि मे पाठान्तर है —'आहारस्सेव कारणा'। अर्थ होता है—आहार के कारण ही भिक्षु ग्लान हो जाए तो।

(प्रव्रज्या आदि के) क्रम से (चल रहे सयमी शरीर को) विमोक्ष का अवसर जानकर आरंभ (बाह्य प्रवृत्ति) से सम्बन्ध तोड लेते हैं ।।१७।।

२३१. वह कषायो को कृश (अल्प) करके, अल्पाहारी बन कर परीषहो एव दुर्वचनो को सहन करता है, यदि भिक्षु ग्लानि को प्राप्त होता है, तो वह आहार के पास ही न जाये (आहार-सेवन न करे) ।।१८।।

२३२. (सलेखना एवं अनशन-साधना मे स्थित श्रमण) न तो जीने की आकाक्षा करे, न मरने की अभिलाषा करे। जीवन और मरण दोनो मे भी आसक्त न हो ।।१९।।

२३३ वह मध्यस्थ (सुख-दु ख मे सम) और निर्जरा की भावना वाला भिक्षु समाधि का अनुपालन करे। वह (राग, द्वेष, कषाय आदि) आन्तरिक तथा (शरीर, उपकरण आदि) बाह्य पदार्थों का व्युत्सर्ग—त्याग करके शुद्ध अध्यात्म की एषणा (अन्वेषणा) करे ।।२०।।

२३४ (सलेखना-काल मे भिक्षु को) यदि अपनी आयु के क्षेम (जीवन-यापन) मे जरा-सा भी (किसी आतक आदि का) उपक्रम (प्रारम्भ) जान पडे तो उस सलेखना काल के मध्य मे ही पण्डित भिक्षु शीघ्र (भक्त-प्रत्याख्यान आदि से) पण्डितमरण को अपना ले ।।२१।।

२३५ (सलेखन-साधक) ग्राम या वन मे जाकर स्थण्डिलभूमि का प्रतिलेखन (अवलोकन) करे, उसे जीव-जन्तु रहित स्थान जानकर मुनि (वही) घास बिछा ले ।।२२।।

२३६ वह वही (उस घास के बिछौने पर) निराहार हो (त्रिविध या चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान) कर (शान्तभाव से) लेट जाये। उस समय परीषहो और उपसर्गो मे आक्रान्त होने पर (समभावपूर्वक) सहन करे। मनुष्यकृत (अनुकूल-प्रति - कूल) उपसर्गों से आक्रान्त होने पर भी मर्यादा का उल्लघन न करे ।।२३।।

२३७ जो रेगने वाले (चीटी आदि) प्राणी है, या जो(गिद्ध आदि) ऊपर आकाश मे उडने वाले है, या (सर्प आदि) जो नीचे बिलो मे रहते है, वे कदाचित् अनशनधारी मुनि के शरीर का मास नोचे और रक्त पीए तो मुनि न तो उन्हे मारे और न ही रजोहरणादि से प्रमार्जन (निवारण) करे ।।२४।।

२३८ (वह मुनि ऐसा चिन्तन करे) ये प्राणी मेरे शरीर का विघात (नाश) कर रहे है, (मेरे ज्ञानादि आत्म-गुणो का नही, ऐसा विचार कर उन्हे न हटाए) और न ही उस स्थान से उठकर अन्यत्र जाए। आस्रवो (हिंसादि) से पृथक् हो जाने के कारण (अमृत से सिंचित की तरह) तृप्ति अनुभव करता हुआ (उन उपसर्गो को) सहन करे ।।२५।।

२३९ उस सलेखना-साधक की (शरीर उपकरणादि बाह्य और रागादि

अन्तरग) गाठे (ग्रन्थियाँ) खुल जाती है, (तब मात्र आत्मचिन्तन मे सलग्न वह मुनि) आयुष्य (समाधिमरण) के काल का पारगामी हो जाता है ॥२६॥

विवेचन—भक्तप्रत्याख्यान अनशन की पूर्व तैयारी—इन गाथाओ में इसका विशद वर्णन किया गया है। समाधिमरण के लिए पूर्वोक्त तीन अनशनो मे से भक्तप्रत्याख्यानरूप एक अनशन का चुनाव करने के बाद उसकी क्रमश पूर्व तैयारी की जाती है, जिसकी झाकी सू० २३० से २३४ तक मे दी गई है। सूत्र २३० से भक्तप्रत्याख्यानरूप अनशन का निरूपण है। यहाँ सविचार भक्तप्रत्याख्यान का प्रसग है। इसलिए इसमे सभी कार्यक्रम क्रमश: सम्पन्न किये जाते है। भक्तप्रत्याख्यान अनशन को पूर्णत सफल बनाने के लिए अनशन का पूर्ण सकल्प लेने से पूर्व मुख्यतया निम्नोक्त क्रम अपनाना आवश्यक है—जिसका निर्देश उक्त गाथाओ मे है। वह क्रम इस प्रकार है—

(१) सलेखना के बाह्य और आभ्यन्तर दोनो रूपो को जाने और हेय का त्याग करे।

(२) प्रव्रज्याग्रहण, सूत्रार्थग्रहण-शिक्षा, आसेवना-शिक्षा आदि क्रम से चल रहे सयम-पालन मे शरीर के असमर्थ हो जाने पर शरीर-विमोक्ष का अवसर जाने।

(३) समाधिमरण के लिए उद्यत भिक्षु क्रमश कषाय एव आहार की सलेखना करे।

(४) सलेखना काल मे उपस्थित रोग, आतक, उपद्रव एव दुर्वचन आदि परीषहो को समभाव से सहन करे।

(५) द्वादशवर्षीय सलेखना काल मे आहार कम करने से समाधि भग होती हो तो सलेखना क्रम छोडकर आहार कर ले, यदि आहार करने से समाधि भंग होती हो तो वह आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन स्वीकार कर ले।

(६) जीवन और मरण मे समभाव रखे।

(७) अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो मे मध्यस्थ और निर्जरादर्शी रहे।

(८) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, समाधि के इन पाच अगो का अनुसेवन करे।

(९) भीतर की रागद्वेषादि ग्रन्थियो और बाहर की शरीरादि से सम्बद्ध प्रवृत्तियो तथा ममता का व्युत्सर्ग करके शुद्ध अध्यात्म की झाकी देखे।

(१०) निराबाध सलेखना मे आकस्मिक विघ्न-बाधा उपस्थित हो तो सलेखना के क्रम को बीच मे ही छोडकर भक्तप्रत्याख्यान अनशन का सकल्प कर ले।

(११) विघ्न-बाधा न हो तो सलेखनाकाल पूर्ण होने पर ही भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करे।[1]

सलेखना स्वरूप, प्रकार और विधि—सम्यक् रूप से काय और कषाय का—बाह्य और आभ्यन्तर का सम्यक् लेखन—(कृश) करना सलेखना है। इस दृष्टि से सलेखना दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य सलेखना शरीर मे और आभ्यन्तर कषायो मे होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से भाव सलेखना वह है, जिसमें आत्म-सस्कार के अनन्तर उसके

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २८९, २९०।

लिए ही क्रोधादि कषाय रहित अनन्तज्ञानादि गुणों से सम्पन्न परमात्म-पद में स्थित होकर रागादि विकल्पों को कृश किया जाय और उस भाव-सलेखना की सहायता के लिए काय-क्लेश रूप अनुष्ठान भोजनादि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्यसंलेखना है।[1]

काल की अपेक्षा से संलेखना तीन प्रकार की होती है—जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा। जघन्या संलेखना १२ पक्ष की, मध्यमा १२ मास की और उत्कृष्टा १२ वर्ष की होती है।

द्वादशवर्षीय संलेखना की विधि इस प्रकार है—प्रथम चार वर्ष तक कभी उपवास, कभी बेला, कभी तेला, चौला या पचौला, इस प्रकार विचित्र तप करता है, पारणे के दिन उद्गमादि दोषों से रहित शुद्ध आहार करता है। तत्पश्चात् फिर चार वर्ष तक उसी तरह विचित्र तप करता है, पारणा के दिन विगय रहित (रस रहित) आहार लेता है। उसके बाद दो वर्ष तक एकान्तर तप करता है, पारणा के दिन आयम्बिल तप करता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम ६ मास तक उपवास या बेला तप करता है, द्वितीय ६ मास में विकृष्ट तप—तेला-चोला आदि करता है। पारणे में कुछ ऊनोदरीयुक्त आयम्बिल करता है। उसके पश्चात् १२वें वर्ष में कोटी-सहित लगातार आयम्बिल करता है, पारणा के दिन आयबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष में साधक भोजन में प्रतिदिन एक-एक ग्रास को कम करते-करते एक सिक्थ भोजन पर आ जाता है।[2]

बारहवें वर्ष के अन्त में वह अर्धमासिक या मासिक अनशन या भक्तप्रत्याख्यान आदि कर लेता है। दिगम्बर परम्परा में भी आहार को क्रमशः कम करने के लिए उपवास, आचाम्ल, वृत्ति-संक्षेप, फिर रसवर्जित आदि विविध तप करके शरीर संलेखना करने का विधान है। यदि आयु और शरीर-शक्ति पर्याप्त हो तो साधक बारह भिक्षु प्रतिमाएं स्वीकार करके शरीर को कृश करता है। शरीर-संलेखना के साथ राग-द्वेष-कषायादि रूप परिणामों की विशुद्धि अनिवार्य है, अन्यथा केवल शरीर को कृश करने से संलेखना का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता।[3]

संलेखना के पांच अतिचारों से सावधान—संलेखना काल में जीवन और मरण की आकांक्षा तो बिलकुल ही छोड़ देनी चाहिए, यानी 'मैं अधिक जीऊँ या शीघ्र ही मेरी मृत्यु हो जाय तो इस रोगादि से पिंड छूटे', ऐसा विकल्प मन में नहीं उठना चाहिए।[4] काम-भोगों का तथा इहलोक-परलोक सम्बन्धी कोई भी आकांक्षा या निदान नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि संलेखना के ५ अतिचारों से सावधान रहना चाहिए।[5]

---

१ (क) सर्वार्थसिद्धि ७।२२।३६३। (ख) भगवती आराधना मूल २०६।४२३।
(ग) पंचास्तिकाय ता० वृ० १७३।२५३।१७।
२. अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ७ पृ० २१८, नि०, प० व०, आ० चू०।
३ भगवती आराधना मू० २४८ से २६९, २५७ से २५९, सागारधर्मामृत ८।२३।
४ मू० २३८ में इसका उल्लेख है, आचा० शीला० टीका पत्रांक २८९।
५ संलेखना के ५ अतिचार—इहलोकाशंसाप्रयोग, परलोकाशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग और कामभोगाशंसाप्रयोग। —आवश्यक अ० ५ हारि० वृत्ति पृ० ८३८।

'आरम्भाओ तिउट्टइ'—इस वाक्य मे आरम्भ शब्द हिंसा अर्थ मे नहीं है, किन्तु शरीर धारण करने के लिए आहार-पानी के अन्वेषण आदि की जो प्रवृत्तियाँ है, उन्हे भी आरम्भ शब्द से सूचित किया है। साधक उनमे सम्बन्ध तोड देता है, यानी अलग रहता है। हिंसात्मक आरम्भ का त्याग तो मुनि पहले से ही कर चुका होता है, इस समय तो वह सलेखना—सथारा की साधना मे सलग्न है, इसलिए आहारादि की प्रवृत्तियो मे विमुक्त होना आरम्भ से मुक्ति है। यदि वह आहारादि की खटपट मे पडेगा तो वह अधिकाधिक आत्मचिन्तन नहीं कर सकेगा।[1]—यहाँ चूर्णिकार **कम्मुणाओ तिउट्टइ**' ऐसा पाठान्तर मानकर अर्थ करते है, अष्ट विध कर्मों को तोडना है—तोडना प्रारम्भ कर देता है।

'अह भिक्खु गिलाएज्जा'—वृत्तिकार ने इस सूत्रपंक्ति के दो फलितार्थ प्रस्तुत किए है—(१) सलेखना-साधना मे स्थित भिक्षु को आहार मे कमी कर देने से कदाचित् आहार के बिना मूर्च्छा-चक्कर आदि ग्लानि होने लगे तो सलेखना-क्रम को छोडकर विकृष्ट तप न करके आहार सेवन करना चाहिए। (२) अथवा आहार करने से अगर ग्लानि—अरुचि होती हो तो भिक्षु को आहार के समीप ही नहीं जाना चाहिए। अर्थात्—यह नहीं सोचना चाहिए कि 'कुछ दिन सलेखना क्रम तोडकर आहार कर लूँ, फिर शेष सलेखना क्रम पूर्ण कर लूँगा', अपितु आहार करने के विचार को ही पास मे नहीं फटकने देना चाहिए।[2]

'कि चुवक्कम जाणे'—यह गाथा भी सलेखना काल मे सावधानी के लिए है। इसका तात्पर्य यह है कि सलेखना काल के बीच मे ही यदि आयुष्य के पुद्गल सहसा क्षीण होते मालूम दे तो विचक्षण साधक को उसी समय बीच मे ही सलेखना क्रम छोडकर भक्तप्रत्याख्यान आदि अनशन स्वीकार कर लेना चाहिए। **भक्तप्रत्याख्यान** की विधि पहले बताई जा चुकी है। इसका नाम भक्तपरिज्ञा भी है।[3]

सलेखना काल पूर्ण होने के बाद—सूत्र २३५ मे भक्तप्रत्याख्यान आदि मे से किसी एक अनशन को ग्रहण करने का विधान प्रारम्भ हो जाता है। सलेखनाकाल पूर्ण हो जाने के बाद साधक को गाँव मे या गाँव से बाहर स्थण्डिलभूमि का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके जीव-जन्तुरहित निरवद्य स्थान मे घास का सथारा-बिछौना बिछाकर पूर्वोक्त विधि मे अनशन का सकल्प कर लेना चाहिए। भक्तप्रत्याख्यान को स्वीकार कर लेने के बाद जो भी अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग या परीषह आये उन्हे समभावपूर्वक सहना चाहिए। गृहस्थाश्रमपक्षीय या साधुसघीय पारिवारिक जनो के प्रति मोहवश आर्तध्यान न करना चाहिए, न ही किसी पीडा देने वाले मनुष्य या जलचर, स्थलचर, खेचर उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प आदि प्राणी से घबरा कर रौद्रध्यान करना चाहिए। डास, मच्छर आदि या साप, बिच्छू आदि कोई प्राणी शरीर पर आक्रमण कर रहा हो, उस समय भी विचलित न होना चाहिए, न स्थान बदलना चाहिए।

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २८९।

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक २९०।

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक २९०।

अनशन साधक स्वयं को आस्रवों से शरीरादि तथा राग-द्वेष-कषायादि से बिलकुल मुक्त समझे। जीवन के अन्त तक शुभ अध्यवसायों में लीन रहे।[1]

इंगितमरणरूप विमोक्ष और यह इंगितमरण पूर्वगृहीत (भक्तप्रत्याख्यान) से विशिष्टतर है। इसे विशिष्ट ज्ञानी (कम से कम नौ पूर्व का ज्ञाता गीतार्थ) संयमी मुनि ही प्राप्त कर सकता है।

इंगितमरणरूप विमोक्ष

२४०. अयं से अवरे धम्मे णायपुत्तेण साहिते।
आयवज्जं पडियारं विजहेज्जा तिधा तिधा ॥ २७ ॥
२४१. हरिएसु ण णिवज्जेज्जा थंडिलं मुणिआ[2] सए।
विओसिज्ज[3] अणाहारो पुट्ठो तत्थऽधियासए ॥ २८ ॥
२४२ इंदिएहिं गिलायंतो समियं साहरे मुणी[4]।
तहावि से अगरहे अचले जे समाहिए ॥ २९ ॥
२४३. अभिक्कमे पडिक्कमे संकुचए पसारए।
कायसाहारणट्ठाए एत्थं वा वि अचेतणं ॥ ३० ॥
२४४. परिक्कमे परिकिलंते अदुवा चिट्ठे अहायते।
ठाणेण परिकिलंते णिसीएज्ज य अंतसो ॥ ३१ ॥
२४५. आसीणेऽणेलिसं[5] मरणं इंदियाणि समीरते।
कोलावासं समासज्ज वितहं पादुरेसए[6] ॥ ३२ ॥
२४६. जतो वज्जं समुप्पज्जे ण तत्थ अवलंबए।
ततो उक्कसे अप्पाणं सव्वे फासेऽधियासए ॥ ३३ ॥

२४० ज्ञात-पुत्र भगवान महावीर ने भक्तप्रत्याख्यान से भिन्न इंगितमरण

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक २०१ के आधार पर।

२ **'मुणिआसए'** के बदले चूर्णि में **'मुणी आसए'** पाठ है, अर्थ किया गया है—मुणी पुव्वभणितो, आसीत जाणए। अर्थात्—पूर्वोक्त मुनि (स्थण्डिलभूमि पर) बैठे।

३ **'विउसिज्ज'** के बदले **वियोसज्ज, वियोसेज्ज, विउसेज्ज, विउसज्ज, विओसिज्ज** आदि पाठान्तर मिलते हैं, अर्थ प्रायः एक-समान है।

४ इसके बदले चूर्णिकार ने **'समित साहरे मुणी'** पाठ मानकर अर्थ किया है—"संकुडितो परिकिलतो वा ताहे सम्म पसारेइ, पसारिय किलतो वा पमज्जित्ता साहरइ।" इन्द्रियों (हाथ पैर आदि) को सिकोड़ने में ग्लानि—बेचैनी हो तो उन्हें सम्यक्रूप (ठीक तरह) से पसार ले। पसारने पर भी पीड़ा होती हो तो उनका प्रमार्जन करके समेट ले।

५ चूर्णिकार ने इसके बदले **'आसीणेऽणेलिस'** पाठ मान्य करके अर्थ किया है—"आसीण इति उदासीणो अहवा धम्म अस्सितो।"—अर्थात् आसीन यानी उदासीन अथवा धर्म के आश्रित।

६ **'पादुज्जतेसते'** पाठान्तर मान्य करके चूर्णिकार ने अर्थ किया है—"पादु पकासं अवट्ठित, तं ... एसति"—अर्थात्—प्रादु का अर्थ है प्रकट (प्रकाश) में अवस्थित, उसकी एषणा करे।

अनशन का यह आचार-धर्म बताया है। इस अनशन मे भिक्षु (मर्यादित भूमि के बाहर) किसी भी अंगोपांग के व्यापार (सचार) का, अथवा उठने-बैठने आदि की क्रिया में अपने सिवाय किसी दूसरे के सहारे (परिचर्या) का (तीन करण, तीन योग से) मन, वचन और काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करे ।।२७।।

२४१. वह हरियाली पर शयन न करे, स्थण्डिल (हरित एव जीव-जन्तुरहित स्थल) को देखकर वहाँ सोए। वह निराहार भिक्षु बाह्य एव आभ्यन्तर उपधि का व्युत्सर्ग करके भूख-प्यास आदि परीषहो तथा उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हे सहन करे ।।२८।।

२४२. आहारादि का परित्यागी मुनि इन्द्रियो से ग्लान (क्षीण) होने पर समित (यतनासहित, परिमित मात्रायुक्त) होकर हाथ-पैर आदि सिकोड़े (पसारे); अथवा शमिता—शान्ति या समता धारण करे। जो अचल (अपनी प्रतिज्ञा पर अटल) है तथा समाहित (धर्म-ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान में मन को लगाये हुए) है, वह परिमित भूमि मे शरीर-चेष्टा करता हुआ भी निन्दा का पात्र नही होता ।।२९।।

२४३. (इस अनशन मे स्थित मुनि बैठे-बैठे या लेटे-लेटे थक जाये तो) वह शरीर-सधारणार्थ गमन और आगमन करे, (हाथ-पैर आदि को) सिकोडे और पसारे। (यदि शरीर मे शक्ति हो तो) इस (इगितमरण अनशन) मे भी अचेतन की तरह (निश्चेष्ट होकर) रहे ।।३०।।

२४४. (इस अनशन मे स्थित मुनि) बैठा-बैठा थक जाये तो नियत प्रदेश मे चले, या थक जाने पर बैठ जाए, अथवा सीधा खडा हो जाये, या सीधा लेट जाये। यदि खडे होने मे कष्ट होता हो तो अन्त मे बैठ जाए ।।३१।।

२४५ इस अद्वितीय मरण की साधना में लीन मुनि अपनी इन्द्रियो को सम्यक्रूप से सचालित करे। (यदि उसे ग्लानावस्था मे सहारे के लिए किसी काष्ठ-स्तम्भ या पट्ट की आवश्यकता हो तो) घुन-दीमकवाले काष्ठ स्तम्भ या पट्ट का सहारा न लेकर घुन आदि रहित व निश्छिद्र काष्ठ-स्तम्भ या पट्ट का अन्वेषण करे ।।३२।।

२४६. जिससे वज्रवत् कर्म या वर्ज्य—पाप उत्पन्न हो, ऐसी घुण, दीमक, आदि से युक्त वस्तु का सहारा न ले। उससे या दुर्ध्यान एवं दुष्ट योगो से अपने आपको हटा ले और उपस्थित सभी दु:खस्पर्शों को सहन करे ।।३३।।

विवेचन—इगितमरण : स्वरूप, सावधानी और आन्तरिकविधि—सूत्र २३९ से २४६ तक की गाथाओं मे इगितमरण का निरूपण किया गया है, जो समाधिमरण रूप अनशन का द्वितीय प्रकार है। भक्तप्रत्याख्यान से यह विशिष्टतर है। इसकी भी पूर्वतैयारी तथा सकल्प करने तक की क्रमशः सब विधि भक्तप्रत्याख्यान की तरह ही समझ लेनी चाहिए। इतना ही नहीं, भक्तप्रत्याख्यान में जिन सावधानियों का निर्देश किया है, उनसे इस अनशन में भी सावधान रहना आवश्यक है।

इंगितमरण में कुछ विशिष्ट बातों का निर्देश शास्त्रकार ने किया है, जैसे कि इंगितमरण साधक अपना अंगसंचार, उठना, बैठना, करवट बदलना, शौच, लघुशंका आदि समस्त शारीरिक कार्य स्वयं करता है। इतना ही नहीं, दूसरों के द्वारा करने, कराने, दूसरे के द्वारा किसी साधक के निमित्त किये जाते हुए अनुमोदन करने का भी वह मन, वचन, काया से त्याग करता है। वह संकल्प के समय निर्धारित भूमि में ही गमनागमन आदि करता है, उससे बाहर नहीं। वह स्थण्डिलभूमि भी जीव-जन्तु, हरियाली आदि से रहित हो, जहाँ वह इच्छानुसार बैठे, लेटे या सो सके। जहाँ तक हो सके, वह अंगचेष्टा कम से कम करे। हो सके तो वह पादपोपगमन की तरह अचेतवत् सर्वथा निश्चेष्ट-निस्पन्द होकर रहे। यदि बैठा-बैठा या लेटा-लेटा थक जाये तो जीव-जन्तुरहित काष्ठ की पट्टी आदि किसी वस्तु का सहारा ले सकता है। किन्तु किसी भी स्थिति में आर्तध्यान या राग-द्वेषादि का विकल्प जरा मन में न आने दे।[1]

दिगम्बर परम्परा में यह 'इंगितमरण' के नाम से प्रसिद्ध है। भक्तपरिज्ञा में जो प्रयोग-विधि कही गयी है, वही यथासम्भव इस मरण में भी समझनी चाहिए। इसमें मुनिवर शौच आदि शारीरिक तथा प्रतिलेखन आदि धार्मिक क्रियाएँ स्वयं ही करते हैं। जगत् के सम्पूर्ण पुद्गल दुःखरूप या सुखरूप परिणमित होकर उन्हें सुखी या दुःखी करने को उद्यत हों, तो भी उनका मन (शुक्ल) ध्यान से च्युत नहीं होता। वे वाचना, पृच्छना, धर्मोपदेश, इन सबका त्याग करके सूत्रार्थ का अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं। मौनपूर्वक रहते हैं। तप के प्रभाव से प्राप्त लब्धियों का उपयोग तथा रोगादि का प्रतीकार नहीं करते। पैर में काँटा या नेत्र में रजकण पड़ जाने पर भी वे स्वयं नहीं निकालते।[2]

प्रायोपगमन अनशन-रूप विमोक्ष

> **२४७. अयं चाततरे[3] सिया जे एवं अणुपालए।**
> **सव्वगायणिरोधे वि ठाणातो ण वि उब्भमे ॥३४॥**
>
> **२४८. अयं से उत्तमे धम्मे पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।**
> **अचिरं पडिलेहित्ता विहरे चिट्ठ माहणे ॥३५॥**

---

१ आचा० शील० टीका पत्रांक २९१–२९२।

२ **जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो।**
सो चेव जधाजोग्गो उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०३०॥
ठिच्चा निसिदित्ता वा तुवट्टिदूण व सकायपडिचरणं।
सयमेव निरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥२०४१॥
सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ।
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिंचदे विधिणा ॥२०४२॥ —भगवती आराधना

३ **'अयं चाततरे सिया'** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"अत (अन्त) तरो, आततरो वा आततरो। आयतरे-दढगाहतरे धम्मे-मरणधम्मे, इंगिणिमरणातो आयतरे उत्तमतरे।" अर्थात्—अततर या अन्ततर ही आततर है। तात्पर्य यह है—आयतर यानी ग्रहण करने में दृढ़तर, धर्म—मरणधर्म है यह। इंगितमरण से यह धर्म (पादपोपगमन) आयतर यानी उत्तमतर है।

२४९. अचित्तं[1] तु समासज्ज ठावए तत्थ अप्पगं।
बोसिरे सव्वसो कायं ण मे देहे परीसहा ॥ ३६ ॥
२५०. जावज्जीवं[2] परीसहा उवसग्गा (य)इति संखाय।
संवुडे देहमेवाए इति पण्णेऽहियासए ॥ ३७ ॥
२५१. भिदुरेसु[3] ण रज्जेज्जा कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छालोभं ण सेवेज्जा धुववण्णं[4] सपेहिया ॥ ३८ ॥
२५२. सासएहिं णिमंतेज्जा दिव्वमायं[5] ण सद्दहे।
तं पडिबुज्झ माहणे सव्वं नूमं[6] विधूणिता ॥ ३९ ॥
२५३. सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए आयुकालस्स पारए।
तितिक्खं परमं णच्चा विमोहण्णतरं हितं ॥ ४० ॥ त्ति बेमि।
॥ अष्टम विमोक्षाध्ययनं समाप्तम् ॥

---

१ इसके बदले चूर्णिकार ने पाठान्तर माना है—**अचित्तं तु समासज्ज तत्थवि किर कीरति।**

२ इसका अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"परीसहा—दिगिंछादि, उवसग्गा य अणुलोमा पडिलोमा या इति संखाय—एवं संखाता तेण भवति, यदुक्तं तेन भवति नाता, अणहियासते पुण सुद्धते पडुच्च ण सखाता भवति। अहवा जावज्जीवं एते परीसहा उवसग्गा वि ण मे मतस्स भविस्सतीति एवं संखाए अहियासए। अहवा परीसहा एव उवसग्गा, तप्पुरिसो समासो। अहवा (परीसहा) उवसग्गा य जावदेह-भाविणो, ततो वुच्चति-जावज्जीवं परीसहा, एवं संखाय, संवुडे देहभेदाय इति पण्णे अहियासए।" अर्थात्—परीषह = जुगुप्सा आदि तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग है, यह जानकर तात्पर्य यह है कि इस प्रकार उसके द्वारा ये ज्ञात हो जाते हैं। जो परीषह और उपसर्गों को सहन नहीं कर पाते। इस शुद्धता की अपेक्षा से संख्यात—संज्ञात नहीं होते। अथवा जीवनपर्यन्त ये परीषह और उपसर्ग भी मेरे मानने के अनुसार नहीं होंगे, यों समझकर इन्हें सहन करे। अथवा तत्पुरुष समास मानने पर-परीषह ही उपसर्ग है, ऐसा अर्थ होता है। अथवा परीषह और उपसर्ग भी जब तक शरीर है, तभी तक हैं। इसीलिए कहते हैं—जिंदगी रहने तक ही तो परीषह हैं, ऐसा जानकर शरीरभेद के लिए समुद्यत संवृत प्राज्ञ भिक्षु इसे समभाव से सहन करे।

३ इसके बदले '**भेउरेसु**' पाठान्तर है। अर्थ समान है।

४ '**धुववण्णं सपेहिया**' पाठ के अतिरिक्त चूर्णिकार ने '**धुवमन्नं समेहिता,**' '**धुवमन्न सपेहिया**' तथा '**सुहुम वण्ण समेहिता**' ये पाठान्तर भी माने है। अर्थ क्रमशः यों किया है—'धुवो अव्वभिचारी वण्णो संजमो,"—ध्रुव यानी अव्यभिचारी-निर्दोष संयम (वर्ण) को देखकर। "धुवो-मोक्खो सो य अण्णो संसाराओ तं सदोहिता—अर्थात्—ध्रुव = मोक्ष, वह संसार से अन्य-भिन्न है, उसका सदा ऊहापोह करके। **धुवमन्न थिरसजम समेहिता—समपेहिज्ज,** ध्रुव = स्थिर, वर्ण = संयम का अवलोकन करके। अथवा सुहुमरूवे उवसग्गे सूयणीया सुहुमा, वण्णो नाम संजमो, सो य सुहुमो थोवेणवि विराहिज्जति बाल-पद्मवत्।" उपसर्ग सूक्ष्मरूप होने से सूत्रनीति से वे सूक्ष्म कहलाते है। वर्ण कहते है—संयम को, वह भी सूक्ष्म है, थोड़े-से दोष से बाल कमल की तरह विराधित—खण्डित हो जाता है।

५. चूर्णि मे इसके बदले पाठान्तर है—'**दिव्व आयं ण सद्दहे**' अर्थात् दिव्य लाभ पर विश्वास न करे।

६ चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—**अहवा नूमति दव्वमुच्चति,** विविह धूमिता विधूमिता विमोक्खिया। अर्थात्—नूम द्रव्य को भी कहते हैं। उस द्रव्य को विविध प्रकार से धूमित—विमोक्षित—पृथक् करके माहन (साधु) भलीभाँति समझ ले।

२४७ यह प्रायोपगमन अनशन भक्तप्रत्याख्यान से और इगितमरण से भी विशिष्टतर है और विशिष्ट यतना से पार करने योग्य है। जो साधु इस विधि से (इसका) अनुपालन करता है, वह सारा शरीर अकड जाने पर भी अपने स्थान से चलित नही होता ।।३४।।

२४८. यह (प्रायोपगमन अनशन) उत्तम धर्म है। यह पूर्व स्थानद्वय—भक्त-प्रत्याख्यान और इगितमरण से प्रकृष्टतर ग्रह (नियन्त्रण) वाला है। प्रायोपगमन अन-शन साधक (माहन-भिक्षु) जीव-जन्तुरहित स्थण्डिलस्थान का सम्यक् निरीक्षण करके वहाँ अचेतनवत् स्थिर होकर रहे ।।३५।।

२४९ अचित्त (फलक, स्तम्भ आदि) को प्राप्त करके वहाँ अपने आपको स्थापित कर दे। शरीर का सब प्रकार से व्युत्सर्ग कर दे। परीषह उपस्थित होने पर ऐसी भावना करे—"यह शरीर ही मेरा नही है, तब परीषह (—जनित दु ख मुझे कैसे होगे) ? ।।३६।।

२५० जब तक जीवन (प्राणधारण) है, तब तक ही ये परीषह और उप-सर्ग (सहने) है, यह जानकर सवृत (शरीर को निश्चेष्ट बनाकर रखने वाला) शरीर-भेद के लिए (ही समुद्यत) प्राज्ञ (उचित-विधिवेत्ता) भिक्षु उन्हे (समभाव से) सहन करे ।।३७।।

२५१ शब्द आदि सभी काम विनाशशील है, वे प्रचुरतर मात्रा मे हो तो भी भिक्षु उनमे रक्त न हो। ध्रुव वर्ण (शाश्वत मोक्ष या निश्चल सयम के स्वरूप) का सम्यक् विचार करके भिक्षु इच्छा-लोलुपता का भी सेवन न करे ।।३८।।

२५२ शासको द्वारा अथवा आयुपर्यन्त शाश्वत रहने वाले वैभवो या काम-भोगो के लिए कोई भिक्षु को निमन्त्रित करे तो वह उसे (मायाजाल) समझे। (इसी प्रकार) दैवी माया पर भी श्रद्धा न करे। वह माहन-साधु उस समस्त माया को भलीभाँति जानकर उसका परित्याग करे ।।३९।।

२५३ दैवी और मानुषी—सभी प्रकार के विषयो मे अनासक्त और मृत्यु काल का पारगामी वह मुनि तितिक्षा को सर्वश्रेष्ठ जानकर हितकर विमोक्ष (भक्त-प्रत्याख्यान, इगितमरण, प्रायोपगमन रूप त्रिविध विमोक्ष मे से) किसी एक विमोक्ष का आश्रय ले ।।४०।। ऐसा मै कहता हूं।

विवेचन—प्रायोपगमन रूप · स्वरूप, विधि, सावधानी और उपलब्धि—सू० २४७ से २५३ तक प्रायोपगमन अनशन का निरूपण किया गया है। प्रायोपगमन या पादपोपगमन अनशन का लक्षण सातवे उद्देशक के विवेचन मे बता चुके है।[1]

भगवतीसूत्र मे पादपोपगमन के स्वरूप के सम्बन्ध मे जब पूछा गया तो उसके उत्तर

१ (क) देखिए अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ५ पृ०८१९-८२०।
(ख) देखे, सूत्र २२८ का विवेचन पृ० २८८ पर

में भगवान् महावीर ने बताया कि 'पादपोपगमन दो प्रकार का है—निर्हारिम और अनिर्हारिम। यह अनशन यदि ग्राम आदि (बस्ती) के अन्दर किया जाता है तो निर्हारिम होता है।[1] अर्थात् प्राणत्याग के पश्चात् शरीर का दाहसस्कार किया जाता है और बस्ती से बाहर जगल मे किया जाता है तो अनिर्हारिम होता है—दाहसस्कार नही किया जाता। नियमतः यह अनशन अप्रतिकर्म है। इसका तात्पर्य यह है कि पादपोपगमन अनशन मे साधक पादप—वृक्ष की तरह निश्चल-निःस्पन्द रहता है। वृत्तिकार ने बताया है—पादपोपगमन अनशन का साधक ऊर्ध्वस्थान से बैठता है; पार्श्व से नही, अन्य स्थान से भी नही। वह जिस स्थान से बैठता या लेटता है, उसी स्थान मे वह जीवन-पर्यन्त स्थिर रहता है, स्वत वह अन्य स्थान मे नही जाता। इसीलिए कहा गया है—'**सव्वगायनिरोहेऽवि ठाणातो न वि उब्भमे।**'—

प्रायोपगमन मे ७ बाते विशेष रूप से आचरणीय होती हैं—(१) निर्धारित स्थान से स्वय चलित न होना, (२) शरीर का सर्वथा व्युत्सर्ग, (३) परीषहो और उपसर्गों से जरा भी विचलित न होना, अनुकूल-प्रतिकूल को समभाव से सहना, (४) इहलोक-परलोक सम्बन्धी काम-भोगो मे जरा-सी भी आसक्ति न रखना, (५) सासारिक वासनाओ और लोलुपताओ को न अपनाना, (६) शासको या दिव्य भोगो के स्वामियो द्वारा भोगो के लिए आमन्त्रित किए जाने पर भी ललचाना नही, (७) सब पदार्थों से अनासक्त होकर रहना।[2]

दिगम्बर परम्परा मे प्रायोपगमन के बदले **प्रायोग्यगमन** एव पादपोपगमन के स्थान पर **पादोपगमन** शब्द मिलते है। भव का अन्त करने के योग्य सहनन और सस्थान को प्रायोग्य कहते है। प्रायोग्य की प्राप्ति होना—प्रायोग्यगमन है। पैरो से चलकर योग्य स्थान मे जाकर जो मरण स्वीकारा जाता है, उसे पादोपगमन कहते है। यह अनशन आत्म-परोपकार निरपेक्ष होता है। इसमे स्व-पर—दोनो के प्रयोग (सेवा-शुश्रूषा) का निषेध है। इस अनशन मे—साधक मल-मूत्र का भी निराकरण न स्वय करता है, न दूसरो से कराता है। कोई उस पर सचित्त पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि फेंके या कूडाकर्कट फेंके, अथवा गध पुष्पादि से पूजा करे या अभिषेक करे तो न वह रोष करता है, न प्रसन्न होता है, न ही उनका निराकरण करता है, क्योकि वह इस अनशन मे स्व-पर प्रतीकार से रहित होता।[3]

---

१. भगवती सूत्र शतक २५ उ० ७ का मूल एव टीका देखिए—
'से किं त पाओवगमणे ?'
'पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, तजहा—णीहारिमे य अणीहारिमे य णियमा अपडिक्कमे। से त पाओवगमणे।'

२ आचाराग मूल एव वृत्ति पत्राक २९४, २९५।

३. (क) भगवती आराधना वि० २९।११३।६।
(ख) धवला १।१।२३।४।
(ग) **सो सल्लेहिमदेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।**
उच्चारादि वि किंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०६५॥

'अयं चाततरे'—का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—यह आयतर है—यानी ग्रहण करने में दृढतर है। इसीलिए कहा है **'अयं से उत्तमे धम्मे।'** अर्थात्—यह सर्वप्रधान मरण विशेष है।[1]

न मे देहे परीसहा—इस पंक्ति से आत्मा और शरीर की भिन्नता का बोध सूचित किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि परीषह और उपसर्ग तभी तक हैं, जब तक जीवन है। अनशन साधक जब स्वय ही शरीर-भेद के लिए उद्यत है तब वह इन परीषह—उपसर्गों से क्यों घबराएगा ? वह तो इन्हे शरीर-भेद मे सहायक या मित्र मानेगा।[2]

'धुववण्णं सपेहिया'—शास्त्रकार ने इस पंक्ति से यह ध्वनित कर दिया है कि प्रायोपगमन अनशन साधक की दृष्टि जब एकमात्र ध्रुववर्ण—मोक्ष या शुद्ध संयम की ओर रहेगी तो वह मोक्ष मे विघ्नकारक या सयम को अशुद्ध—दोषयुक्त बनाने वाले विनश्वर काम-भोगो मे, चक्रवर्ती—इन्द्र आदि पदो या दिव्य सुखो के निदानो मे क्यो लुब्ध होगा ? वह इन समस्त सासारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति अनासक्त एव सर्वथा मोहमुक्त रहेगा। इसी मे उसके प्रायोपगमन अनशन की विशेषता है। इसीलिए कहा है—

'विव्वमाय ण सद्दहे'—दिव्य माया पर विश्वास न करे, सिर्फ मोक्ष मे उसका विश्वास होना चाहिए। जब उसकी दृष्टि एकमात्र मोक्ष की ओर है तो उसे मोक्ष के विरोधी ससार की ओर से अपनी दृष्टि सर्वथा हटा लेनी चाहिए।[3]

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

॥ अष्टम विमोक्ष अध्ययन सम्पूर्ण ॥

पुढवी आऊ तेऊ वणप्फवित तेसु जद्धि वि साहरिदो।
वोसट्ठचत्तदेहो अधायुग पालए तत्थ ॥२०६६॥
मज्जणयगध पुप्फोवयार पडिचारणे किरत।
वोसट्ठ चत्तदेहो अधायुग पालए तधवि ॥२०६७॥
वोसट्ठचत्तदेहो वु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अग।
जावज्जीव तु सय तहिं, तमग ण चालेज्ज ॥२०६८॥ —भगवती आ० मूल

१ आचा० शीला० टीका पत्राक २९५। २. आचा० शीला० टीका पत्राक २९५।
३. आचा० शीला० टीका पत्राक २९५।

'उपधान-श्रुत' नवम अध्ययन

प्राथमिक

- आचाराग सूत्र के नवम अध्ययन का नाम 'उपधान श्रुत' है ।
- उपधान का सामान्य अर्थ होता है—शय्या आदि पर सुख से सोने के लिए सिर के नीचे (पास मे) सहारे के लिए रखा जाने वाला साधन-तकिया । परन्तु यह द्रव्य-उपधान है ।
- भाव-उपधान ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है, जिनसे चारित्र परिणत भाव को सुरक्षित रखने के लिए सहारा मिलता है । इनसे साधक को अनन्त सुख-शान्ति एव आनन्द की अनुभूति होती है, । इसलिए ये ही साधक के शाश्वत सुखदायक उपधान है ।[1]
- उपधान का अर्थ उपधनन भी किया जा सकता है । जैसे मलिन वस्त्र जल आदि द्रव्यो से धोकर शुद्ध किया जाता है, वहाँ जल आदि द्रव्य द्रव्य-उपधान होते है, वैसे ही आत्मा पर लगे हुए कर्म मैल बाह्य-आभ्यन्तर तप से धुल जाते—नष्ट हो जाते है । आत्मा शुद्ध हो जाती है । अत कर्म-मलिनता को दूर करने के लिए यहाँ भाव-उपधान का अर्थ 'तप' है ।[2]
- उपधान के साथ श्रुत शब्द जुडा हुआ है, जिसका अर्थ होता है—सुना हुआ ।इसलिए 'उपधान-श्रुत' अध्ययन का विशेष अर्थ हुआ—जिसमे दीर्घतपस्वी भगवान महावीर के तपोनिष्ठ ज्ञान-दर्शन-चारित्र-साधनारूप उपधानमय जीवन का उनके श्रीमुख से सुना हुआ वर्णन हो ।[3]
- इसमे भगवान महावीर की दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की मुख्य जीवन-घटनाओ का उल्लेख है । भगवान ने यो साधना की, वीतराग हुए, धर्मोपदेश (देशना) दिया और अन्त मे '**अभिनिव्वुडे**' अर्थात् निर्वाण प्राप्त किया ।[4] इन्हे पढते समय ऐसा लगता है कि आर्य सुधर्मा ने भगवान महावीर के साधना-काल की प्रत्यक्ष-दृष्ट विवरणी (रिपोर्ट या डायरी) प्रस्तुत की है ।

---

१ (क) आचाराग निर्युक्ति गा० २८२, (ख) आचा० शीला० टीका पत्राक २९७

२. (क) **जह खलु मइल वत्थ सुज्झइ उदगाइएहि दव्वेहि ।**
एव भावुवहाणेण सुज्झए कम्मट्ठविह— —आचा० निर्युक्ति गा० २८३
(ख) आचा० शीला० टीका पत्राक २९७ ।

३. आचाराग निर्युक्ति गा० २७६, (ख) आचा० शीला० टीका पत्राक २९६

४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १, पृ० १०८ ।

- इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं, चारों में भगवान के तपोनिष्ठ जीवन की झलक है।
- प्रथम उद्देशक में भगवान की चर्या का, द्वितीय उद्देशक मे उनकी शय्या (आसेवितस्थान और आसन) का, तृतीय उद्देशक मे भगवान द्वारा सहे गये परीषह-उपसर्गों का और चतुर्थ उद्देशक में क्षुधा आदि से आतंकित होने पर उनकी चिकित्सा का वर्णन है।[1]
- **अध्ययन का उद्देश्य**—पूर्वोक्त आठ अध्ययनो मे प्रतिपादित साध्वाचार विषयक साधना कोरी कल्पना ही नही है, इसके प्रत्येक अग को भगवान ने अपने जीवन मे आचरित किया था, ऐसा दृढ विश्वास प्रत्येक साधक के हृदय में जाग्रत हो और वह अपनी साधना नि.शक व निश्चलभाव के साथ सपन्न कर सके, यह प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है।[2]
- इस अध्ययन मे सूत्र सख्या २५४ से प्रारम्भ होकर ३२३ पर समाप्त होती है। इसी के साथ प्रथम श्रुतस्कंध भी पूर्ण हो जाता है।

१. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० २७९, (ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २९६।
२. (क) आचारांग निर्युक्ति ग० २७९, (ख) आचा० शीला० टीका पत्रांक २९६।

'उवहाणसुयं' नवमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

उपधान-श्रुत : नवम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

भगवान महावीर की विहारचर्या

२५४. अहासुतं वदिस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाय ।
संखाए तंसि हेमंते अहुणा पव्वइए रीइत्था ॥४१॥

२५५. णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते ।
से पारए आवकहाए एतं खु अणुधम्मियं तस्स ॥४२॥

२५६. चत्तारि साहिए मासे बहवे पाणजाइया[1] आगम्म ।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु आरुसियाणं तत्थ हिंसिंसु ॥४३॥

२५७ संवच्छरं साहियं मासं जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।
अचेलए ततो चाई तं वोसज्ज वत्थमणगारे ॥४४॥

२५४ (आर्य सुधर्मा स्वामी ने कहा—जम्बू !) श्रमण भगवान ने दीक्षा लेकर जैसे विहारचर्या की, उस विषय मे जैसा मैने सुना है, वैसा मै तुम्हे बताऊँगा। भगवान ने दीक्षा का अवसर जानकर (घर से अभिनिष्क्रमण किया)। वे उस हेमन्त ऋतु मे (मार्गशीर्ष कृष्णा १० को) प्रव्रजित हुए और तत्काल (क्षत्रियकुण्ड से) विहार कर गए ॥४१॥

२५५. (दीक्षा के समय कधे पर डाले हुए देवदूष्य वस्त्र को वे निर्लिप्त भाव से रखे हुए थे, उसी को लेकर सकल्प किया—) "मैं हेमन्त ऋतु में इस वस्त्र से शरीर को नही ढकूँगा।" वे इस प्रतिज्ञा का जीवनपर्यन्त पालन करने वाले और (अत) ससार या परीषहो के पारगामी बन गए थे। यह उनकी अनुधर्मिता ही थी।

२५६. (अभिनिष्क्रमण के समय भगवान के शरीर और वस्त्र पर लिप्त दिव्य सुगन्धितद्रव्य से आकर्षित होकर) भौरे आदि बहुत-से प्राणिगण आकर उनके शरीर पर चढ जाते और (रसपान के लिए) मँडराते रहते। (रस प्राप्त न होने पर)

---

१ 'पाणजाइया आगम्म' के बदले 'पाणजातीया आगम्म' एवं 'पाणजाति आगम्म' पाठ मिलता है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ यो किया है—'भमरा मधुकराय पाणजातीया बहवो आगमिति ''' पाणजातीओ आरुज्झ काय विहरति।'' अर्थात्—भौरे या मधुमक्खियाँ आदि बहुत-से प्राणिसमूह आते थे, वे प्राणिसमूह उनके शरीर पर चढ़कर स्वच्छन्द विचरण करते थे।

वे रुष्ट होकर (रक्त-मास के लिए उनका शरीर) नोचने लगते । यह क्रम चार मास से अधिक समय तक चलता रहा ।।४३।।

२५७. भगवान ने तेरह महीनो तक (दीक्षा के समय कधे पर रखे) वस्त्र का त्याग नही किया । फिर अनगार और त्यागी भगवान महावीर उस वस्त्र का परित्याग करके अचेलक हो गए ।।४४।।

विवेचन—दीक्षा से लेकर वस्त्र-परित्याग तक की चर्या—पिछले चार सूत्रो मे भगवान महावीर की दीक्षा, कब, कैसे हुई ? वस्त्र के सम्बन्ध मे क्या प्रतिज्ञा ली ? क्यो और कब तक उसे धारण करते रहे, कब छोडा ? उनके सुगन्धित तन पर सुगन्ध-लोलुप प्राणी कैसे उन्हे सताते थे ? आदि चर्या का वर्णन है ।

'उट्ठाए' का तात्पर्य पूर्वोक्त तीन प्रकार के उत्थानो मे से मुनि-दीक्षा के लिए उद्यत होना है । वृत्तिकार इसकी व्याख्या करते है—समस्त आभूषणो को छोडकर, पचमुष्टि लोच करके, इन्द्र द्वारा कन्धे पर डाले हुए एक देवदूष्य वस्त्र से युक्त, सामायिक की प्रतिज्ञा लिए हुए मन पर्यायज्ञान को प्राप्त भगवान अष्टकर्मों का क्षय करने हेतु तीर्थ-प्रवर्तनार्थ दीक्षा के लिए उद्यत होकर ।[1]

तत्काल विहार क्यो ?—भगवान दीक्षा लेते ही कुण्डग्राम (दीक्षास्थल) से दिन का एक मुहूर्त शेष था, तभी विहार करके कर्मारग्राम पहुचे ।[2] इस तत्काल विहार के पीछे रहस्य यह था कि अपने पूर्व परिचित सगे-सम्बन्धियो के साथ साधक के अधिक रहने मे अनुराग एव मोह जागृत होने की अधिक सम्भावना है । मोह साधक को पतन की ओर ले जाता है । अत भगवान ने भविष्य मे आने वाले साधको के अनुसरणार्थ स्वय आचरण करके बता दिया । इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है— **'अहुणा पव्वइए रीइत्था'** ।[3]

भगवान का अनुधार्मिक आचरण—सामायिक की प्रतिज्ञा लेते ही इन्द्र ने उनके कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र डाल दिया । भगवान ने भी निसगता की दृष्टि से तथा दूसरे मुमुक्षु धर्मोपकरण के बिना सयमपालन नही कर सकेगे, इस भावी अपेक्षा से मध्यस्थवृत्ति से उस वस्त्र को धारण कर लिया, उनके मन मे उसके उपभोग की कोई इच्छा नही थी । इसीलिए उन्होने प्रतिज्ञा की कि "मै लज्जानिवारणार्थ या सर्दी से रक्षा के लिए वस्त्र मे अपने शरीर को आच्छादित नही करूंगा ।"

प्रश्न होता है कि जब वस्त्र का उन्हे कोई उपयोग ही नही करना था, तब उसे धारण ही क्यो किया ? इसके समाधान मे कहा गया है—**'एत खु अणुधम्मिय तस्स'**, उनका यह आचरण अनुधार्मिक था । वृत्तिकार ने इसका अर्थ यो किया है कि यह वस्त्र-धारण पूर्व तीर्थकरो द्वारा आचरित धर्म का अनुसरण मात्र था । अथवा अपने पीछे आने वाले साधु-साध्वियो के लिए अपने आचरण के अनुरूप मार्ग का स्पष्ट करने हेतु एक वस्त्र धारण किया ।[4]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक ३०१ । २, आवश्यकचूर्णि पूर्व भाग पृ० २६८ ।

३ आचाराग टीका (पू० आ० श्री आत्माराम जी महाराज कृत) पृ० ६४३ ।

४ आचा० शीला० टीका पत्राक २६४ ।

इस स्पष्टीकरण को आगम का पाठ भी पुष्ट करता है, जैसे—मैं कहता हूँ, जो अरिहन्त भगवन्त अतीत मे हो चुके हैं, वर्तमान मे हैं, और जो भविष्य मे होगे, उन्हे सोपधिक (धर्मोपकरणयुक्त) धर्म को बताना होता है, इस दृष्टि से तीर्थधर्म के लिए यह अनुधर्मिता है। इसीलिए तीर्थंकर एक देवदूष्य वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए है, प्रव्रजित होते हैं एव प्रव्रजित होगे।[1]

एक आचार्य ने कहा भी है—

गरीयस्त्वात् सचेलस्य धर्मस्यान्यैस्तथागतै.।
शिष्यस्य प्रत्ययाच्चैव वस्त्रं दध्रे न लज्जया।।

—सचेलक धर्म की महत्ता होने से तथा शिष्यो को प्रतीति कराने हेतु ही अन्य तीर्थंकरों ने वस्त्र धारण किया था, लज्जादि निवारण हेतु नही।[2]

चूर्णिकार अनुधर्मिता शब्द के दो अर्थ करते हैं—(१) गतानुगतिकता और (२) अनुकाल-धर्म। पहला अर्थ तो स्पष्ट है। दूसरे का अभिप्राय है—शिष्यो की रुचि, शक्ति, सहिष्णुता, देश, काल, पात्रता आदि देखकर तीर्थंकरो को भविष्य मे वस्त्र-पात्रादि उपकरण सहित धर्माचरण का उपदेश देना होता है। इसी को अनुधर्मिता कहते है।[3]

पाली शब्द कोष मे 'अनुधम्मता' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ होता है—धर्मसम्मतता, धर्म के अनुरूप।[4] इस दृष्टि से भी 'पूर्व तीर्थंकर आचरित धर्म के अनुरूप' अर्थ सगत होता है।

भगवान महावीर के द्वारा वस्त्र-त्याग—मूल पाठ मे तो यहाँ इतनी-सी सक्षिप्त झाकी दी है कि १३ महीने तक उस वस्त्र को नही छोडा, बाद मे उस वस्त्र को छोडकर वे अचेलक हो गये। टीकाकार भी इससे अधिक कुछ नही कहते किन्तु पश्चाद्वर्ती महावीर-चरित्र के लेखक ने वस्त्र के सम्बन्ध मे एक कथा कही है—ज्ञातखण्डवन से ज्यो ही महावीर आगे बढे कि दरिद्रता से पीडित सोम नाम का ब्राह्मण कातर स्वर मे चरणो से लिपट कर याचना करने लगा। परम कारुणिक उदारचेता प्रभु ने उस देवदूष्य का एक पट उस ब्राह्मण के हाथ मे थमा दिया। किन्तु रफूगर ने जब उसका आधा पट और ले आने पर पूर्ण शाल तैयार कर देने को कहा तो ब्राह्मण लालसावश पुन भगवान महावीर के पीछे दौडा, लगातार १३ मास तक वह उनके पीछे-पीछे घूमता रहा। एक दिन वह वस्त्र किसी झाडी के कांटो मे उलझकर स्वत गिर पडा। महावीर आगे बढ गये, उन्होने पीछे मुडकर भी न देखा। वे वस्त्र का विसर्जन कर चुके थे। कहते है—ब्राह्मण उसी वस्त्र को झाडी से निकाल कर ले आया और रफू करा कर महाराज नन्दिवर्द्धन को उसने लाख दीनार मे बेच दिया।[5]

---

१. "से बेमि जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहता भगवतो जे य पव्वयति जे अ पव्वइस्सति सव्वे ते सोवहिधम्मो देसिअव्वो त्ति कट्टु तित्थधम्मयाए एसा अणुधम्मिगत्ति एग देवदूसमायाए पव्वइंसु वा पव्वयति वा पव्वइस्सति व त्ति।" —आचाराग टीका पत्राक ३०१।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०१।

३ आचाराग चूर्णि।

४. पाली शब्दकोष।

५ इस घटना का वर्णन देखिये— (अ) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित १०/३
(ब) महावीरचरिय (गुणचन्द्र)

चूर्णिकार भी इसी बात का समर्थन करते हैं—भगवान ने उस वस्त्र को एक वर्ष तक यथारूप धारण करके रखा, निकाला नही। अर्थात् तेरहवें महीने तक उनका कन्धा उस वस्त्र से रिक्त नहीं हुआ। अथवा उन्हे उस वस्त्र को शरीर से अलग नही करना था। क्योंकि सभी तीर्थंकर उस या अन्य वस्त्र सहित दीक्षा लेते हैं। भगवान ने तो उस वस्त्र का भाव से परित्याग कर दिया था, किन्तु स्थितिकल्प के कारण वह कन्धे पर पडा रहा। स्वर्णवालुका नदी के प्रवाह मे बह कर आये हुए कांटो मे उलझा हुआ देख पुन उन्होने कहा—मैं वस्त्र का व्युत्सर्जन करता हूँ।[1] इस पाठ से ब्राह्मण को वस्त्रदान का सकेत नही मिलता है।

निष्कर्ष यह है कि भगवान पहले एक वस्त्रसहित दीक्षित हुए, फिर निर्वस्त्र हो गये, यह परम्परा के अनुसार किया गया था।

पाणजाइया—का अर्थ वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनो 'भ्रमर आदि'[2] करते हैं।

आरुसियाणं—का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'अत्यन्त रुष्ट होकर'[3] जबकि वृत्तिकार अर्थ करते हैं—मास व रक्त के लिए शरीर पर चढकर

ध्यान-साधना

२५८. अदु पोरिसिं तिरियभित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झाति।
अह चक्खुभीतसहिया ते हंता हंता बहवे कंदिंसु॥ ४५॥
२५९. सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थीओ तत्थ से परिण्णाय।
सागारियं[4] न से सेवे इति से सयं पवेसिया झाति॥ ४६॥
२६०. जे केयिमे अगारत्था मीसीभावं पहाय से झाति।
पुट्ठो[5] वि णाभिभासिंसु गच्छति णाइवत्तती अंजू॥४७॥

---

१ इसी सन्दर्भ मे 'ज ण रिक्कासि' का अर्थ चूर्णि मे इस प्रकार है—"**सो हि भगव त वत्थ सवच्छरमेग अहाभावेण धरितवां, ण तु णिक्कासते, सहिय मासेण साहिय मास, त तस्स खध तेण वत्थेण ण रिक्क आसि। अहवा ण णिक्कासितव त वत्थ सरीराओ।—सव्वतित्थगराण वा तेण अन्नेण वा साहिज्जइ, भगवता तु त पव्वइयमित्तेण भावतो णिसट्ठ तहा वि सुवण्णवालुगणदीपूरअवहिते कठए लग्ग वट्ठु पुणो वि वुच्चइ वोसिरामि।**"—आचाराग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० ८९ (मुनि जम्बूविजयजी)

२ आचा० शीला० टीका पत्राक ३०१।

३. **आरुसियाण** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—**अच्चत्थं रुस्सित्ताण आरुस्सित्ताण।**

४. **'सागारिय ण से सेवे'** का अर्थ चूर्णि मे इस प्रकार है—"सागारिय णाम मेहुण त ण सेवति।"—अर्थात्—सागारिक यानी मैथुन का सेवन नही करते थे।

५ इसके बदले चूर्णि मे पाठान्तर है—"**पुट्ठे व से अपुट्ठे वा गच्छति णातिवत्तए अंजू।**" अर्थ इस प्रकार है—किसी के द्वारा पूछने या न पूछने पर भगवान बोलते नहीं थे, वे अपने कार्य में ही प्रवृत्त रहते। उनके द्वारा (भला-बुरा) कहे जाने पर भी वे सरलात्मा मोक्षपथ या ध्यान का अतिक्रमण नही करते थे। नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर यो है—"**पुट्ठो व सो अपुट्ठो वा णो अणुजाणाति पावग भगव**"—अर्थात्—पूछने पर या न पूछने पर भगवान किसी पाप कर्म की अनुज्ञा अथवा अनुमोदना नहीं करते थे।

२६१. णो सुकरमेतमेगेसिं णाभिभासे अभिवादमाणे।
हयपुव्वो तत्थ दंडेहिं लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहिं ॥४८॥
२६२. फरिसाइं दुत्तितिक्खाइं अतिअच्च मुणी परक्कमाणे।
आघात-णट्ट-गीताइं दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ॥४९॥
२६३. गढिए[1] मिहोकहासु समयम्मि णातसुते विसोगे अदक्खु।
एताइं से उरालाइं गच्छति णायपुत्ते असरणाए ॥५०॥
२६४. अवि[2] साधिए दुवे वासे सीतोदं अभोच्चा णिक्खते।
एगत्तिगते[3] पिहितच्चे से अभिण्णायदंसणे संते ॥५१॥

२५८. भगवान एक-एक प्रहर तक तिरछी भीत पर आँखें गड़ा कर अन्तरात्मा मे ध्यान करते थे। (लम्बे समय तक अपलक रखने से पुतलियाँ ऊपर को उठ जाती) अतः उनकी आँखें देखकर भयभीत बनी बच्चों की मण्डली 'मारो-मारो' कहकर चिल्लाती, बहुत से अन्य बच्चों को बुला लेती ॥४५॥

२५९ (किसी कारणवश) गृहस्थ और अन्यतीर्थिक साधु से सकुल स्थान मे ठहरे हुए भगवान को देखकर, कामाकुल स्त्रियाँ वहाँ आकर प्रार्थना करती, किन्तु वे भोग को कर्मबन्ध का कारण जानकर सागारिक (मैथुन) सेवन नहीं करते थे। वे अपनी अन्तरात्मा मे गहरे प्रवेश कर ध्यान मे लीन रहते ॥४६॥

२६० यदि कभी गृहस्थों से युक्त स्थान प्राप्त हो जाता तो भी वे उनमे घुलते-मिलते नही थे। वे उनके ससर्ग (मिश्रीभाव) का त्याग करके धर्मध्यान मे मग्न रहते। वे किसी के पूछने (या न पूछने) पर भी नही बोलते थे। (कोई बाध्य करता तो) वे अन्यत्र चले जाते, किन्तु अपने ध्यान या मोक्षपथ का अतिक्रमण नही करते थे ॥४७॥

२६१ वे अभिवादन करने वालो को आशीर्वचन नही कहते थे, और उन

---

१ "गढिए मिहोकहा समयम्मि गच्छति णातिवत्तए अदक्खु" आदि पाठान्तर मान कर चूर्णिकार ने इस प्रकार अर्थ किया है—गढिते विधूतसमय ति गढित, यदुक्त भवति बद्ध 'मिहो कहा समयो' एवमादी यो गच्छति णातिवत्तए' = गतहरिसे-अरत्ते अदुट्ठे अणुलोमपडिलोमेसु विसोगे विगतहरिसे अदक्खु ति दट्ठु।" अर्थात्—परस्पर कामकथा आदि बातो मे व्यर्थ समय को खोते देख कर अथवा उन बातो मे परस्पर उलझे देखकर भगवान चल पडते, न तो वे हर्षित होते, न अनुरक्त और न ही द्वेष करते। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ देखकर वे हर्ष-शोक से रहित रहते थे।

२ 'अवि साधिए दुवे वासे' का अर्थ चूर्णिकार ने यो किया है—"अह नेमि त अवत्थ णच्चा साधिने दुहे (वे) वासे"—(माता-पिता के स्वर्गवास के अनन्तर) उन (पारिवारिक जनो) का मन अस्वस्थ जान कर दो वर्ष से अधिक समय गृहवास मे बिताया।

३ एगत्तिगते का अर्थ चूर्णिकार ने यो किया है—"एगत्त एगत्ती, एगत्तिगतो णाम, 'ण मे कोति, णाहमवि कस्सति"—एकत्व को प्राप्त का नाम एकत्वीगत है, मेरा कोई नही है, न मैं किसी का,' इस प्रकार की भावना का नाम एकत्वगत होता है।

अनार्य देश आदि में डंडो से पीटने, फिर उनके बाल खींचने या अंग-भंग करने वाले अभागे अनार्य लोगों को वे शाप नही देते थे। भगवान की यह साधना अन्य साधको के लिए सुगम नही थी ॥४८॥

२६२. (अनार्य पुरुषों द्वारा कहे हुए) अत्यन्त दु सह्य, तीखे वचनों की परवाह न करते हुए मुनीन्द्र भगवान उन्हें सहन करने का पराक्रम करते थे। वे आख्यायिका, नृत्य, गीत, दण्डयुद्ध और मुष्टियुद्ध आदि (कौतुकपूर्ण प्रवृत्तियों) मे रस नही लेते थे ॥४९॥

२६३. किसी समय परस्पर कामोत्तेजक बातो या व्यर्थ की गप्पो मे आसक्त लोगों को ज्ञातपुत्र भगवान महावीर हर्ष-शोक से रहित होकर (मध्यस्थभाव से) देखते थे। वे इन दुर्दमनीय (अनुकूल-प्रतिकूल परीषहोपसर्गों) को स्मरण न करते हुए विचरण करते थे ॥५०॥

२६४ (माता-पिता के स्वर्गवास के बाद) भगवान ने दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृहवास मे रहते हुए भी सचित्त (भोजन) जल का उपभोग नही किया। परिवार के साथ रहते हुए भी वे एकत्वभावना से ओत-प्रोत रहते थे, उन्होने क्रोध-ज्वाला को शान्त कर लिया था, वे सम्यग्ज्ञान-दर्शन को हस्तगत कर चुके थे और शान्तचित्त हो गये थे। (यो गृहवास मे साधना करके) उन्होने अभिनिष्क्रमण किया ॥५१॥

विवेचन—ध्यान साधना और उसमे आने वाले विघ्नो का परिहार—सूत्र २५८ से २६४ तक भगवान महावीर की ध्यानसाधना का मुख्यरूप से वर्णन है। धर्म तथा शुक्लध्यान की साधना के समय तत्सम्बन्धित विघ्न-बाधाएँ भी कम नही थी, उनका परिहार उन्होने किस प्रकार किया और अपने ध्यान मे मग्न रहे ? इसका निरूपण भी इन गाथाओं में है।

'तिरियभित्ति चक्खुमासज्ज अंतसो झाति'—इस पंक्ति मे **'तिर्यकभित्ति'** का अर्थ विचारणीय है। भगवती सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि **'तिर्यक्भित्ति'** का अर्थ करते है—प्राकार, वरण्डिका आदि की भित्ति अथवा पर्वतखण्ड।[1] बौद्ध साधको मे भी भित्ति पर दृष्टि टिका कर ध्यान करने की पद्धति रही है। इसलिए तिर्यकभित्ति का अर्थ **'तिरछी भीत'** ध्यान की परम्परा के उपयुक्त लगता है, किन्तु वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने इस सूत्र को ध्यानपरक न मान कर गमनपरक माना है। **'झाति'** शब्द का अर्थ उन्होने ईर्यासमितिपूर्वक गमन करना बताया है तथा 'पौरुषी वीथी' संस्कृत रूपान्तर मानकर अर्थ किया है—पीछे से पुरुष प्रमाण (आदमकद) लम्बी वीथी (गली) और आगे से बैलगाडी के धूसर की तरह फैली हुयी (विस्तीर्ण) जगह पर नेत्र जमा कर यानी दत्तावधान हो कर चलते थे[2]। ऐसा अर्थ करने मे वृत्तिकार को बहुत खींचातानी करनी पडी है। इसलिए ध्यानपरक अर्थ ही अधिक सीधा और संगत प्रतीत होता है। जो ऊपर किया गया है।

१ भगवती सूत्र वृत्ति पत्र ६४३-६४४। २. आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०२।

ध्यान-साधना में विघ्न— पहला विघ्न—भगवान महावीर जब पहर-पहर तक तिर्यक्भित्ति पर दृष्टि जमाकर ध्यान करते थे, तब उनकी आँखों की पुतलियाँ ऊपर उठ जाती, जिन्हे देख कर बालको की मण्डली डर जाती और बहुत-से बच्चे मिलकर उन्हे 'मारो-मारो' कह कर चिल्लाते। वृत्तिकार ने 'हंता हंता बहवे कंदिसु' का अर्थ किया है—"बहुत-से बच्चे मिलकर भगवान को धूल से भरी मुट्ठियो से मार-मार कर चिल्लाते, दूसरे बच्चे हल्ला मचाते कि देखो, देखो इस नगे मुण्डित को, यह कौन है ? कहाँ से आया है ? किसका सम्बन्धी है ? आशय यह है कि बच्चो की टोली मिलकर इस प्रकार चिल्ला कर उनके ध्यान मे विघ्न करती। पर महावीर अपने ध्यान मे मग्न रहते थे। यह पहला विघ्न था।[1]

दूसरा विघ्न—भगवान एकान्त स्थान न मिलने पर जब गृहस्थो और अन्यतीर्थिको से सकुल स्थान मे ठहरते तो उनके अद्भुत रूप-यौवन से आकृष्ट होकर कुछ कामातुर स्त्रियाँ आकर उनसे प्रार्थना करती, वे उनके ध्यान मे अनेक प्रकार से विघ्न डालती, मगर महावीर अब्रह्मचर्य-सेवन नही करते थे, वे अपनी अन्तरात्मा मे प्रविष्ट होकर ध्यानलीन रहते थे।[2]

तीसरा विघ्न—भगवान को ध्यान के लिए एकान्त शान्त स्थान नही मिलता, तो वे गृहस्थ-सकुल स्थान मे ठहरते, पर वहाँ उनसे कई लोग तरह-तरह की बाते पूछकर या न पूछकर भी हल्ला-गुल्ला मचाकर ध्यान मे विघ्न डालते, मगर भगवान किसी से कुछ भी नही कहते। एकान्त क्षेत्र की सुविधा होती तो वे वहाँ से अन्यत्र चले जाते, अन्यथा मन को उन सब परिस्थितियो से हटाकर एकान्त बना लेते थे, किन्तु ध्यान का वे हर्गिज अतिक्रमण नही करते थे।[3]

चौथा विघ्न—भगवान अभिवादन करने वालो को भी आशीर्वचन नही कहते थे और पहले (चोरपल्ली आदि मे) जब उन्हे कुछ अभागो ने डडो से पीटा और उनके अग-भग कर दिए या काट खाया, तब भी उन्होने शाप नही दिया था। स-मौन अपने ध्यान मे मग्न रहे। यह स्थिति अन्य सब साधको के लिए बडी कठिन थी।[4]

पाँचवाँ विघ्न—उनमे से कोई कठोर दु सह्य वचनो से क्षुब्ध करने का प्रयत्न करता, तो कोई उन्हे आख्यायिका, नृत्य, सगीत, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध आदि कार्यक्रमो मे भाग लेने को कहता, जैसे कि एक वीणावादक ने भगवान को जाते हुए रोक कर कहा था -"देवार्य ! ठहरो, मेरा वीणावादन सुन जाओ।"[5] भगवान् प्रतिकूल-अनुकूल दोनो प्रकार की परिस्थिति को ध्यान मे विघ्न समझकर उनमे विरत रहते थे। वे मौन रह कर अपने ध्यान मे ही पराक्रम करते रहते।

छठा विघ्न—कही परस्पर कामकथा या गप्पे हाँकने मे आसक्त लोगो को भगवान हर्ष-शोक से मुक्त (तटस्थ) होकर देखते थे। उन अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग रूप विघ्नो को वे स्मृतिपट पर नही लाते थे, केवल आत्मध्यान मे तल्लीन रहते थे।[6]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्र ३०२। २ आचा० शीला० टीका पत्र ३०२।

३ आचा० शीला० टीका पत्र ३०२।

४ (क) आचा० शीला० टीका पत्र ३०२। (ख) आचाराग चूर्णि, पृ० ३०३।

५ आयारो (मुनि नथमल जी) पृ० ३४३। ६ आचा० शीला० टीका पत्र ३०३।

सातवां विघ्न—यह भी एक ध्यानविघ्न था बडे भाई नंदीवर्द्धन के आग्रह से दो वर्ष तक गृहवास में रहने का। माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् २८ वर्षीय भगवान ने प्रव्रज्या लेने की इच्छा प्रगट की, इस पर नंदीवर्द्धन आदि ने कहा—"कुमार! ऐसी बात कहकर हमारे घाव पर नमक मत छिडको। माता-पिता के वियोग का दुःख ताजा है, उस पर तुम्हारे श्रमण बन जाने से हमें कितना दुःख होगा!"

भगवान ने अवधिज्ञान में देखकर सोचा—"इस समय मेरे प्रव्रजित हो जाने से बहुत-से लोक शोक-संतप्त होकर विक्षिप्त हो जाएँगे, कुछ लोग प्राण त्याग देंगे।" अतः भगवान ने पूछा—"आप ही बतलाएँ, मुझे यहाँ कितने समय तक रहना होगा?" उन्होंने कहा—"माता-पिता की मृत्यु का शोक दो वर्ष में दूर होगा। अतः दो वर्ष तक तुम्हारा घर में रहना आवश्यक है।"

भगवान ने उन्हें इस शर्त के साथ स्वीकृति दे दी कि, "मैं भोजन आदि के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रहूँगा।" नन्दीवर्द्धन आदि ने इसे स्वीकार किया।[1] और सचमुच ध्यान-विघ्नकारक गृहवास में भी निर्लिप्त रहकर साधु-जीवन की साधना की।

एगत्तिगते—एकत्वभावना में भगवान का अन्तःकरण भावित हो गया था। तात्पर्य यह है कि "मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी का हूँ।" इस प्रकार की एकत्वभावना से वे ओत-प्रोत हो गए थे। वृत्तिकार और चूर्णिकार को यही व्याख्या अभीष्ट है।[2]

पिहितच्चे—शब्द के चूर्णिकार ने दो अर्थ किए हैं—अर्चा का अर्थ आस्रव करके इसका एक अर्थ किया है—जिसके आस्रव-द्वार बन्द हो गए हैं। (२) अथवा जिसकी अप्रशस्तभाव रूप अर्चियाँ अर्थात्—राग-द्वेष रूप अग्नि की ज्वालाएँ शान्त हो गयी हैं, वह भी पिहिताच्चे है। वृत्तिकार ने इससे भिन्न दो अर्थ किए हैं—(१) जिसने अर्चा—क्रोध-ज्वाला स्थगित कर दी है, वह पिहिताच्चे है, अथवा (२) अर्चा यानी तन (शरीर) को जिसने पिहित-संगोपित कर लिया है, वह भी पिहिताच्चे है।[3]

अहिंसा-विवेकयुक्त चर्या

२६५. पुढविं च आउकायं च तेउकायं च वायुकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च सव्वसो णच्चा ॥५२॥
२६६. एताइं संति पडिलेहे चित्तमंताइं से अभिण्णाय।
परिवज्जियाण विहरित्था इति संखाए से महावीरे ॥५३॥

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र ३०३।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्र ३०३। (ख) आचारांग चूर्णि—आचा० मूलपाठ टिप्पण पृ० ९१।

३ (क) पिहितच्चा के अर्थ चूर्णिकार ने यों किए हैं—**पिहिताओ अच्चाओ जस्स भवति पिहितच्चो, अथवा पुव्वभणिता भावच्चातो वि अप्पसत्थाओ पिहिताओ रागदोसाग्गिजालाओ पिहिता।**
—आचारांग चूर्णि-आचा० मूलपाठ टिप्पण पृ० ९१।

(ख) आचा० शीला० टीका पत्र ३०३।

२६७. अदु थावरा तसत्ताए तसजीवा य थावरत्ताए ।
अदुवा[1] सव्वजोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ॥५४॥

२६८. भगवं[2] च एवमण्णेसि सोवधिए हु लुप्पती बाले ।
कम्मं च सव्वसो णच्चा तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ॥५५॥

२६९. दुविहं[3] समेच्च मेहावी किरियमक्खायमणेलिसि णाणी ।
आयाणसोतमतिवातसोतं जोगं च सव्वसो णच्चा ॥५६॥

२७०. अतिवत्तियं[4] अणाउट्टिं सयमण्णेसि अकरणयाए ।
जस्सित्थीओ परिण्णाता सव्वकम्मावहाओ सेऽदक्खू ॥५७॥

२७१. अहाकडं ण से सेवे सव्वसो[5] कम्मुणा य अदक्खू ।
जं किंचि पावगं भगवं तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था ॥५८॥

२७२. णो सेवइय परवत्थं परपाए वि से ण भुंजित्था ।
परिवज्जियाण ओमाणं गच्छति संखडिं असरणाए ॥५९॥

२७३. मातण्णे असणपाणस्स णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे ।
अच्छि पि णो पमज्जिया णो वि य कंडूयए मुणी गातं ॥६०॥

२७४. अप्पं तिरियं पेहाए अप्पं पिट्ठओ उपेहाए ।
अप्पं[6] बुइए पडिभाणी पंथपेही चरे जतमाणे ॥६१॥

१ 'अदु (वा) सव्वजोणिया सत्ता' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'अदुति अधमद्दा अवव्वभसो सुहदुह-उच्चारणत्ता ।'- 'अदु' शब्द 'अधमद्दा' या 'अदुहा' का अपभ्रंश है, इसका अर्थ होता है—जो अपने सुख-दुःख का उच्चारण कर (कह) नहीं सकते, ऐसे सर्वयौनिक प्राणी ।

२. भगवं च एवमण्णेसि—का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—च पूरणे, एवमवधारणे, एवं अभिसमिता जं भणितं भवति अणुचिंतेत्ता ।'—इस प्रकार भगवान को अभिन्न-अज्ञानी जो कुछ वचन बोलते थे, उस पर वे अनुचिन्तन करते । यानी सिद्धान्तानुसार चिन्तन करते थे ।

३ इसका अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—"दुविहं कीरतीति कम्मं ...तित्थगरक्खायं अणेलिसं —असरिसं ... च ।"— दो प्रकार के कर्म जो कि समस्त तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित थे (उन्हें जानकर) असदृश-अनुपम क्रिया का प्रतिपादन किया ।

४ अतिवत्तियं के बदले किसी-किसी प्रति में "अतिवाइम अतिवातियं" पाठ मिलते हैं, इन दोनों का अर्थ है—पातक (पाप) में अतिक्रान्त—निर्दोष (निष्पाप) । अतिवत्तियं का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—अतिवत्तियं अणाउट्टिं अतिवादिज्जति जेण सो अतिवादो हिंसादि, आउट्टणं करणं तं अतिवात णाउट्टिं—जिससे अतिपात किया जाता है, वह अतिपात-हिंसादि है । आकुट्टन करना अतिपात है—हिंसा है इसलिए अनाकुट्टि अहिंसा-अनतिपात का नाम है ।

५ 'सव्वसो कम्मुणा य अदक्खू' से लेकर 'जं किंचि पावगं' तक पंक्ति में पाठान्तर चूर्णिसम्मत यों है—कम्मुणा य अदक्खु जं किंचि अपावगं' अर्थात्— जो कुछ पाप रहित है, उसे कर्म से देख लिया था ।

६ 'अप्पं' आदि पंक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—"अप्पमिति अभावे' णं गच्छतो तिरियं पेहितवा, ण वा पिट्ठतो पच्चवलोगितवा ।' —अप्पं यहाँ अभाव अर्थ में प्रयुक्त है । अर्थात्— भगवान चलते समय न तिरछा (दाएँ बाएँ) देखते थे और न पीछे देखते थे ।

२७५. सिसिरंसि अद्धपडिवण्णे तं वोसज्ज वत्थमणगारे।
पसारेत्तु [1] बाहुं परक्कमे णो अवलंबियाण कंधंसि ॥६२॥

२७६. एस विधी अणुक्कंतो [2] माहणेण मतीमता।
बहुसो [3] अपडिण्णेण भगवया एवं रीयंति ॥६३॥ त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

२६५. पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, निगोद-शैवाल आदि, बीज और नाना प्रकार की हरी वनस्पति एव त्रसकाय—इन्हे—सब प्रकार से जानकर ॥५२॥

२६६. 'ये अस्तित्ववान् हैं', यह देखकर 'ये चेतनावान् हैं' यह जानकर, उनके स्वरूप को भलीभाँति अवगत करके वे भगवान महावीर उनके आरम्भ का परित्याग करके विहार करते थे ॥५३॥

२६७. स्थावर (पृथ्वीकाय आदि) जीव त्रस (द्वीन्द्रियादि) के रूप मे उत्पन्न हो जाते है और त्रस जीव स्थावर के रूप मे उत्पन्न हो जाते हैं अथवा ससारी जीव सभी योनियो मे उत्पन्न हो सकते है। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों से पृथक्-

---

७. **'अप्प तुतिए पडिभाणी'** इस प्रकार का पाठान्तर मान कर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—**'पुच्छिते अप्प पडिभणति, अभावे दट्ठव्वो अप्पसद्दो, मोणेण अच्छति'**—पूछने पर अल्प—नही बोलते थे, यहां भी अप्पशब्द अभाव अर्थ मे समझना चाहिए। यानी भगवान मौन हो जाते थे।

१. इसके बदले **'पसारेतु बाहु पक्कम्म'** पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'बाहु (ह) पसारिय कमति, णो अवलबित्ताण कंठसि, बाहूहि कठोवलबितेहि हियस्स उब्भा भवति, तेण सभिज्जइ सरीर, स तु भगव सतुसारेवि सीते जहापणिहितं बाहूहि परिकमितवा, ण कंठे अवलबितवा। अर्थात्—भगवान बाहे (नीचे) पसार कर चलते थे, कठ मे लटका कर नही, भुजाओं को कठ मे लटकाने से छाती का उभार हो जाता है, जिससे शरीर एकदम सट जाता है, किन्तु भगवान शीतऋतु मे हिमपात होने पर भी स्वाभाविक रूप से बाँहों को नीचे फैलाए हुए चलते थे, कठ का सहारा लेकर नही।

२ इसके बदले पाठान्तर है—**'अणोकतो'**, **'अण्णोक्कतो'**, **'यऽणोकतो'**। चूर्णिकार ने **अण्णोणोक्कतो और अणुक्कतो'** ये दो पाठ मानकर अर्थ क्रमश यो किया है—**'चरियाहिगारपडिसमाणत्थि (त्थ) इम भण्णति-एस विही अण्णो (णो) क्कतो अणु पच्छाभावे, जहा अण्णेहि तित्थगरेहि कतो, तहा तेणावि, अतो अणुक्कतो।'** यह विधि अन्याऽनक्रान्त है—यानी दूसरे तीर्थंकरो के मार्ग का अतिक्रमण नही किया। चरिताधिकार प्रति सम्मानार्थ यह कहा गया है—एस विधी।—यह विधि अनुक्रान्त है। अनु पश्चाद्भाव अर्थ मे है। जैसे अन्य तीर्थकरों ने किया, वैसे ही उन्होंने भी किया, इसलिए कहा—**अणुक्कतो**।

३ चूर्णि मे पाठान्तर है—**अपडिण्णेण वीरेण कासवेण महेसिणा**। अर्थात्—अप्रतिज्ञ काश्यपगोत्रीय महर्षि महावीर ने।

बहुसो अपडिण्णेण रीय (य) ति' का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—'बहुसो इति अणेगसो पडिण्णो भणितो, भगवता रीयमाणेण रीयता एव बेमि जहा मया सुत।'—बहुसो का अर्थ है—अनेक बार, अपडिण्णो का अर्थ कहा जा चुका है। भगवान ने (इस चर्या के अनुसार) चलकर''। चूर्णिकार को **रीयंति** के बदले **'रीयता'** पाठ सम्मत मालूम होता है।

पृथक रूप से ससार में स्थित है या अज्ञानी जीव अपने कर्मों के कारण पृथक्-पृथक् रूप रचते है ।।५४।।

२६८ भगवान ने यह भलीभाँति जान-मान लिया था कि द्रव्य-भाव-उपधि (परिग्रह) से युक्त अज्ञानी जीव अवश्य ही (कर्म से) क्लेश का अनुभव करता है। अत कर्मबन्धन को सर्वांग रूप से जानकर भगवान ने कर्म के उपादान रूप पाप का प्रत्याख्यान (परित्याग) कर दिया था ।।५५।।

२६९ ज्ञानी और मेधावी भगवान ने दो प्रकार के कर्मों (ईर्यापथिक और साम्परायिक कर्म) को भलीभाति जानकर तथा आदान (दुष्प्रयुक्त इन्द्रियों के) स्रोत, अतिपात (हिंसा, मृषावाद आदि के) स्रोत और योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) को सब प्रकार से समझकर दूसरो से विलक्षण (निर्दोष) क्रिया का प्रतिपादन किया है ।।५६।।

२७० भगवान ने स्वयं पाप-दोष से रहित—निर्दोष अनाकुट्टि (अहिंसा) का आश्रय लेकर दूसरो को भी हिंसा न करने की (प्रेरणा दी)। जिन्हे स्त्रियां (स्त्री सम्बन्धी काम-भोग के कटु परिणाम) परिज्ञात हैं, उन भगवान महावीर ने देख लिया था कि 'ये काम-भोग समस्त पाप-कर्मों के उपादान कारण हैं', (ऐसा जानकर भगवान ने स्त्री-ससर्ग का परित्याग कर दिया) ।।५७।।

२७१ भगवान ने देखा कि आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार ग्रहण सब तरह से कर्मबन्ध का कारण है, इसलिए उन्होंने आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार का सेवन नही किया। भगवान उस आहार से सम्बन्धित कोई भी पाप नही करते थे। वे प्रासुक आहार ग्रहण करते थे ।।५८।।

२७२ (भगवान स्वय वस्त्र वा पात्र नही रखते थे इसलिए) दूसरे (गृहस्थ या साधु) के वस्त्र का सेवन नही करते थे, दूसरे के पात्र मे भी भोजन नही करते थे। वे अपमान की परवाह न करके किसी की शरण लिए बिना (अदीनमनस्क होकर) पाकशाला (भोजनगृहो) मे भिक्षा के लिए जाते थे ।।५९।।

२७३ भगवान अशन-पान की मात्रा को जानते थे, वे रसो मे आसक्त नही थे, वे (भोजन-सम्बन्धी) प्रतिज्ञा भी नही करते थे, मुनीन्द्र महावीर आँख मे रजकण आदि पड जाने पर भी उसका प्रमार्जन नही करते थ और न शरीर को खुजलाते थे ।।६०।।

२७४. भगवान चलते हुए न तिरछे (दाएं-बाएं) देखते थे, और न पीछे-पीछे देखते थे, वे मौन चलते थे, किसी के पूछने पर बोलते नही थे। वे यतनापूर्वक मार्ग को देखते हुए चलते थे ।।६१।।

२७५ भगवान उस (एक) वस्त्र का भी—(मन से) व्युत्सर्ग कर चुके थे। अत. शिशिर ऋतु मे वे दोनो बाँहे फैलाकर चलते थे, उन्हे कन्धो पर रखकर खड़े नही होते थे ।।६२।।

२७६ ज्ञानवान् महामाहन भगवान महावीर ने इस (पूर्वोक्त क्रिया—) विधि के अनुरूप आचरण किया। अनेक प्रकार से (स्वयं आचरित क्रियाविधि) का उपदेश दिया। अत मुमुक्षुजन कर्मक्षयार्थ इसका अनुगमन करते है ॥६३॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—अहिंसा का विवेक—सूत्र २६५ से २७६ तक भगवान की अहिंसायुक्त विवेक-चर्या का वर्णन है।

पुनर्जन्म और सभी योनियो मे जन्म का सिद्धान्त—पाश्चात्य एव विदेशी धर्म पुनर्जन्म को मानने से इन्कार करते है, चार्वाक आदि नास्तिक तो कतई नही मानते, न वे शरीर मे आत्मा नाम का कोई तत्त्व मानते है, न ही जीव का अस्तित्व वतमान जन्म के बाद मानते है। परन्तु पूर्वजन्म की घटनाओ को प्रगट कर देने वाले कई व्यक्तियो से प्रत्यक्ष मिलने और उनका अध्ययन करने से परामनोवैज्ञानिक भी इस नतीजे पर पहुँचे है कि पुनर्जन्म है, पूर्वजन्म है, चैतन्य इसी जन्म के साथ समाप्त नही होता।

भगवान महावीर के समय मे यह लोक-मान्यता प्रचलित थी कि स्त्री मरकर स्त्री योनि मे ही जन्म लेती है, पुरुष मरकर पुरुष ही होता है तथा जो जिस योनि मे वर्तमान मे है वह अगले जन्म मे उसी योनि मे उत्पन्न होगा। पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीव पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीव ही बनेगे, त्रसकायिक किसी अन्य योनि मे उत्पन्न नही होगे, त्रसयोनि मे ही उत्पन्न होगे। भगवान ने इस धारणा का खण्डन किया और युक्ति, सूक्ति एव अनुभूति से यह निश्चित रूप से जानकर प्रतिपादन किया कि अपने-अपने कर्मोदयवश जीव एक योनि से दूसरी योनि मे जन्म लेता है, त्रस, स्थावर रूप मे जन्म ले सकता है और स्थावर, त्रस रूप मे।[1]

भगवतीसूत्र मे गौतम स्वामी द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'भगवन्! यह जीव पृथ्वीकाय के रूप मे लेकर त्रसकाय के रूप तक मे पहले भी उत्पन्न हुआ है?'

उत्तर मे कहा है—"अवश्य, बार-बार ही नही, अनन्त बार सभी योनियो मे जन्म ले चुका है।"[2] इसीलिए कहा गया—"**अदु थावरा अदुवा सव्वजोणिया सत्ता।**"

कर्मबन्धन के स्रोतो की खोज और कर्ममुक्ति की साधना—यह निश्चित है कि भगवान महावीर ने सर्वथा परम्परा की लीक पर न चलकर अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा और अनुभूति से सत्य की खोज करके आत्मा को बाधने वाले कर्मो से सर्वथा मुक्त होने की साधना की। उनकी इस साधना का लेखा-जोखा बहुत सक्षेप मे यहा अकित है। उन्होने कर्मो के तीन स्रोतो को सर्वथा जान लिया था—

(१) **आदानस्रोत**—कर्मो का आगमन दो प्रकार की क्रियाओ से होता है—साम्परायिक

---

१ आचा० शीला० टीका पत्र ३०८।

२ "**अय ण भते! जीवे पुढविकाइयत्ताए जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे?' हता गोयमा! असइ अदुवा अणतखुत्तो जाव उववण्णपुव्वे**'—भगवतीसूत्र १२।७ सूत्र १८० (अग सु०)

क्रिया से और ईर्याप्रत्ययिक क्रिया से। अयतनापूर्वक कषाययुक्त प्रमत्तयोग से की जाने वाली साम्परायिक क्रिया से कर्मबन्ध तीव्र होता है, संसारपरिभ्रमण बढ़ता है, जबकि यतनापूर्वक कषाय रहित होकर अप्रमत्तभाव से की जाने वाली ईर्याप्रत्ययक्रिया में कर्मों का बन्धन बहुत ही हल्का होता है, संसारपरिभ्रमण भी घटता है। परन्तु है दोनों ही आदानस्रोत।

(२) **अतिपातस्रोत**—अतिपात शब्द में केवल हिंसा ही नहीं, परिग्रह, मैथुन, चोरी, असत्य आदि का भी ग्रहण होता है। ये आस्रव भी कर्मों के स्रोत हैं, जिनसे अतिपातक (पाप) होता है, वे सब (हिंसा आदि) अतिपात हैं। यही अर्थ चूर्णिकारसम्मत है।

(३) **त्रियोगरूप स्रोत** - मन-वचन-काया इन तीनों का जब तक व्यापार (प्रवृत्ति) चलता रहेगा, तब तक शुभ या अशुभ कर्मों का स्रोत जारी रहेगा।

यही कारण है कि भगवान ने अशुभ योग से सर्वथा निवृत्त होकर सहजकृत्या शुभयोग में प्रवृत्ति की। इस प्रकार कर्मों के स्रोतों को बन्द करने के साथ-साथ उन्होंने कर्ममुक्ति की विशेषतः पापकर्मों से सर्वथा मुक्त होने की साधना की।[1]

भगवान महावीर की दृष्टि में निम्नोक्त कर्मस्रोत तत्काल बन्द करने योग्य प्रतीत हुए, जिनको उन्होंने बन्द किया—

(१) प्राणियों का आरम्भ।
(२) उपधि—बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह।
(३) हिंसा की प्रवृत्ति।
(४) स्त्री-प्रसंग रूप अब्रह्मचर्य।
(५) आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार।
(६) पर-वस्त्र और पर-पात्र का सेवन।
(७) आहार के लिए सम्मान और पराश्रय की प्रतीक्षा।
(८) अतिमात्रा में आहार।
(९) रस-लोलुपता।
(१०) मनोज्ञ एवं सरस आहार लेना।
(११) देहाध्यास—आँखों में पड़ा रजकण निकालना, शरीर खुजलाना आदि।
(१२) अयतना एवं चंचलता से गमन।
(१३) शीतकाल में शीतनिवारण का प्रयत्न।[2]

कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला—का तात्पर्य है—राग-द्वेष से प्रेरित होकर किये हुए अपने-अपने कर्मों के कारण अज्ञ जीव पृथक्-पृथक् बार-बार सभी योनियों में अपना स्थान बना लेते हैं।[3]

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०४।

२ आचारांग मूल पाठ एवं, वृत्ति-पत्र ३०४-३०५ के आधार पर।

३ आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०४।

सोवधिए हु लुप्पती'— इस पंक्ति मे 'उपधि' शब्द विशेष अर्थ को सूचित करता है। उपधि तीन प्रकार की बतायी गयी है—(१)शरीर,(२)कर्म और(३)उपकरण आदि परिग्रह। वैसे बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह को भी उपधि कहते हैं। भगवान मानते थे कि इन सब उपधियो से मनुष्य का सयमी जीवन दब जाता है। ये उपधियाँ लुम्पक—लुटेरी हैं।[1]

जस्सित्थीओ परिण्णाता—स्त्रियो से यहाँ अब्रह्म—कामवासनाओ से तात्पर्य है। 'स्त्री' शब्द को अब्रह्मचर्य का प्रतीक माना है जो इन्हे भली-भाँति समझकर त्याग देता है, वह कर्मों के प्रवाह को रोक देता है। यह वाक्य उपदेशात्मक है, ऐसा चूर्णिकार मानते है।[2]

परवस्त्र, परपात्र के सेवन का त्याग—चूर्णि के अनुसार भगवान ने दीक्षा के समय जो देव-दूष्य वस्त्र धारण किया था, उसे १३ महीने तक सिर्फ कधे पर टिका रहने दिया, शीतादि निवारणार्थ उसका उपयोग बिलकुल नही किया। वही वस्त्र उनके लिए स्ववस्त्र था, जिसका उन्होने १३ महीने बाद व्युत्सर्ग कर दिया था, फिर उन्होने पाडिहारिक रूप मे भी कोई वस्त्र धारण नही किया।[3] जैसे कि कई सन्यासी गृहस्थो से थोडे समय तक उपयोग के लिए वस्त्र ले लेते है, फिर वापस उन्हे सौप देते हैं। भगवान महावीर ने अपने श्रमण सघ मे गृहस्थो के वस्त्र-पात्र का उपयोग करने की परिपाटी को सचित्त पानी आदि से सफाई करने के कारण पश्चात्कर्म आदि दोषो का जनक माना है।

भगवान ने प्रव्रजित होने के बाद प्रथम पारणे मे गृहस्थ के पात्र मे भोजन किया था, तत्पश्चात् वे कर-पात्र हो गए थे। फिर उन्होने किसी के पात्र मे आहार नही किया। बल्कि नालन्दा की तन्तुवायशाला मे जब भगवान विराजमान थे, तब गोशालक ने उनके लिए आहार ला देने की अनुमति माँगी, तो 'गृहस्थ के पात्र मे आहार लाएगा' इस सम्भावना के कारण उन्होने गोशालक को मना कर दिया।

केवलज्ञानी तीर्थंकर होने पर उनके लिए—लोहार्य मुनि गृहस्थो के यहाँ से आहार लाता था, जिसे वे पात्र मे लेकर नही, हाथ मे लेकर करते थे।[4]

आहार-सम्बन्धी दोषो का परित्याग—आहार ग्रहण करने के समय भी जसे दोषो से साव-

---

१ आचा० शीला० टीका पत्राक ३०४।

२. (क) आचा० शीला० टीका पत्राक ३०५।

(ख) इसके बदले चूर्णिकार '**तस्सित्थीओ परिण्णाता**' पाठ मानते है, उसका अर्थ भगवान महावीर परक करके फिर कहते है—'**अहवा उवदेसिगमेव जस्सित्थीओ परिण्णाता।**' अर्थात् अथवा यह उपदेशपरक वाक्य ही है 'जिसको स्त्रियाँ (स्त्रियो की प्रकृति) परिज्ञात हो जाती है।'

—आचा० चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० ९२

३ चूर्णिकार ने '**णासेवई य परवत्थ** मानकर अर्थ किया है—"**ज त विव्व देवदूस पव्वयंतेण गहि त साहिय वरिस खधेण चेव धरित ण वि पाउय त मुइत्ता सेस परवत्थ पाडिहारितमवि ण धरित-वां। के वि इच्छति सवत्थ तस्स तत्, सेस परवत्थ जणावि तं णासेवितवां।**"

—आचाराग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० ९२।

४ आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग पृ० २७१।

धान रहना पडता है, वैसे ही आहार का सेवन करते समय भी। भगवान ने आहार सम्बन्धी निम्नोक्त दोषो को कर्मबन्धजनक मानकर उनका परित्याग कर दिया था—

(१) आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार।

(२) सचित्त आहार।

(३) पर-पात्र मे आहार-सेवन।

(४) गृहस्थ आदि से आहार मँगा कर लेना, या आहार के लिए जाने मे निमत्रण, मनुहार या सम्मान की अपेक्षा रखना।

(५) मात्रा से अधिक आहार करना।

(६) स्वादलोलुपता।

(७) मनोज्ञ भोजन का सकल्प।[1]

'अप्प तिरिय' आदि गाथा मे 'अप्प' शब्द अल्पार्थक न होकर निषेधार्थक है। चलते समय भगवान का ध्यान अपने सामने पडने वाले पथ पर रहता था, इसलिए न तो वे पीछे देखते थे, न दाएं-बाएँ, और न ही रास्ते चलते बोलते थे।[2]

अणुक्कतो—का अर्थ वृत्तिकार करते है अनुचीर्ण— आचरित। किन्तु चूर्णिकार इसके दो अर्थ फलित करते है—

(१) अन्य तीर्थकरो के द्वारा आचरित के अनुसार आचरण किया।

(२) दूसरे तीर्थकरो के मार्ग का अतिक्रमण न किया। अत यह अन्यानतिक्रान्त विधि है।[3]

'अपडिण्णेण भगवया'—भगवान किसी विधि-विधान मे पूर्वाग्रह से, निदान से या हठाग्रहपूर्वक बध कर नही चलते थे। वे सापेक्ष-अनेकान्तवादी थे। यह उनके जीवन मे हम देख सकते है।[4]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

शय्या-आसन चर्या

२७७. चरियासणाइ[5] सेज्जाओ एगतियाओ जाओ बुइताओ।
आइक्ख ताइ सयणासणाइ जाइं सेवित्थ से महावीरे ॥६४॥

---

१ आचाराग मूल तथा वृत्ति पत्र ३०४ के आधार पर। २ आचा० शीला० टीका पत्र ३०४।

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्राक ३०५। (ख) चूर्णि मूल पाठ सू० २७६ का टिप्पण देखे।

४ आचा० शीला० टीका पत्र ३०६ के आधार पर।

५ चूर्णिकार ने दूसरे उद्देशक की प्रथम गाथा के साथ सगति बिठाते हुए कहा—चरियाणतर सेज्जा, तव्विभागो अवदिस्सति—**चरिं तासणाइं सिज्जाओ एगतियाओ जाओ वुतिताओ। आइक्ख तानि सयणासणाइ जाइ सेविस्थ से महावीरे।** ऐसा पृच्छा। चर्या के अनन्तर शय्या (वासस्थान) है, उसके विभाग का

२७८. आवेसण-सभा-पवासु[1] पणियसालासु एगदा वासो ।
अदुवा पलियट्ठाणेसु पलालपुंजेसु एगदा वासो ॥६५॥

२७९. आगंतारे[2] आरामागारे नगरे वि एगदा वासो ।
सुसाणे सुण्णगारे वा रुक्खमूले वि एगदा वासो ॥६६॥

२८०. एतेहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरस[3] वासे ।
राइंदिवं पि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिते झाती ॥६७॥

२७७ (जम्बूस्वामी ने आर्य सुधर्मास्वामी से पूछा)—'भंते ! चर्या के साथ-साथ एक बार आपने कुछ आसन और वासस्थान बताये थे, अत मुझे आप उन वासस्थानों और आसनों को बताएँ, जिनका सेवन भगवान महावीर ने किया था ॥६४॥

२७८ भगवान कभी सूने खण्डहरों में, कभी सभाओं (धर्मशालाओं) में, कभी प्याउओं में और कभी पण्यशालाओं (दुकानों) में निवास करते थे। अथवा कभी लुहार, सुथार, सुनार आदि के कर्मस्थानों (कारखानों) में और जिस पर पलालपुंज रखा गया हो, उस मंच के नीचे उनका निवास होता था ॥६५॥

२७९ भगवान कभी यात्रीगृह में, कभी आरामगृह में, अथवा गाँव या नगर में निवास करते थे। अथवा कभी श्मशान में, कभी शून्यगृह में तो कभी वृक्ष के नीचे ही ठहर जाते थे ॥६६॥

२८० त्रिजगत्वेत्ता मुनीश्वर इन (पूर्वोक्त) वासस्थानों में साधना काल के बारह वर्ष, छह महीने, पन्द्रह दिनों में शान्त और समत्वयुक्त मन से रहे। व रात-दिन (मन-वचन-काया की) प्रत्येक प्रवृत्ति में यतनाशील रहते थे तथा अप्रमत्त और समाहित (मानसिक स्थिरता की) अवस्था में ध्यान करते थे ॥६७॥

निद्रात्याग-चर्या

२८१. णिद्दं[4] पि णो पगामाए सेवइया भगवं उट्ठाए ।
जग्गावती य[5] अप्पाणं [6]ईसिं साई य अपडिण्णे ॥६८॥

व्यपदेश करते हैं—"आपने एक दिन भगवान की चर्या आसन और शय्या के विषय में कहा था, अतः उन शयना (वासस्थानों) और आसनों के विषय में बताइए, जिनका भगवान महावीर ने सेवन किया था।" यह सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी का प्रश्न है।

१ **'पणियसालासु'** के बदले **'पणियगिहेसु'** पाठ है। **अर्थ समान है।**

२ इसके बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है— **आरामागारे गामे रण्णे वि एकता वासो।** अर्थात् आराम-गृह में, गाँव में या वन में भी कभी-कभी निवास करते थे।

३ **'पतरसवासे'** के बदले पाठान्तर **'पतेलसवासे'** भी है। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'पगत पत्थिय वा तेरसमं वरिसं, **अतिवरिमाणं तानिमाणि—पतेरसवरिसाणि।**"—तेरहवाँ वर्ष प्रगत—चल रहा था, प्रस्थित था—प्रस्थान कर चुका था। प्रत्रयोदश वर्ष से सम्बन्धित को 'प्रत्रयोदशवर्ष' कहते हैं।

चूर्णिकार ने स्वसम्मत तथा नागार्जुनीयसम्मत दोनों पाठ दिये हैं—**णिद्दं णो पगामादे सेवइया भगव,**

२८२. संबुज्झमाणे[1] पुणरवि आसिंसु भगवं उट्ठाए।
णिक्खम्म एगया राओ बहिं चंकमिया[2] मुहुत्तागं ॥६९॥

२८'• भगवान निद्रा भी बहुत नहीं लेते थे, । (निद्रा आने लगती तो) वे खड़े होकर अपने आपको जगा लेते थे। (चिरजागरण के बाद शरीर धारणार्थ कभी जरा-सी नींद ले लेते थे। किन्तु सोने के अभिप्राय से नहीं सोते थे। ॥६८॥)

२८२. भगवान क्षण भर की निद्रा के बाद फिर जागृत होकर (सयमोत्थान से उठकर) ध्यान में बैठ जाते थे। कभी-कभी (शीतकाल की) रात में (निद्रा प्रमाद मिटाने के लिए) मुहूर्त भर बाहर घूमकर (पुन. अपने स्थान पर आकर ध्यान-लीन हो जाते थे) ॥६९॥

विविध उपसर्ग

२८३. सयणेहिं तस्सुवसग्गा[3] भीमा आसी अणेगरूवा य।
संसप्पगा य जे पाणा अदुवा पक्खिणो उवचरंति ॥७०॥

२८४. अदु कुचरा उवचरंति गामरक्खा य सत्तिहत्था य।
अदु गामिया उवसग्गा इत्थी एगतिया पुरिसा य ॥७१॥

२८३ उन आवास-स्थानों में भगवान को अनेक प्रकार के भयंकर उपसर्ग आते थे। (वे ध्यान में रहते, तब) कभी साँप और नेवला आदि प्राणी काट खाते, कभी गिद्ध आदि पक्षी आकर मांस नोचते ॥७०॥

२८४ अथवा कभी (शून्य गृह में ठहरते तो) उन्हें चोर या पारदारिक (व्यभिचारी पुरुष) आकर तंग करते, अथवा कभी हाथ में शस्त्र लिए हुए ग्रामरक्षक (पहरेदार) या कोतवाल उन्हें कष्ट देते, कभी कामासक्त स्त्रियाँ और कभी पुरुष उपसर्ग देते थे ॥७१॥

तथा 'णिद्दा वि ण प्पगामा आसी तहेव उट्ठाए'—अर्थ—भगवान ने (खड़े होकर) गाढ रूप से निद्रा का सेवन नहीं किया। भगवान की निद्रा अत्यन्त नहीं थी, तथैव वे खड़े हो जाते थे।

५ इस पंक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'जग्गाइतवां अप्पाणं झाणेण' भगवान ने अपनी आत्मा को ध्यान से जागृत कर लिया था।

६ चूर्णिकार ने इसके बदले 'ईसिं सतितासि' पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—इत्तरकाल णिमेस-उम्मेसमेत्तं व (प) लमित्तं वा ईसिं सइतवा आसी अपडिण्णो।' —अर्थात्—ईषत् का अर्थ है —थोड़े काल तक, निमेष-उन्मेषमात्र या पलमात्र काल। भगवान सोये थे। वे निद्रा की प्रतिज्ञा से रहित थे।

१ इसके बदले 'संबुज्झमाणे पुणरावि' . पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने तात्पर्य बताया है—'. ण पडिसेहाते, ण पज्झायति, ण णिद्दापमादं चिरं करोति' निद्रा आने लगती तो वे उसका निषेध नहीं करते थे, न अत्यन्त ध्यान करते थे और न ही चिरकाल तक निद्रा-प्रमाद करते थे।

२. इसके बदले 'चक्कमिया चंक्कमिया, चंकमित, चक्कमित्त आदि पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ एक-सा है।

३. 'तस्स' का तात्पर्य चूर्णिकार ने लिखा है—'तस्स छउमत्थकाले अरहतो .।' छद्मस्थ अवस्था में आरूढ उन भगवान के.. ।

स्थान-परीषह

२८५. इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं ।
अवि सुब्भिदुब्भिगंधाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥७२॥
२८६. अहियासए सया समिते फासाइं विरूवरूवाइं ।
अरतिं रतिं अभिभूय रीयति माहणे अबहुवादी ॥७३॥
२८७. स जणेहिं[1] तत्थ पुच्छिसु एगचरा वि एगदा रातो ।
अव्वाहिते[2] कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे[3] ॥७४॥
२८८. अयमंतरंसि को एत्थ अहमंसि त्ति भिक्खू आहट्टु ।
अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए सकसाइए[4] झाति ॥७५॥

२८५ भगवान ने इहलौकिक (मनुष्य-तिर्यञ्च सम्बन्धी) और पारलौकिक (देव सम्बन्धी) नाना प्रकार के भयकर उपसर्ग सहन किये। वे अनेक प्रकार के सुगन्ध और दुर्गन्ध मे तथा प्रिय और अप्रिय शब्दों मे हर्ष-शोक रहित मध्यस्थ रहे ॥७२॥

२८६. उन्होने सदा समिति—(सम्यक् प्रवृत्ति) युक्त होकर अनेक प्रकार के स्पर्शों को सहन किया। वे संयम मे होने वाली अरति और असयम मे होने वाली रति को (ध्यान द्वारा) शात कर देते थे। वे महामाहन महावीर बहुत ही कम बोलते थे। वे अपने सयमानुष्ठान मे प्रवृत्त रहते थे ॥७३॥

२८७. (जब भगवान जन-शून्य स्थानो मे एकाकी होते तब) कुछ लोग आकर पूछते—"तुम कौन हो ? यहाँ क्यो खडे हो ?" कभी अकेले घूमने वाले लोग रात मे आकर पूछते—'इस सूने घर मे तुम क्या कर रहे हो ?' तब भगवान कुछ नही बोलते,

१ इस पंक्ति का तात्पर्य चूर्णिकार ने लिखा है—'एव गुत्तागुत्तेसु 'सयणेहिं तत्थ पुच्छिसु एगचार वि एगदा रातो, एगा चरति एगचरा, उब्भामिगाओ उब्भामग पुच्छति अहवा दोवि जणाइ आगम्म पुच्छति मोणेणअच्छति।'—इस प्रकार वासस्थानो (शयनस्थान) से गुप्त या अगुप्त होने पर भी रात को वहाँ कभी अकेले घूमने वाले या अवारागर्द या अवारागर्द से पूछते, या दोनो व्यक्ति भगवान के पास आकर पूछते थे .. भगवान मौन रहते।

२. 'अव्वाहित कसाइत्थ', का भावार्थ चूर्णिकार यो करते है—"पुच्छिज्जतो विवायं ण देइ त्ति काऊण रुस्सति पिट्टति" —अर्थात्—पूछे जाने पर भी जब कोई उत्तर वे नही देते, इस कारण वे रोष मे आ जाते थे और पीटते थे।

३ 'समाहिं अपडिण्णे' का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दो मे —"विसयसमासनिरोही णेव्वाणसुहसमाहि च पेहमाणो विसयसगदोसे य पेहमाणो इह परत्थ य अपडिण्णो" —अर्थात्— विषयसुखो की आशा के निरोधक भगवान मोक्षसुख समाधि की प्रेक्षा करते हुए विषयासक्ति के दोषो को देखकर इहलोक-परलोक के विषय मे अप्रतिज्ञ थे।

४ 'ए कसाइए', 'ए स कसातिते', 'ए सकसाइए' ये तीन पाठान्तर है। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—"गिहत्थे समत्ता कसाइते सकसाइते, ते सकसाइते णातु झातिमेव।" गृहस्थ का पूरी तरह से क्रोधादि कषायाविष्ट हो जाना सकषायित कहलाता है। भगवान गृहस्थ (पूछने वाले) को सकषायित जानकर ध्यानमग्न हो जाते थे।

इससे रुष्ट होकर दुर्व्यवहार करते, फिर भी भगवान समाधि में लीन रहते, परन्तु उनसे प्रतिशोध लेने का विचार भी नहीं उठता ।।७४।।

२८८ उपवन के अन्तर-आवास मे स्थित भगवान से पूछा—'यहाँ अन्दर कौन है ?' भगवान ने कहा—'मैं भिक्षु हूँ ।' यह सुनकर यदि वे क्रोधान्ध होकर कहते—'शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ ।' तब भगवान वहाँ से चले जाते । यह (सहिष्णुता) उनका उत्तम धर्म है । यदि भगवान पर क्रोध करते तो वे मौन रहकर ध्यान में लीन रहते थे ।।७५।।

<u>शीत-परीषह</u>

२८९. जंसिप्पेगे[1] पवेदेंति सिसिरे मारुए पवायंते ।
तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाते णिवायमेसंति ।।७६।।
२९०. संघाडीओ पविसिस्सामो[2] एधा य समादहमाणा ।
पिहिता वा सक्खामो 'अतिदुक्ख हिमगसंफासा' ।।७७।।
२९१. तंसि भगवं अपडिण्णे अहे विगडे अहियासए दविए ।
णिक्खम्म एगदा रातो चाएति[3] भगवं समियाए ।।७८।।
२९२. एस विही अणुक्कतो माहणेण मतीमता ।
बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीयंति ।।७९।। त्ति बेमि ।

।। बीओ उद्देसओ समत्तो ।।

२८९ शिशिरऋतु मे ठण्डी हवा चलने पर कई (अल्पवस्त्रवाले) लोग कापने लगते, उस ऋतु मे हिमपात होने पर कुछ अनगार भी निर्वातस्थान ढूँढते थे ।।७६।।

२९० हिमजन्य शीत-स्पर्श अत्यन्त दुःखदायी है, यह सोचकर कई साधु सकल्प करते थे कि चादरो मे घुस जाएगे या काष्ठ जलाकर किवाडो को बन्द करके इस ठड को सह सकेंगे, ऐसा भी कुछ साधु सोचते थे ।।७७।।

२९१ किन्तु उस शिशिर ऋतु मे भी भगवान (निर्वात स्थान की खोज या

---

१ चूर्णिकार ने इस पक्ति की व्याख्या यो की है—"**जति वि जम्हिकाले** एते अन्नतित्थिया गिहत्था वा णिवेदति सिसिर, सिसिरे वा मारुतो पवायति भिस वायति **तंसिप्पेगे अण्णतित्थिया**"—जिस काल को ये अन्यतीर्थिक या गृहस्थ शिशिर कहते हैं, शिशिर मे ठडी हवाएँ बहुत चलती है । उस काल में भी अन्यतीर्थिक लोग" ......।

२ इस पक्ति के शब्दो का अर्थ चूर्णिकार के शब्दो मे—"**पविसिस्सामो = पाउणिस्सामो समिहातो कट्ठाइं समादहमाणा**" अर्थात्—प्रविष्ट हो जायेंगे, आच्छादित कर (ढक) लेंगे । समिधा यानी लकडियो के ढेर से लकड़िया निकालकर जलाते है ।

३. **चाएति** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'**सहति**' भावार्थ—भगव समियाए सम्म, ण गारवभयट्ठाए वा सहति । अर्थात्—भगवान समताभाव से सम्यक् सहन करते थे, गौरव या भय से नहीं ।

वस्त्र पहनने-ओढ़ने अथवा आग जलाने आदि का) सकल्प नही करते। कभी-कभी रात्रि मे (सर्दी प्रगाढ हो जाती तब) भगवान उस मडप से बाहर चले जाते, वहाँ मुहूर्तभर ठहर फिर मडप मे आ जाते। इस प्रकार भगवान शीतादि परीषह सम-भाव से या सम्यक् प्रकार से सहन करने मे समर्थ थे।।७७।।

२९२ मतिमान् महामाहन महावीर ने इस विधि का आचरण किया। जिस प्रकार अप्रतिबद्धविहारी भगवान ने बहुत बार इस विधि का पालन किया, उसी प्रकार अन्य साधु भी आत्म-विकासार्थ इस विधि का आचरण करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—भगवान द्वारा सेवित वासस्थान—सूत्र २७८ और २७९ मे उन स्थानो के नाम बताए है जहाँ ठहरकर भगवान ने उत्कृष्ट ध्यान-साधना की थी। वे स्थान इस प्रकार है—

(१) आवेशन (खण्डहर)। (२) सभा। (३) प्याऊ। (४) दूकान। (५) कारखाने। (६) मच। (७) यात्रीगृह। (८) आरामगृह। (९) गाव या नगर (१०) श्मशान। (११) शून्य गृह। (१२) वृक्ष के नीचे।

भगवान की सयम-साधना के अग—मुख्यतया ८ रहे है—

(१) शरीर-सयम। (२) अनुकूल-प्रतिकूल परीषह-उपसर्ग के समय मन-सयम। (३) आहार-सयम। (४) वासस्थान-सयम। (५) इन्द्रिय-सयम। (६) निद्रा-सयम। (७) क्रिया-सयम। (८) उपकरण-सयम।

भगवान की सयम-साधना का रथ इन्ही ८ चक्रो द्वारा अन्त तक गतिमान रहा। वे इनमे से किसी भी अग से सम्बन्धित आग्रह से चिपक कर नही चलते थे। शरीर और उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए (आहार, निद्रा, स्थान, आसन आदि के रूप मे) वे अपने मन मे अनाग्रही थे। **'अपडिण्णे'** शब्द का पुन पुन प्रयोग यह ध्वनित करता है कि सहजभाव से साधना के अनुकूल जैसा भी आचरण शक्य होता वे उसे स्वीकार लेते थे।[1]

अमुक आसनो तथा त्राटक आदि सहजयोग की क्रियाओ से शरीर को स्थिर, सतुलित और मोह-ममता रहित स्फूर्तिमान रखने का वे प्रयत्न करते थे।

वे सभी प्रकार के सयम, आन्तरिक आनन्द, आत्मदर्शन, विश्वात्मचिन्तन आदि के माध्यम से करते थे।

भगवान की निद्रा-सयम की विधि भी बहुत ही अद्भुत थी। वे ध्यान के द्वारा निद्रा-सयम करते थे। निद्रा पर विजय पाने के लिए वे कभी खडे हो जाते, कभी स्थान से बाहर जाकर टहलने लग। इस प्रकार हर सम्भव उपाय से निद्रा पर विजय पाते थे।[2]

वासस्थानो-शयनों मे विभिन्न उपसर्ग—भगवान को वासस्थानो मे मुख्य रूप से निम्नोक्त उपसर्ग सहने पडते थे—

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०७।

२ आचा० शीला० टीका पत्रांक ३०७-३०८ के आधार पर।

(१) सांप और नेवलो आदि द्वारा काटा जाना।
(२) गिद्ध आदि पक्षियो द्वारा मास नोचना।
(३) चीटी, डांस, मच्छर, मक्खी आदि का उपद्रव।
(४) शून्य गृह मे चोर या लपट पुरुषो द्वारा सताया जाना।
(५) सशस्त्र ग्रामरक्षको द्वारा सताया जाना।
(६) कामासक्त स्त्री-पुरुषो का उपसर्ग।
(७) कभी मनुष्य-तिर्यञ्चो और कभी देवो द्वारा उपसर्ग।
(८) जनशून्य स्थानो मे अकेले या आवारागर्द लोगो द्वारा ऊटपटाग प्रश्न पूछ कर तग करना।
(९) उपवन के अन्दर की कोठरी आदि मे घुसकर ध्यानावस्था मे सताना आदि।[1]

वासस्थानों मे परोषह—(१) दुर्गन्धित स्थान, (२) ऊबड-खाबड विषम या भयंकर स्थान, (३) सर्दी का प्रकोप, (४) चारो ओर से बद स्थान का अभाव आदि। परन्तु इन वासस्थानो मे साधनाकाल मे भगवान साढे बारह वर्ष तक अहर्निश यतनाशील, अप्रमत्त और समाहित होकर ध्यानमग्न रहते थे। यही बात शास्त्रकार कहते है- '**एतेहिं मुणी सयणेहि समाहिते झाती।**'

'**संसप्पगा य जे पाणा**'—वृत्तिकार ने इस पद की व्याख्या की है—'भुजा से चलने वाले शून्य-गृह आदि मे विशेष रूप मे पाए जाने वाले साप, नेवला आदि प्राणी।'

'**पक्खिणो उवचरंति**'—श्मशान आदि मे गीध आदि पक्षी आकर उपसर्ग करते थे।[2]

'**कुचरा उवचरंति**'—कुचर का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—चोर, परस्त्रीलपट आदि लोग कही-कही सूने मकान आदि मे आकर उपसर्ग करते थे। तथा जब भगवान तिराहो या चौराहो पर ध्यानस्थ खडे होते तो ग्रामरक्षक शस्त्रों से लैस होकर उनके पास आकर तग किया करते।[3]

'**अदु गामिया इत्थी एगतिया पुरिसा य**'—इस पक्ति का तात्पर्य वृत्तिकार ने बताया है—कभी भगवान अकेले एकान्त स्थान मे होते तो ग्रामिक—इन्द्रियविषय-सम्बन्धी उपसर्ग होते थे, कोई कामासक्त स्त्री या कोई कामुक पुरुष आकर उपसर्ग करता था।[4] भगवान के रूप पर मुग्ध होकर स्त्रियाँ उनसे काम-याचना करती, जब भगवान उनसे विचलित नही होते तो वे क्षुब्ध और उत्तेजित रमणियां अपने पतियो को भगवान के विरुद्ध भडकाती और वे (उनके पति आदि स्वजन) आकर भगवान को कोसते, उत्पीडित करते।[5]

'**अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए**'—भगवान के न बोलने पर या पूछने पर जवाब न देने पर तुच्छ प्रकृति के लोग रुष्ट हो जाते, मारते-पीटते, सताते या वहाँ से निकल जाने को कहते।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्राक ३०७।
२. आचा० शीला० टीका पत्राक ३०७।
३. आचा० शीला० टीका पत्राक ३०७।
४. आचा० शीला० टीका पत्राक ३०७।
५. आचा० शीला० टीका पत्राक ३०७।

इन सब परीषहों-उपसर्गों के समय भगवान मौन को सर्वोत्तम धर्म मानकर अपने ध्यान में मग्न हो जाते थे। वे अशिष्ट व्यवहार करने वाले के प्रति बदला लेने का जरा भी विचार मन मे नही लाते थे। वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनो इसी आशय की व्याख्या करते हैं।[1]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तईओ उद्देसओ

(लाढ देश में) उत्तम तितिक्षा-साधना

२९३. तणफासे सीतफासे य तेउफासे य दसमसगे य।
अहियासते सया समिते फासाइं विरूवरूवाइं ॥८०॥
२९४. अह दुच्चरलाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सेज्जं सेविंसु आसणगाइं चेव पंताइं ॥८१॥
२९५. लाढेहिं[2] तस्सुवसग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवतिंसु ॥८२॥
२९६. अप्पे जणे णिवारेति लूसणए[3] सुणए डसमाणे।
छुच्छुकारेंति आहंतु समणं कुक्कुरा दसंतु त्ति ॥८३॥
२९७. एलिक्खए जणे भुज्जो बहवे वज्जभूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय णालीयं समणा तत्थ एव विहरिंसु ॥८४॥
२९८ एवं पि तत्थ विहरंता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं दुच्चरगाणि[4] तत्थ लाढेहिं ॥८५॥

---

१ (क) आचा० शीला० टीका पत्र ३०८। (ख) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण सूत्र २८८।

२ इसका पूर्वापर सम्बन्ध जोड कर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—**एरिसेसु सयण-आसणेसु वसमाणस्स 'लाढेसु ते उवसग्गा बहवे जाणवता आगम्म लूसिंसु'—'लूस हिंसायाम्' कट्ठमुट्ठिप्पहारादिएहिं उवसग्गेहि य लूसेंति। एगे आहु—दंतेहिं खायते त्ति।**"—अर्थात्—ऐसे शयनासनो मे निवास करते हुए भगवान को लाढदेश के गावों मे बहुत-से उपसर्ग हुए। बहुत-से उस देश के लोग ऊजड मार्गों मे आकर भगवान को लकडी, मुक्के आदि के प्रहारो से सताते थे। लूस धातु हिंसार्थक है, इसलिए ऐसा अर्थ होता है। कई कहते है—भगवान को वे दातो से काट खाते थे।'—चूर्णिसम्मत यह अर्थ है।

३ **'लूसणगा'** ज भणितं होति त (भ) **क्खणगा,** भसतीति **भसणसीला,** जे वि णाम ण खायति ते वि **छच्छुकारेंति आहंसु।** आहंसुत्ति आहणेत्ता केति चोर चारिय ति य मण्णमाणा केइ पदोसेण"—कुत्ते जो लूषणक होते है वे काट खाते है, जो भौकते हैं, वे काट नही खाते। कई लोग कुत्तो को छुछकार कर पीछे लगा देते थे। कई लोग रात्रि काल मे भगवान को चोर या गुप्तचर समझ कर पीटते थे। यह अर्थ चूर्णिकार ने किया है।

४ चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—दुक्ख चरिज्जति दुच्चरगाणि गामादीणि" —जहाँ दुःख मे विचरण हो सके, उन्हे दुश्चरक ग्राम आदि कहते हैं।

२९९. णिहाय डंडं पाणेहि तं वोसज्ज कायमणगारे।
अह गामकंटए भगव ते अहियासए अभिसमेच्चा ॥८६॥
३००. णाओ संगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे।
एवं पि तत्थ लाढेहिं[1] अलद्धपुव्वो वि एगदा गामो ॥८७॥
३०१. उवसंकमंतमपडिण्ण गामंतियं[2] पि अपत्तं।
पडिणिक्खमित्तु लूसिंसु एत्तातो परं पलेहि त्ति ॥८८॥
३०२. हतपुव्वो तत्थ डंडेण अदुवा[3] मुट्ठिणा अदु फलेण।
अदु लेलुणा कवालेणं हंता हंता ब ; कंदिसु ॥८९॥
३०३. मंसाणि[4] छिण्णपुव्वाइं उट्ठभियाए एगदा कायं।
परिस्सहाइं लुंचिंसु अदुवा पंसुणा अवकरिंसु ॥९०॥
३०४ उच्चालइय[5] णिहणिंसु अदुवा आसणाओ खलइंसु।
वोसट्ठकाए पणतासी दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे ॥९१॥
३०५. सूरो संगामसीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणो फरुसाइं अचले भगवं रीयित्था ॥९२॥
३०६. एस विही अणुक्कंतो माहणेण मतीमता।
बहुसो अपडिण्णेणं भगवया एवं रीयंति ॥९३॥ त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

२९३ (लाढ देश मे विहार करते समय) भगवान घास-कटकादि का कठोर

---

१ यहाँ चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'तत्थ विहरंतो ण लद्धपुव्वो'—अर्थात्—वहाँ (लाढ देश मे) विहार करते हुए भगवान को पहले-पहल कभी-कभी ग्राम नही मिलता था (निवास के लिए ग्राम मे स्थान नही मिलता था)।

२ यहां चूर्णिकार ने पाठान्तर माना है—**गामणियंतियं अपत्तं**।'' अर्थ यो किया है—**गामणियंतियं** गाम-ऽभास, ते लाढा **पडिनिक्खमेतु लूसेंति**।'' ग्राम के अन्तिक यानी निकट वे लाढनिवासी अनार्यजन ग्राम से बाहर निकलते हुए भगवान पर प्रहार कर देते थे।

३ **अदुवा मुट्ठिणा** आदि पदो का अर्थ चूर्णिकार ने यो किया है—दंडो, मुट्ठी कठ, फल चवेडा। अर्थात्—दण्ड और मुष्टि का अर्थ तो प्रसिद्ध है। फल से—यानी चपेटा—थप्पड से।

४ इसके बदले पाठान्तर है—**मंसूणि पुव्वछिण्णाइं**। चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—**अन्नेहिं पुण मंसूणि छिन्नपुव्वाणि, केयि धूमा तेण उद्दुभंति धिक्कारेंति य**।' दूसरे लोगो ने पहले भगवान के शरीर का मास (या उनकी मूँछे) काट लिया था। कई प्रशमक उन दुष्टो को इसके लिए रोकते थे धिक्कारते थे।

५ '**उच्चालइय**' के बदले चूर्णिकार ने '**उच्चालइता**' पाठ माना है—उसका अर्थ होता है—ऊपर उछाल कर ..।

६ चूर्णिकार ने इसके बदले '**पतिसेवमाणो रीयन्त**' पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—'सहमाणे ... रीयन्त'—अर्थात् सहन करते हुए भगवान विचरण करते थे।

स्पर्श, शीत स्पर्श, भयकर गर्मी का स्पर्श, डास और मच्छरो का दश, इन नाना प्रकार के दु:खद स्पर्शों (परीषहो) को सदा सम्यक् प्रकार से सहन करते थे ॥८०॥

२९४. दुर्गम लाढ देश के वज्र (वीर) भूमि और सुम्ह (शुभ्र या सिह) भूमि नामक प्रदेश मे भगवान ने विचरण किया था। वहाँ उन्होने बहुत ही तुच्छ (ऊबड-खाबड) वासस्थानो और कठिन आसनो का सेवन किया था ॥८१॥

२९५ लाढ देश के क्षेत्र मे भगवान ने अनेक उपसर्ग सहे। वहाँ के बहुत से अनार्य लोग भगवान पर डण्डो आदि से प्रहार करते थे, (उस देश के लोग ही रूखे थे, अत:) भोजन भी प्राय रूखा-रूखा ही मिलता था। वहाँ के शिकारी कुत्ते उन पर टूट पडते और काट खाते थे ॥८२॥

२९६ कुत्ते काटने लगते या भौकते तो बहुत थोडे-से लोग उन काटते हुए कुत्तो को रोकते, (अधिकाश लोग तो) इस श्रमण को कुत्ते काटे, इस नीयत से कुत्तो को बुलाते और छुछकार कर उनके पीछे लगा देते थे ॥८३॥

२९७. वहाँ ऐसे स्वभाव वाले बहुत से लोग थे, उस जनपद मे भगवान् ने (छ मास तक) पुन पुन विचरण किया। उस वज्र (वीर) भूमि के बहुत-से लोग रूक्षभोजी होने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे। उस जनपद मे दूसरे श्रमण अपने (शरीर-प्रमाण) लाठी और (शरीर से चार अगुल लम्बी) नालिका लेकर विहार करते थे ॥८४॥

२९८. इस प्रकार से वहा विचरण करने वाले श्रमणो को भी पहले कुत्ते (टाग आदि मे) पकड लेते, और इधर-उधर काट खाते या नोच डालते। सचमुच उस लाढ देश मे विचरण करना बहुत ही दुष्कर था ॥८५॥

२९९ अनगार भगवान महावीर प्राणियो के प्रति मन-वचन-काया से होने वाले दण्ड का परित्याग और अपने शरीर के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग करके (विचरण करते थे) अत भगवान उन ग्राम्यजनो के काटो के समान तीखे वचनो को (निर्जरा का हेतु समझकर सहन) करते थे ॥८६॥

३००. हाथी जैसे युद्ध के मोर्चे पर (शस्त्र से विद्ध होने पर भी पीछे नही हटता, वैरी को जीतकर—) युद्ध का पार पा जाता है, वैसे ही भगवान महावीर उस लाढ देश मे परीषह-सेना को जीतकर पारगामी हुए। कभी-कभी लाढ देश मे उन्हे (गाँव मे स्थान नही मिलने पर) अरण्य मे रहना पड़ा ॥८७॥

३०१ भगवान नियत वासस्थान या आहार की प्रतिज्ञा नही करते थे। किन्तु आवश्यकतावश निवास या आहार के लिए वे ग्राम की ओर जाते थे। वे ग्राम के निकट पहुँचते, न पहुँचते तब तक तो कुछ लोग उस गाँव से निकलकर भगवान को रोक लेते उन पर प्रहार करते और कहते—"यहाँ से आगे कही दूर चले जाओ" ॥८८॥

३०२ उस लाढ देश मे (गाँव से बाहर ठहरे हुए भगवान को) बहुत से लोग

डण्डे से या मुक्के से अथवा भाले आदि शस्त्र से या फिर मिट्टी के ढेले या खप्पर (ठीकरे) से मारते, फिर 'मारो-मारो' कहकर होहल्ला मचाते ।।८९।।

३०३ उन अनार्यों ने पहले एक बार ध्यानस्थ खड़े भगवान के शरीर को पकडकर मांस काट लिया था। उन्हे (प्रतिकूल) परीषहो से पीडित करते थे, कभी-कभी उन पर धूल फेकते थे ।।९०।।

३०४. कुछ दुष्ट लोग ध्यानस्थ भगवान को ऊँचा उठाकर नीचे गिरा देते थे, कुछ लोग आसन से (धक्का मारकर) दूर धकेल देते थे, किन्तु भगवान शरीर का व्युत्सर्ग किए हुए परीषह सहन के लिए प्रणबद्ध, कष्टसहिष्णु-दुःखप्रतीकार की प्रतिज्ञा से मुक्त थे। अतएव वे इन परीषहो-उपसर्गों से विचलित नही होते थे ।।९१।।

३०५ जैसे कवच पहना हुआ योद्धा युद्ध के मोर्चे पर शस्त्रों से विद्ध होने पर भी विचलित नही होता, वैसे ही सवर का कवच पहने हुए भगवान महावीर लाढादि देश मे परीषह-सेना से पीडित होने पर भी कठोरतम कष्टों का सामना करते हुए– मेरुपर्वत की तरह ध्यान मे निश्चल रहकर मोक्षपथ मे पराक्रम करते थे ।।९२।।

३०६ (स्थान और आसन के सम्बन्ध मे) किसी प्रकार की प्रतिज्ञा से मुक्त मतिमान, महामाहन भगवान महावीर ने इस (पूर्वोक्त) विधि का अनेक बार आचरण किया, उनके द्वारा आचरित एव उपदिष्ट विधि का अन्य साधक भी इसी प्रकार आचरण करते है ।।९३।।

—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—लाढदेश मे विहार क्यो ?– भगवान ने दीक्षा लेते ही अपने शरीर का व्युत्सर्ग कर दिया था।[1] इसलिए वे व्युत्सर्जन की कसौटी पर अपने शरीर को कसने के लिए लाढ देश जैसे दुर्गम और दुश्चर क्षेत्र मे गए। आवश्यकचूर्णि मे बताया गया है कि भगवान यह चिन्तन करते हैं कि 'अभी मुझे बहुत से कर्मों की निर्जरा करनी है, इसलिए लाढ देश मे जाऊँ। वहाँ अनार्य लोग है, वहाँ कर्मनिर्जरा के निमित्त अधिक उपलब्ध होगे।' मन मे इस प्रकार का विचार करके भगवान लाढ देश के लिए चल पडे और एक दिन लाढ देश मे प्रविष्ट हो गए। इसीलिए यहाँ कहा गया—'**अह दुच्चरलाढमचारी**'[2]

लाढ देश कहाँ और दुर्गम-दुश्चर क्यो ?—ऐतिहासिक खोजो के आधार पर पता चला है कि वर्तमान मे वीरभूम, सिहभूम एव मानभूम (धनबाद आदि) जिले तथा पश्चिम बगाल के तमलूक, मिदनापुर, हुगली तथा बर्दवान जिले का हिस्सा लाढ देश माना जाता था।

लाढ देश पर्वतो, झाडियो और घने जगलो के कारण बहुत दुर्गम था, उस प्रदेश में घास बहुत होती थी। चारो ओर पर्वतो से घिरा होने के कारण वहाँ सर्दी और गर्मी दोनों

---

१. "तओ ण समणे भगवं महावीरे एतारूव अभिग्गहं अभिगिण्हति बारसवासाइ वोसट्ठकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जति, तंजहा अहियासइस्सामि।" —आचा० सूत्र ७६९

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३१०। (ख) आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग पृ० २९०।

ही अधिक पडती थी। इसके अतिरिक्त वर्षा ऋतु मे पानी अधिक होने से वहाँ दल-दल हो जाती जिससे डाँस, मच्छर, जलौका आदि अनेक जीव-जन्तु पैदा हो जाते थे। इनका बहुत ही उपद्रव होता था। लाढ देश के वज्रभूमि और सुम्हभूमि नामक जनपदो मे नगर बहुत कम थे। गाँव में बस्ती भी बहुत कम होती थी।

वहाँ लोग अनार्य (क्रूर) और असभ्य होते थे। साधुओ—जिसमे भी नग्न साधुओ से परिचित न होने कारण वे साधु को देखते ही उस पर टूट पडते थे। कई कुतूहलवश और कुछ लोग जिज्ञासावश एक साथ कई प्रश्न करते थे, परन्तु भगवान की ओर से कोई उत्तर नही मिलता, तो वे उत्तेजित होकर या शकाशील होकर उन्हे पीटने लगते। भगवान को नग्न देखकर कई बार तो वे गाँव मे प्रवेश नही करने देते थे। अधिकतर सूने घरो, खण्डहरो, खुले छप्परो या पेड, वन अथवा श्मशान मे ही भगवान को निवास मिलता था, जगह भी ऊबड-खाबड, खड्डो और धूल से भरी हुई मिलती, कही काष्ठासन, फलक और पट्टे मिलते, पर वे भी धूल, मिट्टी एव गोबर से सने हुए होते।

लाढ देश मे तिल नही होते थे, गाएँ भी बहुत कम थी, इसलिए वहाँ घी-तेल सुलभ नही था, वहाँ के लोग रूखा-सूखा खाते थे, इसलिए वे स्वभाव से भी रूखे थे, बात-बात मे उत्तेजित होना, गाली देना या झगडा करना, उनका स्वभाव था। भगवान को भी प्राय उनसे रूखा-सूखा आहार मिलता था।[1]

वहाँ सिह आदि वन्य हिंस्र पशुओ या सर्पादि विषैले जन्तुओ का उपद्रव था या नही, इसका कोई उल्लेख शास्त्र मे नही मिलता, लेकिन वहाँ कुत्तो का बहुत अधिक उपद्रव था। वहाँ के कुत्ते बडे खूँखवार थे। वहाँ के निवासी या उस प्रदेश मे विचरण करने वाले अन्य तीर्थिक भिक्षु कुत्तो से बचाव के लिए लाठी और डण्डा रखते थे, लेकिन भगवान तो परम अहिंसक थे, उनके पास न लाठी थी, न डण्डा। इसलिए कुत्ते नि शक होकर उन पर हमला कर देते थे। कई अनार्य लोग छू-छू करके कुत्तो को बुलाते और भगवान को काटने के लिए उकसाते थे।[2]

निष्कर्ष यह है कि कठोर क्षेत्र, कठोर जनसमूह, कठोर और रूखा खान-पान, कठोर और रूक्ष व्यवहार एव कठोर एव ऊबड-खाबड स्थान आदि के कारण लाढ देश साधुओ के विचरण के लिए दुष्कर और दुर्गम था। परन्तु परीषहो और उपसर्गों से लोहा लेने वाले महा-योद्धा भगवान महावीर ने तो उसी देश मे अपनी साधना की अलख जगाई, इन सब दुष्परि-स्थितियो मे भी वे समता की अग्नि-परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए।

वास्तव मे, कर्मक्षय के जिस उद्देश्य से भगवान उस देश मे गए थे, उसमे उन्हे पूरी सफलता मिली। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—"**नागो सगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे।**" जैसे सग्राम के मोर्चे पर खडा हाथी भालो आदि से बींधे जाने पर भी पीछे नही हटता, वह

---

१ आवश्यक चूर्णि पृ० ३१८।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक ३१०-३११।

(ख) आयारो (मुनि नथमलजी) पृ० ३४७ के आधार पर।

युद्ध मे विजयी बनकर पार पा लेता है, वैसे ही भगवान महावीर परीषह-उपसर्गों की सेना का सामना करने मे अडे रहे और पार पाकर ही पारगामी हुए।[1]

'मसाणि छिण्णपुव्वाइं '—इस पंक्ति का अर्थ वृत्तिकार करते है—एक बार पहले भगवान के शरीर को पकडकर उनका मास काट लिया था। परन्तु—चूर्णिकार इसकी व्याख्या यो करते है—'दूसरे लोगो ने पहले भगवान के शरीर का मास (या उनकी मूँछें) काट लिया, किन्तु कई सज्जन (भगवान के प्रशंसक) इसके लिए उन दुष्टो को रोकते-धिक्कारते थे।[2]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

[भगवान महावीर का उग्र तपश्चरण]

अचिकित्सा-अपरिकर्म

३०७. ओमोदरियं[3] चाएति अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठे[4] व से अपुट्ठे वा णो से सातिज्जती तेइच्छं ॥९४॥

३०८. संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं सिणाणं च।
संबाहणं न से कप्पे दंतपक्खालणं परिण्णाए[5] ॥९५॥

३०९. विरते य गामधम्मेहिं रीयति माहणे अबहुवादी।
सिसिरंमि एगदा भगवं छायाए[6] झाति आसी य ॥९६॥

३०७ भगवान रोगो से आक्रान्त न होने पर भी अवमौदर्य (अल्पहार) तप करते थे। वे रोग से स्पृष्ट हो या अस्पृष्ट, चिकित्सा मे रुचि नही रखते थे ॥९४॥

३०८ वे शरीर को आत्मा से अन्य जानकर विरेचन, वमन, तैलमर्दन, स्नान और मर्दन (पगचंपी) आदि परिकर्म नही करते थे, तथा दन्तप्रक्षालन भी नही करते थे ॥९५॥

---

१ आचा० शीला० टीका पत्रांक ३११।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्रांक ३११,
(ख) आचाराग चूर्णि—मूलपाठ टिप्पण सू० ३०३ का देखे।

३ चूर्णिकार ने **'ओमोयरियं चाएति'** पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—"चाएति—अहियासेति।"—अवमौदर्य को सहते थे या अवमौदर्य का अभ्यास था।

४ इस पंक्ति का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"वातातिएहिं रोगेहिं अपुट्ठो वि ओमोदरियं कुतवां।"—अर्थात्—वातादिजन्य रोगो से अस्पृष्ट होते हुए भी भगवान ऊनोदरी तप करते थे।

५ **'परिण्णाए'** का अर्थ चूर्णिकार के शब्दो मे—"परिण्णाते—जाणित्तु ण करेति।"

६ चूर्णिकार ने इसके बदले **'छायीए झाति आसीता,'** पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—छायाए ण आतवं गच्छति तत्थेव झाति यासित्ति अतिक्कतकाले।"—भगवान छाया से धूप मे नही जाते थे, वही ध्यान करते थे, काल व्यतीत हो जाने पर फिर वे जाते थे।

३०९ महामाहन भगवान शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों से विरत होकर विचरण करते थे। वे बहुत नही बोलते थे। कभी-कभी भगवान शिशिर ऋतु मे छाया मे स्थित होकर ध्यान करते थे ॥९६॥

विवेचन—ऊनोदरी तप का सहज अभ्यास—भोजन सामने आने पर मन को रोकना बहुत कठिन कार्य है। साधारणतया मनुष्य तभी अल्पाहार करता है, जब वह रोग से घिर जाता है अन्यथा स्वादिष्ट मनोज्ञ भोजन स्वाद वश वह अधिक ही खाता है। परन्तु भगवान को वाता-दिजनित कोई रोग नही था, उनका स्वास्थ्य हर दृष्टि से उत्तम व नीरोग था। स्वादिष्ट भोजन भी उन्हे प्राप्त हो सकता था, किन्तु साधना की दृष्टि से किसी प्रकार का स्वाद लिए बिना वे अल्पाहार करते थे।[1]

चिकित्सा मे अरुचि—रोग दो प्रकार के होते है—वातादि के क्षुब्ध होने मे उत्पन्न तथा आगन्तुक। साधारण मनुष्यो की तरह भगवान के शरीर मे वातादि से उत्पन्न खासी, दमा, पेट-दर्द आदि कोई देहज रोग नही होते, शस्त्रप्रहारादि से जनित आगन्तुक रोग हो सकते है, परन्तु वे दोनो ही प्रकार के रोगो की चिकित्सा के प्रति उदासीन थे। अनार्य देश मे कुत्तो के काटने, मनुष्यो के द्वारा पीटने आदि से आगन्तुक रोगो के शमन के लिए भी वे द्रव्यौषधि का उपयोग नही करना चाहते थे।[2]

हाँ, असातावेदनीय आदि कर्मों के उदय से निष्पन्न भाव-रोगो की चिकित्सा मे उनका दृढ विश्वास था।

शरीर-परिकर्म से विरत—दीक्षा लेते ही भगवान ने शरीर के व्युत्सर्ग का सकल्प कर लिया था, तदनुसार वे शरीर की सेवा-शुश्रूषा, मडन, विभूषा, साज-सज्जा, सार-सभाल आदि से मुक्त रहते थे, वे आत्मा के लिए समर्पित हो गए थे, इसलिए शरीर को एक तरह से विस्मृत करके साधना मे लीन रहते थे। यही कारण है कि वमन, विरेचन, मर्दन आदि से वे बिलकुल उदासीन थे, शब्दादि विषयो से भी वे विरक्त रहते थे, मन, वचन, काया की प्रवृत्तिया भी वे अति अल्प करते थे।[3]

तप एव आहारचर्या

३१०. आयावइ[4] य गिम्हाण अच्छति उक्कुडए अभितावे।
अदु जावइत्थ लूहेण ओयण-मथु-कुम्मासेण ॥९७॥
३११. एताणि तिण्णि पडिसेवे अट्ठ मासे अ जावए भगव।
अपिइत्थ एगदा भगव अद्धमासं अदुवा मासं पि ॥९८॥

---

१ आचा० शीला० टीका पत्र ३१२। २ आचा० शीला० टीका पत्र ३१२।

३ आचा० शीला० टीका पत्राक ३१२-३१३।

४ चूर्णिकार ने इसके बदले—"**आयावयति गिम्हासु उक्कुडुयासणेण अभिमुहवाते**'—उण्हे रुक्खे य वायते।" अर्थात्=ग्रीष्म ऋतु मे उकडू आसन से बैठकर भगवान गर्म लू या रूखी जैसी भी हवा होती, उसके अभिमुख होकर आतापना लेते थे।

३१२. अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा अपिवित्था[1] ।
राओवरात अपडिण्णे अण्णगिलायमेगता[2] भुंजे ॥९९॥

३१३ छट्ठेण एगया भुंजे अदुवा अट्ठमेण दसमेण ।
दुवालसमेण एगदा भुंजे पेहमाणे[3] समाहिं अपडिण्णे ॥१००॥

३१४. णच्चाण से महावीरे णो वि य पावगं सयमकासी ।
अण्णेहिं वि ण कारित्था कीरतं पि णाणुजाणित्था ॥१०१॥

३१५. गामं[4] पविस्स णगरं वा घासमेसे[5] कडं परट्ठाए ।
सुविसुद्धमेसिया[6] भगवं आयतजोगताए सेवित्था ॥१०२॥

३१६. अदु वायसा दिगिंछत्ता[7] जे अण्णे रसेसिणो सत्ता ।
घासेसणाए चिट्ठते सययं[8] णिवतिते य पेहाए ॥१०३॥

३१७. अदु माहणं व समणं वा गामपिंडोलगं च अतिहिं वा ।
सोवागं मूसियारिं वा कुक्कुरं वा[9] वि विट्ठितं पुरतो ॥१०४॥

---

१ इसके बदले 'अपिवित्थ', 'पिवत्थ', 'अप्प विहरित्था', अपवित्ता', 'अवि विहरित्था, आदि पाठान्तर मिलते है । इनका अर्थ क्रमशः यों है—नहीं पिया, पिया, अल्प विहार किया, अल्पाहारी रहे बिना पिये विहार किया ।

२ इसके बदले 'अण्ण (ण्ण) गिलागमे, 'अण्णगिलाणमे' 'अन्नइलायमे' 'अन्न इलात' 'एगता भुंजे', 'अन्नगिलाय', आदि पाठान्तर मिलते हैं । चूर्णिकार ने "अन्न इलात एगता भुंजे" पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—'अन्नमेव गिलाण अन्नगिलाण दोसीण'—अर्थात्—जो अन्न ही ग्लान—सत्त्वहीन, बासी और नीरस हो गया है, उस कई रात्रियों के अन्न को 'अन्नग्लान' कहते हैं । उसी का कभी-कभी भगवान सेवन करते थे । वृत्तिकार ने "अन्नगिलाय' पाठ मानकर अर्थ किया है—पर्युषितम्—बासी अन्न ।

३ 'पेहमाणे समाहिं' का अर्थ चूर्णिकार करते है—समाधिमिति तवसमाधी, णेव्वाणसमाधी, तं पेहमाणे ।' समाधि का अर्थ है—तप समाधि या निर्वाणसमाधि, उसका पर्यालोचन करते हुए ।

४ इसके बदले—चूर्णि में पाठान्तर हैं—'अण्णेहिं ण कारित्था, कीरमाणं पि णाणुमोतित्था', अर्थात्—दूसरों से पाप नहीं कराते थे, पाप करते हुए या करने वाले का अनुमोदन नहीं करते थे ।

५ इसके बदले पाठान्तर है— 'घासमेसे कर परट्ठाए', 'घासमात कड परट्ठाए' (चूर्णि) चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर का अर्थ —'घासमाहार अद भक्खणे'—अर्थात्—भगवान दूसरों (गृहस्थों) के लिए बनाए हुए आहार का सेवन करते थे ।

६ चूर्णि में पाठान्तर है—'सुविसुद्ध एसिया भगवं आयतजोगता गवेसित्था'-भगवान आहार की सुविशुद्ध एषणा करते थे, तथा आयतयोगता की अन्वेषणा करते थे ।

७ 'दिगिंछत्ता' का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में — दिगिंछा छुहा ताए अत्ता तिसिया वा ।' अर्थात् दिगिंछा क्षुधा का नाम है, उससे आर्त्त —पीड़ित, अथवा तृषित —प्यासे ।

८ 'सयय णिवतिते' के बदले पाठान्तर है 'संथरे (डे) णिवतिते' अर्थ चूर्णिकार ने किया है—सथडं= सतत संणिवतिया—निरन्तर बैठे देखकर ।

९ इसके बदले 'वा विट्ठितं' पाठान्तर स्वीकार करके चूर्णिकार ने अर्थ किया है—विट्ठितं उपविष्ट-मित्यर्थ । अर्थात् = बैठे हुए ।

३१८. विसिच्छेदं वज्जेंतो तेसऽप्पत्तियं[1] परिहरतो।
मंदं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥१०५॥

३१९. अवि सूइय व सुक्कं वा[2] सीयपिंड पुराणकुम्मासं।
अदु बक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धए दविए ॥१०६॥

३१० भगवान ग्रीष्म ऋतु मे आतापना लेते थे। उकडू आसन से सूर्य के ताप के सामने मुख करके बैठते थे। और वे प्राय रूखे आहार को दो—कोद्रव व बेर आदि का चूर्ण, तथा उडद आदि से शरीर-निर्वाह करते थे ॥९७॥

३११. भगवान ने इन तीनो का सेवन करके आठ मास तक जीवन यापन किया। कभी-कभी भगवान ने अर्ध मास (पक्ष) या मास भर तक पानी नही पिया ॥९८॥

३१२ उन्होने कभी-कभी दो महीने से अधिक तथा छह महीने तक भी पानी नही पिया। वे रात भर जागत रहते, किन्तु मन मे नीद लेने का सकल्प नही होता था। कभी-कभी वे बासी (रस-अविकृत) भोजन भी करते थे ॥९९॥

३१३ वे कभी बेले (दो दिन के उपवास) के अनन्तर, कभी तेले (अटठम), कभी चौले (दशम) और कभी पचौले (द्वादश) के अनन्तर भोजन (पारणा) करते थे। भोजन के प्रति प्रतिज्ञा रहित (आग्रह-मुक्त) होकर वे (तप) समाधि का प्रेक्षण (पर्यालोचन) करते थे ॥१००॥

३१४ वे भगवान महावीर (आहार के दोषो को) जानकर स्वय पाप (आरम्भ-समारभ) नही करते थे, दूसरो से भी पाप नही करवाते थे और न पाप करने का अनुमोदन करते थे ॥१०१॥

३१५ भगवान ग्राम या नगर मे प्रवेश करके दूसरे (गृहस्थो) के लिए बने हुए भोजन की एषणा करते थे। सुविशुद्ध आहार ग्रहण करके भगवान आयतयोग (सयत-विधि) से उसका सेवन करते थे ॥१०२॥

३१६-३१७-३१८ भिक्षाटन के समय, रास्ते मे क्षुधा से पीडित कौओ तथा पानी पीने के लिए आतुर अन्य प्राणियो को लगातार बैठे हुए देखकर अथवा ब्राह्मण, श्रमण, गाँव के भिखारी या अतिथि, चाण्डाल, बिल्ली या कुत्ते को आगे मार्ग मे बैठा देखकर उनकी आजीविका का विच्छेद न हो, तथा उनके मन मे अप्रीति (द्वेष) या अप्रतीति (भय) उत्पन्न न हो, इसे ध्यान मे रखकर भगवान धीरे-धीरे चलते थे किसी

---

१ इसके बदले **'तेस्सऽपत्तिय' 'तेसि अपत्तिय'** पाठान्तर मिलते है।

२ चूर्णिकार इसके बदले **'अवि सूचित वा सुक्क वा** ..पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—"सूचित णाम कुसणित"—अर्थात्—सूचित का अर्थ है—दही के साथ भात मिलाकर करबा बनाया हुआ। वृत्तिकार शीलाकाचार्य 'सूइय' पाठ मानकर अर्थ करते है—सूइय ति दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि।" अर्थात् दही आदि म भात को गीला करके भी ।

को जरा-सा भी त्रास न हो, इसलिए हिंसा न करते हुए आहार की गवेषणा करते थे ।।१०३-१०४-१०५।।

३१९ भोजन व्यंजनसहित हो या व्यंजनरहित सूखा हो, अथवा ठंडा-बासी हो, या पुराना (कई दिनों का पकाया हुआ) उड़द हो, पुराने धान का ओदन हो या पुराना सत्तू हो, या जौ से बना हुआ आहार हो, पर्याप्त एवं अच्छे आहार के मिलने या न मिलने पर इन सब स्थितियों में संयमनिष्ठ भगवान राग-द्वेष नहीं करते थे ।।१०६।।

ध्यान-साधना

३२०. अवि झाति से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढं[1] अहे य तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ।।१०७।।
३२१. अकसायी विगतगेही य सद्द-रूवेसुऽमुच्छिते[2] झाती ।
छउमत्थे[3] विप्परक्कममाणे ण पमायं सइं पि कुव्वित्था ।।१०८।।
३२२. सयमेव अभिसमागम्म आयतजोगमायसोहीए ।
अभिणिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समितासी ।।१०९।।
३२३. एस विही अणुक्कंतो माहणेण मतीमता ।
बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीयंति ।।११०।।त्ति बेमि ।

।।चउत्थो उद्देसओ समत्तो ।।

३२० भगवान महावीर उकडू आदि यथोचित आसनों में स्थित और स्थिर-चित्त होकर ध्यान करते थे । ऊँचे, नीचे और तिरछे लोक में स्थित जीवादि पदार्थों के द्रव्य-पर्याय-नित्यानित्यत्व को ध्यान का विषय बनाते थे । वे असम्बद्ध बातों के संकल्प से दूर रहकर आत्म-समाधि में ही केन्द्रित रहते थे ।।१०७।।

३२१ भगवान क्रोधादि कषायों को शान्त करके, आसक्ति को त्याग कर, शब्द और रूप के प्रति अमूर्च्छित रहकर ध्यान करते थे । छद्मस्थ (ज्ञानावरणीयादि घातिकर्म चतुष्टययुक्त) अवस्था में सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने एक बार भी प्रमाद नहीं किया ।।१०८।।

---

१ '**उड्ढं अहे य तिरियं च**' के आगे चूर्णिकार ने '**लोए झायती (पेहमाणे)** पाठान्तर माना है । अर्थ होता है -- ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक का (प्रेक्षण करते हुए) ध्यान करते थे ।

२ इसका अर्थ चूर्णिकार यों करते हैं—"सद्दादिएहिं य अमुच्छितो झाती झायति—अर्थात्—शब्दादि विषयों में अमूर्च्छित-अनासक्त होकर भगवान ध्यान करते थे ।

३ चूर्णिकार ने इसके बदले '**छउमत्थे विप्परक्कम्मा ण पमायं**' पाठान्तर मान्य करके व्याख्या की है—"छउमत्थकाले विहरतेण भगवता जयतेण घटतेण परक्कतेण ण कयाइ पमातो कयतो । अविसद्दा णवरि एक्कसिं एक्कं अंतोमुहुत्तं अट्ठियगामे ।" छद्मस्थकाल में यतनापूर्वक विहार करते हुए या अन्य संयम सम्बन्धी क्रियाओं में कभी प्रमाद नहीं किया था । अपि शब्द से एक दिन एक अन्तर्मुहूर्त तक अस्थिकग्राम में (निद्रा) प्रमाद किया था ।

३२२ आत्म-शुद्धि के द्वारा भगवान ने स्वयमेव आयतयोग (मन-वचन-काया की संयत प्रवृत्ति) को प्राप्त कर लिया तथा उनके कषाय उपशान्त हो गये। उन्होंने जीवन पर्यन्त माया से रहित तथा समिति-गुप्ति से युक्त होकर साधना की ॥१०९॥

३२३. किसी प्रतिज्ञा (आग्रहबुद्धि या संकल्प) से रहित ज्ञानी महामाहन भगवान ने अनेक बार इस (पूर्वोक्त) विधि का आचरण किया है, उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट विधि का अन्य साधक भी अपने आत्म-विकास के लिए इसी प्रकार आचरण करते हैं ॥११०॥ —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—भगवान की तप.साधना—भगवान की तप:साधना आहार-पानी पर स्वेच्छिक नियन्त्रण को लेकर बताई गयी है। इस प्रकार की बाह्य तप साधना के वर्णन को देखकर कुछ लोग कह बैठते है कि भगवान ने शरीर को जान-बूझ कर कष्ट देने के लिए यह सब किया था, परन्तु इस चर्या के साथ-साथ उनकी सतत जागृत, यतना और ध्यान-निमग्नता का वर्णन पढ़ने से यह भ्रम दूर हो जाता है।

भगवान का शरीर धर्मयात्रा मे बाधक नही था फिर वे उसे कष्ट देते ही क्यो? भगवान आत्मा मे इतने तल्लीन हो गये थे कि शरीर की बाह्य अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न गौण हो गया था। शारीरिक कष्टो की अनुभूति उसे अधिक होती है जिसकी चेतना का स्तर निम्न हो, भगवान की चेतना का स्तर उच्च था। भगवान की तप साधना के साथ जागृति के दो पख लगे हुए थे—(१) समाधि-प्रेक्षा और (२) अप्रतिज्ञा। अर्थात् वे चाहे जितना कठोर तप करते, लेकिन साथ मे अपनी समाधि का सतत प्रेक्षण करते रहते और वह किसी प्रकार के पूर्वाग्रह या हठाग्रह से प्रेरित संकल्प से युक्त नही था।[1]

आयतयोग—का अर्थ वृत्तिकार ने मन-वचन-काया का संयत योग (प्रवृत्ति) किया है। परन्तु आयतयोग का तन्मयतायोग कहना अधिक उपयुक्त होगा। भगवान जिस किसी भी क्रिया को करते, उसमे तन्मय हो जाते थे। यह योग अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना से बचकर केवल वर्तमान मे रहने की क्रिया मे पूर्णतया तन्मय होने की प्रक्रिया है। वे चलते, खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते के समय सदैव सतत इस आयतयोग का आश्रय लेते थे। वे चलते समय केवल चलते थे। वे चलते समय न तो इधर-उधर झाकते, न बाते या स्वाध्याय करते, और न ही चिन्तन करते। यही बात खाते समय थी, वे केवल खाते थे, न तो स्वाद की ओर ध्यान देते, न चिन्तन, न बात-चीत। वर्तमान क्रिया के प्रति वे सर्वात्मना समर्पित थे। इसीलिए वे आत्म-विभोर हो जाते थे, जिससे उन्हे भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की कोई अनुभूति भी नही होती थी। उन्होने चेतना की समग्र धारा आत्मा की ओर प्रवाहित कर दी थी। उनका मन, बुद्धि, इन्द्रिय-विषय, अध्यवसाय और भावना, ये सब एक ही दिशा मे गतिमान हो गए थे।

अपने शरीर-निर्वाह की न तो वे चिन्ता करते थे, न ही वे आहार-प्राप्ति के विषय मे

१. आचारांग वृत्ति मूलपाठ, पत्र ३१२ के आधार पर।

किसी प्रकार का ऐसा सकल्प ही करते थे कि "ऐसा सरस स्वादिष्ट आहार मिलेगा, तभी लूँगा, अन्यथा नही।" आहार-पानी प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का पाप-दोष होने देना, उन्हे जरा भी अभीष्ट नही था। अपने लिए आहार की गवेषणा मे जाते समय रास्ते मे किसी भी प्राणी के आहार मे अन्तराय न लगे, किसी का भी वृत्तिच्छेद न हो, किसी को भी अप्रतीति (भय) या अप्रीति (द्वेष) उत्पन्न न हो, इस बात की वे पूरी सावधानी रखते थे।[1]

'अण्णगिलाय'—शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने पर्युषित—वासी भोजन किया है। भगवत सूत्र की टीका मे 'अन्नग्लायक' शब्द की व्याख्या की गई है—जो अन्न के बिना ग्लान हो जाता है, वह अन्नग्लायक कहलाता है। क्षुधातुर होने के कारण वह प्रातः होते ही जैसा भी, जो कुछ बासी, ठडा भोजन मिलता है, उसे खा लेता है।[2] यद्यपि भगवान क्षुधातुर स्थिति मे नही होते थे, किन्तु ध्यान आदि मे विघ्न न आये तथा समभाव साधना की दृष्टि से समय पर जैसा भी बासी-ठण्डा भोजन मिल जाता, बिना स्वाद लिए उसका सेवन कर लेते थे।

'सूइय'—आदि शब्दों का अर्थ—'सूइय' के दो अर्थ हैं—दही आदि से गीले किए हुए भात अथवा दही के साथ भात मिलाकर करबा बनाया हुआ। **सुक्क** = सूखा, **सीय पिंड** = ठण्डा भोजन, **पुराण कुम्मास** = बहुत दिनो से सिजोया हुआ उडद, **बुक्कसं** = पुराने धान का चावल, पुराना सत्तु पिण्ड, अथवा बहुत दिनो का पडा हुआ गोरस, या गेहूँ का माडा, **पुलाग** = जौ का दलिया।

ऐसा रूखा-सूखा जैसा भी भोजन प्राप्त होता, वह पर्याप्त और अच्छा न मिलता तो भी भगवान राग-द्वेष रहित होकर उसका सेवन करते थे, यदि वह निर्दोष होता।[3]

भगवान की ध्यान-परायणता—भगवान शरीर की आवश्यकताएँ होती तो उन्हे सहजभाव से पूर्ण कर लेते और शीघ्र ही ध्यान-साधना मे सलग्न हो जाते। वे गोदुह, वीरासन, उत्कट आदि आसनो मे स्थित होकर मुख को टेढा या भीचकर विकृत किए बिना ध्यान करते थे। उनके ध्यान के आलम्बन मुख्यतया ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक मे स्थित जीव-अजीव आदि पदार्थ होते थे।[4] इस पक्ति की मुख्यतया पाँच व्याख्याएँ फलित होती है—

ऊर्ध्वलोक = आकाशदर्शन, अधोलोक = भूगर्भदर्शन और मध्यलोक = तिर्यग्भित्ति-दर्शन। इन तीनो लोको मे विद्यमान तत्त्वो का भगवान ध्यान करते थे। लोकचिन्तन क्रमश चिन्तन-उत्साह, चिन्तन-पराक्रम और चिन्तन-चेष्टा का आलम्बन होता है।

---

१ आचाराग वृत्ति मूलपाठ पत्राक ३१३ के आधार पर।

२ (क) भगवती सूत्र वृत्ति पत्र ७०५। (ख) आचाराग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण सूत्र ३१२।

३. (क) आचा० शीला० टीका पत्राक ३१३। (ख) आचाराग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण सूत्र ३१९।

४. (क) आचा० शीला० टीका पत्राक ३१५। (ख) आचाराग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण सूत्र ३२०। देखिए आवश्यक चूर्णि पृ० ३२४ मे त्रिलोकध्यान का स्वरूप—**'उड्ढ अहेय तिरियं च, सव्वलोए झायति समित। उड्ढलोए जे अहे वि तिरिए वि, जेहिं वा कम्मादाणेहिं उड्ढ गमति, एव अहे तिरियं च। अहे संसार संसारहेउं च कम्मविवागं च झायति, त मोक्ख मोक्खहेउं मोक्खसुह च झायति, पेच्छमाणो आयसाहिं परसमसाहिं च अहवा णाणाविसमाहिं।'**

(२) दीर्घदर्शी साधक ऊर्ध्वगति, अधोगति और तिर्यग् (मध्य) गति के हेतु बनने वाले भावो को तीनो लोकों के दर्शन से जान लेता है।

(३) आँखो को अनिमेष विस्फारित करके ऊर्ध्व, अधो और मध्य लोक के बिन्दु पर स्थिर (त्राटक) करने से तीनो लोको को जाना जा सकता है।

(४) लोक का ऊर्ध्व, अधो और मध्यभाग विषय-वासना मे आसक्त होकर शोक से पीडित है इस प्रकार दीर्घदर्शी त्रिलोक-दर्शन करता है।

(५) लोक का एक अर्थ है—भोग्य वस्तु या विषय। शरीर भोग्यवस्तु है, उसके तीन भाग करके त्रिलोक-दर्शन करने से चित्त कामवासना से मुक्त होता है। नाभि से नीचे—अधोभाग, नाभि से ऊपर ऊर्ध्वभाग और नाभिस्थान तिर्यग्भाग।[1]

भगवान अकषायी, अनासक्त, शब्द और रूप आदि मे अमूर्च्छित एव आत्मसमाधि (तप समाधि या निर्वाणसमाधि) मे स्थित होकर ध्यान करते थे। वे ध्यान के लिए समय, स्थान या वातावरण का आग्रह नही रखते थे।

ण पमायं सइं पि कुव्वित्था—छद्मस्थ अवस्था तब तक कहलाती है, जब तक ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्म सर्वथा क्षीण न हो। प्रमाद के पाँच भेद मुख्य है—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। इस पक्ति का अर्थ वृत्तिकार करते है—भगवान ने कषायादि प्रमादो का सेवन नही किया। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—भगवान ने छद्मस्थ दशा मे अस्थिक ग्राम मे एक बार अन्तर्मुहूर्त को छोडकर निद्रा प्रमाद का सेवन नही किया। इस पक्ति का तात्पर्य यह है कि भगवान अपनी साधना मे सर्वत्र प्रतिपल अप्रमत्त रहते थे।[2]

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ ओहाणसुयं समत्तं। नवममध्ययन समाप्तम् ॥

॥ आचारांग सूत्र—प्रथम श्रुतस्कंध समाप्त ॥

---

१ आयारो (मुनि नथमल जी) पृ० ११३ के आधार पर।

२ (क) आचा० शीला० टीका पत्राक ३१५।

(ख) आचाराग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण सू० ३२१।

परिशिष्ट

- 'जाव' शब्द संकेतित सूत्र सूचना
- विशिष्ट शब्दसूची
- गाथाओं की अनुक्रमणिका
- विवेचन में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ

'जाव' शब्द संकेतिक सूत्रसूचना

१ प्राचीनकाल मे आगम तथा श्रुत ज्ञान प्राय कण्ठस्थ रखा जाता था। स्मृति-दौर्बल्य के कारण आगम ज्ञान लुप्त होता देखकर वीरनिर्वाण सवत् ९०० के लगभग आगम लिखने की परिपाटी प्रारम्भ हुई।

लिपि-सुगमता की दृष्टि से सूत्रो मे आये बहुत-से समान पद जो बार-बार आते थे, उन्हे सकेत द्वारा सक्षिप्त कर दिया गया था। इससे पाठ लिखने मे बहुत-सी पुनरावृत्तियो से बचा जाता था।

इस प्रकार के सक्षिप्त सकेत आगमो मे प्राय तीन प्रकार के मिलते हैं—

१. **वण्णओ**—वर्णक, (अमुक के अनुसार इसका वर्णन समझे) भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा आदि अग व उपाग आदि आगमो मे इस सकेत का काफी प्रयोग हुआ है। उववाई सूत्र मे बहुत-से वर्णनक हैं, जिनका सकेत अन्य सूत्रो मे मिलता है।

२ **जाव**—(यावत्) एक पद से दूसरे पद के बीच के दो तीन, चार आदि अनेक पद बार-बार न दुहराकर 'जाव' शब्द द्वारा सूचित करने की परिपाटी आचाराग आदि सूत्रो मे मिलती है। जैसे—सूत्र २२४ मे पूर्ण पाठ है—

'अप्पंडे अप्पपाणे, अप्पबीए, अप्पहरिए, अप्पोसे, अप्पोदए, अप्पुत्तिग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडा-संताणए'

आगे जहाँ इसी भाव को स्पष्ट करना है वहाँ सूत्र २२८ तथा ४१२, ४५५, ५७० आदि मे **'अप्पडे जाव'** के द्वारा सक्षिप्त कर सकेत मात्र कर दिया गया है। इसी प्रकार **'जाव'** पद से अन्यत्र भी समझना चाहिए। हमने प्राय टिप्पणी मे **'जाव'** पद मे अभीष्ट सूत्र की सख्या सूचित करने का ध्यान रखा है।

☐ कही विस्तृत पाठ का बोध भी 'जाव' से किया गया है। जैसे सूत्र २१७ मे 'अहेसणिज्जाइ वत्थाइ जाएज्जा जाव' यहाँ पर सूत्र २१४ के 'अहेसणिज्जाइ वत्थाइ जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइ वत्थाइ धारेज्जा, णो धोएज्जा, णो रएज्जा णो धोत-रत्ताइ वत्थाइ धारेज्जा, अपलिउचमाणे गामतरेसु, ओमचेलिए।' इस समग्र पाठ का 'जाव' पद द्वारा बोध कराया है। इस प्रकार अनेक स्थानो पर स्वय समझ लेना चाहिए।

☐ **जाव**—कही पर भिन्न पदो का व कही विभिन्न क्रियाओ का सूचक है, जैसे सूत्र २०५ मे **'परक्कमेज्ज जाव'** सूत्र २०४ के अनुसार **'परक्कमेज्ज वा, चिट्ठे ज्जा वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टे ज्ज वा'** चार क्रियाओ का बोधक है।

३. **अक-सकेत**—सक्षिप्तीकरण की यह भी एक शैली है। जहाँ दो, तीन, चार या अधिक समान पदो का बोध कराना हो, वहाँ अक २, ३, ४, ६ आदि अको द्वारा सकेत किया गया है। जैसे—

(क) सूत्र ३२४ मे—**से भिक्खू वा भिक्खुणी वा**

(ख) सूत्र १९९—असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा आदि।

'से भिक्खू वा २' संक्षिप्त कर दिया गया है।

इसी प्रकार 'असण वा ४, जाव' या 'असणेण वा ४' संक्षिप्त करके आगे के सूत्रों में संकेत मात्र किये गये हैं।

(ग) पुनरावृत्ति—कहीं-कहीं '२' का चिह्न द्विरुक्ति का सूचक भी हुआ है—जैसे सूत्र ३६० में पगिज्झिय २ 'उद्दिसिय' २। इसका संकेत है—पगिज्झिय पगिज्झिय, उद्दिसिय उद्दिसिय। अन्यत्र भी यथोचित समझें।

□ क्रिया पद से आगे '२' का चिह्न कहीं क्रिया काल के परिवर्तन का भी सूचन करता है, जैसे सूत्र ३५७ में—'एगंतमवक्कमेज्जा २' यहाँ 'एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमेत्ता' पूर्व क्रिया का सूचक है। इसी प्रकार अन्यत्र भी।

क्रिया पद के आगे '३' का चिह्न तीनों काल के क्रियापद के पाठ का सूचन करता है, जैसे सूत्र ३६२ में 'रुचिसु वा' ३ यह संकेत–'रुचिसु वा रुचति वा रुचिस्संति वा' इस—त्रैकालिक क्रियापद का सूचक है, ऐसा अन्यत्र भी है।

मूल पाठ में ध्यान पूर्वक ये संकेत रखे गए हैं, फिर भी विज्ञ पाठक स्व-विवेकबुद्धि से तथा योग्य शुद्ध अन्वेषण करके पढ़ेंगे—विनम्र निवेदन है। —सम्पादक]

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
२२८	अप्पंडे जाव	२२४
२२७	असणेण वा ४	१९९
२०७, २०८, २१८, २२३, २२७	असण वा ४	१९९
२२१, २२७	आगममाणे जाव	१८७
२२८	गाम वा जाव	२२४
२२१	धारेज्जा जाव	२१४
२०५	परक्कमेज्ज वा जाव	२०४
२०५	पाणाइ ४	२०४
२१७	वत्थाइ जाएज्जा जाव	२१४
२०५, २०७, २०८	वत्थ वा ४	१९९
२०५	समारभ जाव	२०४

□

विशिष्ट शब्द-सूची

[यहाँ विशिष्ट शब्द-सूची में प्राय: वे सज्ञाएँ तथा विशेष शब्द लिए गए है जिनके आधार पर पाठक सरलतापूर्वक मूल विषय की आधारभूत अन्वेषणा कर सके। इस सूची में क्रिया-पदो को प्राय: छोड दिया गया है। —सम्पादक]

□

आचाराङ्गसूत्रान्तर्गत गाथाओं की अकारादि सूची

□

सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थसूची

आगम ग्रन्थ

आयारंग सुत्त (प्रकाशन वर्ष ई १९७७)

सम्पादक · मुनि श्री जम्बूविजयजी

प्रकाशक महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०००३६

आचारांग सूत्र

टीकाकार श्री शीलाकाचार्य

प्रकाशक आगमोदय समिति

आयारो

सम्पादक मुनिश्री नथमल जी

प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान) (प्रकाशन वर्ष वि २०३१)

आयारो तह आयारचूला

सम्पादक मुनि नथमल जी

प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता

आचाराग सूत्र सूत्रकृताग सूत्र च (निर्युक्ति टीका सहित) (श्री भद्रबाहु स्वामिविरचित निर्युक्ति —श्री शीलाकाचार्यविरचित टीका)

सम्पादक-संशोधक मुनि जम्बूविजय जी

प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलोजिक ट्रस्ट, बगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

आचाराग सूत्र

सम्पादक आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

प्रकाशक आचार्य श्री आत्मारामजी जैन प्रकाशक समिति, लुधियाना (पजाब)

आचारांग सूत्र

अनुवादक . मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज

सम्पादक प श्री बसन्तीलाल नलवाया

प्रकाशक जैन साहित्य समिति, नयापुरा उज्जैन (म प्र)

आचारांग : एक अनुशीलन :

लेखक मुनि समदर्शी

प्रकाशक आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशक समिति, जैनस्थानक लुधियाना (पजाब)

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक · आचार्य श्री तुलसी।

प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान)

अर्थागम (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक . जैन धर्मोपदेष्टा प. श्री फूलचन्द जी महाराज 'पुप्फभिक्खू'
प्रकाशक श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट, एस एस जैन बाजार, गुडगाव केंट (हरियाणा)

आयारदसा

सम्पादक प मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र

सम्पादक दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)

सम्पादक · श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक आगम शोध सस्थान, गढसिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं

सम्पादक प मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक आगम अनुयोग प्रकाशन साडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र

सम्पादक . प शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक स्थानक जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)

सम्पादक-विवेचक मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान)

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)

सम्पादक-विवेचक मुनि नथमल जी
प्रकाशक जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान)

मूल सुत्ताणि

सम्पादक प मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक शान्तिलाल वी शेठ, गुरुकुल प्रिंटिग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृताग सूत्र

व्याख्याकार प मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक अमर मुनि, नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक आत्मज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पजाब)

समवायाग सूत्र

सम्पादक प मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव (राजस्थान)

स्थानाग सूत्र

सम्पादक प मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक आगम अनुयोग प्रकाशन, साडराव (राजस्थान)

आचारांग चूर्णि (आचाराग सूत्र में टिप्पण मे उद्धृत)
कर्त्ता श्री जिनदासगणी महत्तर
सम्पादक मुनि श्री जम्बूविजय जी
पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक पू गणिवर्य श्री हससागर जी महाराज
प्रकाशक शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु ठलीया (जि भावनगर) (सौराष्ट्र)
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (आ पूज्यवाद—व्याख्याकार)
हिन्दी अनुवादक प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी
तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक प सुखलाल जी
प्रकाशक भारत जैन महामडल, बम्बई
बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम्
प्रकाशक जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
निशीथ चूर्णि (सभाष्य)
सम्पादक उपाध्याय श्री अमर मुनि
प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र **कोश** (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक आचार्य श्री राजेन्द्र सूरि
प्रकाशक समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसघ, श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म प्र)
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, बी ४५/४७ कनॉटप्लेस नयी दिल्ली—१
नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक श्री नवल जी
प्रकाशक आदीश बुक डिपो, ३८, यू ए जवाहर नगर
बैंगलो रोड दिल्ली—७
पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि. स)
सम्पादक प हरगोविददास टी शेठ, डा वासुदेवशरण अग्रवाल,
और प दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक · प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५
ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक · आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक · जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक . मुनि नथमल जी
प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

तीर्थंकर महावीर
लेखकगण श्री मधुकर मुनि, श्री रतन मुनि, श्रीचन्द सुराना 'सरस'
प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, आदि

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १)
लेखक प बेचरदास दोशी, न्यायतीर्थ
प्रकाशक . पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५

चार तीर्थंकर
लेखक प सुखलालजी
प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५

भगवद्गीता
प्रकाशक गीता प्रेस, गोरखपुर (उ प्र)

ईशावाष्योपनिषद्
कौशीतकी उपनिषद्
छान्दोग्य उपनिषद्
प्रकाशक . गीता प्रेस, गोरखपुर (उ प्र)

विसुद्धिमग्गो
प्रकाशक भारतीय विद्याभवन, मुंबई

समयसार
नियमसार
प्रवचनसार
लेखक आचार्य श्री कुन्दकुन्द

□□